हिन्दी-साहित्य की प्रगति

सम्पादकीय

वार्षिकी का यह दूसरा अंक है जिसमें १ जनवरी, सन् १९६१ से ३१ दिसम्बर, १९६१ तक प्रकाशित हिन्दी-साहित्य के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। वार्षिकी : १९६० का हिन्दी जगत् में स्वागत हुआ, इससे हमारा उत्साह बढ़ा है : वास्तव में उसकी सफलता का श्रेय हमारे यशस्वी लेखकों को ही है जिन्होंने अपने कृती जीवन की व्यस्तता में से कुछ समय निकाल कर हमारे अनुरोध का पालन किया।

१९६१ की उपलब्धियाँ अपने पूर्वगामी वर्ष की उपलब्धियों के प्रायः समतुल्य ही हैं। इस वर्ष कथा-साहित्य की अपेक्षा कविता का स्वर ऊँचा रहा और 'उर्वशी' जैसे रससिद्ध काव्य का प्रकाशन हुआ—'नई कविता' के क्षेत्र में गिरिजा-कुमार माथुर का कविता-संग्रह 'शिला पंख चमकीले' विशिष्ट कृति है। नाटक के क्षेत्र में 'गोविन्द हुलास' का ऐतिहासिक महत्त्व असंदिग्ध है—उसके प्रकाशन से हिन्दी नाटक के इतिहास की पूर्व-सीमा का सुखद विस्तार हुआ है—साथ ही इस तथ्य की पुष्टि हुई है कि हिन्दी का क्षेत्र तथाकथित हिन्दी-प्रदेशों तक ही सीमित नहीं था और आज उसका अखिल भारतीय महत्त्व एवं प्रसार कोई अश्रुतपूर्व घटना नहीं है। हिन्दी कथा-साहित्य की—उपन्यास और कहानी दोनों की—गति भी मन्द नहीं हुई। कहानी का परिमाण और गुण दोनों की दृष्टि से ही विकास हुआ। आलोचना में सिद्धि की अपेक्षा सक्रियता ही अधिक मिली : विशेष आकर्षण के रूप में 'हिन्दी-नाट्यदर्पण' का उल्लेख किया जा सकता है। शोध का परिमाण निरंतर बढ़ता जा रहा है और अपनी सीमाओं के रहते हुए भी उससे हमारे साहित्य का विकास हो रहा है, इसमें सन्देह नहीं। अक्षम्य पुनरावृत्तियों के बावजूद भी ये शोध-ग्रन्थ नवीन सामग्री का उद्घाटन कर रहे हैं और यान्त्रिक संकलन के स्थान पर आख्यान की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

ज्ञान का साहित्य इस वर्ष भी आगे रहा। केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय का 'पारिभाषिक शब्द-संग्रह' इस वर्ष की स्मरणीय उपलब्धि है। उसके साथ जो दो ग्रंथ और सामने आते हैं, वे हैं : (१) वैदिक इन्डैक्स (मैकडानल और कीथ), और (२) वैदिक देवशास्त्र। अनुवाद होने पर भी इन्होंने हिन्दी की श्रीवृद्धि की है। हमें खेद है कि विंटरनित्स के विख्यात इतिहास का अनुवाद मूल के गौरव की रक्षा न कर सका—अतः उसका अनुवाद फिर से किसी प्रौढ़ लेखक के द्वारा होना चाहिए।

इस वर्ष की विशेष घटना थी रवीन्द्र जयन्ती। अपने देश के—कदाचित् किसी भी देश के—साहित्यिक इतिहास में ऐसा आयोजन पहली बार हुआ था। राजनीति-

ग्रस्त आज के युग में पहली बार इतने व्यापक एवं भव्य रूप में साहित्य का अभिनन्दन किया गया। यद्यपि अभिनन्दन का रूप भी धीरे-धीरे राजनीतिक-सा बनने लगा था, फिर भी इस समारोह से साहित्य की पुनः प्रतिष्ठा हुई और साहित्यकार को आत्म-गौरव की सामाजिक अनुभूति का अवसर मिला। इस दृष्टि से रवीन्द्रनाथ का यह स्तवन प्रत्येक भारतीय भाषा की साहित्यिक प्रतिभा का जयजयकार था।

१९६१ को पार कर हिन्दी-साहित्य ने काल के अनन्त पथ पर एक और अमिट चरण चिन्ह अंकित कर दिया है। हिन्दी-वार्षिकी का यह अंक यदि उसका एक धूमिल रेखा-चित्र भी प्रस्तुत करने में सफल रहा तो उसका कृतित्व अनायास ही सिद्ध माना जायेगा।

—नगेन्द्र

हिन्दी कविता : १९६१

गिरिजाकुमार माथुर

वैचारिक क्षेत्र में एक वर्ष का समय किसी भी दृष्टि से विकास का स्थिर सीमान्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैचारिक प्रक्रिया काल-क्रम के गणित से परिचालित नहीं होती। वह किसी एक बिन्दु विशेष से प्रारम्भ हो कर दूसरे बिन्दु पर समाप्त नहीं हो जाती। अतः उसकी उपलब्धियों का उचित मूल्यांकन व्यापक नैरंतर्य के परिप्रेक्ष्य में ही हो सकता है।

इसका एक कारण और भी है। ऐसा समस्त कृतित्व हमारे अत्यन्त निकट होता है और उसके साथ अनेक इतर प्रभाव भी सम्बद्ध रहते हैं। इसलिए यह नितांत संभव होता है कि सम्प्रति महत्त्वपूर्ण और सार्थक प्रतीत होने वाली कृति भी समय की दूरी पाकर विस्फार-शेष हो जाय। ऐसी स्थिति में वर्ष भर में प्रकाशित कृतियों का मूल प्रवृत्तियों के संदर्भ में परीक्षण करना ही अधिक संगत है।

प्रारम्भ करने से पूर्व १९६१ में काव्य-क्षेत्र की उस दुर्निवार क्षति का उल्लेख किये बिना यह समीक्षा अधूरी रहेगी, जिसके साथ आधुनिक हिन्दी काव्य का एक गौरवपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया। निराला जी हमारे बीच नहीं रहे। छायावाद काल का एक और प्रखर ज्योति-स्तम्भ बुझ गया। यद्यपि बीस वर्ष पहिले ही निराला जी अपना उत्कृष्टतम कृतित्व हिन्दी को प्रदान कर चुके थे, फिर भी वे एक निर्माणात्मक युग के महान् प्रतीक के रूप में हमारे बीच जीवित थे। अपने समय में वे जिन नूतन दिशाओं की ओर अग्रसर हुए उससे आगामी कविता के लिए एक विशद पीठिका निर्मित होती चली गई थी। आज जब हम नवलेखन पर विचार करते हैं तो हमें इतिहास की उस प्रक्रिया का भी स्मरण रखना होगा जिसकी ज्वार-चूड़ाओं पर निराला जी जैसे व्यक्तित्व का उदय हुआ था, जिनकी प्रारम्भिक उपलब्धियों के ऊपर आधुनिक काव्य के प्रासाद का ऊर्ध्व-निर्माण सम्भव हो सका है।

कविता के क्षेत्र में पिछले वर्ष आधुनिकता, वैज्ञानिकता, नई धारा की सम्भावना और सीमाएँ, तथा मानव-मूल्य की समस्याओं ने लेखकों का ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट किया। किन्तु इन सबके ऊपर जो चीज़ उभर कर सामने आई वह थी

कृतित्व को 'नये' और 'पुराने' के आग्रह युक्त घेरो से अलग रखकर समग्रत ग्रहण करने की वस्तुपरक प्रवृत्ति जो क्रमश पुनर्विकसित हो रही है ।

छायावाद आन्दोलन ने हिन्दी कविता को मध्ययुगीन वृत्तियो से मुक्त करके नवीन युग प्रवतन किया था । आधुनिक विकास का यह प्रथम चरण था जब परिपाटीगत सवेदना के स्थान पर व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओ की प्रतिष्ठा हुई तथा मृत्युग्रस्त शास्त्रीय रूढिबद्धता भग होकर नवीन युगचेतना के अनुरूप भाषा, शैली, उपमान का एक आरम्भिक ढाचा निर्मित हुआ । काव्य के लिए आधुनिक भाषागत बाह्याकार की रचना छायावाद की प्रमुख उपलब्धि थी । सन् सैंतीस के पश्चात् विकास का द्वितीय चरण आरम्भ हुआ जिसमे प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता की विभिन्न प्रक्रियाओ के माग से नूतन भाव-बोध तथा अन्तमू ल्यो का समावेश होना आरम्भ हुआ । हिन्दी कविता के पिछले पचास वष के विकास को समग्रत देखने पर यही दो गुणात्मक परिवतन परिलक्षित होते है । प्रथम, आधुनिकता की प्रतिष्ठा के निमित्त बाह्य पीठिका की रचना, अनन्तर नूतन आत्मा का प्रवेश । यह बात अलग है कि आधुनिकता की आत्मा के आतरिक मूल्यो का स्वरूप अभी कृतित्व मे पूर्णतया प्रतिबिम्बित नही हुआ है । किन्तु दोनो चरण एक ही व्यापक प्रक्रिया के दो पक्ष है, अत पृथक न होकर अभिन्न है । सामयिकता के दृष्टिकोण से उनमें दूरी अथवा पार्थक्य दिखाई पड सकता है, पर आधुनिकता का अर्थ मात्र समसामयिकता अथवा बाह्याकार की नवीनता नही है । आधुनिकता—अधिक आन्तरिक एव मूल्यगत भाव है । उसका एक पक्ष बहुकालिक है, जिसमे मानवीय गरिमा तथा पावनता की स्वीकृति, स्वातन्त्र्य, न्याय, अभय, अन्यायो के प्रति विद्रोह और अस्वीकृति की छूट, परिवर्तित यथाथ की सत्ता तथा असगतियो की मम-प्रतीति, अनागत की जिज्ञासा, व्यक्ति की भावनाओ तथा प्रतिक्रियाओ का आदर, मानसिक मुक्ति आदि सम्मिलित है । दूसरा पक्ष सम्यक् है, जिसके अन्तगत परिवेश तथा रूपाकार का परिवतन, शैली और भगिमा का नव रूपान्तर आता है । इन दोनो पक्षो की पीठिका पर उदित परिवर्तित मूल्य बोध तथा अनेक नवीन प्रक्रियाओ, समस्याओ और पद्धतियो मे व्याप्त अन्त सम्बन्धो की एक सूत्र मे समेटने वाली पहिचान ही आधुनिकता के दृष्टिकोण को जन्म देती है । अत किसी भी कलाकृति का मूल्याकन मात्र सम सामयिकता के परिदश मे करना एकाशी और अवैज्ञानिक है ।

यहा प्रश्न यह उठ सकता है कि यदि आधुनिकता मात्र सामयिकता नही है तब वह कौन से तत्त्व है जो कविता की नूतन प्रवृत्ति को छायावाद से पथक् करते है और उसे सही अथ मे आधुनिक बनाते है । छायावाद का आन्दोलन ऐतिहासिक दृष्टि से एक नए अध्याय का आरम्भ था । वह काव्य के मध्ययुगीन परिच्छेद से उच्छिन्न होने की प्रारम्भिक घोषणा थी । किन्तु 'नव्यता' तथा 'आधुनिकता' पर्यायवाची नहीं हैं जैसाकि कुछ लोग समझते है । यह आवश्यक नही है कि 'नव्यता' आधारभूत

गुणात्मक परिवर्तन हो। स्वीकृत सीमाओं में 'व्यक्त' तथा प्राप्य सामग्री को लेकर संस्कार देना भी 'नव्यता' हो सकती है। एक विशिष्ट मूल्यगत रूपाकार (Structure) में रहते हुए भी लीक का त्याग करने से नवीनता उत्पन्न हो जाती है। महाकवि भवभूति ने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की परिपाटी का त्याग कर करुण-रस प्रधान रचना की थी जो उनके युग के लिए नवीनता थी। किन्तु मूल्यगत ढाँचे का अतिक्रमण वह नहीं था। इस प्रकार की 'नव्यता' के प्रमाण प्रत्येक युग में मिल सकते हैं। 'आधुनिकता' इस सबसे नितान्त विभिन्न प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न दृग्विषय (Phenomenon) है। वस्तुतः आधुनिकता परिवर्तित भाव-बोध (Sensibility) की वह स्थिति है जिसका प्रादुर्भाव यान्त्रिक तथा वैज्ञानिक विकास क्रम के वर्तमान बिन्दु पर आकर हुआ है। छायावाद काल अथवा उससे पहिले के युगों में वे समस्याएँ ही नहीं थीं जो द्वितीय महायुद्ध के परिप्रेक्ष्य में आविर्भूत हुईं जिनके फलस्वरूप मानवीय परिवेश में एक तात्त्विक संक्रमण उदित हुआ। जिस विज्ञान को रोमानी चमत्कार, सुख-सुविधा, प्रगति और सभ्यता के अग्रगामी चरण के रूप में स्वीकार किया गया था उसी विज्ञान तथा प्रविधि का महाध्वंसक रूप सम्मुख आया। जिन पश्चिमी देशों में यांत्रिक तथा वैज्ञानिक प्रगति बहुत पहिले हो चुकी थी वहाँ भी यह समस्याएँ अभूतपूर्व तथा अप्रत्याशित रूप से सामने आईं। पूरी-पूरी जातियों, सस्कृतियों तथा अल्पसंख्यकों को जड़मूल से विनष्ट कर देने की धारणाएँ (Genocide), गणित तथा सांख्यिकी के आधार पर रचे गए पूर्व निश्चित हत्याकांड (Purges), मनदोहन की क्रिया-विधियाँ (Brainwashing), सम्पूर्ण युद्ध की स्थापनाएँ, विश्व का दो मतवादों के शिविर तथा उनके रूपान्तरों में केन्द्रीभूत हो जाने का क्रम, वैचारिक समर तथा वैचारिक सल्तनतें, समर-संस्कृतियाँ, शीत-युद्ध, तटस्थता, अन्तर्राष्ट्रीयता, सर्वशक्तिमान् नियन्ता राज्यों का उदय, बढ़ती हुई आबादी, बड़ी-बड़ी भीड़ें, आदमी को मात्र संख्या, सामग्री या विभिन्न 'व्यवसायों' की यंत्रवत् इकाई के रूप में ग्रहण करने की दृष्टि, विज्ञान के हाथों व्यक्ति के क्रमशः यूथों में परिणत हो जाने की नियति, अन्तरिक्ष विजय, अणुशक्ति के उपद्रव, संततियों के जीव-कोषों में आमूल परिवर्तन हो जाने की आशंका, प्रकृति के क्षुब्ध होकर पलटने तथा विपर्यस्त हो जाने का यथार्थ संकट तथा इन सबके ऊपर अनहोने मारक अस्त्रों से मिनटों में संसार की सामूहिक आत्महत्या का भय, यह सब ऐसी अकल्पनीय वस्तुस्थितियाँ हैं जो अब तक इतिहास में कभी आई ही नहीं थीं।

आधुनिकता का यह परिवेशीय स्तर है।

दूसरा स्तर भाव-क्षेत्र से सम्बन्धित है।

उपर्युक्त परिवर्तित विश्वव्यापी संदर्भ ने मानवीय भाव-बोध को एक गहरा तात्त्विक आघात पहुँचाया और समस्त पूर्ववर्ती मान्यताएँ बहती चली गईं। सुदृढ़ आस्थाओं के स्थान पर आकण्ठ अवसाद, भय, आशंका, संशय, अनिश्चय, क्षोभ,

आक्रोश, विडम्बना से मानव मन आक्रान्त हो उठा । वह अपने बाह्य जीवन में अजनबी तथा आन्तरिक जीवन में स्वयं को विस्थापित अनुभव करने लगा । चीजों का स्वरूप आमूल बदल जाने के कारण दोनों ही ओर से उसकी संपृक्ति टूट गई । क्रमशः उसकी जीवन-पद्धति तथा विचारों में अनोखा तनाव, उद्विग्नता, अशांति, विघटन तथा 'स्थायी संक्रांति' (Permanent Crisis) का वातावरण समा गया । परिवर्तन, उप्पलव, युद्ध, अशांति, संकटपूर्ण सक्रमण आदि को पूर्ववर्ती मान्यताएं तात्कालिक अथवा अस्थायी परिस्थिति भर मानती थीं तथा समस्याओं की अन्तिम परिणति की अनुकूलता के प्रति आश्वस्त रहती थीं । उन्हें प्रत्येक प्रश्न, संघर्ष या उलझन अल्पकालिक प्रतीत होती थी जिसका देर-सवेर समाप्त हो जाना पूर्वनिश्चित लगता था । मानवीय जीवन सामाजिक तन्त्र, भाव जगत्, चराचर में फैली प्रकृति यहाँ तक कि जलवायु—एवं खाद्य पदार्थों में कोई गुणात्मक परिवर्तन हो सकता है इसकी सम्भावना भी उनकी आन्तरिक आस्था तथा ज्ञान के दृष्टिपथ में नहीं थी । आज वह भ्रम टूट चुका है जब स्वयं प्रकृति तथा उसके जीवकोषों में आणविक प्रभावों से विघटन होकर विकृत हो जाने की प्रत्यक्ष समस्या उपस्थित हो गई है, जब मनुष्य का मनुष्य रहना ही खतरे में पड़ गया है । हमारे देश में इस प्रकार की मूल्यगत संक्रांति उतने तीव्र रूप में उत्पन्न नहीं हुई किन्तु आज विश्व-क्षितिज पर जो समस्याएँ उठती हैं वह पृथ्वी के हर कोने को छूती हैं । पहिले के युगों में यदि कोई संक्रमण आता था तो वह क्षेत्र विशेष तक ही सीमित रहता था । अब एक स्थान पर घटित होने वाली प्रक्रिया समस्त मानवता को प्रभावित कर देती है । विश्व की परिधि अत्यन्त संकुचित हो जाने से एक नई वस्तुपरक अन्तर्राष्ट्रीयता का आविर्भाव हुआ है । विश्व-जनीन संकटों के दबाव से इस अन्तर्राष्ट्रीयता का बोध काल्पनिक न होकर एक ठोस यथार्थ मूल्य बन गया है । पिछली आदर्शवादी विश्वबंधुत्व अथवा—'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना वायवी शुभाकांक्षा भर थी । आज वे संकटपूर्ण परिस्थितियाँ कहीं भी उत्पन्न हो सकती हैं, इस अहसास ने आधुनिकता के बोध को एक अतिरिक्त आशकामय तिक्तता, एक यथार्थ सत्ता प्रदान की है । लगता है जैसे पिछला इतिहास आज के मनुष्य का था ही नहीं, इतना बड़ा अन्तर, इतना व्यवधान बीच में आ चुका है । इस वि-इतिहासीकरण की प्रक्रिया में मनुष्य परम्परा तथा संस्कृति के पूर्व क्रम से कटता चला गया है । यही कारण है कि सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के समस्त माध्यम बासी पड़ गए हैं और आन्तरिक भाव-जगत् को छूने में अक्षम प्रतीत होते हैं । उनके प्रति लोगों के मन में न वह पिछला आदर है न हृदय का तादात्म्य । जैसे किसी सुदूर मंच पर एक छाया-नाटक बहुत दिन से चल रहा हो, दर्शकों का जिससे कोई सम्बन्ध नहीं है ।

गई । औद्योगिक विकास ने अनेक सार्वजनिक सुख सुविधाएँ मानव जाति को प्रदान कर दी हैं । उपभोग की अनन्त सामग्री के क्रमशः सुलभ होते जाने के कारण जीवन स्तर बढ़ता चला गया है । आधुनिक चिकित्सा प्रणाली तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य की व्यापक व्यवस्था द्वारा अनेक रोग तथा महामारियों पर विजय प्राप्त की जा सकी है । इन सभी कारणों से मनुष्य की आयु के अनुपात में पर्याप्त वृद्धि हुई है । बड़े-बड़े कार्यालय, कारखाने, संस्थान, व्यापार-संस्थाएँ तथा व्यवस्थापक केन्द्रों का विकास हो जाने से आय तथा व्यवसाय की अनेक दिशाएँ मनुष्य के लिए उपलब्ध हैं । किन्तु मानवीय सुविधाओं की आनुपातिक अभिवृद्धि के बाद भी मानव मन असन्तोष तथा अशान्ति से ग्रस्त हो गया है, बल्कि यों कहना चाहिए कि जितनी सुख-सुविधा की उपलब्धि हुई है उसी अनुपात में मनुष्य की आत्मा खोखली होती चली गई है । बाह्य यांत्रिक वैभव आन्तरिक समृद्धि प्रदान नहीं कर सका, अपितु सांस्कृतिक दारिद्र्य ही बढ़ता चला गया है । यों प्रतीत होता है जैसे यह समस्त सभ्यता आदमी के भीतर नहीं, उससे बाहर उग आई है, यही कारण है कि उसके लिए प्रत्येक वस्तु ने अपना अर्थ खो दिया है । जीवन का लक्ष्य अथवा उसकी सार्थकता क्या है यही आज के मनुष्य के सामने से हट चुका है । एक अशेष समाधानहीन प्रश्न से मानव आत्मा आक्रान्त है । ईश्वर के मूलाधार पर विकसित पूर्ववर्ती 'अध्यात्म' डगमगा चुका है, यन्त्र-विभूति के परिप्रेक्ष्य में जन्म लेने वाला 'अध्यात्म' (New Cosmology) अभी भविष्य के गर्भ में है ।

आधुनिकता के इस तथ्य से दार्शनिक स्तर पर कुछ मौलिक प्रतिक्रियाएँ हुई हैं । वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती चली गई हैं, आत्मनिष्ठ दृष्टियों का विकास हुआ है । मनुष्य स्वयं को अधिक गहराई से समझने का प्रयत्न कर रहा है । वह क्या है, कौन है, क्यों आता है, किसके लिए जीवित रहता है यह प्रश्न एक नवीन अर्थवत्ता के साथ पुनः उठ रहे हैं । बाह्य परिस्थिति से सामंजस्य न होने के कारण एक प्रकार की असंपृक्तता चारों ओर दिखाई पड़ती है । ममत्वहीनता के कारण बौद्धिक निस्संगता की प्रवृत्ति विकसित हुई है । आस्थाहीनता के शून्य की परिणति समस्त चीज़ों को मिथ्या और सारहीन समझ कर ग्रहण करने में हो रही है ।

स्पष्ट है कि छायावाद ही नहीं, किसी भी पूर्ववर्ती समय में इस प्रकार की गुणात्मक संक्रांति उपस्थित नहीं हुई थी । अतः यदि छायावाद में अशिव और असुन्दर का अभाव मात्र सौंदर्यनिष्ठ दृष्टि, रोमानी छायाभास तथा प्रकृति-परक गोचरी (Pastoral) प्रवृत्ति ही आद्यन्त रही तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । उसे तुलनात्मक रूप से दोष मानना भी अनुचित है । दूसरी ओर यदि नई कविता विपर्यस्त परिस्थिति, सक्रांति, विघटन, परिवेशीय विकृति, आक्रोश, व्यंग्य, आशंका, सामूहिक भय, व्यक्ति जीवन की पराजयजन्य तिक्तता को अभिव्यक्त करती है तो यह उसका संगत, ईमानदार तथा युगसम्मत पक्ष है । स्पष्ट है कि जीवन के समस्त मूल्यमानों

की विकृति की अभिव्यंजना रोमानी अथवा प्रकृतिपरक सौंदर्य दृष्टि से नहीं हो सकती। इधर जनसंख्या का गाँव और कस्बों से नगरों की ओर विकेन्द्रीकरण होते जाने के कारण कविता का स्वरूप 'गोचरी' न रहकर 'नगरीय' (Urban) हो गया है। अतः पूर्ववर्ती गोचरी सौंदर्य दृष्टि का स्थान नगरोन्मुख, वस्तुनिष्ठ व्यंग्य-दृष्टि ने ले लिया है। कविता लक्षणा से शुद्ध व्यंजना की ओर मुड़ गई है।

काव्य में आधुनिकता की समस्या पर पिछले वर्ष अनेक पत्र-पत्रिकाओं में काफी चर्चा हुई तथा इलाहाबाद में संगठित रूप से 'परिमल' संस्था द्वारा एक परिचर्चा भी आयोजित की गई थी जिसका विस्तृत विवरण पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ है। किन्तु जगदीश गुप्त, विजयदेव नारायण साही तथा आंशिक रूप से लक्ष्मीकांत वर्मा के वक्तव्यों को छोड़कर शेष सभी व्याख्याएँ आधुनिकता की सीमा-रेखा तक छू पाने में असमर्थ रहीं। अधिकांश लेखक अपने-अपने ढंग की धूमिल सूक्तियाँ तथा 'आप्त वचन' कहने में अधिक लगे रहे, समुचित वस्तु-परक विश्लेषण करने में कम। वस्तुतः आधुनिकता की पहिचान कुछ फैन्सी तथा बौद्धिक आडम्बर भरी सूक्तियाँ कहने से प्राप्त नहीं होती प्रत्युत उन प्रक्रियाओं के अन्तर में पैठकर विश्लेषण करने से जिनके परिणामस्वरूप 'आधुनिकता' का आविर्भाव हुआ है।

इसके विपरीत डॉ० जगदीश गुप्त द्वारा सपादित 'नई कविता' के छठे वार्षिक संकलन में जो कृतित्व सम्मिलित किया गया है, उसके गद्य और पद्य दोनों खंडों में संग्रहीत रचनाएँ आधुनिकता के बोध का रचनात्मक परिचय देती हैं। गद्य-खंड में संकलित आलोचना-निबंधों में संतुलित तथा वस्तुपरक दृष्टि का पर्याप्त प्रमाण मिलता है। पद्य-खंड में शमशेर की कविताएँ उल्लेखनीय हैं, किन्तु डॉ० रघुवंश की अनावश्यक रूप से लम्बी तथा असगतियों से भरी व्याख्यायुक्त विपिन अग्रवाल की रचनाएँ काव्य की प्रारम्भिक सीमा के अन्तर्गत भी आती हैं—यही प्रश्न विचारणीय है, आधुनिकता इत्यादि की बात तो बहुत बाद में उठने की चीज़ है।

कविता की इस नई धारा का प्रभाव प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से काफ़ी दूर तक पड़ा है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। प्रमाण के लिए पिछली पीढ़ी के कई प्रतिष्ठित कवियों का कृतित्व है जो नई कविता की विधा के अनुकरण से अछूते नहीं रह सके, यद्यपि परिवर्तित मूल्य बोध की पकड़ न होने के कारण उनके यह प्रयत्न असफल रहे। किन्तु दूसरी ओर पिछली पीढ़ी के दिनकर जैसे 'असल' (Genuine) कवि भी हैं जिन्होंने अपना समर्थ शैली क्षेत्र नहीं छोड़ा और उस सीमा में रहकर भी 'नव्य' को आत्मसात् कर अपनी अभिव्यंजना को भरपूर चमकाया है। इसका उदाहरण उनकी नूतन कृति 'उर्वशी' तथा 'उर्वशी' का कलापक्ष है।

'उर्वशी' का मूल्यांकन केवल इस दृष्टि से नहीं किया जा सकता कि 'सम्यक्' रूप से उसमें आधुनिकता कितनी है अथवा यह कि 'उर्वशी' में स्थान-स्थान पर बिम्ब

और शब्द-रचना के जो प्रयोग हैं उन्हें नई कविता के समानान्तर ही स्वीकार करना होगा। वस्तुतः उर्वशी की मूल समस्या तथा प्रेक्ष्यबिंदु छायावादकालीन ही है। उसकी शैली स्वच्छ तथा विविध वर्णमय है, यद्यपि पूर्ववर्ती काव्य मर्यादाओं के अनुरूप है। बिम्ब रचना और कथा-वर्णन में परिपाटीगत प्रयोगों के साथ सद्यः नूतनता का उपयोग भी है जिसमें कवि स्वीकृत संवेदना से स्थान-स्थान पर मुक्त हुआ है। उर्वशी के शुद्ध कवित्वमय अंश हमारी इस स्थापना को सिद्ध करते हैं कि अनुभूति की सचाई तथा प्रखरता परिपाटी-बद्ध शैली को भी कितना प्रभविष्णु बना सकती है। वस्तुतः शैली या विधा की नवीनता अथवा पुरातनता ही कविता को श्रेष्ठ या निम्न नहीं बना देती। कवि ने 'किस तरह' कहा है यह तथ्य आवश्यक अवश्य है किन्तु सत्य का साक्षात्कार कितनी गहराई तथा तन्मयता के साथ हुआ है यह अधिक महत्त्वपूर्ण है।

उर्वशी चिन्तन-प्रधान, विश्लेषणात्मक काव्य है और प्रणय तथा काम-भावना के मूल बिंदु पर विकसित हुआ है। मानव मन की इस शाश्वत प्रेरणा का अंकन और उससे उत्पन्न अनेक अन्तर्द्वन्द्व एवं भावान्दोलनों का विश्लेषण कवि का एक मुख्य प्रतिपाद्य है। यद्यपि इसके परिपार्श्व में विविध चिन्तन तथा दार्शनिकता के अंश भी प्रस्तुत काव्य में विद्यमान हैं किन्तु वे चेष्टिक अधिक हैं, सहज उद्भूत नहीं। काव्य का प्रसाद-रूप में जो एक समग्र, सघन प्रभाव मन पर छूट जाता है वह स्वतः ही संदेशवाही होता है, उसे किसी आरोपित 'संदेश', दर्शन अथवा तर्कसम्मत चिंतन की अपेक्षा नहीं होती। किसी भी कलाकृति की सबसे बड़ा उपलब्धि यही होती है कि वह कितनी मात्रा में सह-अनुभूति उत्पन्न कर सकती है। दार्शनिक समस्याओं के भेद-प्रभेद की मीमांसा शुद्ध कला की मर्यादा से बाहर की वस्तु है। यह पद्धति काव्य को एक अतिरिक्त गंभीरता से भले ही मंडित कर देती हो किन्तु वह उसकी परिपूर्ण रसानुभूति में बाधा पहुँचाती है। काव्यानुभूति तथा कलात्मक दोनों ही दृष्टियों से उर्वशी के वही अंश कम सफल हैं जहाँ इस प्रकार का दार्शनिक विवेचन किया गया है। जितने अंश में वह नहीं है वहाँ काव्यत्व अत्यन्त उत्कृष्ट तथा मर्मस्पर्शी बन पड़ा है।

इस रचना के स्तर सर्वत्र समान नहीं हैं। तृतीय अंक का पूर्वार्ध सर्वश्रेष्ठ है, उत्तरार्ध में चिन्तन की तार्किकता अधिक है। चतुर्थ अंक काफी सफल है, किन्तु शेष अंकों की तुलना में प्रथम अंक का स्तर अपेक्षाकृत सामान्य तथा धरातलीय है। स्तरों के इन आरोह-अवरोहों में भी जो कवित्व तथा रसमयता निहित है वह इस रचना को हिन्दी की श्रेष्ठ उपलब्धियों की पंक्ति में ला बिठाती है। किसी कलाकृति की अन्य किसी रचना से तुलना करना अधिक संगत नहीं होता, फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि जो परम्परा कामायनी से आरम्भ हुई थी उसका दूसरा छोर 'उर्वशी' है। अन्तर इतना है कि कामायनी के मनु का संघर्ष जीवन की सार्थकता तथा संतोलन की खोज से होकर आनन्दमय अन्विति पर पहुँचता है, किन्तु 'उर्वशी'

में पुरुरवा की अतृप्ति तथा अन्तर्द्वन्द्व की परिणति उसके दुखांत पलायन में होती है। मनु समाधान प्राप्त करता है, पुरुरवा को समाधानहीन संन्यास प्राप्त होता है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि उर्वशी में व्यापक अन्विति का अभाव है। किन्तु मेरी दृष्टि में पुरुरवा के अन्तर्द्वन्द्व की दुःखांत परिणति ही अधिक संगत है। यह स्वीकार करना होगा कि कवि इस परिणति की तीव्रता का समुचित रीति से निर्वाह नहीं कर सका है और एक अन्य परिणति देने की चेष्टा में उसने काव्य को आगे बढ़ा कर औशीनरी के मातृत्वपूर्ण दायित्व की प्रतिष्ठा करनी चाही है। संभवतः इसी कारण पुरुरवा की विरक्ति का ताप काफी कम हो गया है। फिर भी जो द्वन्द्व और अतृप्ति का मूलाधार है तथा जिस संदर्भ में अप्सरा उर्वशी के माध्यम से आनन्द की ऐंद्रिय—अथवा कवि के शब्दों में 'अतीन्द्रिय' अनुभूति प्राप्त होती है उसकी अनिवार्य परिणति ट्रेजेडी और जीवन-विरक्ति में ही संभव थी, समाधान अथवा 'समाधि' में नहीं। उर्वशी के मुख्य पात्रों की मनोदशाओं के विकास से स्पष्ट होता है कि काव्य का चरमोत्कर्ष इसी बिन्दु पर होना चाहिए था, किन्तु 'लेखक' के परम्परानुपेक्षी मोह ने वैसा नहीं होने दिया। परिणाम यह हुआ कि दुःखांत स्थिति का सघन प्रभाव विच्छिन्न हो गया, जो इस रचना को अधिक समर्थ, अधिक सशक्त बना सकता था।

आधुनिक भाव-बोध के परिप्रेक्ष्य में नए समाधान-संदर्भों की खोज एक महत्त्वपूर्ण समस्या बन कर लेखकों के सामने आज उपस्थित है। उर्वशी में द्वन्द्वग्रस्त व्यक्तित्व तथा अतृप्ति की समस्या कामानुभूति के माध्यम से प्रगट होती है, नए कवियों में अतृप्ति तथा अन्तर्द्वन्द्व के आयाम दूसरे हैं, इसलिए उनका क्षेत्र और समाधान की जिज्ञासाएँ भी पृथक् हैं। यह विभिन्नता न केवल सौंदर्य दृष्टि तथा मूल्यबोध की दिशाओं में परिलक्षित होती है, अनुभूति के क्षेत्रों और परिवेश के चुनाव में भी दिखाई पड़ती है। बृहद् वर्गीकृत पीठिका के स्थान पर नए कवि लघु तथा अधिक विशेषीकृत पीठिकाएँ अंगीकार करते हैं। यह पीठिकाएँ पूर्व-साधारणीकृत नहीं होतीं तथा संवेदना के स्तर सामान्यीकरण की प्रवृत्ति से मुक्त होते हैं। नूतन कविता में अनुभूति दूरस्थ, कल्पना प्रधान तथा परोक्षरूप से प्राप्त नहीं रह गई है। उसे उपलब्ध करने की प्रक्रिया में किन्हीं मध्यवर्ती, साहित्येतर उपादानों की आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती, प्रत्युत उसका साक्षात्कार एकदम सीधा, निकटतम तथा अमिश्र-अनावृत रूप से होता है। विशिष्ट पीठिका को अंगीकार करने के कारण नई कविता में अक्सर दुरूहता आई है, सत्य के सीधे संपर्क से ऐकांतिकता तथा अनावृत स्वरूप के दिग्दर्शन से कुरूपता अथवा भोंडापन। यह इस प्रक्रिया की अनिवार्यता है जिस मार्ग से निकलकर उसे एक नए क्षेत्र में संतुलन तथा अन्विति प्राप्त होगी। पिछले वर्ष में प्रकाशित नई कविता के संकलनों में इस संतुलन का आभास मिलने लगा है। लगभग सभी संग्रहों में जो दो तीन मुख्य प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं वह ऋजुता, सहजता, सरसता, सादगी, अभिधामय व्यंग्य के स्थान पर व्यंग्य-पीड़ा (irony) और दुरूह के

स्थान पर निकटतम सत्यों की अभिव्यक्ति । छंद, तुकांत वापिस आते मिलते हैं। असंगत तथा भोंडे प्रयोग कम हो गए हैं । कुँवर नारायण के नए संग्रह 'परिवेश: हम तुम' की भावभूमि पर्याप्त रूप से सरल है और परिवेश के खंड चित्रों में सहज ममत्व का प्रमाण मिलता है । कुँवर नारायण की पिछली रचनाओं में एक प्रकार की ठोस रूक्षता रही है और वे भाव-ताप से विरहित प्रतीत होती थीं । इस प्रवृत्ति को अक्सर बौद्धिकता अथवा बौद्धिक निर्लिप्ति (Detachment) कहा जाता रहा है । मेरा विचार है कि बौद्धिकता और भावना (अथवा हृदय और बुद्धि) को इस प्रकार नितांत पृथक् वर्गों में बाँट कर देखना ही गलत है, क्योंकि मन एक जीवंत सपूर्णता (Organic Totality) है, अविभाज्य इकाई है। वह निर्जीव पदार्थ नहीं जिसकी शल्य-क्रिया इस प्रकार की जा सके । बौद्धिकता निर्लिप्ति नहीं होती, और न रचनात्मक प्रक्रिया में अनुभूति को बौद्धिक स्तर पर ग्रहण करने मात्र से वह स्वत: ही उत्पन्न हो जाती । निर्लिप्ति विधायक क्षमता की एक अत्यन्त उच्च स्थिति होती है, जो रचनाकार को तब प्राप्त होती है जिस समय वह अपने 'भोक्ता' को स्वयं 'दर्शक' बन कर देखने का स्तर प्राप्त कर लेता है । अत: अनुभूति के तीव्रान्दोलनों को भावना और बुद्धि के समन्वित आयामों में प्राप्त न कर सकने की विफलता तथा उचित अभिव्यक्ति की असमर्थता को 'बौद्धिकता' कह कर सफाई देना अपने अभाव को छिपाना भर है । कुँवर नारायण की इधर की रचनाओं तथा नई कविता के अन्य संग्रहों में जो सरलता तथा सहज रसमयता दिखाई पड़ने लगी है वह स्वयं पिछली बौद्धिकता की बात को झुठलाती जान पड़ती है । 'परिवेश: हम, तुम' के दो बिम्ब :

(१)

रात
जैसे दर्पणों की गली हो
और तुम एक चांद बनकर निकली हो ।

(२)

सूर्यास्त

बादल के पाल तान—
साँझ की कगारों से
टकरा कर टूट गया
सोने का वह जहाज
पानी में डूब गया

विनोदचन्द्र पाँडेय लगभग नए उदित कवि हैं। उनका तीसरा संकलन 'लाल फूलों की टहनी' पिछले वर्ष प्रकाशित हुआ है। 'हाइकू' शैली की कविताओं की भाँति उनकी संक्षिप्त रचनाओं में ताजे बिम्ब तथा रोमानी सुकुमारता है। कवि ने बड़े हल्के स्पर्शों से अपने चित्रों को अंकित किया है। इसी प्रकार परमानन्द श्रीवास्तव का संग्रह 'उजली हंसी के छोर पर' तथा कांता का संग्रह 'जो भी कुछ देखती हूँ' इस तथ्य को प्रमाणित करते है कि जो पीढ़ी अब आगे बढ़ कर आ रही है उसमें अनगढ़ दुरूहता और भोंडेपन की रुग्णता समाप्त होकर अधिक सहजता और गहरी जीवन दृष्टि आती जा रही है। नई कविता का यह अभिनव उन्मेष परिष्कृत संवेदना, सुरुचि तथा निकटतम मूल्य बोध की दिशाओं में अग्रसर हो रहा है। यह सही है कि कुछ कवियों में नई कविता की पिछली प्रवृत्तियों के दर्शन अभी भी होते हैं किन्तु वह पूर्ववर्ती प्रभाव की अंतिम छाया भर है। पुरुषोत्तम खरे के संग्रह 'सृजन के पीड़ित क्षणों में' की रचनाएँ उक्त प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हैं, यद्यपि उनमें स्वानुभूति की सचाई अवश्य है।

आधुनिक जीवन की विडम्बनाओं को व्यक्त करने के लिए नई कविता में व्यंग्य विद्रूप का माध्यम अपनाया गया था, जिनमें कुत्सित और गर्हित का चित्रण भी सम्मिलित रहता था। इस संदर्भ में केशवचन्द्र वर्मा का कविता संकलन 'वीणा पाणि के कम्पाउण्ड में' व्यंग्य का एक नवीन आयाम प्रस्तुत करता है। उन्होंने नई कविता की विधा का सम्पूर्ण उपयोग आधुनिक वैचारिक परिवेश की अनेक थोथी धारणाओं तथा धरातलीय दम्भपूर्ण मनोवृत्ति पर व्यंग्य प्रहार के लिए किया है। नई कविता की कतिपय आन्दोलनकालीन स्थापनाओं को भी उन्होंने क्षमा नहीं किया है। केशवचन्द्र के व्यंग्य की यह विशेषता है कि वह कहीं भी कुरूप, भद्दा, छिछला और व्यक्तिगत नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि वे जीवन के विपर्यय, असंगत विरोधाभास, तथा पाखंड को मूल्यगत स्तर पर ग्रहण करते हैं और व्यापक विसंगतियों के मूल तत्वों पर जाकर व्यंग्य के माध्यम से उसका उद्‌घाटन करते हैं। हास्य-व्यंग्य के नाम पर बहुत सा शील-विरहित काव्य हिन्दी में प्रचलित है, उस दृष्टि से केशवचन्द्र वर्मा की रचना सार्थक तथा गम्भीर व्यंग्य का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

पिछले वर्ष जो अन्य कविता पुस्तकें प्रकाशित हुईं, उनमें बच्चन जी की 'त्रिभंगिमा', विद्यावती कोकिल की 'आरती', और प्रस्तुत लेखक का 'शिलापंख चमकीले' संकलन हैं।

'त्रिभंगिमा' की विशेषताएँ दो हैं। एक तो 'लोक धुनों' पर आधारित लोक-गीतों जैसी रचनाएँ, दूसरे मुक्त काव्य की रचनाएं जिनमें बच्चन अपनी कविता को आधुनिकता के निकट लाने का प्रयास करते प्रतीत होते हैं। 'प्रगीत' की विधा में

बच्चन जी ने उत्कृष्ट रचनाएँ हमें दी हैं। उनके प्रगीत काव्य का शीर्ष बिन्दु मैं 'मधुकलश' तथा 'निशा निमन्त्रण' को मानता हूँ। इनमें भी 'निशा निमन्त्रण' का पलड़ा भारी है। यदि छायावाद से आज तक की शीर्षस्थ पुस्तकों की संक्षिप्त नामावलि लिखी जाए तो 'निशा निमन्त्रण' का नाम अनिवार्यतः उसमें रहेगा। किन्तु बच्चन की प्रतिभा जिन अछूती दिशाओं में 'एकांत संगीत' तक प्रवाहित हुई थी, लगता है जैसे वह दिशाएँ आगे चल कर सहसा ही कहीं लोप हो गईं। आज उनके प्रगीतों में एकाध पंक्ति के साथ पिछली सुदूर ध्वनियाँ कभी-कभी लौटती प्रतीत होती हैं पर वह खोया हुआ संपूर्ण 'संगीत' तथा उनकी जादुई झकृति नहीं लौटती। लोक धुनों पर आधारित 'त्रिभगिमा' के गीतों की कुछ पंक्तियाँ उस विगत नाद तथा तन्मयता की सुधि दिलाती हैं किन्तु कुल मिला कर बच्चन का यह प्रयोग सर्वथा चिन्त्य है। यह सत्य है कि कवि सदा अपनी अभिव्यक्ति के लिए नए क्षेत्रों की खोज करता है। बच्चन जी ने अपने इस प्रयोग के लिए जो क्षेत्र चुना, वह निश्चय ही काव्य के लिए, नए उपकरण दे सकता है। किन्तु लोकगीतों से नूतन छन्द, लय-पट, शब्द अथवा बिम्ब की प्रेरणा प्राप्त करना एक बात है, उनकी 'धुनों' को आधार बना कर लोकगीतों का आभास उत्पन्न करने वाले गीत लिख देना दूसरी बात है। इन गीतों में कुछेक गीत अच्छे भी हैं; लेकिन कविता के लिए लोकगीतों के कौन से तत्त्व अनुकूल हो सकते हैं, इस मूल निर्वाचन में कहीं कुछ चूक रह गई जान पड़ती है।

दूसरी ओर विद्यावती कोकिल के संग्रह 'आरती' के गीत हैं, जिनमें कवयित्री ने कोई विधागत बाह्य नवीनता लाने का अनुकरणजन्य प्रयास नहीं किया और अपनी स्वाभाविक, स्वानुभूत शैली को नहीं छोड़ा। उनके गीतों में वही सहजता, सादगी और तन्मयता है। कहीं किसी प्रकार की कोई 'चेष्टा' नहीं है।

'शिलापंख चमकीले' में प्रस्तुत लेखक की सन् १९५२ से १९५६ तक की कतिपय रचनाएँ संकलित हैं।

१६६१ की कविता पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली रचनाओं को व्यापक दृष्टि से अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि वस्तुतः 'नए' और 'पुराने' का महत्त्व उतना नहीं है जितना इसका कि रचना में 'कथ्य' की मौलिकता, अनुभूति का ताप तथा अभिव्यक्ति की सार्थकता कितनी है। समय के नैरंतर्य में प्रत्येक वस्तु नई, तत्पश्चात् पुरानी होती चली जाती है। अतः आधुनिक संदर्भ में नवीनता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि कृतिकार में आगे की जिज्ञासा कितनी है और मूल्यगत स्तर पर भविष्य के रूपाकारों की वह किस मात्रा में पूर्वाभिव्यंजना कर सका है।

हिन्दी नाटक : सन् १९६१

दशरथ ओझा

विगत दो दशाब्दियों में दो जयन्तियों ने समस्त देश के साहित्यिक जन-मानस को उल्लसित करने का विशेष प्रयत्न किया है। सम्वत् २००० वि० में कालिदास की जयन्ती प्रत्येक भाषा-भाषी राज्य में धूमधाम से मनाई गई और उस समय उज्जैन केन्द्र से वह साहित्यिक शक्ति उद्भूत हुई जिसने देश की एकता को स्वयं सिद्ध कर दिया। गत वर्ष रवीन्द्र जयन्ती की धूम मची। प्रत्येक राज्य में रवीन्द्र के गीतों के गायन और नाटकों के अभिनय हुए। नए-नए रंगमंचों का निर्माण हुआ। देश ने नाटकों के महत्त्व का नया मूल्यांकन किया। नाट्यकला के सैद्धान्तिक पक्ष को पुष्ट करने के लिए गोष्ठियों की योजनायें बनीं और रंगमंचीय पक्ष को विकसित बनाने के लिए नाट्यशालाओं का निर्माण हुआ।

अतः सन् १९६१ के नाट्य साहित्य का मूल्यांकन दो दृष्टियों से करना होगा— साहित्यिक दृष्टि और रंगमंचीय दृष्टि। वास्तव में कालिदास और रवीन्द्रनाथ ही हमारे नाट्यसाहित्य के आदर्श रहे हैं। शेक्सपियर और इब्सन का हमने सम्मान किया, पर आह्वान नहीं। उनकी नाट्य-कलाओं का चिन्तन-मनन किया पर आराधन नहीं। हमारी परम्परा की यह विशेषता रही है कि सम्पूर्ण विश्व की विभूतियों का एकत्रीकरण हम सदा अपने ब्रह्म में करते आये हैं। विभूतियाँ कहीं की रही हैं पर ब्रह्मतत्त्व अपना रहा है। दर्शन का यह सिद्धान्त कला और साहित्य में भी सदा व्याप्त रहा है। इसी के बल पर हमारे देश के सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक तथा समस्या नाटक कभी अपनी परम्परा से विमुख न हो पाए।

किसी भी भाषा का नाट्य साहित्य दो-चार वर्षों में किसी नई दिशा में इतनी दूर तक आगे नहीं बढ़ पाता कि उसके पग-चिन्हों से एक नये पथ का निर्माण हो जाए। श्रव्य-काव्य तो पढ़ते ही सहसा अपना प्रभाव मन पर छोड़ जाते हैं, पर नाट्य साहित्य के निर्माण और प्रयोग में वर्षों का व्यवधान हो जाया करता है। इसलिए सन १९६१ की नाट्य-प्रगति को समझने के लिए केवल इस काल के प्रणीत नाटकों की समीक्षा ही पर्याप्त न होगी; इस वर्ष के अभिनीत नाटकों की गति-विधि को भी समझना आवश्यक होगा।

आलोच्य काल में पूर्व की भाँति राजनीतिक, सामाजिक, पौराणिक, धार्मिक एवं गीति नाट्यों का प्रणयन तथा प्रदर्शन हुआ है। प्रत्येक प्रकार के नाटकों का अलग-अलग विवेचन करने के उपरान्त हम नाट्य साहित्य की सामूहिक प्रगति का निष्कर्ष निकालने का प्रयास करेंगे।

राजनीतिक नाटक—

सन् ६० तक, राजनीति सम्बन्धी समस्याओं पर आधृत नाटकों का मूल विषय पंचशील का गुणगान, भूदान आन्दोलन की महत्ता, पंचवर्षीय योजनाओं से उत्पन्न होने वाले सुपरिणामों का आश्वासन ही अधिकतया पाया जाता था। इस वर्ष के नाटकों में एक भिन्न प्रकार का स्वर सुनाई पड़ रहा है। पंचशील की पुकार से उत्पन्न भारत और चीन की मैत्री का कच्चा घड़ा स्वार्थ की फौहार पड़ते ही फूट गया। चीन ने सीमा का अतिक्रमण कर भारत पर आक्रमण करके पंचशील के सिद्धान्तों को रौंद डाला है। भारत के कोने-कोने से चीनी आक्रमण का विरोध हुआ। यह विरोध की ध्वनि इतनी प्रबल हुंकार के साथ गूँज उठी कि पंचशील के दुर्ग में एकान्त चिन्तन करने वाले नाट्यकार भी विक्षुब्ध हो उठे। "पंचमांगी" नामक नाटक में यह स्वर सबसे अधिक प्रखर रूप में सुनाई पड़ रहा है। नाटक का नायक चांगफू पंचशील के सिद्धान्तों के स्थान पर क्रान्ति और साम्यवाद के आन्दोलन का प्रचार करते हुए कहता है—"जिसको तुम धोखेबाजी और फरेब कहते हो हमारे 'आर्सनल' का असली हथियार वही है। सारी दुनियाँ में इसका उपयोग करके हमने सफलता प्राप्त की है। लक्ष्य पूरा होना ही चाहिए, वह चाहे जिस तरह भी हो।"

साम्यवादी चीन के एजेण्ट भोली-भाली सीमावर्ती जनता को शोषण और दरिद्रता से मुक्ति दिलाने का प्रलोभन देकर उन्हें साम्यवादियों के पक्ष में लाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न में उनका तर्क यह है कि राष्ट्रवाद का युग समाप्त हो गया है, अब साम्यवाद का युग आया है। चांगफू अहोम से कहता है; "दुनियाँ के कोने-कोने में पीड़ित और शोषित जनता इनक्लाब कर रही है। शोषण से मुक्ति का सम्बन्ध न तो देश से है न परदेश से। इसका सम्बन्ध है जनता के जीवन से, उसकी रोजी और रोटी से।" आगे वह फिर कहता है—"न जाने तुम लोग क्यों राष्ट्रवाद की मृगमरीचिका से मुक्ति नहीं पा सके हो।" साम्यवादी एजेण्ट अहोम ने भारत और चीन के कलह का दोष तीन प्रकार के व्यक्तियों को इस प्रकार दिया है; वह कहता है—(१) उन जन्म खोरों को पहचानो जो तिल को ताड़ बना कर दो देशों को लड़ा देना जानते हैं। (२) उन पूँजीपतियों को पहचानो जो युद्ध से उत्पन्न मुनाफाखोरी की राह देखते-देखते व्याकुल हो उठे हैं। (३) पहचानो उन साम्राज्य-वादियों को जो बिल्लियों की लड़ाई में पंच का रोल अदा करने वाले बन्दर की तरह स्वयं पंच बन कर दो मुल्कों को पुनः हड़प लेना चाहते हैं।

इस नाटक में निःस्वार्थ देशभक्त पहाड़ी की हत्या से जनमत पंचमांगियों (साम्यवादियों) के विरुद्ध हो जाता है और निर्धनता से युद्ध करने वाली जनता विदेशी शत्रुओं से लड़ने को तैयार हो जाती है। यद्यपि चांगफू के षड्यन्त्र का पूरा पता नहीं लग पाता है तथापि मेधी, शमशेर, तुडक, अंबुद और इन्सपेक्टर के प्रयास एवं पहाड़ी की असहाय माता के विलापाश्रु से विदेशियों का प्रभाव कम होने लगता है। जनता में नवजागरण आ जाता है। इस नाटक में पंचमांगियों के षड्-यन्त्र, उनकी निर्दयता तथा साधारण सी बातों पर हत्याओं का जाल सा बिछा हुआ दिखाई पड़ता है।

सन् ६१ के नाटकों में पंचवर्षीय योजनाओं की एक सीमा तक असफलता, बेकारी की समस्या, निर्धनता के कारण का निदान करते हुए नाट्यकार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अभी तक पूँजीपतियों की मनोवृत्ति विश्व की नवीन व्यवस्था के अनुरूप नहीं बन पाई है। "तीन दिन तीन घर" नामक नाटक में मजदूरों की माँगों को दबाने के लिए पूँजीपति तथा मिल अधिकारी एक मजदूर की हत्या कर उसकी लाश रूई के ढेर में छिपा देते हैं। समाजवादी संघर्ष, राष्ट्रीयकरण की मूलभूत भूमिका को उलटने के लिए देशी-विदेशी पूँजीपतियों के मिले हुए षड्यन्त्र का सूत्रपात होता है। पंचवर्षीय योजना को ठप्प करने के लिए एक एम० एल० ए० द्वारा एसेम्बली में चाँदी-सोने के बाजारों का राष्ट्रीयकरण करने का प्रस्ताव रखवा दिया जाता है। छोटे-छोटे व्यापारी इस हड़कम्प से दहल उठते हैं। छोटी-छोटी मछलियों को बड़ी-बड़ी मछलियाँ निगलने के लिए तैयार हो जाती हैं।

पूँजीपतियों का प्रतिनिधि हीरालाल मिल-मजदूरों की हड़ताल को कुचलने के लिए नाना प्रकार का षड्यन्त्र रचता है। सरकार भी पूँजीपतियों के प्रभाव में आकर कहीं-कहीं अन्यायपूर्ण ढंग से श्रमिकों को दबाने का प्रयास करती है। सरकार मिल मालिक और मजदूरों के बीच में समझौता कराने वाले सर्वोदय के पुरोहित पदयात्रा का आडम्बर मात्र करते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनमें न तो चरित्र बल है न मनोबल। प्रभात नामक पात्र इनके पाखण्डमय जीवन पर खीझ कर कहता है— "इस युग में भी सर्वोदय के पुरोहित ग्रामीण जनता की आँखों पर पट्टी बाँधना चाहते हैं।" सर्वोदय के नेता मोटरों पर सवार होकर सैर करते हैं और गाँव के समीप पहुँचने पर पद यात्रा का ढोंग दिखाते हैं। श्यामा और चन्दू नामक पात्र ऐसे पद-यात्रियों की खिल्लियाँ उड़ाते हुए देश की समस्या को सुलझाने में इन्हें असमर्थ सिद्ध करना चाहते हैं।

निर्धनता की समस्या को जटिल बनाने वालों में पूँजीपतियों के साथ घूस-खोरों का भी बड़ा हाथ दिखाया गया है। देश में रिश्वत का ऐसा गरम बाजार दिखाया गया है कि घूस से घृणा करने वाला सारे समाज से घृणा का पात्र बनकर

बुद्धू बन जाता है। उसके विरुद्ध रिश्वतखोरों का ऐसा घोर आन्दोलन खड़ा हो जाता है कि सच्चा और ईमानदार अफसर नौकरी से निकाल दिया जाता है।

इस वर्ष के नाटकों में पूँजीपतियों का विरोध और साम्यवादियों का समर्थन यत्र-तत्र देखने को आता है। पूँजीवादी हीरालाल के माध्यम से धनिकों के पारिवारिक कलह की एक झाँकी दिखाई गई है, जिसमें धन के मद में आकर धनिक हीरालाल अपनी मनचली दूसरी पत्नी अंजना के दुराग्रह के कारण प्रथम पत्नी कमला की हत्या को भी वांछनीय समझता है। पूँजीपतियों के दुर्व्यवहारों से खीज कर पुलिस ही नहीं अपितु जनता भी साम्यवादियों की सहायता करती है। हीरालाल और उसके साथी बन्दी बनाये जाते हैं। चन्दू-श्यामा आदि मजदूर समवेत स्वर में यह गान गाते हुए सुनाई देते हैं।—"शक्ति के लिए बढ़ो, मुक्ति के लिए लड़ो, विश्व-क्रान्ति-शान्ति के लिए मनुष्य एक हो; चलो-चलो, बढ़े चलो।" नाट्यकार इस प्रसंग से यह दिखाना चाहता है कि अन्त में पूँजीपतियों की हार और श्रमिकों की जीत ही जनता को अभीष्ट है। इस प्रकार पूँजीवाद पर साम्यवाद की विजय दिखाना नाट्यकार का उद्देश्य जान पड़ता है। नाटक में तीन परिवारों की तीन दिन में घटित घटनाओं का नाटकीय रूप प्रस्तुत किया गया है।

पौराणिक नाटक—

हिन्दी के प्रसिद्ध नाट्यकार लक्ष्मीनारायण मिश्र ने आलोच्य काल में महाभारत युद्ध के अन्तिम दिन की घटना को आधार बना कर 'अपराजित' नामक नाटक लिखा है। इस नाटक में विगत सत्रह दिन में होने वाले महाभारत युद्ध के कारणों तथा उनके परिणामों का पर्यवेक्षण किया गया है। भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य की मृत्यु की प्रमुख घटनाओं और उनके कारणों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। नाट्यकार ने अश्वत्थामा और कृष्ण के सम्वाद द्वारा उन अन्यायों, अनाचारों और अत्याचारों का उद्घाटन किया है, जो इस भीषण महायुद्ध के मूल में कारण रूप से विद्यमान थे। इसमें युद्ध का मूल हेतु पान्चाली की अहंमन्यता और दुर्योधन का दुराग्रह सिद्ध किया गया है। एक स्थान पर अश्वत्थामा पाण्डवों के अन्याय का विवेचन करते हुए कहता है—"द्रौपदी की प्रेरणा से तुम लोग ऐसे दारुण नर-संहार के कारण बने। राज्य के अधिकारी तुम नहीं थे। पांडु के औरस पुत्र तुम पांच में एक भी नहीं हो। कोई धर्म का, कोई वायु का, कोई इन्द्र का, कोई अश्विनीकुमारों का, पर पाण्डु का कोई नहीं। इन्द्र का, वायु का, धर्म या अश्विनीकुमार का पुत्र कुरु-सिंहासन का भागी किस विधि से बनता।" आगे कृष्ण अश्वत्थामा पर यह दोषारोपण करते हैं कि उसने पांचाल कुमार का वध रात को नींद की दशा में किया।

एक ओर अश्वत्थामा पाण्डवों पर अनेक दोषारोपण करते हैं; दूसरी ओर पाण्डव, विशेषकर पांचाली कह रही है कि रात्रि को गुरु पुत्र ने उसके भाई के साथ

पाँच पुत्रों का भी वध किया है। नाट्यकार यह दिखाना चाहता है कि कर्म के कौशल द्वारा असत्य भी सत्य और सत्य भी असत्य बन जाता है। यह संसार का नियम है कि सफलता के साथ अन्याय और असत्य का कलंक भी धुल जाता है। कृष्ण सत्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं—"सत्य वही है जिसे लोक स्वीकार करें और जो इस लोक को बना लेता है वही उस लोक को भी बना पाता है।"

इस नाटक का दूसरा उद्देश्य है विश्व में आणव शक्तियों के संघर्ष से उत्पन्न परिस्थिति और उसमें मुक्ति का उपाय दिखाना। महाभारत-युद्ध के अठारहवें दिन अश्वत्थामा और अर्जुन में घोर युद्ध हो रहा है। दोनों के ब्रह्मास्त्र प्रयोग से अग्नि की वर्षा हो रही है। कृपाचार्य इसके दुष्परिणाम का अनुमान लगाते हुए कहते हैं:— "दो दण्ड में दिशायें अग्नि-ज्वाला से भर जायेंगी। शत्रु-मित्र, चर-अचर सब एक साथ भस्म होंगे। फिर संवर्तक मेघ बरसेंगे और सृष्टि का लोप हो जायगा।" सृष्टि को इस भीषण स्थिति से बचाने के लिए व्यास आविर्भूत होते हैं तथा नेपथ्य से यह ध्वनि सुनाई पड़ती है :— "सृष्टि रक्षा का मार्ग जब तक न मिले दोनों शस्त्र मेरी तपस्या का संहार करें।" इसी अवसर पर नारद भी अवतरित होते हैं और अश्वत्थामा से ब्रह्मास्त्र समेटने का अनुरोध करते हैं। नारद और व्यास के प्रत्युत्तर में अश्वत्थामा कहते हैं :— "मुझे कलंक लग रहा है तात !" इसपर व्यास :— "विधाता को भी कलंक लगा है। जहाँ यश है पुत्र ! जहाँ प्रताप है, सब कहीं कलंक है। तुम्हारे कलंक भी मेरे भोग बनेंगे।" × × × व्यास जी वरदान देते हैं कि 'अश्वत्थामा तुम चिरंजीवी रहोगे'। अन्त में अश्वत्थामा पुनः कहता है:— "काल के आधीन इस जगत् में जय-पराजय का आदिकारण मनुष्य नहीं है विजय में हर्ष और पराजय में शोक दोनों का कारण अज्ञात है। काल भगवान के संकेत पर हमारे कर्म चलते हैं, हमारी कामनाएँ चलती हैं।"

तात्पर्य यह है कि विश्व के वातावरण में मेघ के समान उमड़ने वाले आणविक युद्ध के बादलों को छिन्न-भिन्न करने का एक मात्र साधन व्यास जैसे तपस्वी का पुंजीभूत तप ही हो सकता है। अन्यथा काल-पुरुष के भृकुटि विलास से कितने ही ब्रह्मास्त्र (अणुबम) छूटते रहेंगे और सृष्टि का संहार होता रहेगा।

नाटयकार वर्षों से यह प्रयास करते चले आ रहे हैं कि पुराणों की कथाओं में जिन अलौकिक तत्त्वों के कारण आधुनिक बुद्धिवादी समाज आस्था नहीं रखता, उनका कोई बौद्धिक हल निकाला जाय और उन्हें तर्क की कसौटी पर खरा सिद्ध किया जाय। पुराणों में कृष्ण-जन्म के समय अनायास प्रहरियों का सो जाना, वसुदेव देवकी का बेड़ी मुक्त हो जाना, अथाह यमुना में कमर भर जल का रह जाना, आदि ऐसे अतिमानवीय तत्त्व हैं जिन पर आज की विद्वन्मण्डली सहसा विश्वास नहीं कर सकती। आलोच्यकाल में डॉ० प्रेमनारायण टण्डन ने "कृष्ण-जन्म" नाटक में उक्त अविश्वसनीय

घटनाओं का बुद्धि-संगत हल निकाला है। उनकी यह उपस्थापना है कि कंस के अत्याचारों से दुखी होकर मथुरा के गोपों ने उपनंद की अध्यक्षता में एक ऐसा संगठन स्थापित किया जिससे कृष्ण-जन्म की रात्रि में प्रहरियों को मद्यपान के द्वारा बेहोश कर दिया गया था और वसुदेव की बेड़ियाँ काट दी गई थीं। यमुना पार जाने की सुव्यवस्था कर दी गई थी। कंस भी रात्रिवेला में नृत्य और मद में मदमस्त कर दिया गया था। अतः उसे भी कृष्ण-जन्म का समय विस्मृत हो जाता है। जिन प्रहरियों को उसने पहरे के लिये नियुक्त किया था वे भी मद्यपान से वसुदेव के कारागृह से निकलने का अनुमान तक न कर सके। इस प्रकार इस पौराणिक नाटक को बुद्धि-वादियों के लिये भी विश्वसनीय बनाने का प्रयास किया गया है जो किसी सीमा तक सफल भी जान पड़ता है।

पौराणिक गीति नाट्य—

पौराणिक नाटकों की सबसे बलवती धारा गीतिनाट्यों में दिखाई पड़ती है। आलोच्यकाल में दो सर्व समर्थ कवियों की लेखनी से दो गीति नाट्यों की सृष्टि हुई है। मैथिलीशरण गुप्त ने "लीला" नामक गीति नाट्य की रचना की और राम-धारी सिंह दिनकर ने "उर्वशी" की।

"लीला" की रचना आज से ४० वर्ष पूर्व हुई थी। किन्तु उसका प्रकाशन अब हुआ है। इसमें रामायण की कथा रामावतार की आशा से लेकर सीता-राम-विवाह-समारोह तक सम्मिलित है। राम के बाल सखाओं और सीता की सखियों का हास्य-विनोद, क्रीड़ा-कौतूहल नए ढंग से दिखाने का प्रयास किया गया है। संवाद कहीं भी गद्य में नहीं है। कहीं-कहीं छन्द के कुछ चरण एक व्यक्ति बोलता है और उसी के दूसरे चरण को दूसरा व्यक्ति। जैसे विश्वामित्र—"आश्रम समीप आ गये राम।" अराल—"क्या ही सार्थक है राम-नाम" इत्यादि। इसमें विविध छन्दों एवं गीतों का प्रयोग हुआ है। कविता प्रसाद गुण-सम्पन्न, सरस एवं पठनीय है इसमें धीर, वीर, गम्भीर, अराल, कराल, सुगन्धिका और सुलक्षणा पात्र कल्पित हैं। पृथ्वी देवी को भी एक पात्र बनाया गया है।

'दिनकर' का 'उर्वशी' नामक गीति नाट्य नाटकीयता की दृष्टि से चाहे रंग-मंच पर बहुत सफल न हो किन्तु काव्य की दृष्टि से बड़ी ही प्रौढ़ रचना है। इसका प्रथम अंक कालिदास के 'विक्रमोर्वशी' के अनुरूप है किन्तु शेष चार अंकों का कथानक बिलकुल नवीन है। तृतीय अंक इसमें सबसे अधिक महत्त्व का है, जिसमें शुद्ध कवित्व और गहन दार्शनिक चिंतन का सामंजस्य पाया जाता है। पुरुरवा और उर्वशी जब प्रेम करते-करते समाधि में पहुँच जाते हैं तब उनका प्रेम दैहिक नहीं रह जाता। वह देश और काल की सीमा से बाहर निकलने का साधन बन जाता है। चतुर्थ अंक

में उर्वशी का मातृत्व भी दिखाया गया है । पंचम अंक शुद्ध नाटक की दृष्टि से सफल रचना है । उर्वशी के विलुप्त होने पर पुरुरवा संन्यास ले लेता है । नाटक की समाप्ति संन्यास के साथ कवि को अभीष्ट नहीं अत: अंत में दो सती नारियों का संवाद रख दिया जाता है ।

रेडियो रूपक—

आलोच्य काल के रेडियो रूपक समारोह में कई नाटक प्रसारित किए गये । संभवत: जितने अधिक नाटक आज रेडियो रंगमंच पर अभिनीत होते हैं उतने किसी भी हिन्दी रंगमच पर न होते होंगे । प्रति सप्ताह उत्तर भारत का प्रत्येक रेडियो स्टेशन कोई न कोई हिन्दी नाटक अवश्य प्रसारित करता है । इस प्रकार रेडियो के माध्यम से प्रसारित होने वाले नाटकों की संख्या कई शतक तक पहुँच गई है । रेडियो रूपक, रेडियो फीचर, गीतिनाट्य, काव्य रूपक, व्यंग्य रूपक आदि विविध प्रकार के नाटक रेडियो द्वारा प्रसारित हो रहे हैं । भारतीय एवं विदेशी भाषाओं के हिन्दी में अनूदित नाटक भी प्रसारित किए जाते हैं ।

रेडियो पर महाकाव्यों का नाटकीय रूप भी प्रस्तुत करने का सफल प्रयास पाया जाता है । विशाल काव्यों, महाकाव्यों, उपन्यासों और संस्कृत के बृहत् नाटकों का सक्षिप्तीकरण करके उनकी मूलकथाओं और भावों को नाटकीय रूप देकर जनता को उससे अवगत कराने का यह नया मार्ग सराहनीय है । प्राचीन काल में भी इस प्रकार की परम्परा थी । 'हयग्रीव-वध' नामक नाटक के अभिनय की चर्चा प्राचीन संदर्भ ग्रंथों में मिलती है । यह इस बात का प्रमाण है कि उस काल में महाकाव्यों का सारांश नाटक रूप में रखने की परम्परा थी ।

आलोच्य काल में आकाशवाणी दिल्ली से भगवतीचरण वर्मा के प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्र लेखा' का रेडियो रूपक सफलता के साथ प्रस्तुत किया गया । इसमें चित्रलेखा और कुमार गिरि का संवाद बड़ा ही मनोरम एवं नाटकीय था ।

इस समारोह में विष्णु प्रभाकर का "आँसू और अंचल" नामक नाटक आधुनिक वैवाहिक समस्याओं के आधार पर निर्मित किया गया । तलाक के विधान से लाभ उठाने के उद्देश्य से स्त्रियों में जो आन्दोलन चला है उसका यहाँ विरोध दिखाई पड़ता है । पति जब तलाक के लिए तैयार हो जाता है और नवयुवती की सखियाँ उसे तलाक के लिये प्रोत्साहित करती हैं तब वह अपने पति से कहती है :—"मैं इसी घर में रहूँगी । तुम्हें तंग करती रहूँगी । मैंने इन बच्चों को पाला है । जाऊँगी तो इन्हें साथ लेकर जाऊँगी ।" अंत में पति-पत्नी समझौता कर लेते हैं और शान्तिपूर्वक घर में रहने लगते हैं ।

किशोर पारिग का अनूदित नाटक "धारा का अंकुर" हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के सुपरिणाम के आधार पर निर्मित है। इसमें भाखरा नांगल तथा देश के बड़े-बड़े बाँधों, उनके द्वारा सिंचाई और विद्युत् उत्पादन, ट्रैक्टर के द्वारा खेती आदि से होने वाले लाभों का दिग्दर्शन कराया गया है।

सामाजिक नाटक—

आलोच्य काल में छोटे-बड़े, सफल-असफल, रंगमंचीय और पाठ्य अनेक सामाजिक नाटक विरचित हुए। जिनका सफल अभिनय देखने को मिला उनमें पं० सीताराम चतुर्वेदी का "वसन्त" उल्लेखनीय है। यह नाटक काशी और मथुरा में सफलतापूर्वक खेला गया। इसमें सम्मिलित परिवार की जटिलताएँ, बेकारी, घूस-खोरी, कार्यालय की बेईमानी, आत्महत्या आदि समस्याओं का विकराल रूप दिखलाते हुए दृढ़ता, आत्मनिर्भरता, कर्त्तव्य-परायणता एवं कुटीर उद्योगों के बल पर उनका हल दिखाया गया है। इसमें राजकुमार तथा निर्मल दो सगे भाइयों और वसन्त, मनोहर दो चचेरे भाइयों, एवं निर्मल के सहपाठी हरगोविन्द और अवारा मित्र बनारसीदास के जीवन की झाँकी दिखाई गई है। निर्मल हरगोविन्द के सुझाव से अपना जीवन सुधार लेता है। उसकी सहानुभूति से यह परिवार पुनः शान्ति पाता है।

तैलगू भाषा भाषी रमेश चौधरी आरिगपूडि ने नवीन नाटक 'कोई न पराया' इसी वर्ष लिखा है। इस नाटक में ग्रामीण वातावरण में देश की प्रगतिशील परिस्थितियों के अनुकूल ग्रामोद्धार की नवीन योजना बनाने का प्रयास पाया जाता है। नाट्यकार इसमें यह प्रमाणित करना चाहता है कि "आर्थिक परिवर्तन तभी स्थायी महत्त्व के हो सकते हैं, जब उनको अनुकूल सामाजिक वातावरण मिलेगा। व्यक्ति का व्यक्तिगत प्रबोध ही कालान्तर में समाज के अनुकूल वातावरण का कारक होगा।"

नाटक का प्रारम्भ धार्मिक समस्या के साथ होता है। सीताराम शास्त्री सफल कृषक हैं। वे कृषि कार्य को पुजारी और पुरोहितों के धार्मिक कृत्यों से किसी प्रकार हीन नहीं समझते। वे सामाजिक क्षेत्र में भी प्रगतिवादी हैं। नाटक के नायक उत्तम राव के इस मत का समर्थन करते हैं "इस देश की आधी बीमारी ठीक हो जाये यदि यह कानून बना दिया जाय कि कोई भी अपनी जाति में शादी नहीं कर सकता। उसके बाद न जाति रहेगी न दहेज।"

द्वितीय अंक में गाँव की बेकारी की समस्या पर विचार किया गया है। वेंकट रत्नम् इस समस्या को सुलझाने के लिए गन्ने की मिल खोलने का प्रस्ताव रखता है किन्तु सीताराम शास्त्री इसका विरोध करते हैं। उनका मत है "कारखानों

से गाँवों की समस्या सुधर नहीं सकती। आसपास की भूमि बंजर हो जायगी। यदि कारखाना खोलना है तो खेती के औजार का खोलो। यदि सुधार करना है तो हमारी उपज बढ़ाओ। सरकार कारखाना खोले। एक व्यक्ति उससे लाभ उठा कर सम्पन्नतर क्यों बने ?"

तृतीय अंक में प्रो० उत्तमराव ब्राह्मणों से बहिष्कृत और ब्राह्मणेतरों से तिरस्कृत एक समाज-सुधारक के रूप में हमारे सामने आते हैं। स्वयं ब्राह्मण होते हुए भी वे अपनी एक लड़की का विवाह हरिजन से करते हैं और दूसरी का भी ब्राह्मणेतर से करने को तैयार हैं। वे न तो लोक सभा और विधान सभा के सदस्य बनना चाहते हैं और न किसी तरह की लोकेषणा उनके मन में है। इस नाटक का यह सर्वोत्तम पात्र है।

ऐतिहासिक नाटक—

इस वर्ष दो समर्थ नाट्यकारों जगदीशचन्द्र माथुर और हरिकृष्ण प्रेमी ने क्रमशः "शारदीया" एवं "आन का मान" नामक दो नाटक लिखे। "शारदीया" ऐतिहासिक नाटकों में एक नवीन शैली लेकर आया है। यद्यपि इस नाटक का अभिनय आलोच्य काल में बहुत सफल नहीं हुआ तथापि नाट्य-कला की दृष्टि से यह उल्लेखनीय कृति है। इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

महाराष्ट्र के कागल नामक ग्राम में बायजाबाई नामक एक सुन्दरी कन्या का विवाह उसकी माता के अनुरोध से नरसिंह के साथ तय हो गया था। किन्तु माता की मृत्यु के उपरान्त बायजा के पिता सर्जेराव घाटगे कन्या की इच्छा के विरुद्ध दौलतराव सिंधिया से उसका विवाह करके अपना भाग्योदय चाहते हैं। बायजाबाई और नरसिंहराव के हृदय एक दूसरे की ओर आकर्षित हैं। नरसिंह निजाम और मराठों के युद्ध में सेना में सम्मिलित हो जाता है। किन्तु सर्जेराव घाटगे के षड्यन्त्र से उसे ग्वालियर के कारागार में बन्द कर दिया जाता है। उस कारागृह में वह निजामी कलाकारों से सीखी हुई वस्त्र-निर्माण-कला का अभ्यास करता है और अपनी प्रेयसी के लिए एक सुन्दर साड़ी तैयार करता है। महारानी बायजाबाई नरसिंहराव के बन्दी-जीवन का समाचार पाकर उसे मुक्त कराने के लिए मुक्ति-पत्र लेकर दुर्ग में जाती है तथा नरसिंहराव की उंगली की सूराख द्वारा बुनी हुई साड़ी देखकर स्तंभित रह जाती है। उन दोनों का वार्तालाप बड़ा ही मनोहारी दिखाई पड़ता है। इस नाटक में राजकर्मचारियों की दुरभिसन्धि, निरपराध व्यक्तियों का दण्ड-सहन और तत्कालीन राज्य व्यवस्था के भ्रष्टाचार की झाँकी दिखाई देती है। हिन्दू मुसलमानों की धार्मिक सहिष्णता का भी अच्छा आभास मिलता है।

ऐतिहासिक कथानक के आधार पर लिखे गये हरिकृष्ण 'प्रेमी' के नाटक "आन का मान" का इतिवृत्त इस प्रकार हैं—

मुगल सम्राट् औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता से क्षुब्ध होकर मारवाड़ का वीर दुर्गादास औरंगजेब के विद्रोही पुत्र अकबर की सहायता करता है। इसमें वह सफल भी हो जाता है। परन्तु औरंगजेब की कूटनीति के कारण राजपूत ऐन मौके पर उसका साथ छोड़ देते हैं। विवश होकर उसे अपनी प्राण-रक्षा के लिए दुर्गादास की सहायता से ईरान जाना पड़ता है। उसका पुत्र बुलन्द अख्तर और पुत्री सफीयतुन्निसा दुर्गादास के संरक्षण में मारवाड़ में ही रह जाते हैं। कालगति के साथ वे यौवन के प्राङ्गण में प्रवेश करते हैं। उधर मारवाड़ का स्वामी अजीतसिंह भी युवावस्था में आ जाता है। परिणामस्वरूप अजीतसिंह और सफीयतुन्निसा एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं। औरंगज़ेब की वृद्धावस्था जब उसके दर्प एवं क्रोध के दंश को कुचल देती है तब उसके हृदय में वात्सल्य का स्रोत प्रवाहित होता है। उसे भय है कि यदि यौवनावेग के कारण शाहजादी अजीतसिंह के प्रणय से आबद्ध हो गई तो मुगल खानदान की मान-मर्यादा को गहरा आघात लगेगा। अतः वह किसी भी मूल्य पर शाहजादी सफीयतुन्निसा को पाने के लिए तैयार है। इसके लिए वह दुर्गादास के पास मैत्री का सन्देश भेजता है। उसे धन एवं जागीर का प्रलोभन देता है। न मानने पर मृत्यु का भय भी दिखाता है। परन्तु उस वीर पर इन सबका कोई असर नहीं पड़ता। अंत में गृह-कलह और शाहजादी के जीवन को अभिशाप होने से बचाकर वह अजीतसिंह के क्रोध का भाजन बनकर भी सफीयतुन्निसा को औरंगज़ेब के पास भेज देता है।

आलोच्य काल का अन्तिम ऐतिहासिक नाटक समर सरकार कृत "जनगण अधिनायक" है जो दिसम्बर सन् ६१ में प्रकाशित हुआ। इस नाटक में सुभाषचन्द्र बोस का हिटलर, गोयरिन. गोबैल्स, जनरल रोमेल, तोजो आदि के साथ भारत की स्वतन्त्रता का परामर्श दिखाया गया है। तृतीय दृश्य में सिंगापुर में सुभाषचन्द्र का पदार्पण और आजाद हिंद सेना का निर्माण प्रदर्शित किया गया है। अंग्रेजी सेना के परित्यक्त कैप्टेन शाहनवाज, लेफ्टिनेन्ट ढिल्लन, श्री मेनन और रास बिहारी का वार्तालाप चौथे दृश्य में दिखाया गया है। पाँचवें दृश्य में सिंगापुर के हवाई अड्डे पर रास बिहारी, श्री मेनन, कर्नल ए० सी० चटर्जी, कर्नल जगन्नाथ राव भोंसले, लोकनाथन, कुमारी लक्ष्मी, मीरा आदि सुभाषचन्द्र बोस के हवाई जहाज की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वहीं आजाद हिंद सेना के निर्माण के विषय में बातें होती हैं। नेता जी के इस प्रभावशाली भाषण के बाद कि, "जब अंग्रेज और उनके मित्र सर्वदा के लिए भारत का परित्याग करदें तभी भारतवर्ष अपनी स्वाधीनता अर्जित कर सकेगा। हम लोग रक्त-दान करके भी स्वाधीनता प्राप्त करेंगे। भारत के भीतर और बाहर अपनी सारी शक्ति बटोर कर हम संग्राम करेंगे। हमारे पैर नहीं लड़खड़ायेंगे, तभी हम

लक्ष्य तक पहुँच सकेंगे ।"—नेता जी, शाहनवाज और रासबिहारी जापानियो से सतक रहने के लिए परामश करते है। नेता जी "दिल्ली चलो, दिल्ली चलो और चलो दिल्ली, चलो दिल्ली—जयहिंद" के साथ सभा समाप्त करते हुए सबको प्रोत्साहन देते है। दूसरा अक यही समाप्त होता है।

तीसरे अक मे इम्फाल, कोहिमा और अराकान मे होने वाले युद्धो का विवरण मिलता है। नेता जी अपने साथियो को कोहिमा, इम्फाल और चटगाँव पर आक्रमण करने का परामश देते है। जापानी राजदूत नेता जी से मिलना चाहता है कि न्तु वे कई कारणो से मिलना अस्वीकार कर देते है। जापानी शक्ति और जयहि द सेना मे मनोमालि य हो जाता है । नेता जी को यह सुनकर प्रसन्नता होती है कि कालादान और इम्फाल क्षेत्र मे अग्रेजो के अधीन भारतीय सेना के अनेक सैनिक हमारे आह्वान को सुनकर हमारे साथ मिल गये है। इस युद्ध मे स्त्रियो की सेना अदभुत काय कर रही है। महिलाओ का एक दल तिरगा ध्वज आगे करके समवेत स्वर मे यह गाना गाते हुए माच करता दिखाई पडता है "कदम कदम बढाये जा, खुशी के गीत गाये जा।" इत्यादि।

तीसरे अक के ततीय दृश्य मे नेताजी भारत और बर्मा की सीमा के कैम्प-अस्पताल मे आहत सैनिको की शुश्रूषा करते दिखाई पडते है और एक रोगी को अपना रक्त-दान देकर उसकी प्राण रक्षा करते है।

चौथे अक मे जापानियो की हार और आजाद हि द सेना का नैराश्य दिखाया गया है। रगून के हवाई अडडे पर २४ अप्रैल सन् १९४५ को तिरगा झडा लहरा रहा है और नेताजी बैंकाक जाने की तैयारी कर रहे है। जाने के पूव वे झासी की रानी रेजीमेण्ट की सभी महिलाओ, शिशुओ, वृद्धो एव नारियो की समुचित व्यवस्था कर देते है। नेताजी हवाई जहाज से सबको बैंकाक से युद्ध सचालन का आश्वासन देते हुए प्रस्थान करते है। यही नाटक समाप्त होता है।

इस नाटक का उद्देश्य भारतीयो मे देश रक्षाथ नेताजी की तरह त्याग की भावना उत्पन्न करना है। कला की दृष्टि यह नाटक सामा य कोटि का है।

धार्मिक नाटक—

नाट्य साहित्य को इस वष की सबसे बडी उपलब्धि है, 'गोविन्द हुलास नाटक'। आद्योपा त ब्रज भाषा मे विरचित गौडीय सम्प्रदाय के भक्ति रस पर अवलम्बित इस नाटक का रचना काल और रचयिता दोनो के विषय मे अभी सन्देह है। यह रचना कृष्ण-सरोवर के महात्मा कृष्णदास की कृपा से बडौदा विश्वविद्यालय

के हिंदी अध्यक्ष डा० कुँवर चद्रप्रकाश को प्राप्त हुई और इसका प्रकाशन बडौदा विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान मे हुआ। यह नाटक सात अको मे समाप्त है। अको के नाम 'विदग्ध माधव' (रूपगोस्वामीकृत) के अको के नाम से इस प्रकार साम्य रखते है।

विदग्धमाधव नाटक	—	गोविन्द हुलास नाटक
वेणुनाद विलासोनाम प्रथमोऽङ्क	—	वेनुनाद विलास नाम प्रथम अक
मन्मथ लेखो नाम द्वितीयोऽङ्क	—	कामलेषा नाम द्वितीयो अक
राधा सगोनाम तृतीयोऽङ्क	—	राधा सगमो नाम तृतीय अक
वेणुहरणो नाम चतुर्थोऽङ्क	—	वेणु हरन हरनो नाम चतुर्थो अक
राधा प्रसादनो नाम पचमोऽङ्क	—	राधा प्रसादनो नाम पचमो अक
शरद्विहारो नाम षष्टोऽङ्क	—	सरद विहार षष्टमो अक
गौरी विहारो नाम सप्तमोऽङ्क	—	गौरी तिथ विहारो नाम सप्तमो अक

इस नाटक के रचयिता के सम्बध मे विचार करते हुए प्रो० कुँवर चन्द्र प्रकाश इस निष्कष पर पहुँचे है कि यह रचना या तो रूपगोस्वामीकृत हो सकती है अथवा जीवगोस्वामी कृत। यद्यपि यह सहसा विश्वास नही होता कि सस्कृत के प्रकाड पण्डित उक्त दोनो गोस्वामी जिनकी ब्रजभाषा की ऐसी पुष्ट रचनाये अभी तक प्रकाश मे नही आई है, इनके रचयिता हो सकते है। किन्तु अगरचद नाहटा कई हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर इस निष्कष पर पहुँचते है कि वृदावन मे निवास करने के कारण अवश्य ही उन्होने ब्रजभाषा मे रचनाये की होगी। 'गोबिंद हुलास नाटक' मे न तो कही रचना काल का सकेत है न कही रचयिता का ही स्पष्ट उल्लेख। पुस्तक के सम्पादक प्रो० श्री चद्र प्रकाश जी ने विविध प्रमाणो के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि विदग्ध माधव नामक सस्कृत नाटक के रचयिता "स्वय रूप गोस्वामी ही 'गोविन्द हुलास नाटक, के प्रणेता हो सकते है। सस्कृत मे मधुर रस की जो नाटकीय व्याख्या उन्होने 'विदग्धमाधव' नाटक के माध्यम से प्रस्तुत की उसी के लिए 'गोविन्द हुलास नाटक' मे उन्होने ब्रजभाषा का प्रयोग किया।

वण्य-विषय—प्रथम अक मे श्री कृष्ण नाम-महिमा, वात्सल्यवर्णन, वेणु वादन, राधाकृष्ण के पूवराग की परीक्षा, सखियो के साथ राधा का वन मे प्रवेश और मुरली-ध्वनि से आनन्द वेदना का अनुभव मिलता है। दूसरे अक मे पूर्णमासी और मुखरा के वार्तालाप मे राधा का पूवराग, ललिता के मुख से कृष्ण की उदासीनता जानकर राधा का मूर्च्छित होना, विशाषा का उनके (राधा के) कान मे कृष्ण का नाम सुना कर चेतना लाभ कराना, राधा का कालीयदह मे जाकर शरीरत्याग के

लिए कृत-संकल्प होना। मरण के लिए उद्यत राधा को कृष्ण का दर्शन देना, राधा कृष्ण के मिलन में जटिला का अन्तराय उपस्थित करना दिखाया गया है। तीसरे अंक में राधा कृष्ण का मिलन होता है किन्तु चौथे अंक में प्राप्त्याशा और गर्भ सन्धि पाई जाती है। इस अङ्क में चन्द्रावली के निकुंज में जाकर श्री कृष्ण राधा-राधा पुकारते हैं जिसे सुनकर चन्द्रावली असूया से भर जाती है और पद्मा को साथ लेकर रुष्ट हो चली जाती है। इस अङ्क में राधा और चन्द्रावली दोनों का कृष्ण के प्रति प्रेम दर्शाया गया है तथा कई रसमयी नाटकीय स्थितियों का सन्निवेश पाया जाता है। इस अङ्क के अन्त में राधा कृष्ण पर अत्यन्त रुष्ट हो जाती है। पाँचवें अंक में राधा को नान्दीमुखी से यह ज्ञात होता है कि श्री कृष्ण उनके विरह में अत्यन्त व्याकुल हैं। पूर्णमासी की प्रेरणा से राधा अभिसार करती हैं। किन्तु जटिला की भाग्नेयी सारंगी उन्हें कृष्ण के पास जाते देख लेती है और जटिला को सूचना देती है तथा जटिला क्रुद्ध होकर राधा को लौटा ले जाती है। इधर श्री कृष्ण भी मधुमंगल के साथ गोकुल को प्रस्थान करते हैं। छठे अंक में चन्द्रावली और राधिका की सखियाँ इन दोनों की श्रेष्ठता के विषय में विवाद करती हैं। श्री कृष्ण वृन्दावन में मुरली-वादन करते हैं। श्री राधा उन्हें देख करके केशरकुंज में छिप जाती हैं। श्री कृष्ण विरह व्याकुल हो कदम्ब और अशोक आदि वृक्षों से राधा का पता पूछते हैं। अंत में दोनों की संयोग लीला घटित होती है। नेपथ्य में मधुमंगल के मुख से जटिला शब्द सुन कर राधा अपनी दोनों सखियों के साथ भाग जाती हैं और श्री कृष्ण भी अपने दोनों सखाओं के बीच चले जाते हैं। सातवें अंक में राधा और कृष्ण के गुप्त प्रेम का अपवाद चारों ओर फैल जाता है। कृष्ण स्वयं गौरीतीर्थ चले जाते हैं तथा वृन्दा से अनुरोध करते हैं कि वह राधा को उसी स्थान पर ले आवें। राधा के पहुँचने के पूर्व ही चन्द्रावली अपनी सखी पद्मा और शैव्या के साथ पहुँच जाती है। दोनों पक्षों में विवाद उठ खड़ा होता है। इसी समय चन्द्रावली की सास कराला पहुँच कर श्री कृष्ण को कटुवचन सुनाती हुई लौट जाती है। किन्तु श्री कृष्ण के मुख से प्यारी चन्द्रा का नाम सुन कर राधा फिर मान करती हैं और गौरी गृह में जाकर निकुंज विद्या का पूजन करती हैं। यहाँ गौरी मन्दिर में छद्मवेषी श्री कृष्ण ही निकुंज विद्या बने हुए हैं। जटिला भी यह देखकर प्रसन्न होती है। इसी अवसर पर पूर्णमासी आती है और श्री राधामाधव के नित्य संयोगशाली रूप की अभ्यर्चना करती है।

इस नाटक से हिन्दी नाट्य संसार की एक उजड़ी हुई बस्ती का अनुसंधान हो जाता है। गौड़ीय संप्रदाय का यह सर्वश्रेष्ठ नाटक नाटक के इतिहास की टूटी हुई कड़ी को जोड़ने वाला सिद्ध हो रहा है। रूपगोस्वामी की नाटक चन्द्रिका के नाटकीय सिद्धान्तों का सफल प्रयोग इस नाटक में पाया जाता है। माधुर्य भक्ति का दिव्य नाटकीय रूप इस नाटक में झलकता है।

रस—इस नाटक में भक्ति रस के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर नामक पाँचों मुख्य भेद उपलब्ध हैं। इसमें मधुर रस ही अंगी रस है तथा अन्य रस अंग रूप हैं। इसमें मधुरा रति के तीन भेद साधारणी, समजसा और समर्था में समर्था रति का ही विशद स्वरूप झलकता है। समर्था रति ही सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है क्योंकि इसमें उपासक भगवान कृष्ण की प्रसन्नता के लिए उपासक बनता है। उस प्रेम में स्वार्थ की कहीं गन्ध भी नहीं होती। यही रतिभाव राधाभाव अथवा महाभाव कहलाता है। रूप-गोस्वामी ने रति और महाभाव का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है, "विघ्न द्वारा अप्रतिहत रति को प्रेम कहते हैं और वही वृद्धिक्रम से स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव का रूप ग्रहण कर लेती है। इसी भाव का परमोत्कृष्ट रूप महाभाव है। इस नाटक में इसी महाभाव की व्याख्या अर्थात् प्रेम की सात स्थितियों का विकासक्रम सात अंकों में दिखाया गया है।

अनूदित नाटक—

आलोच्यकाल में विभिन्न भाषाओं के उत्तमोत्तम नाटक भी रंगमंच पर खेलने एवं विद्वद्गोष्ठी में पढ़ने के लिए अनूदित हुए। रवीन्द्र जयन्ती के विश्व-व्यापी आन्दोलन का एक सुपरिणाम यह हुआ कि उनके प्रायः सभी नाटक मुख्यतः 'डाकघर', 'रक्त करवी', 'मुक्ति का रहस्य', 'विसर्जन', 'राजारानी' अनेक हिन्दी रंगमंचों पर अभिनीत हुए। नृत्य और गीत पर आधृत इनके अभिनीत नाटकों का हिन्दी नाट्य संसार पर बड़ा स्वस्थ प्रभाव पड़ा। रवीन्द्रनाथ का मानवतावाद, नाट्यकला के माध्यम से हिन्दी भाषा-भाषी जनता के हृदयों पर एक नया प्रभाव लेकर आया। इनके नाटकों में काव्यकला, नाट्यकला और संगीत कला का अद्भुत मिश्रण हिन्दी-नाट्यकारों को नये पथ का निर्देश करता है। हिन्दी नाटकों में उक्त तीनों कलाओं का समन्वित रूप प्रसाद के उपरान्त विरल ही दिखाई पड़ता है। आशा है कि रवीन्द्र की नाट्यशैली से प्रभावित होकर हिन्दी में ऐसे नाट्यकार उत्पन्न होंगे जो काव्य, नाटक और संगीत की त्रिवेणी में नाट्य प्रेमियों को अवगाहन कराकर उनके मनोरंजन के साथ-साथ रुचि-परिष्करण भी कर सकेंगे।

हिन्दी में बँगला के अतिरिक्त मराठी, तामिल, पंजाबी के भी नाटक अनूदित हुए। बँगला की कहानियों का नाटकीय रूप भी प्रस्तुत किया गया। जबलपुर के बंगाली-क्लब में 'काबुली वाला' नामक प्रसिद्ध कहानी को नाटक के रूप में सफलतापूर्वक शहीद स्मारक के उत्सव पर खेला गया। मराठी के प्रसिद्ध नाटककार मामा साहब के मराठी नाटक का अनुवाद "वर का बाप" दहेज प्रथा को एक सामाजिक अभिशाप के रूप में प्रदर्शित करता है। जबलपुर के महाराष्ट्र साहित्य संघ ने इसका अभिनय किया। श्री बाल कोल्हाटकर के प्रसिद्ध नाटक "दुरितांचें तिमिर जाओ" का हिन्दी अनुवाद "दुष्टों का अन्धकार दूर हो" महाराष्ट्र

नाट्य-समाज द्वारा प्रस्तुत किया गया । इस नाटक में पुजारी अप्पा साहब और उनके परिवार की जीवन-घटना दिखलाई गई है। गाँव के मन्दिर की छाया में शान्तिपूर्वक बसने वाला यह परिवार नगर के एक अपराधी एवं पापी व्यक्ति पंत के द्वारा जो पुजारी की पुत्री से विवाह का षड्यंत्र रचता है, किस प्रकार विक्षुब्ध हो उठता है, इसी की झाँकी इसमें दिखलाई गई है । श्रीमती स्वामीनाथन के तामिल नाटक का हिन्दी अनुवाद "नौकर की तलाश" नाम से जीवन कला-मंडल जबलपुर के द्वारा अभिनीत हुआ । इसमें एक कम्पनी के मैनेजर श्री कनगसा अपनी टाइपिस्ट चन्द्रा से विवाह करना चाहते हैं। कम्पनी के कई अन्य अधिकारी भी कुमारी चन्द्रा से प्रेम करने लगते हैं। किन्तु वह सबको मूर्ख बनाती है और अंत में इस रहस्य का उद्घाटन होता है कि कुमारी चन्द्रा का वास्तविक नाम कुमारी सुशीला B. Sc. है और वह कंपनी के आचारहीन कर्मचारियों के गुप्त रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए टाइपिस्ट के रूप में नियुक्त की गई थी। नाटक के अंत में मैनेजर श्री कनगसा को पदच्युत कर दिया जाता है और कुमारी सुशीला का विवाह सोना चलम नामक चपरासी से जो वास्तव में कंपनी के एक स्वामी राम स्वामी का संबंधी है, हो जाता है। परितोष गार्गी के पंजाबी नाटक का हिन्दी अनुवाद "छलावा" नाम से प्रकाशित हुआ जिसका अभिनय दिल्ली के रंगमंचों पर सफलतापूर्वक हुआ हैं। बलवन्त गार्गी के पंजाबी नाटक भी हिन्दी में रूपांतरित हुए।

विदेशी भाषाओं के कई नाटक इस वर्ष हिन्दी में अनूदित हुए। शेक्सपियर के अधिकांश नाटकों का गीत रहित अनुवाद रांगेय राघव ने प्रस्तुत किया। इनमें प्रमुख हैं—"बारहवीं रात" (Twelfth Night), "एक सपना" (A Midsummer Night's Dream), "सम्राट् लियर" (King Lear), "तिल का ताड़" (Much Ado About Nothing), "तूफान" (Tempest), "परिवर्तन" (Taming of the Shrew) "निष्फल प्रेम" (Love's Labour's Lost) "भूल भुलैया" (Comedy of Errors)। बर्नार्ड शा के नाटक 'दि डाक्टर्स डाइलेमा' (The Doctor's Dilemma) और 'दि डेविल्स डिसाइपिल (The Devil's Disciple) का हिन्दी रूपाँतर 'डाक्टर की उलझन' तथा 'शैतान' नाम से हुआ। आलिवर गोल्ड स्मिथ के दो नाटकों 'दि गुड नेचर्ड मैन' तथा 'शी स्टूप्स टु काँकर (She Stoops to Conquer) के अनुवाद, 'सज्जनता की विजय' और 'दुलहिन की जीत' नाम से किया गया। 'सज्जनता की विजय' नाटक का नायक हनीउड सर विलियम का गोद लिया हुआ भतीजा है जिसमें परोपकार की भावना कूट-कूट कर भरी है। उसकी सरलता और सज्जनता से लाभ उठाकर उसके कपटी मित्र उससे स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं। हनीउड के पड़ोसी की कन्या कुमारी रिचलैण्ड का हनीउड से स्वाभाविक प्रेम है। दोनों एक दूसरे से आकर्षित हैं। किन्तु मिस्टर क्रोकर अपनी परिपोषिता कुमारी रिचलैण्ड का व्याह अपने पुत्र लेवन टाइन से करना

चाहते हैं। लेवन टाइन का प्रेम आलीविया नामक कुमारी से है। दोनों भाग कर स्काट लैण्ड में शादी करने की तैयारी करते हैं। कहानी विभिन्न मोड़ लेती हुई अन्त में हनीउड और रिचलैण्ड के परिणय के साथ समाप्त होती है और सर विलियम की यह शिक्षा "जो अपनी इज्जत आप नहीं करता उसकी दुनियाँ में कोई नहीं करता। जो सिर्फ दूसरों की तारीफ पर आशा लगाये रहता है उसका सुख और उसकी खुशी अपने अधिकार में न रह कर दुनियाँ के अधिकार में रहती है।" सभी नवयुवकों के लिए ग्राह्य है।

गोल्डमिस्थ के दूसरे नाटक 'दुलहिन की जीत' की मूल कथा कुमारी हार्ड केसिल और मार्लो के जीवन से संबंध रखती है और प्रासंगिक कथा कुमारी नेवील और हेस्टिंग्स के प्रेम संबंध से। टोनी नामक एक शैतान व्यक्ति, कुमारी हार्ड केसिल से, जिसे वह भूल से नौकरानी समझ रहा था, विवाह कर लेता है। कुमारी हार्ड केसिल नौकरानी के वेश में भी अपने प्रेमी का हृदय जीत लेती है। इस नाटक में सीधे-सादे घरेलू जीवन की कथा नाटकीय ढंग से दिखाई गई है। इसमें विनोद-हास्य और व्यंग्य का मिश्रित रूप पाया जाता है। यह अंग्रेजी साहित्य के उत्तम नाटकों में परिगणित होता है।

संस्कृत के नाटकों का हिन्दी रूपान्तर एक नयी शैली लेकर आ रहा है। श्री राधाकृष्ण ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल" को हिन्दी रंगमंच के लिए अभिनेय रूप में रूपान्तरित किया है। रेडियो पर प्राचीन संस्कृत नाटकों के ऐसे रूपान्तर प्रसारित किए जा रहे हैं जिनसे सामान्य जनता सहज ही रसास्वादन कर सके। इन रूपान्तरों में मूल घटनाओं का ही शृंखलाबद्ध रूप उपस्थित किया जाता है। रंगमंच पर प्रभाव डालने वाली कथाओं का विशद रूप जनता के सामने प्रस्तुत करना ही नाट्य-कारों का मूल उद्देश्य रहता है। संस्कृत नाट्यकारों के काव्यगत चमत्कारों की उपेक्षा पाई जाती है।

इस आलोच्य काल में संस्कृत के प्रमुख नाट्यकारों, भास, कालिदास, हर्ष, भवभूति आदि की प्रमुख रचनाओं के हिन्दी रूपान्तर रंगमंचों पर खेले गये और रेडियो से प्रसारित हुए।

लोक नाट्य—

स्वतन्त्रता के उपरान्त महत्ता और प्रचार की दृष्टि से सबसे अधिक विकास लोक नाटकों का हुआ है। राष्ट्रपति-भवन तथा राज्यपालों के राजमहलों में लोक गीतों और लोक नाट्यों का समादर होने से जनता के मन में इस नाट्य कला की ओर भी रुचि बढ़ गई है। सामान्य ग्रामीण जनता से लेकर संसद् के मंत्रिमण्डल तक

लोक नाट्यों को देखने के लिए उत्सुक हो उठे हैं। आलोच्य काल में दिल्ली राजधानी में स्थान-स्थान पर रामलीला, यक्षगान, कुचपुड़ी, भवाई यात्रा, भगत, नवटंकी आदि लोक नाट्यों का प्रदर्शन हुआ। आल इण्डिया रेडियो के प्रयास से देश के सुयोग्य अभिनेताओं ने इनमें भाग लिया। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, पौराणिक इतिवृत्त के आधार पर अपनी-अपनी शैलियों में ये नाटक अभिनीत हुए।

ग्राम-विकास के कार्यकर्त्ता इन लोक नाट्य शैलियों में अपनी विकास-योजनाओं को सफल बनाने का यत्न करते रहते हैं। इस प्रकार योग्य कार्यकर्त्ताओं और अभिनेताओं के सहयोग से लोक नाट्यों का पुनर्जागरण काल उपस्थित हो गया है। आधुनिक सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर नये-नये नाटक इस नाट्य शैली में लिखे जा रहे हैं। परिवार नियोजन, कृषि की नवीन पद्धति, शिशु-पालन, ग्रामोद्योग की विकसित पद्धतियों को आकर्षक बनाने के लिए सारे देश में इस वर्ष भी अनेक नाटकों की रचना और उनका अभिनय हुआ।

दिल्ली में 'हिन्दुस्तानी-थियेटर' के तत्त्वावधान में रामलीला और कृष्णलीला का अभिनय खुले रगमच पर दीर्घकाल तक हुआ। इनसे आबाल वृद्ध वनिता का मनोरंजन के साथ धर्म-चिंतन भी हो सका। नृत्य और गीत पर आधृत इन नाटकों ने जन-समुदाय का जितना कल्याण किया कदाचित् किसी दूसरी नाट्य शैली ने न किया होगा।

हिन्दी-रंगमंच—

गत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी दिल्ली, कलकत्ता, पटना, बनारस, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, इन्दौर, ग्वालियर, चंडीगढ़, जयपुर, उदयपुर, जोधपुर, जबलपुर, बम्बई आदि बड़े-बड़े नगरों में व्यावसायिक एवं अव्यावसायिक नाट्य-मण्डलियाँ संगठित रूप से नाटकों का प्रदर्शन करती रहीं। इलाहाबाद का रंगमंच उत्तरोत्तर विकसित हो रहा है। आलोच्यकाल में जबलपुर में सेठ गोविन्द दास के प्रयास से परिक्रामी (मूविंग स्टेज) रंगमंच निर्मित हुआ है, जिस पर सेठ जी, प्रसादजी तथा अन्य नाट्यकारों के नाटक अभिनीत हुए। दिल्ली में अखिल भारतीय नाटक प्रतियोगिता खुले रंगमंच पर की गई जिसमें विविध भाषाओं के हिन्दी रूपान्तर के साथ-साथ बंगला, तेलगू, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के नाटक खेले गये। हर्ष का विषय है कि विद्वानो के मतानुसार हिन्दी नाटकों का स्तर किसी से नीचा नहीं रहा।

दिल्ली में विभिन्न नाट्य मण्डलियाँ समय-समय पर हिन्दी के नाटक खेलती रही हैं।

भारतीय नाट्य संघ, संगीत नाटक अकादमी और आल इण्डिया रेडियो ने उच्च कोटि के नाटकों के सृजन एवं प्रदर्शन के लिए इस वर्ष भी विविध गोष्ठियों का आयोजन किया। ऐसी गोष्ठियों में सभी भारतीय भाषाओं के साथ-साथ अंग्रेजी नाटकों और उनके अभिनय के सम्बन्ध में भी चर्चा हुई। मार्च ३१ से २ अप्रैल तक भारतीय नाट्य संघ के तत्त्वावधान में जो गोष्ठी हुई उसमें भाग लेने वाले व्यक्ति हैं:— मलयालम के थापिल भासी; कन्नड़ के नागराज; उड़िया के व्योमकेश त्रिपाठी; तामिल के जानकीरमण और राजमणि; बँगला के शम्भूमित्र, संस्कृत के डा० राघवन और आद्यारंगाचार्य; मराठी के नदकर्णी और जापानी भाषा के यए० ए० ओ० ई०। हिन्दी नाटकों और उनके अभिनय के सम्बन्ध में डा० लक्ष्मीनारायण लाल, नेमीचन्द्र जैन और डा० सुरेश अवस्थी ने भाग लिया। उक्त विद्वानों ने अपनी-अपनी भाषा के नाटकों की रचना और प्रदर्शन सम्बन्धी समस्याओं पर अपने विचार प्रगट किये। इस प्रकार हिन्दी का नाट्यकार और समालोचक आज विविध भाषाओं के नाट्य साहित्य एवं नाट्य-प्रदर्शन के सम्पर्क में आ रहा है। हिन्दी नाट्य-साहित्य की यह विशेषता रही है कि इसने अपना वातायन सदा खुला रखा। पारस्परिक विचार-विनिमय से नये शिल्प, नये इतिवृत्त की प्रेरणा स्वाभाविक है। आशा है कि हमारा नाट्य-साहित्य, हमारी नाट्य प्रदर्शन शैली और समीक्षा-पद्धति विश्व के साहित्य में उपयुक्त स्थान प्राप्त कर सकेगी।

उपसंहार—

आलोच्य काल में हिन्दी नाट्य धाराओं के विविध रूप स्पष्ट दिखाई पड़ रहे हैं। परंपरागत धार्मिक नाटकों में अमानवीय और अलौकिक तत्त्वों के स्थान पर असम्भावित घटनाओं को तर्कसम्मत और बुद्धिग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया गया है। 'कंस वध' और 'अपराजित' नामक नाटकों में इस तथ्य का हम विस्तृत विवेचन कर आये हैं। धार्मिक नाटकों की सबसे वेगवती धारा इस वर्ष नृत्य-गीत पर आधृत राम-लीला और कृष्ण-लीला के रूप में दिखलाई पड़ी है। स्वतन्त्रता के उपरान्त लोक-नृत्यों और लोक-गीतों के साथ-साथ लोक-नाट्यों का इतना अधिक प्रचार हुआ है, जितना कदाचित् विगत शताब्दी में भी न हुआ होगा। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। देश जब स्वतन्त्र होता है तो उसकी संस्कृति के दबे हुए अंग सहसा उभड़ आते हैं। जनतन्त्र के इस युग में जनरुचि का परिष्करण और जनमन रंजन करने वाले ये धार्मिक नाटक नवीन तेजस्विता के साथ गाँवों और नगरों के रंगमंचों पर अपनी छटा दिखाने लगे हैं।

राजनीतिक नाटकों में एक नया वातावरण दिखाई पड़ता है। आज विश्व के राजनीतिक वातावरण में साम्यवादी और समाजवादी नामक मेघ घटायें प्रायः टकराती हुई दिखाई पड़ती हैं और उस संघर्षण से उद्भूत विद्युत्कण अणुबम के रूपों में अग्नि ज्वाला बरसाते दिखाई पड़ते हैं। पृथ्वी से अंतरिक्ष तक व्याप्त होने वाला यह अग्नि स्तम्भ विश्व को विकम्पित बना रहा है। आज का नाट्यकार इस ज्वाला को बुझाने का कोई मार्ग पा नहीं रहा है। इसलिए राजनीतिक नाटकों में पूँजीवादी और साम्यवादी प्रवृत्तियों से उत्पन्न विश्व-कलह की झाँकी ही देखने को मिलती है, उसके परिहार का उपाय दिखाई नहीं पड़ता। हाँ, इतना अवश्य है कि पंचशील का झीना आवरण राजनीतिक कलह की झंझा से छिन्न-भिन्न हो चुका है। 'पंचमांगी' नामक नाटक में हम इसका विस्तार से विवेचन कर आये हैं।

आलोच्य काल में ऐतिहासिक नाटकों की धारा सबसे क्षीण दिखाई दे रही है। जगदीश चन्द्र माथुर का 'शारदीया' नाटक सन् १९६० के अन्त में प्रकाशित हो चुका था किन्तु उसका पठन और अभिनय सन् ६१ में ही देखने को मिला। इस लिए अभिनय की दृष्टि से इस नाटक की समीक्षा अभीष्ट होने से उसके वर्ण्य-विषय का विवेचन संक्षेप रूप से किया गया। श्री माथुर नाट्य कला और रंग-मंच दोनों के मर्मज्ञ हैं। उनका यह नाटक रंगमंच और नाट्यकला दोनों को एक नई दिशा का निर्देश कर रहा है। इसका अभिनय यद्यपि सन् ६१ में बहुत सफल नहीं प्रतीत हुआ तथापि रंगमंच के विकास और श्रोताओं के रुचिपरिष्कार के साथ इस नाटक की अभिनेयता विषयक सफलता अनिवार्य है।

हिन्दी के सामाजिक नाटक मूलतः विवाह एवं अर्थसमस्याओं को लेकर सामने आये हैं। कतिपय नाट्यकार इस निष्कर्ष पर पहुँच रहे हैं कि जब तक सामाजिक क्रान्ति नहीं आती, आर्थिक क्रान्ति का प्रभाव नगण्य ही रहेगा। श्रमिकों की हीनावस्था का कारण केवल उनकी आर्थिक दुर्व्यवस्था ही नहीं अपितु उनकी चरित्रगत हीनता भी है। वेतन और सुविधाओं की वृद्धि के साथ श्रमिक वर्ग अपने जीवन-स्तर को ऊँचा करने की अपेक्षा आचारहीनता और दुर्व्यसनों की ओर ही आगे बढ़ रहा है। अकर्मण्यता, आलस्य, मद्यपान आदि दुर्गुण यदि श्रमिक वर्ग को पराजित कर पाये तो देश का बड़ा दुर्भाग्य होगा। नाट्यकारों और अभिनेताओं से देश की पुकार है कि वे ऐसे नाटकों का सृजन और अभिनय करें जिससे जनसमुदाय के मन में कर्त्तव्यपरायणता और सच्चरित्रता के प्रति निष्ठा उत्पन्न हो।

देश में घूसखोरी, बेकारी, जातीयता, वर्गवाद आदि के रोग कीटाणु जिस रूप में प्लेग की तरह फैल रहे हैं उन्हें देखकर आज का नाट्यकार सिहर उठा है।

इससे अधिक शोचनीय स्थिति और क्या हो सकती है कि घूसखोरी का विरोध करने वाला ईमानदार अधिकारी उन कर्मचारियों का घृणापात्र बनने के कारण नौकरी से निकाल दिया जाता है जो वेतन से कहीं अधिक धन घूस के द्वारा अर्जित करके समाज में अपनी झूठी मर्यादा स्थापित करने की प्राण-पण से चेष्टा करते हैं। 'तीन दिन तीन घर' में इसका संकेत प्रभात के संवाद से स्पष्ट मिलता है जिसका निर्देश हम इस नाटक की विवेचना में कर आये हैं।

हिन्दी उपन्यास : १६६१

महेन्द्र चतुर्वेदी

अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में कथानक के आयाम के विवेचन में अत्यन्त सूक्ष्म आकार तथा वैसे ही अतिशय विराट् आकार की वस्तुओं के अवलोकन में द्रष्टा की कठिनाइयों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि प्रथम का तो 'बिम्ब सर्वथा अस्पष्ट रह जाता है।' और द्वितीय के अवलोकन में 'दृष्टि उसके समग्र रूप को एकसाथ ग्रहण नहीं कर सकती जिसके फलस्वरूप द्रष्टा के मन में उसकी पूर्णता और एकत्व की भावना खण्डित हो जाती है।' उक्त वक्तव्य का आधार देशगत प्रसार है किन्तु कालगत प्रसार के सन्दर्भ में भी वह उतना ही सत्य है। जैसे सुदूर अतीत में घटित किसी व्यापार का निर्भ्रान्त बोध कठिन होता है, वैसे ही अत्यन्त निकटवर्ती व्यापार के प्रति भी द्रष्टा का परिप्रेक्ष्य प्रायः सीमित और तत्कालीन प्रतिक्रियाओं के कारण परिबद्ध रहता है। इस दृष्टि से किसी भी साहित्य-विधा का विगत वर्ष का मूल्यांकन बड़ी सतर्कता और अत्यन्त तटस्थ दृष्टि की अपेक्षा करता है। सबसे पहली बाधा तो आलोच्य उपन्यासों के चयन की ही है। उपन्यास आज के युग में इतनी लोक-प्रिय विधा हो गई है कि प्रकाशित साहित्य में शायद सबसे अधिक संख्या औपन्यासिक कृतियों की ही होती है। इन अनेक रचनाओं में से कुछ का चयन कर लेने के दो ही आधार हो सकते हैं—एक तो यह कि वे प्रतिनिधि रचनाएं हों; दूसरे यह कि उनमें व्यष्टि-लेखकों की कलात्मक सिद्धि परिलक्षित होती हो। प्रस्तुत विवेचन में मेरा दृष्टिकोण यही रहा है।

उपन्यास के विरुद्ध अनेक आक्षेपों का उत्तर देते हुए जेन आस्टिन ने एक स्थान पर लिखा है, "(इसी साहित्य-रूप के द्वारा) यह सम्भव होता है कि मानव-स्वभाव का यह गहनतम ज्ञान, उसके वैविध्य का रोचक और रंजक अंकन········· उत्कृष्ट वरेण्य भाषा में संसार के प्रति सम्प्रेषित किया जा सके।" 'मानव-स्वभाव का यह गहनतम ज्ञान' निर्वात स्थिति में उपलब्ध नहीं हो सकता—उसके लिए एक पीठिका की आवश्यकता होती है और वह पीठिका है सामाजिक-वैयक्तिक परि-स्थितियों की। उपन्यास की सामग्री समग्रतः मिश्रित होती है। उसकी धारा वस्तुतः दो तटों के बीच में प्रवाहित होती है—एक तट होता है सामाजिक इतिहास का और

दूसरा अमूत दशन अथवा प्रगीति काव्य का। प्रथम तट वस्तुपरकता का है और द्वितीय आत्मपरकता का। इन दोनो तत्त्वो के सुष्ठु समन्वय मे ही उपन्यासकार की सिद्धि है—बहिरग और अन्तरग तत्व, बहिमु खी और अन्तमु खी प्रवत्ति के सामजस्य के बिना उपन्यास की गति नही।

अब यदि हम इस स्थापना के आलोक मे १९६१ की औपन्यासिक कृतियो पर दृष्टिपात करे तो परिणाम बहुत सन्तोषजनक नही निकलेगा। इस वष एक भी ऐसा उपन्यास नही लिखा गया जिसमे अन्तरग और बहिरग जीवन की कोई समन्वित व्याख्या प्रस्तुत हुई हो। यही नही ऐसा भी कोई उल्लेखनीय उपन्यास नही जो या तो मनोवैज्ञानिक तत्त्वो की अचक पकड के बल पर अन्तरग मानव के किसी पक्ष का उदघाटन करता हो या हमारे आज के बाह्य जीवन की टूटती बदलती धाराओ को ही प्रभावात्मकता के साथ समेट पाता हो। इस दृष्टि से १९६० का वष अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध था और अपनी कतिपय रचनाओ के कारण स्मरणीय भी।

इस वष जो तथ्य सबसे पहले हमारा ध्यान आकर्षित करता है वह यह है कि किसी भी जाने-माने लेखक का कोई ऐसा उपन्यास नही, जिसमे राजनीति के प्रकट सूत्रो का समावेश हो। स्वतन्त्रता के पश्चात् राजनीतिक उपन्यासो की अथवा राजनीतिक सूत्रो से सश्लिष्ट उपन्यासो की धारा निरन्तर क्षीण होती जा रही है। वस्तुत सत्य यह है कि यद्यपि आज का लेखक अपने परिवेश के प्रति पहले से अधिक जागरूक है परन्तु फिर भी सक्रिय राजनीति से, मतवादी राजनीति से, वह तटस्थ होता जा रहा है। उसकी दृष्टि वैयक्तिक और नैतिक समस्याओ पर अधिक केन्द्रित हो गई है। आज के कथाकार मे जीवन और उसकी व्यापकता और वैविध्य मे चित्रित करने के प्रति इतना आग्रह नही, वह तो अपनी अनुभूति को उसकी एकान्त तीव्रता मे अकित करने के लिए अधिक प्रयत्नशील रहता है। उपन्यासकार की यह राजनीति-निरपेक्ष प्रवृत्ति आज के बौद्धिक जीवन की एक मुखर विशेषता को परिलक्षित करती है।

इस वष के उपन्यासो मे जिस रचना की काफी चर्चा हुई है वह है श्री मोहन राकेश की प्रथम औपन्यासिक कृति —'अँधेरे बन्द कमरे'। आज साहित्य के क्षेत्र मे प्रकाशक की जो सत्ता स्थापित हो गई है और प्रकाशक जिस प्रकार समीक्षको तथा पाठको की प्रतिक्रियाओ को प्रभावित करने मे समथ होता जा रहा है—प्रस्तुत कृति इसका एक उदाहरण है। यह स्थिति बहुत शुभ नही कही जा सकती। 'अन्धेरे बन्द कमरे' आधुनिकता के नाम पर आद्यन्त एक उलझी हुई कृति है जिसमे अपने पात्रो के विचित्र एव अबूझ व्यवहारो के प्रति न तो लेखक का अपना ही कोई दृष्टि-कोण स्पष्ट होता है और न पाठक के मन मे ही कोई निर्भ्रान्त प्रतिक्रिया जाग पाती है। लेखक ने दिल्ली के उच्च एव निम्न मध्यवर्गीय जीवन को पृष्ठभूमि के रूप मे

ग्रहण करके एक दुर्बलवृत्ति पात्र मधुसूदन के माध्यम से उसका खोखलापन, उस जीवन में प्रत्येक स्तर पर छाई हुई घुटन और कृत्रिमता को सुधारने का प्रयत्न किया है। उच्च मध्यवर्गीय शिक्षित दम्पति के जीवन में साम्य के नाम पर कैसा वैषम्य और असामंजस्य परिव्याप्त है—यह सत्य हरबन्स और लीला के माध्यम से चरितार्थ हुआ है। वे आंतरिक स्नेह-सूत्रों के बावजूद अपने जीवन को एक दूसरे के साथ बाँध कर रख पाने में असमर्थ प्रतीत होते हैं—हर घटना मानो एक झटका देकर इन सूत्रों को कमज़ोर बना जाती है। उपन्यास की विविध घटनाओं और व्यापारों का साक्षी और अन्त में स्वयं नारी के प्रति सामन्ती दृष्टिकोण का परिचय देने वाला पात्र मधु-सूदन मानो इस जीवन के खोखलेपन का जीवन्त प्रतीक है। आज का व्यक्ति अपनी जीवन-अनुभूतियों की विविधता के बावजूद बेहद सीमित हो गया है—सारा जीवन मानो 'अन्धेरे बन्द कमरे' में घिर कर घुटन में साँसें तोड़ रहा है। मुझे राकेश से शिकायत यह है कि इस जीवन को वे मानो एक उच्चस्तर धरातल से खड़े होकर देखते-परखते हैं—निर्लिप्त रहकर; और इसीलिए उनकी दृष्टि इस जीवन के पर्त उघारते समय व्यंग्य, आक्रोश और वितृष्णा से पुष्ट रही है, सहानुभूति से नहीं। फलतः 'अँधेरे बन्द कमरे' का विघटनग्रस्त दयनीय जीवन हमारे मम का स्पर्श नहीं करता और यह कलाकार की साधारण असफलता नहीं है। इस दृष्टि से मैं 'अँधेरे बन्द कमरे' को सर्वथा साधारण कलात्मक उपलब्धि मानता हूँ और अपने बृहत् कले-वर के अनुपात में तो वह और भी क्षीण लगने लगती है।

इसमें संदेह नहीं कि आज के संक्रान्तिकालीन जीवन के विविध स्तरों को उनकी समग्रता में देख पाना सरल कार्य नहीं, उसके लिए बड़े व्यापक परिप्रेक्ष्य और अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा होती है। हर धरातल पर जीवन में जो रूपान्तर घटित हो रहा है, उसके अत्यन्त निकट होने के कारण लेखक के पूर्वाग्रह, उसकी अपनी धार-णाएँ एवं संस्कार उसके निरूपण को आक्रान्त-सा कर लेते हैं क्योंकि आखिर उपन्यास-कार का समष्टि-मानव रूप भी तो होता है और वह अनेक सूत्रों से इस जीवन और उसके परिवर्तन से जुड़ा होता है। पर आज के जीवन की विषमताओं और अन्त-र्विरोधों को चित्रित करने के लिए उपन्यास से अधिक सशक्त माध्यम भी और कोई नहीं हो सकता। अतः चिन्तनशील उपन्यासकार का ही यह दायित्व है कि वह किसी-न-किसी धरातल पर असंगतियों और अन्तर्विरोधों के बीच संमिति के दर्शन करे-कराये। इसके बिना उसकी रचना मे प्रभाव-क्षमता नहीं आ सकती। राकेशजी इस दिशा में सर्वथा असफल रहे हैं।

आज की पुरुष-प्रधान समाज-व्यवस्था में नारी जीवन की विवशता और विडम्बना का चित्रण डा० लक्ष्मीनारायण लाल के 'बड़ी चम्पा छोटी चम्पा' में हुआ है। 'बड़ी चम्पा छोटी चम्पा' वेश्या-जीवन पर आधारित रचना है। देह-विक्रय के अत्याचार के उन्मूलन का राजकीय आदेश और उससे वेश्या-समाज में उत्पन्न उद्वेलन

ही उसकी पृष्ठभूमि है। उपन्यास में नारी के दो रूप उभरते हैं। एक का प्रतिनिधित्व 'बड़ी चम्पा' करती है और दूसरी का 'छोटी चम्पा'। बड़ी चम्पा पत्नीत्व की सिद्धि में अपने जीवन की सार्थकता समझती है और गृहिणी-पद पाकर मानो कृतकृत्य हो जाती है। बड़ी चम्पा से 'गंगाबेलि' तक की दूरी मानो उसका साधना-मार्ग है किन्तु निर्दय समाज उसके विगत जीवन की कालिमा पर प्रकाश-पुंज बिखेर देता है। फूल बाबू का सामन्ती परिवार सम्पूर्ण समाज की उपेक्षा तो कर देता है किन्तु फूल बाबू स्वयं अपने मन के सम्मुख विवश हो जाता है—उसका मोह 'गंगाबेलि' के प्रति नहीं, बड़ी चम्पा के प्रति है। वह उसके उसी शोख, चंचल और मदोन्मत्त-कारी रूप की कामना करता है। वह वेश्या को पत्नी और फिर पत्नी को वेश्या के रूप में पाना चाहता है। यह दुविधा ही पुरुष-मन का यथार्थ है और नारी का सबसे बड़ा दुर्भाग्य। दूसरी ओर छोटी चम्पा अपनी अहम्मन्य प्रकृति और रूप-गर्व के कारण पुरुष को हेय समझती है। वासना का दास पुरुष जब नारी के इंगित मात्र पर सर्वस्व समर्पण कर सकता है तो नारी को एक पुरुष की दासी बनने के बजाय अनेक रूपलुब्ध पुरुषों की स्वामिनी बनकर जीवन का उपभोग क्यों नहीं करना चाहिए—यही उसकी तर्क-पद्धति है। किन्तु पत्नीत्व की अपेक्षा नारी की एक और प्रबलतर कामना होती है—मातृत्व की ; और यही कामना छोटी चम्पा के जीवन की पराजय है। इस लघु उपन्यास में डा० लाल ने नारी-मन की दो समानान्तर प्रवृत्तियों का प्रभावशील चित्रण किया है और उसके जीवन की विषमताओं और कठिनाइयों को गहरी रेखाओं में उभारा है। कुछ इसी प्रकार के जीवन पर आधारित यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' का उपन्यास है 'गुनाहों की देवी', जिसमें राजस्थानी नारी की विवशताओं का चित्र उरेहा गया है। यादवेन्द्रजी की दृष्टि बड़ी सतही है और वे, लगता है, जीवन-अनुभवों के प्रति अपने मन की प्रतिक्रियाओं को स्थिर नहीं होने देते। उनके अनुभव उनके मानसिक अस्तित्व के अंग बने बिना ही मानो उपन्यास के पन्नों में बिखर पड़ते हैं, प्राण-रस में पगकर नहीं आते। उनके लेखन में गहराई का एकान्त अभाव है। समाज-नारी के दो रूप यज्ञदत्त शर्मा के 'सुन्दर और असुन्दर' में भी प्रस्तुत किये गये हैं। विमला और मालती के अन्तर और बाह्य में एकान्त वैषम्य है। प्रथम भारतीय नारीत्व की प्रतिमा है और दूसरी पाश्चात्य आदर्शों में पगी हुई। यज्ञदत्त शर्मा के ये दोनों पात्र, परन्तु सर्वथा निष्प्राण और प्रभावहीन हैं। छः पृष्ठ की कहानी के योग्य कथानक का प्रसार यदि १८४ पृष्ठ में कर दिया जाय तो उसमें कहाँ तक गहराई रह सकती है? यों गहराई का उनके सभी उपन्यासों में अभाव है किन्तु यहाँ तो कथा-पक्ष भी अत्यन्त दुर्बल है। नारी और पुरुष के सम्पर्क और एक दूसरे के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं का सशक्त चित्र शिवानी की 'मायापुरी' में उभरा है। उक्त लेखिका से भविष्य में अच्छी रचनाओं की आशा की जा सकती है।

मन्मथनाथ गुप्त के उपन्यास 'देख कबीरा रोया' में भी प्रकारान्तर से 'नारी' और 'सेक्स' की समस्या का अन्तर्भाव है। हम मन के धरातल पर बड़े-बड़े आदर्शों और

सिद्धा तो के पोषक होने का दम्भ कर सकते हे कि तु जहा व्यावहारिक धरातल पर कदम रखा कि सारी आदशवादिता तिरोहित हो जाती है। गुप्तजी सीधे-सादे ढग से कहानी कहने मे विश्वास रखते है। उनके पात्र दैनन्दिन जीवन की भाषा बोलते है और मानव स्वभाव के अनुरूप व्यवहार मे हर प्रकार के कृत्य मे प्रवृत्त हो सकते है। मनुष्य तो आखिर मनुष्य है और मनसा कितना ही ऊपर उठ जाने पर भी दैहिक जीवन की आवश्यकताएँ उसे अपनी सीमाओ मे बाधे रहती है। 'देख कबीरा रोया' एक ऐसी सीधी सादी कहानी है जिससे यह ध्वनित होता है कि आदशवादी और सत्यनिष्ठ व्यक्ति इस ससार मे प्राय दु ख का ही भागी हो जाता हे जबकि व्यवहार कुशल, समाज-चतुर, यथाथपरायण व्यक्ति अपने लिए भौतिक सुख-समृद्धि के सभी माग उ मुक्त कर लेता है। पडित मातादीन जैसा ईमानदार और उनके साले जैसा चतुर, कृष्णमोहन जैसा धनाढ्य और खचेडू जैसा निधन-निष्ठावान—उप यास के पात्र वैषम्य की गहरी रेखाओ के द्वारा अपनी छाप डालते है। गुप्तजी का जीवन-दशन कुछ हद तक भौतिकवाद माक्सवाद से प्रभावित है। उनकी रचनाओ मे जो सामाजिक सजगता रहती है, वह कभी कभी अतिरजित-सी प्रतीत होने लगती है। रोचकता गुप्तजी की कला का सबल पक्ष है। यह उप यास साधारण होते हुए भी मार्मिक है आर आधुनिक जीवन के ऊहापोह का अच्छा चित्र प्रस्तुत करता है।

'धरती मेरा घर' रागेय राघव का नवीनतम उप यास है। डा० रागेय राघव हि दी की विशिष्ट प्रतिभा है और उनकी बहुमुखी मेधा ने अपनी लेखनी के वरदान से इसी साहित्य-रूप को सबसे अधिक समृद्ध किया है। उनकी प्रत्येक रचना कुछ न कुछ नवीनता लिए रहती है। इस साधारण-सी कहानी मे भी अ तिम पृष्ठो की मुक्त कविताओ ने एक नया रग-रस पैदा कर दिया है। पास्तरनाक की सुप्रसिद्ध कृति डा० जिवागो के अन्त मे जैसे मुरय पात्र की कविताओ का कई पृष्ठो मे प्रसार है, उसी प्रकार 'धरती मेरा घर' मे भी कृष्ण की मानवीय सवेदनाओ से ओतप्रोत रचानाएँ है। एक नए मानववाद का स्वर, ऊँच नीच के भेद का काव्यमय विवेचन 'धरती मेरा घर' की विशेषता है। आरम्भ मे कुछ ऐसा लगता है मानो लेखक का म तव्य लोहपीटो के सामाजिक नैतिक जीवन का निरूपण और उसके माध्यम से मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा करना हो—जैसे लेखक के पिछले उप यास 'कब तक पुकारूँ ?' मे नटो के जीवन का एक व्यापक सश्लिष्ट चित्र हमारे सम्मुख उभर आता है कि तु उक्त जीवन की एक हल्की सी झाकी ही हमे मिल पाती है। यथावसर आधुनिक सामाजिक-राजनीतिक जीवन पर हल्के गहरे व्यग्य भी उप यास मे मिल जाते है। उप यास का मूल स्वर मानववादी है जो हि दी मे एक स्वस्थ परम्परा है और जिसके परिप्रेक्ष्य मे हिन्दी मे कम ही उप यास लिखे जा रहे है। आज के अधिकाश उपन्यासो के विपरीत 'धरती मेरा घर' कुण्ठा, वितृष्णा और विक्षोभ के

विस्फोट का परिणाम नहीं। कृष्ण की डायरी के अन्तिम शब्द भेद की दीवारों को भूमिसात् करने का सशक्त आह्वान हैं :

जब मैं आया था तब मेरी कोई जाति नहीं थी,
और जब मैं जा रहा हूँ, तब भी मेरी कोई जाति नहीं है—
आकाश को ऐसा ही खुला रहने दो,
धरती को भी मत बाँधो,
तुमने जो बीच-बीच में दीवालें खड़ी कर ली हैं
उन्हें गिरा दो······

इस लोहू को भेद और बन्धन की ज़ंजीर मत बना दो,
मैं यहां हूँ,
मुझे छूकर देखो—क्या मैं तुम से अलग हूँ ?
तुम जिसे व्यवहार का नाम देकर सिद्धान्त से अलग
करके देखते हो।

वह तुम्हारा डर है, रूढ़ि है,
वह तुम्हारी शंका है, वही तुम्हारा पाप है,
अब मैं जा रहा हूँ······
आज मैं निर्मल और स्वतन्त्र हूँ क्योंकि
आकाश मेरी छत है और धरती मेरा घर······

'सत्यानासी के फूल' नये लेखक सूर्यकुमार जोशी की नई रचना है। यह अनादि काल से चली आ रही समस्या—अपराध और दण्ड की समस्या—को लेकर लिखी गई है। कैसे एक अपराध दूसरे अपराध को जन्म देता है और कैसे एक विषम चक्र-सा स्थापित हो जाता है—यह वर्णन प्रथम पुरुष में एक भूतपूर्व थानेदार द्वारा किया गया है। किन्तु समस्या पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता—वह पूर्ववत् बनी रहती है और लेखक मानो पराजय स्वीकार कर लेता है—"समाज का कोप ही समाज का न्याय है लेकिन कमबख्ती यह है कि समाज से रिश्ता क़ायम किये बिना, चाहे वह पुलिस दरोगा हो या एक डाकू या एक साधु या एक बन्दी के रूप में हो, दुनियाँ में रहा भी तो नहीं जा सकता।" किन्तु समाज-सापेक्ष जीवन में रचनाकार ने न अपराध को सापेक्ष माना है, न दण्ड को। व्यक्ति में हिंसा-प्रतिहिंसा की जो भावना होती है उसे ही लगता है लेखक ने प्रवचनमूलक कथा में पिरोने की चेष्टा की है। जोशी की भाषा में जान है, पर मूल बात तो यह है कि जिस समस्या पर लेखक ने

कलम उठाई है उसे सुलझाने की ओर कोई सशक्त संकेत तो दूर की बात है, सही कथात्मक विश्लेषण भी वह नहीं कर पाये हैं।

तीन पुराने लेखकों की भी नई रचनाएँ इस वर्ष प्रकाश में आई हैं—स्वर्गीय आचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'मोती', प्रतापनारायण श्रीवास्तव की 'वंदना' और भगवती प्रसाद बाजपेयी की 'रात और प्रभात'। 'मोती' आचार्य जी की अधूरी रचना है जिसे उन्होंने १९२९ में लिखना आरम्भ किया था परन्तु दैव-दुर्विपाक से वह पूरी नहीं हो पाई। उसी रचना के अस्त-व्यस्त पृष्ठों को क्रमबद्ध करके प्रकाशित कर दिया गया है किन्तु फिर भी आचार्यजी के रचना कौशल का उसमें अभाव ही परिलक्षित होता है। रचनारम्भ-काल के अनुरूप उपन्यास में तीसरे दशक के क्रान्तिकारी आन्दोलन को ही पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण किया गया है। 'मोती' एक ऐसा अकर्मण्य, झूठा, वेश्या बहन के टुकड़ों पर पलने वाला पात्र है जिसे जीवन में सतही सुख के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु की आकांक्षा नहीं किन्तु वही मोती देशभक्त वेश्या के व्यंग्य बाण और क्रान्तिकारी हंसराज के सम्पर्क से मानो एक फौलादी व्यक्तित्व के रूप में ढल जाता है और बड़े-से-बड़े बलिदान के लिए तत्पर दिखाई पड़ता है। आचार्य जी ने यह कहने का प्रयत्न किया है कि देशभक्ति की भावना ऊँच-नीच के भेदों को स्वीकार नहीं करती और मन को प्रभावित करके परिस्थितियाँ व्यक्तित्व में बड़े-से-बड़ा, अविश्वसनीय रूपान्तर घटित कर सकती हैं किन्तु उपन्यास का अधूरापन इस बात से स्पष्ट है कि मोती के इस मानसिक परिवर्तन के लिए पर्याप्त सुदृढ़ मनोवैज्ञानिक भूमिका प्रस्तुत नहीं की गई और यह रूपान्तर पाठक के मन में प्रत्यय नहीं जगा पाता। यों आचार्यजी प्रेमचन्दकालीन उपन्यासकार थे और मन के निगूढ़ व्यापारों के विश्लेषण की ओर उनका इतना आग्रह भी नहीं रहा। 'मोती' की अपेक्षा हंसराज अपने जीवन की तूफानी गति के कारण और ख़ानबहादुर नवाब नियाज़ अहमद अपने विघटनग्रस्त जीवन की यथार्थपरकता के कारण कहीं अधिक सशक्त पात्र बन पड़े हैं।

आचार्य चतुरसेन प्रेमचन्द के समकालीन होते हुए भी कई दृष्टियों से उनसे भिन्न थे और कुल मिलाकर उनके कृतित्व पर उनके व्यक्तित्व की एक गहरी छाप है किन्तु प्रतापनारायण श्रीवास्तव का लेखन-स्तर आज भी वही है जो प्रायः ३५ वर्ष पहले था। इस अवधि में सामान्यतः कथा-साहित्य की गति अन्तराभिमुख रही है और आज का उपन्यासकार बाह्य संसार के स्थूल कार्य व्यापारों के निबन्धन द्वारा मनोरंजन करने की अपेक्षा मानस का मरजीवा बनकर कुछ अमूल्य मोती निकाल लाने के लिए अधिक प्रयत्नशील रहता है किन्तु श्रीवास्तव जी की एक सीमा है और वे शायद उससे आगे नहीं जा पाते। 'विदा' १९२७ में प्रकाशित हुआ था, उन्हीं कथा-सूत्रों को ग्रहण कर 'वन्दना' की कहानी आगे बढ़ी है। किन्तु यह निरन्तरता चरित्र नामों की ही है, या कभी-कभी विगत स्मतियों के नाम पर कुछ पिछली घटनाओं के

उल्लेख मात्र हो गये हैं । कथासूत्र इंगलैण्ड, मिस्र आदि देशों में फैलता चला जाता है और अन्त में स्वतन्त्रता-दिवस को सभी प्रमुख पात्र हर्षोल्लास के सहित स्वदेश लौटते हैं । कथागत घटनाओं के गुम्फन में संयोगों का पर्याप्त सहारा लिया गया है जो प्रेमचन्दयुगीन विशेषता है किन्तु अन्तरंग मानव के दर्शन हमें 'वन्दना' में कहीं नहीं होते । यहाँ व्यक्ति के अन्तर्मन और अन्तर्द्वन्द्व के निरूपण की आशा करना व्यर्थ ही है ।

इस त्रयी में तीसरा उपन्यास भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'रात और प्रभात' है । वाजपेयी जी एक प्रकार से प्रेमचन्द-युग और प्रेमचन्दोत्तर युग की कड़ी हैं। उनमें मध्यवर्गीय जीवन के अन्तर्विरोधों और विषमताओं के चित्रण का आग्रह तो है परन्तु वह पैनी दृष्टि नहीं जो यथार्थ परिवेश के तल में पैठकर व्यक्ति-मन के पर्तों को उघार सके और व्यक्ति के अन्तरग को प्रस्तुत कर सके । उपन्यास के बड़े भैया के व्यक्तित्व का प्रभाव मानो प्रभात के शुभ्र आलोक की भाँति सभी पात्रों की नैश कालिमा को धो डालता है—इस कालिमा के सबसे अधिक पर्त जमे हैं रामप्रसाद पर जो मानो 'रात' का प्रतिनिधित्व करता है । बड़े भैया अपने परम्परागत आदर्शों के प्रबल पोषक भी हैं किन्तु साथ ही अपने दृष्टिकोण का सन्तुलन भी कभी खोने नहीं देते किन्तु जिस प्रकार उपन्यास के पात्र उनके व्यक्तित्व से अभिभूत से रहते हैं और जिस हद तक उस व्यक्तित्व की बुलन्दी से कथाकार पाठक के मन को आक्रान्त करना चाहता है; वैसा चारित्रिक स्वरूप उपन्यास के विश्लेषण और घटना-संयोजन से उभर नहीं पाता । लगता है उपन्यासकार बरबस किसी ऐसे व्यक्ति के सामने हमें नतमस्तक कर देना चाहता है जिसकी वन्दनीयता के प्रति हम आश्वस्त नहीं हैं। स्वयं वाजपेयी जी की पूर्वकृतियों की तुलना मे यह उपन्यास अत्यन्त साधारण और प्रभावहीन है ।

उपर्युक्त उपन्यासों में अधिकांश ऐसे हैं जिनमें लेखक की दृष्टि और फलतः पाठक की दृष्टि भी परिवेश पर ही ठिठक कर रह जाती है, उस परिवेश में जीने वाले व्यक्ति के अन्तर्मन में प्रवेश नहीं कर पाती । 'अँधेरे बन्द कमरे', 'धरती मेरा घर' 'छोटी चम्पा बड़ी चम्पा'—ये ऐसे उपन्यास हैं जिनमें कुछ झाँकियाँ अन्तर्मन की और अन्तर्द्वन्द्व की अवश्य मिल जाती हैं ।

इधर, कई वर्षों से हिन्दी उपन्यास में आंचलिकता की प्रवृत्ति काफी बलवती होती जा रही है । वस्तुतः आज की परिस्थितियाँ इसके लिए बहुत अनुकूल हैं । इस प्रकार के उपन्यासों में लेखक अंचल-विशेष के अन्तरंग जीवन को इस प्रकार उभारता है कि उसकी अनन्यसामान्यता पाठक पर स्पष्ट हो जाये । आंचलिक उपन्यास की समृद्धि के लिए जीवनगत वैविध्य और अनेकरूपता आवश्यक पृष्ठभूमि होती है और इस पृष्ठभूमि का उपयोग हमारे साहित्यकारों ने हाल ही करना शुरू किया है । कारण

स्पष्ट है । विगत दशक में हमारे देश में वज्ञानिक प्रगति अभूतपूर्व रही है, सम्पर्क और संचार की सुविधाएँ बढ़ गई हैं । फलतः अंचलों की आंचलिकता, उनके जीवन की अनन्यसामान्यता, घट उठी है । आंचलिक निवासी ने बाहर का वैभव देखा-समझा है और दरिद्रता की विभीषिका वैभव के सम्मुख रखे जाने पर ही पूरे वेग से उभरती है । गांधी युग के अवसान के बाद यों भी राष्ट्रीयता की हिमराशि के नीचे प्रसुप्त आंचलिक भाव-धारा बड़ी प्रखर होती गई है । किन्तु आज सम्पूर्ण देश में निर्माण की जो विराट् योजनाएँ क्रियान्वित हो रही हैं, भावात्मक एकता के जो प्रयत्न हो हैं, देश के विविध क्षेत्रों के आर्थिक-सामाजिक जीवन को समान धरातल पर लाने की जो कोशिशें हो रही हैं उनके फलस्वरूप विविधता की उपर्युक्त स्थिति बहुत समय तक बने रहने की आशा नहीं की जा सकती और तब स्पष्टतः आंचलिक उपन्यास का आधार भी क्षीण और विलीन हो जायेगा । आंचलिक उपन्यास संक्रान्तिकाल की उपज है और अगले प्रायः १०-१५ वर्ष में इसकी जितनी समृद्धि हो जायेगी, वही एक प्रकार से इसकी मूलभूत निधि होगी ।

किन्तु इस वर्ष आंचलिकता का स्वर भी उपन्यास में विशेष सजग और समृद्ध नहीं रहा । यों कुछ नये उपन्यासकार इस दिशा में प्रवृत्त हुए हैं । शैलेश मटियानी का 'हौलदार', रामदरश मिश्र का 'पानी की प्राचीर' और हिमांशु श्रीवास्तव का 'नदिया फिर बह चली' आंचलिक स्वर से पुष्ट रचनाएँ हैं । मटियानी का 'हौलदार' उनके उत्तरोत्तर कला-परिष्कार और सजग साधना का प्रमाण है । वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से वे प्रगति कर रहे हैं । डा० रामदरश मिश्र ने गोरा और राप्ती नदियों से घिरे प्रदेश के अभावग्रस्त जीवन की कहानी कही है । इन ग्रामवासियों की अभाव-कथा में जीवन के विविध पक्ष उभारने के प्रयत्न ने एक बिखराव-सा ला दिया है । 'नदिया फिर बह चली' के लेखक हिमांशु श्रीवास्तव में मानववादी भावना तो है किन्तु उच्च वर्ग के प्रति एक प्रकार का द्वेष भी परिलक्षित होता है जो शायद उन्हें उनके जीवन पर तटस्थ दृष्टि नहीं डालने देता । प्रत्येक महिला के यौन जीवन का विवरण प्रस्तुत करना और उच्च वर्ग की महिलाओं पर द्वेष प्रेरित छींटाकशी तटस्थ कथाकार को शोभा नहीं देता । यथार्थ का अर्थ कुत्सित पक्ष में रस लेना नहीं होता—वह यथार्थ की विकृति है । उपन्यास में अंतिम पृष्ठों में स्वार्थ-प्रेरित राजनीति, जाति-पाँति के झगड़ों, वोट पड़ने की धमा-चौकड़ी का अच्छा चित्र उभरा है । कुल मिलाकर यह उपन्यास सामाजिक यथार्थ का अच्छा चित्र प्रस्तुत करता है ।

इन उपन्यासों में एक सामान्य कमजोरी यह है कि लेखक प्रायः आंचलिक जीवन के निरूपण में इतने डूब से गये हैं कि कहीं-कहीं अनुपात-भावना का भी तिरोभाव हो गया दीखता है । ये लेखक प्रायः यह मूल तथ्य भूल गये हैं कि आंच-

लिक उपन्यास के तत्वों में देश-काल की महत्ता अधिक अवश्य होती है पर फिर भी समस्त तत्वों को एक सूत्र में ग्रथित करने वाली शक्ति तो मूल संवेदना ही है—और यही एक ऐसा तत्व है जो स्थानीयता और आंचलिकता के जल से ऊपर रहकर कमलवत् अपनी सार्वभौमता सुरक्षित रखता है। यही आंचलिक उपन्यास की अपील का रहस्य है और उसकी साहित्यिक शक्ति और सम्प्रेषणीयता का आधार। वस्तुतः आंचलिक उपन्यासकार भी अन्ततः मानव-सत्य का ही अन्वेषी होता है और उसका दर्शन करने-कराने का प्रयत्न करता है; अतः उसे बराबर सजग रहना चाहिए कि वह कहीं चेतन मानव की अपेक्षा जड़ साधनों को, परिवेश को, अधिक महत्त्व न दे। इस धरातल पर प्रायः सभी उपर्युक्त उपन्यासकार कहीं-न-कहीं भटक गये हैं।

उपर्युक्त सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि यद्यपि इस वर्ष के उपन्यास-साहित्य में कोई महती कलात्मक उपलब्धि नहीं हुई है, फिर भी नई-नई प्रतिभाएँ आगे आ रही हैं। कलात्मक सिद्धि के धरातल पर हमें १९६१ से अवश्य निराशा ही होगी तथापि नये उपन्यासकारों की क्रियाशीलता और सजगता भी अपने आप में भावी समृद्धि की प्रतिभूति है और इस तथ्य को हमें भुला नहीं देना चाहिए।

हिन्दी कहानी : सन् १९६१

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

बीसवीं सदी के सातवें दशक का प्रथम वर्ष, सन् १९६१, हिन्दी कहानी की दृष्टि से निस्सन्देह एक महत्त्वपूर्ण वर्ष है। छठे दशक में हिन्दी कहानी ने जो मोड़ लिया था, इस वर्ष उस नई दिशा में हिन्दी कहानी काफी रफ्तार से आगे बढ़ी है। जहाँ तक संख्या का सम्बन्ध है, इस वर्ष बहुत बड़े परिमाण में कहानियाँ लिखी गई हैं। ८०० से ऊपर नई लिखी गई हिन्दी कहानियाँ १९६१ में ऐसी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं, जो एकदम स्थानीय नहीं हैं और जिनका कुछ-न-कुछ स्वीकृत स्तर है। यों इस वर्ष प्रकाशित नए कहानी संग्रहों की दृष्टि से चाहे कोई असाधारण प्रगति भले ही दिखाई न दे।

कहानी की दृष्टि से १९६१ की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना कहानी सम्बंधी परिचर्चाएँ हैं, जो इस वर्ष बहुत बड़ी संख्या में हुई हैं। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हिन्दी में प्रयोगवादी कविता का नारा बुलन्द हुआ था और उसके कुछ ही वर्षों के बाद नई कविता का। शायद उसी की देखा देखी हिन्दी में नई कहानी आन्दोलन भी जन्मा। भारी विरोध के बावजूद १९६० तक 'नई कहानी' आन्दोलन जैसे जड़ पकड़ गया था। पर १९६१ में एक व्यापक अनुशीलन तथा चिन्तन के बाद नई-कहानी का यह नारा दब जरूर गया है। हिन्दी के अधिकांश मान्यता-प्राप्त कहानी लेखक आज नई-कहानी को पुरानी कहानी से पृथक् कोई नई और भिन्न साहित्यिक विधा या उपलब्धि नहीं मान रहे।

हिन्दी कहानी के सम्बन्ध में इस चर्चा का महत्त्व इतना अधिक है कि पहले इसी बात को विस्तार से लिखने की आवश्यकता है। उसके बाद मैं १९६१ में लिखी गई तथा प्रकाशित कहानियों का वर्गीकरण तथा मूल्यांकन का प्रयास करूंगा और अन्त में इस वर्ष प्रकाशित कहानी संग्रहों की बहुत संक्षेप में चर्चा करूँगा।

कथा, गाथा, किस्से, चुटकले, लोककथाएँ—ये सब संसार के साहित्य के प्राचीनतम अंग हैं, पर इन्हीं में से उन्नीसवीं सदी में वर्तमान कहानी नामक एक नये

साहित्यिक माध्यम का विकास हुआ, जिसे अंग्रेजी में 'शार्ट स्टोरी' कहते हैं। इस कहानी की टैकनीक अत्यन्त शीघ्र गति से अधिकाधिक बँधती चली गई। विस्तार में गए बिना यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि कथा, गाथा और किस्सों में उद्देश्य तो पहले भी रहता था, इस कहानी में सोद्देश्यता के साथ सबसे पूर्व चमत्कार का गुण आया। उसके बाद चरम बिन्दु (क्लाइमैक्स) नामक तत्त्व का समावेश कहानी में हुआ। क्लाइमैक्स के आविष्कार का श्रेय सबसे अधिक मोपासाँ को दिया जाता है, यद्यपि उस युग में तो कहानी का जो क्रमिक विकास हो रहा था, उसमें नए मूल्यों को स्थिरता प्रदान करने में कितने ही लेखकों का सहयोग रहा। उसके बाद कहानी में केन्द्रीय भाव (थीम या सैण्ट्रल आइडिया) का महत्त्व इतना अधिक बढ़ा कि वह सबसे प्रधान बन गया। यह केन्द्रीय भाव इकहरा होना अत्यन्त अवश्यक था। केन्द्रीय भाव की अस्पष्टता, उसका गुथीलापन अथवा एक कहानी में अनेक भावों को एक साथ लेना दोष माना जाने लगा। दूसरे शब्दों में एक कहानी में अथ से लेकर इति तक किस तरह केवल किसी एक भाव का चित्रण किया गया है, यह कहानी की श्रेष्ठता की आवश्यक परख माना जाने लगा। कहानी में एक वाक्य तो क्या, एक शब्द भी अनावश्यक न हो, अर्थात् ऐसा न हो जो उक्त केन्द्रीय भाव के चित्रण में सीधे तौर से सहायक नहीं है। यह केन्द्रीय भाव मौलिक और चमत्कारपूर्ण तो होना चाहिए। उस कहानी का कथानक भी अपने में मुकम्मल, आकर्षक और सूझ-बूझपूर्ण होना चाहिए। यह स्मरण रहे कि कथानक केन्द्रीय भाव की अभिव्यक्ति का माध्यम है, वही उद्देश्य नहीं है। इकहरे केन्द्रीय भाव की यह महत्ता यहाँ तक बढ़ी कि वह चरम बिन्दु को भी मात दे गई, यानी चरम बिन्दु कहानी का अनिवार्य तत्त्व नहीं रहा। एण्टन चैखव ने कितनी ही अच्छी कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें चरम बिन्दु नहीं है, पर उनमें एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो कहानी के भाव की अभि-व्यक्ति में सीधे रूप से सहायक न हो।

इस तरह क्रमशः कहानी नामक यह नया साहित्यिक माध्यम क्रमशः बहुत नपा-तुला और बँधा हुआ बन गया। इस दृष्टि से संसार के कितने ही आलोचक स्पष्ट रूप से यह कहने लगे कि यद्यपि आज कहानियाँ विश्व भर में बहुत बड़ी संख्या में लिखी जा रही हैं, तथापि कुल मिला कर सचमुच अच्छी कहानियाँ बहुत कम, बल्कि बहुत ही कम संख्या में लिखी जाती है। इतनी कम कि वर्ष भर में उनका एक बहुत छोटा संग्रह ही तैयार हो सकेगा।

यह एक ऐसी कठिन स्थिति थी, जिसके खिलाफ विद्रोह न होता तभी अधिक आश्चर्य की बात थी। कहानी की नई सीमाओं के कारण उन्नीसवीं सदी के कितने ही अच्छे कहानी लेखक अब दूसरे दर्जे के कहानी लेखक माने जाने लगे थे। उदा-हरण के लिए थॉमस हार्डी, जिसके समान शक्तिशाली लेखक किसी भी देश में बहुत

कम पैदा होते हैं। इधर नए लेखकों के लिए एण्टन चैखब की छाया ही जैसे एक समस्या बनी हुई थी। कौन माई का लाल उस ऊँचाई तक पहुँचेगा ? यद्यपि सच-मुच के प्रतिभाशाली कहानी लेखक विश्व कहानी के कोश को निरन्तर समृद्ध कर रहे थे। पर जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ उक्त टैकनीक की दृष्टि से वास्तव में अच्छी नई लिखी जा रही कहानियों की संख्या सचमुच बहुत कम थी।

दूसरे महायुद्ध के बाद जहाँ विश्व में सभी क्षेत्रों में उथल-पुथल हुई, कला और साहित्य के क्षेत्र में भी कितने ही नये प्रभाव दिखाई दिए। चित्रकला पर जो एब्स्ट्रैक्ट प्रभाव पड़े, साहित्य के क्षेत्र में उनकी झलक सबसे पूर्व कविता पर दिखाई दी (हिन्दी में अभी तक 'एब्स्ट्रैक्ट' के लिए 'अमूर्त' या 'सूक्ष्म' शब्द का व्यवहार किया जा रहा है) उसके बाद साहित्य की अन्य विधाएँ भी कम-अधिक इन प्रभावों की ज़द में आई। इस सबके विस्तार में जाना मुझे अभिप्रेत नहीं है। यहाँ मैं इतना ही स्पष्ट करना चाहता हूँ कि दूसरे महायुद्ध के बाद विश्व कहानी भी इन प्रभावों से अछूती न रही। कहानी का आंशिक एब्स्ट्रैक्टीकरण कितने ही देशों में हुआ। यह बात जुदा है कि इन एब्स्ट्रैक्ट प्रभावों से बोझिल कहानी किसी भी देश में लोकप्रिय नहीं बनने पाई। हाँ, विद्वत्समाज में उसकी चर्चा अवश्य हुई। भारत में भी इस नई प्रवृत्ति का प्रभाव पहुँचा। और मैं अपने देश के विशेषत: नए लेखकों की ग्राह्य-शक्ति की दाद दूँगा कि उन्होंने इन एब्स्ट्रैक्ट प्रभावों को सिर-माथे पर स्वीकार किया। यह प्रश्न जुदा है कि इन प्रभावों से आक्रान्त कहानी इस देश में भी लोक-प्रिय बन पाती है या नहीं।

हमारे कुछ हिन्दी कहानीकार इससे भी आगे गए। उन्होंने साहित्य और कला पर एब्स्ट्रैक्ट प्रभावों को समझाने और हृदयंगम करने का प्रयास तो नहीं किया, पर नयेपन की तलाश में कहानी की सम्पूर्ण इमारत को जैसे नये सिरे से घड़ना चाहा। कहानी के 'बढ़ते हुए आयाम' और कहानी के 'नये बिम्बविधान' आदि कितने ही नारे इन लोगों द्वारा दिए गए। ये लोग जो कुछ कहते हैं, उसमें भारी अस्पष्टता तथा परस्पर विरोध रहते हुए भी जो कुछ समझ आता है, उसका भाव यही है कि वे कहानी में सभी तरह की आज़ादी चाहते हैं। लेखक चाहे तो जितना बहक जाए, या भटक जाए। चाहे तो वह एक आध पात्र का खूब लम्बा खींचा हुआ चित्रण करके अपनी कहानी समाप्त कर दे और चाहे तो निरुद्देश्य भाव से दो चार भूल-भुलैयाँ सी बना कर उसे कहानी की संज्ञा दे सके। और भी कितने ही ज़ाहिरा तौर पर कथात्मक, घटनात्मक या वार्तालापात्मक ढग से लिखे गए गद्यांश आज 'नई कहानी' कहला रहे हैं। ऐसी रचनाएँ भी, जिन में कोई तारतम्य नहीं है।

पिछले २५ वर्षों में दुनिया बहुत तेज़ी से बदली है। १९३७ में जब विश्व में हिटलर और मुसोलिनी का बोलबाला था, कौन जानता था कि १९६२ तक विश्व में

से न सिर्फ साम्राज्यवाद का नाश हो जाएगा, बल्कि मानव शून्याकाश की यात्रा कर वापस भी लौट आ सकेगा। इन २५ वर्षों में अत्यन्त क्षिप्र गति से जो राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल हुई है, उसी की प्रतिक्रिया एब्स्ट्रैक्ट प्रभावों में दिखाई दी है। अत्यन्त तेज़ गति से बदलते समय में मूल्यों तथा आदर्शों की अस्पष्टता और चिन्तन तथा अनुशीलन की सूक्ष्मता इन सब का परिणाम 'एब्स्ट्रैक्ट' प्रभावों में प्रकट हुआ। पर हमारे हिन्दी के कुछ लेखकों ने इन प्रभावों के रूप और कारणों को तो समझने का प्रयत्न तक नहीं किया, अपितु अपनी असमर्थता या दरिद्रता को छिपाने का उपादान इन नए एब्स्ट्रैक्ट प्रभावों को बनाना चाहा।

दूसरे महायुद्ध के दौरान पश्चिम में 'नव लेखन' (न्यू राइटिंग्स) नाम से जो आन्दोलन चला था, वह मूलतः वामपक्षी आदर्शों की पुष्टि के उद्देश्य से किया जा रहा था। यह एक आश्चर्य की बात है कि भारत में, विशेषतः हिन्दी में आज 'नई कहानी' नाम से जो आन्दोलन चला है, उसके हामी आम तौर से प्रगतिशील या वामपक्षी न होकर [illegible] या दक्षिणपन्थी हैं। पर आश्चर्य की इसी बात से हिन्दी में इस तथाकथित नव लेखन (नई कहानी, नई कविता आदि) का खोखलापन भी स्पष्ट हो जाता है।

आज के नए लेखक नई कहानी को कितना बिखरा हुआ और बहका हुआ बना देना चाहते हैं, इसका उदाहरण कृष्ण बलदेव 'वैद' की एक ताज़ी कहानी के पहले दो पैराग्राफों में देखिए :

"बिमल काफी पी रहा है और सिगरेट। हर घूँट के बाद उसका चेहरा ज़ख़्मी-सा हो जाता है और सिगरेट के कश मानो उस ज़ख़्म पर नमक का हल्का सा छिड़काव कर रहे हों।

"काफी सूखे गले को तर करने के लिए आवश्यक है और काफी के हर घूंट के बाद सिगरेट के एक-दो कश जैसे उस पहली क्रिया का एक अनिवार्य परिणाम-मात्र हों।......एक मूर्खता दूसरी मूर्खता को जन्म देती है। मूर्खता की सदाबहार कोख। काफ़ी, सिगरेट, सिगरेट काफ़ी। सुबह होती है शाम...उम्र यूँ ही तमाम... सुबह करना शाम का...ए विपस सर्कल। एक टब की कल्पना करो, फिर उसी टब में एक सुराख की। फिर बताओ कि उस टब को भरने में कितना समय लगेगा ? समय जो किसी का मोहताज नहीं। जमाना नाम है जिसका। बलवान समय। क्यों जी, 'पहलवान समय' पर आपको क्या एतराज़ है ? अहिन्दी शब्दावली। यही तो फ़र्क़ है हिन्दी और उर्दू में। और मुल्क की आज़ादी के बाद तो यह फ़र्क़ एक घाव की सूरत पकड़ गया है। इस घाव को भरो। लाक्षणिक दृष्टि से देखा जाए तो......" इत्यादि।

१९६१ में एक ज्ञात लेखक द्वारा लिखित एक नई कहानी मैंने अपने एक चित्रकार मित्र को पढ़ने के लिये दी। मेरे यह मित्र साहित्य के भी मर्मज्ञ हैं तथा जन्म से अहिन्दी भाषी होते हुए भी हिन्दी साहित्य से सुपरिचित हैं। उक्त कहानी के सम्बन्ध में जब मैंने उनकी राय पूछी तो उन्होंने बड़ी शीघ्रता से एक ऐसे मनुष्य का पेन्सिल स्कैच बनाया, जिसके हाथ, पांव, बाहु, जंघा आदि अत्यन्त कृश थे। सूखा चेहरा भयंकर रूप से विकृत था, पर उसका पेट एक विशालकाय कद्दू की तरह फूला हुआ था। हिन्दी में आज जो 'नई कहानियाँ' लिखी जा रही हैं, उनका यह शायद समुचित चित्रण था।

गत वर्ष नई कहानी के सम्बन्ध में जो परिचर्चाएँ हुई हैं, उनमें कितनी ही बातों का ज़िक्र आया है। नई कहानी के कुछ मसीहा तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि कहानी की परख उसके अच्छेपन या बुरेपन से न कर उसके नयेपन या पुरानेपन से करनी चाहिए। और जब उनसे नयी कहानी की परिभाषा पूछी जाती है तो उसके कितने ही उलझन भरे उत्तर वे देते हैं। कहानी के नये 'आयाम', कहानी के नये 'बिम्ब', कहानी की नई 'सम्प्रेषणीयता', कहानी के नए 'भावबोध', कहानी की नयी 'ग्रहण-शीलता', कहानी के नये 'संवेदन', कहानी के नये 'रागबोध' आदि कितने ही शब्द इस सम्बन्ध में व्यवहार में लाये गये हैं। यद्यपि ये सब पुराने और प्रचलित साहित्य-सम्बन्धी अंग्रेज़ी शब्दों के नये या पुराने अनुवाद मात्र हैं और इनमें से किसी का भी सम्बन्ध 'नयेपन' या 'पुरानेपन' से नहीं है। जब से कहानी नामक इस नये साहित्यिक माध्यम का विकास हुआ है, नये बिम्ब-विधान और नये भावबोध उसमें आते रहे हैं। कहानी की सम्प्रेषणीयता भी भिन्न-भिन्न रही है। सम्प्रेषणीयता की सामर्थ्य लेखक की प्रतिभा पर निर्भर करती है। और जहाँ तक आयामों का सम्बन्ध है, निःसन्देह कहानी का भी क्रमिक विकास हो रहा है। साहित्य शाश्वत है, पर उसकी विधाएँ क्रमशः विकसित होती रहती हैं। कौन कह सकता है कि कहानी नामक इस साहित्यिक माध्यम का अब और विकास नहीं होगा, या उसमें कोई परिवर्तन नहीं आएँगे? पर वह विकास और वे परिवर्तन एक वेगवती और अविच्छिन्न धारा के क्रमिक विकास के समान होंगे। मेरा यह भी खयाल है कि 'नयी कहानी' आन्दोलन के प्रवर्त्तक यदि सचमुच समझदार होते तो वे अपनी विधा का नाम 'नयी कहानी' न रख कर 'एब्स्ट्रैक्ट कहानी' या ऐसा ही कुछ रखते।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा था, १९६१ हिन्दी कहानी के लिए उर्वर वर्ष सिद्ध हुआ है। न केवल संख्या की दृष्टि से, अपितु विविधता की दृष्टि से भी। इस वर्ष कितने ही नये पुराने लेखकों ने विषय तथा विधा सम्बन्धी जो प्रयोग किये हैं, यदि उन्हें केवल प्रयोगात्मक ही माना जाय तो मेरी राय से ये प्रयोग निस्सन्देह मूल्यवान हैं। इन प्रयोगों को मैं वही महत्त्व देता हूँ, जो किसी बड़े निर्माण के साथ चलाई जा रही छोटी प्रयोगशालाओं का होता है। उदाहरण के लिए भाखड़ा के विशाल बाँध के

साथ जो प्रयोगशाला चलाई जा रही है, उसमें यह आविष्कार किया गया कि उसी प्रदेश में कच्ची पहाड़ियों से निकलने वाली रेतीली मिट्टी को पीस कर यदि सीमेंट में मिला दिया जाय, तो न सिर्फ सीमेंट की आधी मात्रा बचा ली जायगी, अपितु उस रेतीली मिट्टी, पत्थर और सीमेन्ट के मिश्रण से बनाई गई शिलाएँ, प्रचलित ढंग से बनाई गई सीमेन्ट की शिलाओं से अधिक मजबूत होंगी। यह सामग्री उसी क्षेत्र में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, इससे बाँध के निर्माण में करोड़ों रुपयों की बचत हो गई। इसी तरह कहानी सम्बन्धी प्रयोगों से हिन्दी कहानी का क्षेत्र अधिक उदार तथा विस्तीर्ण बनने में मूल्यवान सहायता प्राप्त हो सकती है और हो रही है।

यहाँ तक तो ठीक। पर सन् १९६१ में जो कहानियाँ लिखी गई हैं, उनमें कूड़ा-कचरा भी काफ़ी मात्रा में है। अजीब ढंग की अस्वाभाविक और विकृत कल्पनाओं से भरी कितनी ही कहानियाँ आपको इस बड़े ढेर में मिलेंगी। किसी महाशय ने एक कहानी लिखी, जिसमें कश्मीर का वास्तविक चित्रण करते हुए डल झील में मगरमच्छ पैदा कर दिये। यह तो फिर भी शायद क्षम्य हो जाता, पर जिस तरह उन्होंने शिकारे में बैठी एक लड़की का हाथ मगरमच्छ के मुँह में देकर शिकारे में बैठे सैलानियों और मांझियों की उक्त मगरमच्छ से रस्साकशी चित्रित की है, वह असीम रूप से हास्यास्पद है। इस तरह की अस्वाभाविक और हास्यास्पद कल्पनाएँ इन कहानियों में काफ़ी बड़ी संख्या में हैं। एक और सज्जन हैं, जिनकी नायिका रात के सन्नाटे में एक बड़े होटल की ऊपर की मंजिल से सैण्डविच का एक टुकड़ा फैंकती है, जो नीचे खड़ी एक भिखारिन की झोली में जा गिरता है। उस वातावरण में यह भिखारिन अलिफ़ लैला की परी के समान न जाने कहाँ से आ उतरती है, और सैंण्डविच कुतरती हुई एक ओर जाकर अदृश्य हो जाती है। एक और कहानी जिसमें अथ से इति तक एक ऐसा सपना वर्णित है, जहाँ विश्व के कितने ही देशों के फिलासफ़र अपनी-अपनी भाषाओं में नहीं बल्कि अंग्रेजी में चिल्ला-चिल्ला कर ऐसी बातें कह रहे हैं जो पाठक के पल्ले नहीं पड़तीं। एक और साहब हैं, जो मदारियों की तरह अपने पाठक को इधर-उधर की बेमतलब बातों में उलझाए रखते हैं, अपितु सामयिक विषयों पर बिना किसी प्रसंग के अपनी टिप्पणियाँ भी देते चले जाते हैं। ऐसी अप्रासंगिक टिप्पणियाँ जो किसी निबन्ध में भी सहन न हों।—ये तथा इन्हीं के समान अस्वाभाविक, अयथार्थ और उलझी हुई कितनी ही कहानियाँ ऐसे लेखकों ने लिखी हैं, जो एकदम अज्ञात नहीं हैं। धुँधला चिंतन, अर्थ-रहित व्यक्ति-चित्रण और उद्देश्यहीन उबकाने वाला घटना-वर्णन गत वर्ष की बीसियों कहानियों में किया गया है।

१९६१ का एक महत्त्व यह भी है कि इस वर्ष कहानी-पत्रिकाओं में और भी अधिक वृद्धि हुई है। पुरानी कहानी पत्रिकाओं की बिक्री और लोकप्रियता बढ़ी है। रेल यात्रा में जो व्यक्ति पहले एक ही कहानी पत्र या पत्रिका खरीदते थे, अब वे

२ या ३ विभिन्न कहानी प्रकाशन एक साथ खरीदने लगे हैं। इन्हीं परिस्थितियों का यह परिणाम हुआ है कि कहानियों की माँग बढ़ गई है और कहानियों पर दिए जाने वाले पारिश्रमिक में भी इस वर्ष स्पष्ट वृद्धि हुई है। अब कहानियों पर दिया जाने वाला पारिश्रमिक प्रति कहानी ५० रु० से १५० रु० तक हो गया है। बल्कि अच्छे लेखक अब कहानियों की माँग पूरी नहीं कर पा रहे। यहाँ तक तो ठीक; क्योंकि यह परिस्थिति हिन्दी कहानी के विकास के लिए शुभ है।

पर इस परिस्थिति का एक परिणाम यह भी दिखाई दिया है कि कहानी के नाम पर लिखी जाने वाली वस्तु में कूड़ा-कचरा अपेक्षाकृत अधिक सम्मिलित होने लगा है। लोगों ने सभी तरह के नुस्खे इस सम्बन्ध में इस्तेमाल किए हैं। कुछ लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों ने बहुत हल्की और अत्यल्प सारयुक्त रचनाएँ १९६१ में लिखी हैं। एक लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक ने तो कहानी में भी समस्या पूर्ति की टैकनीक अपनाई है। आप उन्हें कोई-सा एक वाक्य लिख कर दे दीजिए, वह उसे पूरी कहानी का रूप दे देंगे। महाकवि कालिदास का 'अस्ति कश्चित् वाग्विशेषः ?' (अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः, कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा विप्रयोगप्रमत्तः; वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये; कहा जाता है कि महाकवि कालिदास के तीन महाकाव्य, जिन तीनों की प्रथम पंक्तियां यहां उद्धृत की गई हैं, उनकी पत्नी द्वारा पूछे गए उक्त प्रश्न (अस्ति कश्चित् वाग्विशेषः ?) की एक तरहसे समस्या पूर्तियाँ हैं।) का महान् परीक्षण हिन्दी कहानी में बुरी तरह फेल हो रहा है।

जिस तरह बड़ी बारात आ जाने पर मठे में पानी मिला कर भण्डार पूरा करने की कहावत है, उसी तरह अत्यल्प कल्पना को खूब खींच कर लिखी गई रचनाएँ गत वर्ष हिन्दी कहानी के नाम पर काफी बड़ी सख्या में प्रकाशित हुई हैं। कुछ नए लेखकों ने 'नई कहानी' नाम से ऐसा माध्यम पकड़ा है, जिसमें न कल्पना की आवश्यकता है और न स्पष्ट चिन्तन की ही। कुछ नए लेखकों ने सैक्स सम्बन्धी नग्न चित्रण का नुस्खा भी अपनाया है और उन्हें स्पष्टतः 'नई कहानी लेखकों' से अधिक लोक-प्रियता प्राप्त हुई है।

पर १९६१ की कहानी का उक्त रुग्ण या अस्वस्थ रूप उसका एक अंश भर है। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, इस वर्ष कितने ही ईमानदारी भरे प्रयोग पूरी तन्मयता के साथ बहुत से कहानी लेखकों ने किए हैं। और यह मेरी राय से शुभ लक्षण है कि इस साधना में हिन्दी के नये (मेरा अभिप्राय काल की दृष्टि से ही 'नये' है, क्योंकि 'नया' और 'पुराना' इन दोनों शब्दों को मैं केवल काल-सापेक्ष ही मानता हूँ) कहानी लेखकों का योगदान अधिक बड़ा और महत्त्वपूर्ण है। यहाँ केवल उदाहरण भर के लिए मैं कुछ नाम गिना रहा हूँ—सैयद शफ़ीउद्दीन (कुछ बहुत ही पते की, अर्थपूर्ण और प्रभावशाली कहानियाँ इस युवक ने लिखी हैं), ऊषा प्रियंवदा (साफ़

सुथरी चीज़ लिखने की दृष्टि से), निर्मल वर्मा (गहराई में जाने की दृष्टि से; यद्यपि अनावश्यक विस्तार से इनकी रचनाएँ बोझिल बन जाती हैं), मन्नू भण्डारी (खूब शक्तिशाली और आकर्षक रचना करने की दृष्टि से), कमलेश्वर (निरन्तर साधना की दृष्टि से), भीष्म साहनी और अमृतराय (ये दोनों व्यक्ति यद्यपि एकदम नए लेखक नहीं हैं, पर अपनी तथा बाद की पीढ़ी में कहानी का मर्म शायद सबसे अधिक अच्छी तरह समझते हैं; साहनी की कहानियाँ बेदाग़ हैं और अमृत की कहानियों में प्रभावशाली सोद्देश्यता है), शैलेश मटियानी और धर्मेन्द्र गुप्त (इन दोनों ने अपनी अनवरत मेहनत और निष्ठा से अपनी रचनाओं के समुचित आधार खोज निकाले हैं, शैलेश की प्रतिभा और धर्मेन्द्र गुप्त की स्पष्टता अंकनीय है), शेखर जोशी, कृष्णा सौब्ती, मार्कण्डेय, प्रयाग शुक्ल, श्रीकान्त वर्मा, अमरकांत, सत्येन्द्र शरत्, ठाकुर प्रसाद सिंह, अजित कुमार आदि। भारत भूषण अग्रवाल और कुलभूषण अच्छा लिख रहे थे, पर १९६१ में वे दोनों चुप रहे हैं। यह सूची किसी दृष्टि से पूर्ण नहीं कही जा सकती। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, केवल उदाहरण के उद्देश्य से मैंने ये नाम लिखे हैं। पुराने लेखकों में यशपाल, जैनेन्द्र कुमार, अमृतलाल नागर, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि ने गत वर्ष काफ़ी अच्छी संख्या में कहानियाँ लिखी हैं। यह भी ठीक है कि पुराने लेखक नवीन समस्याओं और परिस्थितियों से ग़ाफ़िल नहीं हैं। यही सब देख कर मैं हिन्दी कहानी की गतिविधि से भली प्रकार आश्वस्त हूँ और मुझे विश्वास है कि इन परिस्थितियों में हिन्दी कहानी का विकास और भी अच्छी गति से होगा। यह प्रक्रिया और भी तेज हो जाएगी, यदि हिन्दी का पाठक भी अधिक जागरूक और विवेकशील बन जाए।

अन्त में मैं १९६१ में प्रकाशित कुछ कहानी-संग्रहों का ज़िक्र कर रहा हूँ। इस वर्ष कितने ही पुराने लब्ध-प्रतिष्ठ कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अपने जीवन में ३०० से ऊपर कहानियाँ लिखी थीं, उनमें से लगभग ५५ कहानियों के दो संग्रह १९५० में प्रकाशित हुए थे। १९६१ में 'धरती और आसमान', 'सोया हुआ शहर' और 'कहानी खत्म हो गई' नाम से उनके तीन अन्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें क्रमशः २०, ३१ और ३० कहानियाँ हैं। इन तीनों संग्रहों में उनकी सभी तरह की कहानियाँ दी गई हैं। यदि प्रत्येक कहानी के साथ उसकी रचना तिथि भी दी जा सकती, तो इन संग्रहों का महत्त्व बढ़ जाता। हिन्दी कथा-साहित्य को शास्त्री जी की देन इतनी बड़ी और महत्त्वपूर्ण है कि वह सब देखकर उनके लिए श्रद्धा भावना उत्पन्न होती है। हमें आशा करनी चाहिए कि 'मानसरोवर' में जिस तरह प्रेमचन्द की सभी कहानियों का समावेश हो गया है, उसी तरह इस माला में शास्त्री जी की समस्त कहानियाँ संग्रहीत कर ली जाएँगी।

जैनेन्द्र जी की ११ कहानियाँ इसी वर्ष 'जैनेन्द्र की श्रेष्ठ कहानियाँ' नाम से प्रकाशित हुई हैं। इस संग्रह में उनकी अधिकांश पुरानी कहानियाँ हैं। इधर जैनेन्द्र

जी जिस तरह की कहानियाँ लिख रहे हैं, उनमें कहानी की विधा, सज्जा आदि की उपेक्षा तो वह कर ही रहे हैं, उनमें स्पष्टता भी नहीं है, फिर भी उनमें 'वस्तु' की न्यूनता नहीं है। काश, यदि जैनेन्द्र जी कहानी की शैली के सम्बन्ध में अपना दृष्टि-कोण बदल सकते।

बहुत दिनों के बाद 'अज्ञेय' का 'ये तेरे प्रति रूप' नामक कहानी संग्रह १९६१ में छपा है। पर इस में अधिकांशतः उनकी पुरानी कहानियाँ हैं, जिनमें से कितनी ही श्रेष्ठ श्रणी का हैं।

सत्यवती मल्लिक की कहानियों का संग्रह 'नारी हृदय की साध' नाम से प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ यद्यपि पुरानी हैं, तथापि पाठक के मन को प्रभावित करने की उनकी शक्ति अक्षुण्ण है।

इस वर्ष का एक महत्त्वपूर्ण संग्रह शैलेश मटियानी की 'मेरी तैंतीस कहानियाँ' हैं। शैलेश मटियानी की साधना असाधारण है। यह युवक सौ फ़ी सदी स्वावलम्बी रहा है। न किसी का आश्रय और न किसी का सहारा। शिक्षा भी अधिक नहीं हो पाई। अपनी किशोरावस्था का एक भाग शैलेश ने बम्बई के फ़ुटपाथों पर काटा है। इस संग्रह की कहानियाँ कला की दृष्टि से श्रेष्ठ कोटि की भले ही न हों, इन्हें अनुभव और साधना का आधार प्राप्त है, और इन दोनों बातों का महत्त्व कम नहीं है। संग्रह की भूमिका में शैलेश ने अपनी जो व्यक्तिगत अनुभूतियाँ लिखी हैं, वे संग्रह की कहानियों से बढ़ कर चौंकाने वाली तथा मनोरंजक हैं।

'स्नेह, बाती और लौ' भगवतीप्रसाद वाजपेयी की २० कहानियों का संग्रह है। अधिकांश कहानियाँ बहुत समय पूर्व लिखी गई थीं। इस संग्रह की विशेषता यह है कि प्रत्येक कहानी के साथ लेखक ने उसकी पृष्ठभूमि भी दी है। पर वह पृष्ठ-भूमि किस शैली में लिखी गई है, उसकी एक बानगी देखिए। 'मिठाई वाला' के परिचय में उन्होंने लिखा है—'मैं इस चिन्ता में पड़ गया कि क्या करूँ, कैसे ऐसी कहानी लिखूँ, जो हिन्दी-जगत् में छा कर रह जाय।······इसी आशंका ने मुझसे ऐसी कहानी लिखवा ली जो आज विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की 'काबुली वाला' के साथ स्मरण की जाती है।'

'रूपी' महापंडित राहुल सांकृत्यायन की ९ ऐसी कहानियों का संग्रह है, जो अपेक्षाकृत बहुत नई हैं। राहुल जी सदा कथ्य को अधिक महत्त्व देते हैं। यों उनकी कलम में असाधारण शक्ति है, पर कहानी में कथ्य के अतिरिक्त और किसी बात को वह तरजीह नहीं देते। इस संग्रह की कहानियों में भी वही बात है।

'फिर बसन्त आया' उषा प्रियम्वदा की उन १२ कहानियों का संग्रह है, जो एक ही पत्रिका में प्रकाशित हुई हैं। इन कहानियों को उषा की रचना का वास्तविक प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। संग्रह की कितनी ही कहानियाँ स्पष्ट रूप से कचांध लिए हुए हैं। कितनी ही कहानियों का कथानक अधिक फैला हुआ-सा है।

'इन्हें भी इन्तज़ार है' शिवप्रसाद सिंह की २० कहानियों का संग्रह है। कथानक-प्रधान ये कहानियाँ अच्छी दिलचस्प हैं और यह संग्रह सुन्दर रूप में छापा गया है।

किशोर साहू की ११ कहानियों का संग्रह 'घोंसला' नाम से प्रकाशित हुआ है। किशोर साहू जब हिन्दी में आए थे, तो जैसे एक चैलेंज-सा उन्होंने दिया था। तब उनका ख्याल था कि वह अपनी रचनाओं से हिन्दी में एक नया आदर्श स्थापित कर रहे हैं। पर अनुभव ने उन्हें अब अधिक समझदार बना दिया है। इस संग्रह की कहानियाँ साधारणतः मनोरंजक रोमांटिक श्रेणी की हैं।

हरि प्रकाश का 'मिट्टी की लोथ' उनका प्रथम कहानी-संग्रह है। इस संग्रह की सभी रचनाएँ शायद कहानी की श्रेणी में न आ पाएँ, तथापि ग्रामीण जीवन के कितने ही पहलुओं पर उनसे अच्छा प्रकाश पड़ता है। लेखक की ईमानदारी पाठक को प्रभावित करती है। हिमांशु श्रीवास्तव का 'मंगल ध्वनि' और मनहर चौहान का 'मत छुओ' उक्त दोनों लेखकों के प्रथम कहानी-संग्रह हैं। पर अभी इन दोनों को बहुत कुछ सीखना है। मोहन कत्याल का 'हास्य और व्यंग्य' नामक कहानी संग्रह वास्तव में चुटकलों के स्तर तक ही पहुँच पाया है। इसी वर्ष जयनाथ नलिन का 'जवानी का नशा', सोमा वीरा का 'धरती की बेटी' और मनमोहन तमन्ना का 'कफ़न चोर' नामक कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'पत्थर का लैम्प-पोस्ट' नाम से शरद् देवड़ा की कृतियों का जो संग्रह इसी वर्ष छपा है, उसमें उनकी कुछ प्रयोगात्मक कहानियाँ भी हैं। मेरी १५ कहानियों का एक सग्रह १९६१ में 'पहला नास्तिक' नाम से प्रकाशित हुआ है।

१९६१ की हिन्दी कहानी का पर्यावलोचन समाप्त करते हुए मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि यह वर्ष हिन्दी कहानी की दृष्टि से निस्सन्देह क्रियाशील और महत्त्वपूर्ण रहा है।

विनय मोहन वर्मा

हिन्दी का अद्यतन युग कथा और आलोचना की प्रभूत सामग्री प्रस्तुत कर रहा है। जब से विश्वविद्यालयों तथा हिन्दी-प्रचार तथा शासन-संस्थाओं ने हिन्दी की विभिन्न परीक्षाएँ प्रारम्भ की हैं, छात्रोपयोगी आलोचना-कृतियों का प्रकाशन प्रतिवर्ष बढ़ता ही जा रहा है। एक ही कवि पर कई तथाकथित समीक्षक भिन्न-भिन्न शीर्षकों से आलोचना-पुस्तकें लिख रहे हैं; पर यदि उन सबको पढ़ा जाय तो उनमें प्रायः एक ही सी सामग्री प्राप्त होती है; परिवर्तन मात्र शब्दों का रहता है। पर कुछ पुस्तकों में तो लेखक शब्द-परिवर्तन का भी श्रम नहीं उठाते। वे कहीं उद्धरण रहित और कहीं उद्धरण सहित पूर्ववर्ती या सम-सामयिक लेखको के वाक्य ज्यों के त्यों उतार लेते हैं। कुछ चतुर लेखक उद्धरण के नीचे पाद टिप्पणियाँ देकर पुस्तक को शोध-कृति का भी आभास देने का उपहासास्पद प्रयत्न करते हैं। आलोच्य वर्ष में इस प्रकार का 'भानमती-कुनबा-साहित्य' कम प्रकाशित नहीं हुआ। इस कोटि के विपुल साहित्य को हमने अपने सिंहावलोकन की परिधि के बाहर ही रखा है। इस विवेचन में वर्ष की कतिपय प्रमुख आचोचना-पुस्तकों की चर्चा के माध्यम से आलोचना-संबन्धी कार्यकलाप की रूपरेखा उपस्थित करना चाहेंगे।

सूर सारावली :—एक अप्रामाणिक रचना (डा० प्रेमनारायण टंडन) में सूर सारावली को सूर-कृत नहीं माना गया। लेखक ने श्री मीतल आदि लेखकों के मत का आवेशपूर्ण शैली में खंडन कर यह प्रतिपादित किया है कि "सूर-सारावली का अष्ट छापी सूरदास द्वारा रचा जाना तो बहुत दूर की बात है वह ब्रजभूमि तक में जन्मे और पले किसी कवि की रचना भी नहीं हो सकती।...सारावली निकृष्टतम कोटि की रचना है, जिसके रचयिता के पास न कवि का हृदय है, न भक्त का भाव है, न गायक का कण्ठ है और न संगीत ज्ञान का लेश। सूरसागर के सुन्दर पदों की बात तो जाने दीजिए, काव्य कला की दृष्टि से उसके दशम स्कंध का जो सब से निकृष्ट पद समझा जाये, सम्पूर्ण सारावली उसकी तुलना में भी हीन सिद्ध होगी।... ऐसी स्थिति में क्या यह अत्यन्त आश्चर्य की बात नहीं है कि जो आलोचक अष्टछापी

सूरदास के काव्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करके काव्य-मर्मज्ञता का परिचय देते हैं वे ही सारावली जैसी निकृष्टतम रचना को भी उसी की कृति बताकर अपने साथ-साथ कवि सूर की भी स्थिति कैसी हास्यास्पद बना लेते हैं।" लेखक का कथन है कि हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ समीक्षकों ने 'सारावली' को बिना पढ़े ही उसे 'सूर' की रचना घोषित कर 'अनर्थ' किया है। लेखक ने रचना को सूर-कृत मानने वालों के मत की तर्कपूर्ण समीक्षा की है। यदि समीक्षा में आवेश-संतुलन होता तो उसका महत्त्व अधिक बढ़ जाता। स्थल-स्थल पर पूर्ववर्ती समीक्षकों के प्रति कठोर शाब्दिक कशा-घात अमर्यादित प्रतीत होते हैं। सूर-साहित्य के अध्येताओं को लेखक के तर्कों पर गंभीरता से विचार करना चाहिए क्योंकि वह हिन्दी साहित्य में वर्षों से चली आ रही भ्रान्ति के निर्मूलन का दावा करता है।

"हिन्दी की निर्गुण काव्य-धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठ भूमि" (डा० गोविन्द त्रिगुणायत) का डी० लिट्० का शोध-प्रबन्ध है। डा० बड़थ्वाल की 'निर्गुण काव्य-धारा' नामक शोध प्रबन्ध ने हिन्दी-विद्वानों का संत-साहित्य के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि स्थान-स्थान से समाधिस्थ संतों को जगाया जा रहा है। उनकी प्रच्छन्न वाणियों को मंदिरों-मठों से खोजा जा रहा है। हिन्दी-साहित्य संत-वाङ्मय से आपूर हो उठा है। आलोच्य प्रबन्ध के विद्वान् लेखक ने अपने विषय के साथ न्याय किया है।

"हिन्दी साहित्य को विदर्भ की देन" (प्रयागदत्त शुक्ल) : यद्यपि साहित्य-इतिहास कृति है और उसमें विदर्भ-अंचल के हिन्दी-साहित्य-सेवियों की कृतियों का आलोचनात्मक सिंहावलोकन है। पर बल दिया है मराठी संतों की हिन्दी पर ही। पुस्तक चौदह अध्यायों में विभक्त है जो आवश्यकता से अधिक संक्षिप्त हैं और उनके क्रम में भी व्यवस्था नहीं है। पर संकलित सामग्री हिन्दी-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से उपयोगी है। विदर्भ के कई अज्ञात हिन्दी-अहिन्दी भाषी साहित्यकारों की कृतियों से पाठक परिचित हो जाता है। पुस्तक में उल्लिखित कई मराठी संतों की हिन्दी-सेवा से पाठक इस कृति के प्रकाशन के पूर्व ही अवगत हो चुके हैं। स्वामी योगानन्द, रामकृष्ण बाबा, गोपाल जी हरदास आदि आधुनिक मराठी संत कवियों की हिन्दी-वाणियों का महत्त्व उनकी साहित्यिकता में नहीं, हिन्दी-प्रयोग में है जो उसके अखिल-भारतीय व्यवहार-भाषा-पद को सिद्ध करता है। रीतिकालीन कवि लोक-मणि मिश्र और सीताराम महापात्र की हिन्दी रचनाओं का साहित्यिक महत्त्व
ये दोनों नागपुर (पन्नगपुर) नगर में भोंसला राज्याश्रित कवि थे। नागपुर के कलगी तुर्रा वालों का परिचय भी इसमें दिया गया है पर है सब वह
रूप में ही।

'आधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा और प्रयोग' (डा० गोपाल दत्त सारस्वत) हिन्दी में बहुचर्चित विषय है। इलियट का यह कथन उचित ही है कि 'कोई भी कलाकार परम्परावाद या स्वच्छन्दतावाद का 'लेबिल' लगाकर उत्पन्न नहीं होता।' समीक्षक ही उस पर कोई न कोई 'लेबिल' लगाए बिना नहीं रहते। जब तक वे कलाकार में कोई 'वाद' नहीं ढूँढ लेते तब तक वे समझते हैं उनकी विद्वत्ता प्रस्थापित नहीं हो सकेगी। यह कृति हिन्दी-साहित्य की परम्परा और उसके प्रयोगों से परिचित कराती है।

'आधुनिक कविता में प्रेम और शृंगार' डा० रांगेय राघव की नूतन समीक्षा-कृति है। यद्यपि इस विषय पर बहुत कुछ लिखा गया है फिर भी यह कृति अपनी उच्छल लेखन-शैली और उद्धरण-प्राचुर्य की दृष्टि से रोचक सिद्ध होगी। अध्यायों के शीर्षक हैं—पुरुष, वासना : नारी, रूप का उफान, भोर से साँझ तक और फागुन से पावस।' आलोचक की तटस्थता के अभाव में आप ऊबेंगे नहीं। लेखक को संगृहीत कवियों के अतिरिक्त इस विषय पर लिखने वाले अन्य कवि भी प्राचीन पत्र-पत्रिकाओं के उलटने पर मिल सकते थे। फिर भी उसका यह चलता प्रयास पाठकों का मनोरंजन करेगा।

'खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना' (श्रीमती आशा गुप्ता) पी-एच० डी० की कृति है जिसमें' 'दो शब्द' के लेखक डा० नगेन्द्र के शब्दों में 'ऐतिहासिक और शास्त्रीय पद्धतियों का सम्मिश्रण है।' लेखिका ने कई वर्षों के अनवरत परिश्रम से खड़ी बोली कविता के अज्ञात स्रोतों का अन्वेषण कर जहाँ एक ओर हिन्दी की एक विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया है वहाँ दूसरी ओर काव्य रूपों के विभिन्न प्रकारों का प्राचीन तथा नवीन अलंकार-शास्त्र के प्रकाश में स्वच्छ विश्लेषण भी किया है। 'द्विवेदी-युग' के कवियों की कृतियों की समीक्षा संतुलित, साथ ही स्पष्ट और निर्भीक है। खड़ी बोली कविता की अभिव्यंजना-शैली की शास्त्रीय आलोचना के साथ ही दूसरे अध्याय में 'खड़ी बोली कविता का संक्षिप्त इतिहास' भी दे दिया है, जिससे अपभ्रंश से खड़ी बोली-रूप किस प्रकार क्रमशः विकसित होते गये, इसका परिचय सहज ही प्राप्त हो जाता है। लेखिका की विषय-प्रतिपादन शैली प्रौढ़ तथा शोध-कृति के अनुरूप है।

'हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव' डा० श्रीपति त्रिपाठी का शोध-प्रबन्ध है जिसमें पाश्चात्य नाट्यादर्शों और परम्पराओं की कसौटी पर हिन्दी-नाटकों को कसने का प्रयास किया गया है। हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य नाटकों का प्रभाव सर्वप्रथम बंगाल-माध्यम से पड़ा। उन्हें द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों ने विशेष प्रभावित किया। अंग्रेजी के अतिरिक्त फ्रेंच, जर्मन, नार्वेजियन नाटकों के अनुवादों ने भी

उन्हें प्रभावित किया । आज के एकांकी, गीति-नाट्य आदि पर निश्चय ही पाश्चात्य प्रभाव है । इस प्रबन्ध में यही प्रतिपादित किया गया है ।

'कामायनी : एक पुनर्विचार' गजानन माधव मुक्तिबोध की आलोचना-कृति है । प्रस्तुत कृति में लेखक ने एक नवीन दृष्टिकोण से उस पर विचार किया है । "प्रसाद जी के अन्तःकरण में जो एक जीवित और जीवन्त छटपटाती हुई, दुखती हुई ग्रन्थि है—वह आभ्यन्तर ग्रन्थि अपने पूरे दुःख अपने सम्पूर्ण ज्ञान, अपने पूरे आवेग और अपने सम्पूर्ण भान, और भान के उलझाव के साथ कामायनी में प्रकट हुई है।" इन शब्दों के साथ लेखक का कथन है, "आभ्यन्तर ग्रन्थि का प्रतिनिधित्व करने वाला है मनु । मनु मानव मात्र का, मन का···प्रतीक नहीं, वह उस मन का प्रतीक है जो पात्र प्रसाद जी का अपना या उन जैसा मन है । इस बात को हम दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि मनु उस जीवन-समस्या का प्रतीक है जो किसी न किसी अंश में प्रसाद जी की अपनी समस्या रही है । इस समस्या को उन्होंने मानव-सभ्यता-सम्बन्धी प्रश्नों से जोड़ दिया—उन्होंने उस जीवन-समस्या का एक दार्शनिक निदान भी प्रस्तुत किया है ।" लेखक कामायनी को मानवतावादी साहित्य मानने से इन्कार करता है और इसीलिए वह प्रसाद को साहित्य के सर्वोच्च शिखर से चढ़ते-चढ़ते गिरता हुआ देख रहा है । लेखक को यह अभीष्ट नहीं है कि आधुनिक समस्याओं का समाधान आध्यात्मिक साधनों से किया जाय । विषय का प्रतिपादन समाजवादी दृष्टिकोण से किया गया है और शैली में सहज ग्राह्यता नहीं है । लेखक के निष्कर्षों से बहुत से पाठक सहमत होंगे इसमें संदेह है, फिर भी उसका दृष्टिकोण चिन्तन योग्य अवश्य है ।

'हिन्दी उपन्यास' (डा० सुषमा धवन) में प्रेमचन्द और प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की विहंगम आलोचना प्रस्तुत की गयी है । 'बाबू श्यामसुन्दरदास : व्यक्तित्व और कृतित्व' (राजनाथ पांडे) संक्षिप्त परन्तु सारगर्भित आलोचना है ।

'हिन्दी के पौराणिक नाटक' : डा० देवर्षि सनाढ्य का पी-एच० डी० का शोध-प्रबन्ध है । हिन्दी में नाटकों के प्रारम्भ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । कोई उनका प्रारम्भ ईसा की १३वीं शताब्दी और कोई १९वीं शताब्दी मानते हैं । लेखक का यह मत समीचीन जान पड़ता है कि हिन्दी में बीज रूप से नाटकीय तत्त्व १३वीं अथवा १४वीं शताब्दी में अवश्य थे परन्तु वास्तविक रूप में हिन्दी-नाटक की उत्पत्ति १९वीं शताब्दी के पास ही ठहरती है । "और यह स्पष्ट है कि हिन्दी नाटकों का प्रारम्भ पौराणिक नाटकों से होता है । हिन्दी में नाटकों के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने वाली अनेक शोध और शोधेतर कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं और उनमें भी पौराणिक नाटकों की चर्चा हुई है । इस प्रबन्ध की विशेषता इतनी ही है कि इसमें पौराणिक नाटकों की क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवेचना है । एक अध्याय

में हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के पौराणिक नाटकों का भी सिंहावलोकन किया गया है। पता नहीं, लेखक को हिन्दीतर भाषाओं के नाटक-साहित्य का परिचय किस माध्यम से हुआ है, परन्तु उसे पढ़ने से ज्ञात होता है कि सभी भारतीय साहित्यों में नाट्य-धारा समान रूप से प्रवाहित हुई है। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने १७ वीं शताब्दी में रचित बनारसी दास के 'समयसार नाटक' को भी नाटक-श्रेणी में रखा है, जो उचित नहीं है (लेखक ने भी उन्हीं का अनुकरण किया है)। लेखक ने भारतेन्दु से लेकर आज तक पौराणिक नाटकों के तीन युग माने हैं। अन्तिम युग १९५५ में समाप्त होता है । यही उसके आलोच्य विषय की सीमा है। अंतिम अध्याय में नाटकों की शिल्प-विधि पर विचार किया गया है जो अपर्याप्त प्रतीत होता है। अनेक नाटकों की आलोचना में प्रायः 'यह सुन्दर नाटक है' शैली का प्रयोग किया गया है। क्या ही अच्छा होता यदि उनकी 'सुन्दरता' का स्पष्ट विवेचन किया जाता।

'ब्रज भाषा के कृष्ण-भक्ति-काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प' डा० सावित्री सिन्हा की डी० लिट्० थीसिस का मुद्रित रूप है । कृष्णभक्त कवियों पर अध्ययन-परक अनेक पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी हैं जिनमें भाव-वैभव तथा दार्शनिक पक्ष पर विशेष विवेचन किया गया है। पर उनके अभिव्यंजना-शिल्प पर चलती हुई चर्चा ही मिलती है। कवियों के अभिव्यंजना-शिल्प को ही अध्ययन का विषय बनाकर एक सुव्यवस्थित प्रबन्ध की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति डा० सावित्री सिन्हा की कृति से हो जाती है। इसमें सूर से लेकर रत्नाकर तक सभी प्रमुख ब्रजभाषा कवियों के काव्य पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली गई है। सूर से पूर्व भी ब्रजभाषा में काव्य-रचना हुई है पर उसके रचना-काल के सम्बन्ध में निःसंदेह कुछ कहा नहीं जा सकता, उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। संभवतः इसीलिये उन पर विचार नहीं किया गया। अभि-व्यंजना के विविध रूपों के अन्तर्गत भक्ति, रीति तथा आधुनिक काल के प्रमुख कृष्ण-भक्त कवियों की कृतियों की समीक्षा की गई है। एक अध्याय में जहाँ कृष्ण-भक्त कवियों की चित्र-योजना का विवेचन है वह विशेष रूप से मननीय है। मध्य युग में चित्रकला तथा काव्य कला का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इसी प्रकार कृष्ण-भक्ति-काव्य में संगीत-योजना और छन्द शीर्षक अध्याय भी ग्रन्थ का वैशिष्ट्य कहा जा सकता है। श्रीमती सिन्हा ने ब्रजभाषा काव्य की अभिव्यंजना-विवेचना में शास्त्रीय पद्धति अपनायी है और इस प्रकार ब्रजभाषा के कला-पक्ष के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया है। प्रबन्ध में सबसे खटकने वाली बात यह है कि इसमें प्रूफ की अनेक अशु-द्धियाँ विद्यमान हैं, विशेषकर ब्रजभाषा काव्य के उद्धरणों में। ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण में आशा है उनका परिष्कार हो सकेगा। ग्रन्थ की विवेचन-शैली शोध-प्रबन्ध के अनुरूप है।

'अनुसंधान और आलोचना' : डा० नगेन्द्र के समय-समय पर लिखित लेखों का संग्रह है जिनमें अनुसंधान-तथ्य है और आलोचना-तत्त्व भी। केवल एक ही लेख—"रेडियो में पंत जी का आगमन"—अपवाद है। 'दादा स्वर्गीय नवीन जी' यद्यपि भाव-विभोर संस्मरणात्मक लेख है तो भी उसमें नवीन के व्यक्तित्व और कवि-आत्मा का अत्यन्त निकट से साक्षात्कार हो जाता है। 'नवीन' पर इतना तथ्य-निरूपक साथ ही हृदयस्पर्शी लेख मैंने नहीं पढ़ा। लेखक में जहाँ आलोचक और अन्वेषक की तटस्थ दृष्टि है वहाँ उसमें कवि की सहृदयता भी है। 'कविता क्या है ?' में उसने कविता की व्याख्या करते हुए छन्द को उसका अनिवार्य तत्त्व माना है। फ़िर भी उसकी सहृदयता गिरिजा कुमार माथुर की छन्दविहीन कविताओं पर रीझे बिना नहीं रह सकी क्योंकि उसमें छन्दविहीनता होते हुए भी 'नाद-सौन्दर्य' की कमी नहीं है। कहने का आशय यह कि लेखक की दृष्टि पूर्वाग्रह-दूषित नहीं है—स्वच्छ रसग्राही है।

लेखक में अपने मत को निर्भीकता से व्यक्त करने का साहस है। उसे पूर्व मान्यताओं को ज्यों-का-त्यों स्वीकारना अभीष्ट नहीं है। 'रवीन्द्र' के भारतीय भाषाओं पर प्रभाव की विवेचना करते हुए वह लिखता है कि रवीन्द्र नाथ ने भारत के साहित्यिक वातावरण के नवनिर्माण में योगदान को प्रत्यक्ष प्रभाव की अपेक्षा प्रेरणा ही अधिक प्रदान की। उनका प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय कवियों की प्रारंभिक रचनाओं तक ही सीमित रहा। बाद में प्रत्येक भाषा के समर्थ कवियों का स्वतन्त्र विकास हुआ और अनेक ने ऐसी कलाकृतियाँ भी प्रस्तुत कीं जो रवीन्द्रनाथ की श्रेष्ठ उपलब्धियों के समक्ष रखी जा सकती हैं। 'उसने' प्रसाद की काव्य-चेतना को रवीन्द्र की काव्य-चेतना की अपेक्षा अधिक भारतीय और उसी सीमा तक अधिक मौलिक भी कहा है। रवीन्द्र-भक्तों को लेखक के इस मत पर आपत्ति हो सकती है। पर अब समय आ गया है जब हिन्दी-साहित्य की श्रेष्ठ प्रतिभाओं का अन्य भाषा-साहित्यिकों के साथ सन्तुलित शब्दों में उचित मूल्यांकन किया जाय। लेखक ने इस लेख में यही किया है। साहित्य, शोध और समीक्षा के मर्म तथा उनके परस्पर सम्बन्ध को हृदयंगम कराने में यह संग्रह बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा।

'साहित्य-पथ' : श्री परशुराम चतुर्वेदी के ऐसे लेखों का संग्रह है जो सामान्यतः साहित्य और विशेष कर हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध हैं किन्तु जिनका एक दूसरे से प्रत्यक्ष लगाव नहीं है। कुछ लेख ऐसे भी हैं जो आज से ३५-४० वर्ष पूर्व लिखे गये हैं, जिनका आज पाठकों के लिये भले ही महत्त्व कम हो गया या न रह गया हो, पर लेखक के लिये उनका महत्त्व अवश्य है। इसीलिए उसने 'मन का महत्त्व' जैसा असाहित्यिक निबन्ध भी इसमें सम्मिलित करना आवश्यक समझा। सुमित्रानन्दन पन्त-सम्बन्धी **'नन्दिनि'** संस्मरणात्मक लेख लघु होते हुए भी रोचक है। रायगढ़ में होने वाली 'भारतीय हिन्दी परिषद्' के सभापति-पद से दिया गया भाषण, हिन्दी में

व्यावहारिक आलोचना, काव्य में वातावरण और व्यक्तित्व आदि लेख पठनीय हैं। सब मिला कर संग्रह उपादेय है।

'वार्षिकी' : डा० नगेन्द्र तथा उनके हिन्दी-विभाग के उत्साही सहयोगियों के प्रयत्नों का परिणाम है। यह सन् १९६० में प्रकाशित आलोचना साहित्य का 'नोटिस' मात्र नहीं है, उनका उचित मूल्यांकन है। हिन्दीतर साहित्यों में प्रकाशित कृतियों का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है। चूँकि ये पंक्तियाँ वार्षिकी में छप रही हैं इसलिए उसी के सम्बन्ध में विशेष चर्चा नहीं की जा रही है, उसका केवल 'नोटिस' लिया गया है। जिन्हें सन् १९६० के श्रेष्ठ अथवा उल्लेखनीय साहित्य-प्रकाशन से अवगत होना अभीष्ट हो उनके लिये ग्रन्थ विशेष उपयोगी होगा।

पत्र-पत्रिकाओं में 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', 'हिन्दुस्तानी', 'ज्ञानोदय', सम्मेलन पत्रिका', 'कल्पना', 'लहर' और 'धर्मयुग' में हिन्दी-साहित्य-कृतियों की समीक्षाएँ विशेष सजगता के साथ प्रकाशित होती रही हैं। 'धर्मयुग' की आलोचना-शैली रोचक तथा प्रतिक्रियात्मक होती है। 'कल्पना' की आलोचनाओं में तीखापन अधिक होता है। आलोच्य वर्ष में कवि दिनकर की 'उर्वशी' की विभिन्न आलोचनाएँ विशेष रूप से पठनीय रहीं, विशेषकर 'धर्मयुग' की प्रच्छन्न आलोचक की विभिन्न दृष्टिकोणात्मक तथा प्रतिक्रियावादी और डा० नगेन्द्र की विदग्धतापूर्ण गम्भीर विश्लेपणवादी आलोचनाएँ। सब मिला कर आलोच्य-वर्ष में समीक्षा-क्षेत्र में यथेष्ट विविधता और सचेष्टता के प्रयत्न दिखायी पड़ते हैं। यह सचेष्टता हिन्दी-भाषी जन समूह की बढ़ती हुई प्रवुद्धता का परिचायक है।

———

विविध साहित्य

श्री मंगलनाथ सिंह

यों तो हिन्दी में विज्ञान, मानविकी आदि के साहित्य की परम्परा काफ़ी पुरानी है तथापि यह मानने में कोई संकोच नहीं कि शुद्ध साहित्य की तुलना में हिन्दी में इन विषयों का साहित्य परिमाण में काफी कम और गुण की दृष्टि से भी पर्याप्त कमज़ोर है। १७०३ ई० में ही हिन्दी में कानून की पुस्तकें लिखी जाने लगी थीं। (द्रष्टव्य : 'आईन' सन् १८०३, आर्य भाषा पुस्तकालय, काशी नागरी प्रचारिणी सभा) ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं में यत्र-तत्र प्रयत्न पिछले १०० वर्षों से हो रहे हैं। किन्तु वायुचक्र विज्ञान (१८७८ ई०), जन्तु प्रबन्ध (१८६४ ई०), शाला-पद्धति (१८५६ ई०), पैमाइश की किताब (१८६८ ई०) या रसायन प्रकाश (१८६८ ई०) की परम्परा हिन्दी में बाधित ढंग से रुक-रुक कर ही चलती रही। इसका कारण भी स्पष्ट है। हमारी शिक्षा-दीक्षा हिन्दी में नहीं अंग्रेजी में होती थी। इसलिए हिन्दी में पुस्तकें लिखने का सवाल ही कहाँ उठता था। गाँधी जी ने जब से देशी भाषाओं के विकास के लिए आवाज़ उठाई और अंग्रेजी के विद्यालयों का बहिष्कार करके राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना कराई जहाँ हिन्दी के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी, देश-भाषियों का इधर भी ध्यान गया। किन्तु १९४७ से पूर्व हमारी अधिकांश शक्ति अंग्रेज़ों को निकालने में लगी रही। उनके चले जाने के बाद अब अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी और अन्य देशीय भाषाओं को प्रतिष्ठित करने की ओर हमारी दृष्टि गई है। परिमाणस्वरूप अब विविध विषयों की पुस्तकों की रचना हिन्दी में होने लगी है। इस कार्य में केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय, उत्तर प्रदेश की हिन्दी समिति, हिन्दुस्तानी एकेडमी, बिहार की राष्ट्रभाषा परिषद् आदि सरकारी और अर्द्ध सरकारी संस्थाओं के अतिरिक्त अनेक विश्व-विद्यालय भी प्रमुख भाग ले रहे हैं। अब प्रकाशक भी कहानी-उपन्यास के अतिरिक्त अन्य विषयों की पुस्तकें भी छापने लगे हैं। वस्तुतः अब शुद्ध साहित्य के अतिरिक्त इन विषयों में भी इतना साहित्य प्रतिवर्ष प्रकाशित होने लगा है कि उसका पूरा लेखा-जोखा रखना किसी एक व्यक्ति के बूते के बाहर का काम है। अतः १९६१ ई० में ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी ने क्या पाया इसकी एक झलक मात्र दी जा सकती है। सारे साहित्य की समीक्षा करना दुष्कर कार्य होगा।

विविध विषयों में हिन्दी में इधर जो भी साहित्य आ रहा है उसे देखकर एक बात निःसंकोच कही जा सकती है कि उसमें मौलिकता का प्रायः अभाव है। इस साहित्य का अधिकांश तो घोषित रूप में अनूदित है, शेष का भी एक बड़ा भाग अंग्रेजी या अन्य किसी भाषा के ग्रंथ या ग्रंथों की छाया मात्र है। इसमें वस्तुतः मौलिक ग्रंथ गिने-चुने ही हैं। हिन्दी प्रदेश मौलिकता की दृष्टि से बाँझ है यह मानने को जी नहीं करता। ऐसी पुस्तकों की माँग नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकना क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो इतने अनुवाद क्यों छपते ? इसमें विद्वानों के आलस्य के अतिरिक्त और क्या कारण हो सकता है ?

कोश और संदर्भ-ग्रंथ

इस वर्ष हिन्दी में कोई कोश नहीं आया। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने **पारिभाषिक शब्द-संग्रह** नामक एक बृहद् ग्रंथ दो जिल्दों में प्रकाशित किया। जिसे एक प्रकार से कोश ही कह सकते हैं। सन् १९५० से ही शिक्षा मंत्रालय में पारिभाषिक शब्दावली पर कार्य चल रहा है। १९६० में लगभग २५ विशेषज्ञ समितियाँ विभिन्न विषयों के अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी पर्याय स्थिर करने का काम कर रही थीं। अब तक निदेशालय की ओर से विभिन्न विषयों की १०० से अधिक छोटी-मोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं, किन्तु इतने बड़े पैमाने पर कोई पारिभाषिक शब्द-संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ था। ऐसा ग्रंथ प्रकाशित करने की माँग काफ़ी समय से हो रही था।

इस संग्रह में, पुरातत्त्व, इतिहास, भूगोल, राजनीति, नागरिक शास्त्र, मानव विज्ञान, अर्थशास्त्र, वाणिज्य, बैंकिंग, शिक्षा शास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान, समीक्षा-शास्त्र भूगर्भ-विज्ञान, सिविल इंजीनियरी, बिजली इंजीनियरिंग, मशीनी इंजीनियरिंग, गणित, भौतिकी, रसायन, शरीर-विज्ञान, चिकित्सा, वनस्पतिशास्त्र, आदि विषयों के अतिरिक्त सरकारी विभागों में काम आने वाले पारिभाषिक शब्द भी हैं। यद्यपि इन पारिभाषिक शब्दों को अभी तक अंतिम रूप नहीं दिया जा सका है, यह कार्य भी तेज़ी से हो रहा है तथापि इतना तो निर्विवाद है कि यह शब्दावली ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में हिन्दी में पुस्तकें लिखने वालों के लिए बड़े काम की है। इस शब्दावली में सर्वत्र मध्यम मार्ग अपनाया गया है। हिन्दी में सभी अंग्रेज़ी के शब्दों का अनुवाद करने या उनको उसी रूप में स्वीकार कर लेने की दोनों आत्यन्तिक सीमाओं से बचकर चलने का प्रयत्न यहाँ स्पष्ट दीखता है। अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों का अनुवाद नहीं किया गया है, इसी प्रकार सभी संकल्पनात्मक शब्दों के पर्याय ढूँढे गये हैं। इस पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में देश के सभी भागों के मूर्धन्य विद्वानों का

१. **अनुसंधान तथा संदर्भ प्रभाग द्वारा प्रस्तुत तथा पब्लिकेशन्स डिवीजन, सूचना और प्रसार मंत्रालय द्वारा प्रकाशित।**

सहयोग प्राप्त किया गया है। सभी भाषाओं से शब्द लिए गये हैं। वस्तुतः थोड़े रद्दोबदल से यह शब्दावली भारत की सभी भाषाओं में चल सकती है।

संदर्भ ग्रंथों की कोटि में इस वर्ष में प्रकाशित "भारत : १९६१" तथा "भारतीय अब्दकोश"[1] दो ग्रंथों की चर्चा की जा सकती है। पब्लिकेशन्स डिवीजन की ओर से 'भारत : संदर्भ ग्रंथ' पिछले प्रायः दस वर्षों से प्रकाशित हो रहा है। इसमें देश के संविधान, न्यायपालिका, कार्यपालिका आदि के अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों की वार्षिक प्रगति का निदर्शन प्रामाणिक अद्यतन आँकड़ों के माध्यम से किया जाता है। वस्तुतः इतना प्रामाणिक-संदर्भ ग्रंथ देश में अन्य दूसरा कोई नहीं छपता। बिहार से प्रकाशित अब्दकोश के प्रकाशन का दूसरा वर्ष है। और संरचना की दृष्टि से 'भारत : १९६१' से कुछ अलग है। इसमें भारत और बिहार का ही नहीं बल्कि ब्रह्माण्ड, विश्व आदि का भी वर्णन है। पूरे एक वर्ष में ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति तथा वर्ष का पंचांग भी है। एशिया, यूरोप आदि सभी महाद्वीपों के देशों का संक्षिप्त परिचय काम का है।

एक ओर जहाँ सारे विश्व ही नहीं, पूरे ब्रह्मांड को समेटने का यत्न इस पुस्तक में है, वहीं ६०० पृष्ठों में १५० पृष्ठ मात्र बिहार के ऊपर खर्च कर देने की बात संतुलन की दृष्टि से बुद्धिगम्य नहीं है। ऐसे ग्रंथों की उपयोगिता सारे देश में होगी इसलिए सभी राज्यों की प्रगति और उनके परिचय के लिए पृष्ठों का उचित ढंग से बँटवारा पुस्तक की उपयोगिता निश्चय ही बढ़ायेगा।

ऐसे संदर्भ ग्रंथों में आँकड़े नये से नये होने चाहिएँ। पुराने आँकड़ों या पुरानी सूचनाओं से ग्रंथ की सारी उपादेयता नष्ट हो जाती है। ग्रथ में लुम्बिनी को गोरखपुर में, ग्वालियर को राजस्थान में, कन्याकुमारी को केरल में तथा तिरुपति बाला जी को मद्रास में दिखलाया गया है जो निश्चय ही चिन्त्य है।

समीक्ष्य वर्ष में 'सरस्वती' ने अपने जीवन के ६० वर्ष पूरे किये। इस लक्ष्य में एक अतिदीर्घ विशेषांक इस पत्रिका ने निकाला। इसमें पिछले ६० वर्षों में सरस्वती में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण रचनाएँ एकत्र छापी गई हैं। इस संग्रह के आधार पर ही यदि कोई पिछले साठ वर्षों का हिन्दी का इतिहास लिखना चाहे तो लिख सकता है।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय के डा० अम्बाप्रसाद सुमन का '**कृषक जीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा-शब्दावली : अलीगढ़ की बोली के आधार पर**' का दूसरा भाग भी

---

१. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

हिन्दुस्तानी एकेडमी से प्रकाशित हो गया। ग्रियर्सन की परम्परा (विहार पीजैण्ट लाइफ) में यह अगला कदम है। कृषक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली शब्दावली का ही यह सचित्र संग्रह नहीं है अपितु प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति भी देने की चेष्टा इसमें की गई है। इस प्रकार भाषाशास्त्र ही नहीं बल्कि मानवशास्त्र, मानव जाति-शास्त्र, समाजशास्त्र की दृष्टि से यह एक आकर ग्रंथ हो गया है :

संदर्भ ग्रंथों की परम्परा में जिसे इस वर्ष की प्रमुख सिद्धि माना जायेगा वह ग्रंथ मौलिक कृति नहीं अपितु एक अनुवाद है। चौखंभा संस्कृत सिरीज से मैकडानल और कीथ के **वैदिक इन्डेक्स** का अनुवाद प्रकाशित हो गया है। श्री सम्पूर्णानन्द के शब्दों में जब तक हिन्दी में ऐसे मौलिक ग्रंथ नहीं लिखे जाते तब तक ऐसे अनुवादों के महत्त्व से इंकार नहीं किया जा सकता। अनुवाद अच्छा हुआ है जिसके लिए श्री रामकुमार राय प्रशंसा-पात्र हैं।

इतिहास और पुरातत्त्व

इतिहास और पुरातत्त्व के क्षेत्र में इस वर्ष कुछ अच्छे प्रकाशन हुए है—मौलिक और अनुवाद दोनों—जिनसे भविष्य के प्रति आस्था बढ़ती है। मौलिक पुस्तकों में श्री श्रीराम गोयल की **प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ** प्रमुख हैं। इस पुस्तक में पृथ्वी के जन्म और जीवन के उद्भव से लेकर मानव के आविर्भाव और विकास, पाषाण-कालीन सभ्यता, ताम्रकालीन आविष्कारों का विवरण तथा कांस्य काल की सभ्यताओं पर प्रकाश डाला गया है। लेखक ने पुस्तक बड़े परिश्रम से लिखी है। पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में यदि लेखक केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की सूची देख लेता तो उत्तम होता। वैसे पुस्तक के अन्त में अंग्रेजी हिन्दी शब्दसूची देने से गड़बड़ी काफ़ी कम हो गई है। इतिहास की एक दूसरी पुस्तक श्री प्रीतमसिंह द्वारा लिखित **गदरपार्टी का इतिहास** है। पुस्तक स्वातंत्र्य संग्राम के एक महत्त्वपूर्ण आयोजन का प्रामाणिक इतिहास उपस्थित करती है।

समीक्ष्य वर्ष में सरदेसाई के **मराठों का नवीन इतिहास** और जदुनाथ सरकार के **मुगल साम्राज्य का पतन** भी अनूदित होकर हिन्दी में आ गये हैं। इसी प्रकार तपन मोहन चट्टोपाध्याय का **पलासी का युद्ध** तथा वर्नियर का **सिंहासन के लिए युद्ध** और फिलिप्स के० हिट्टी का **अरब : एक संक्षिप्त इतिहास** भी इन विषयों पर हिन्दी में पुस्तकों के अभाव की पूर्ति करती हैं।

इतिहास के संदर्भ-ग्रंथों में इलियट और डाउसन का **हिस्ट्री आफ इंडिया ऐज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स** का बड़ा महत्त्व है। बनारस के इन्डोलाजिकल बुक हाउस ने इस माला की पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित करने

का निश्चय किया है। समीक्ष्य वर्ष में खाफी खान द्वारा लिखित मुन्तखबुल लुबाब प्रथम भाग (औरंगजेब), द्वितीय भाग उत्तरकालीन मुगल और बाबर और हुमायूँ के तीन खंड प्रकाशित हो गये हैं। ये अनुवाद इलियट और डाउसन के अंग्रेजी उद्धरणों के अनुवाद हैं। खाफीखान ने अपना इतिहास ईरानी भाषा में लिखा था। इस प्रकार यह अनुवाद का अनुवाद है। ऐसे ग्रंथों की उपादेयता इस बात में है कि मूल-लेखन में उनके उद्धरण दिये जा सकें। यह बात इन अनुवादों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती।

दर्शन-मनोविज्ञान—

दर्शन के क्षेत्र में हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग से प्रकाशित श्री यशदेव शल्य की **दार्शनिक विश्लेषण : अनुभववादी परिप्रेक्ष्य की रचना** ही एक मात्र ऐसी पुस्तक दिखी जिसे मौलिक कहा जा सकता है। शेष पुस्तकें अनुवाद हैं। डा० राधाकृष्णन की An Ideal View of Life का **जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि** नाम से श्री कृष्ण चन्द्र ने अनुवाद किया है। शीर्षक सही नहीं प्रतीत होता। जीवन का अध्यात्मवादी दृष्टिकोण या इसी प्रकार का कोई दूसरा शीर्षक अधिक सार्थक होता। अनुवाद ऊँचे स्तर का नहीं है। प्रथम पृष्ठ पर 'आडियलिज्म', 'प्रत्ययवाद' और 'आदर्शवाद' शब्दों का प्रयोग किया है। 'प्रत्ययवाद' और 'आदर्शवाद' एक नहीं हैं। दर्शन में 'आदर्शवाद' आइडियलिज्म का पर्याय नहीं है। पुस्तक के शीर्षक में आइडियलिस्टिक के लिए 'अध्यात्मवाद' शब्द का प्रयोग हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि अनुवाद की दार्शनिक धारणाएँ धुँधली हैं। अनुवाद की भाषा भी त्रुटिपूर्ण है। नये सिरे से इस ग्रंथ का अनुवाद होना चाहिए।

सुप्रसिद्ध विचारक बर्ट्रेंड रसेल की तीन पुस्तकों के अनुवाद भी इस वर्ष प्रकाशित हुए हैं। **कॉन्क्वेस्ट आफ हैपिनेस, मैरेज ऐंड मोरेलिटी** और **कॉमन सेंस ऐंड न्यूक्लियर वार फेअर** के अनुवाद **सुख की साधना, विवाह और नैतिकता** और **विवेक और विनाश** शीर्षकों का क्रमशः ख्वाजा बदी उज्ज़मान, धर्मपाल और वीरेन्द्र त्रिपाठी ने किये हैं। इन तीनों अनुवादों में ख्वाजा का अनुवाद सबसे अच्छा है। पढ़ने में मौलिक रचना का आनन्द इसमें मिलता है। सफल अनुवाद की कसौटी भी यही है।

अनुवादों की परम्परा में इस वर्ष की एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना डाक्टर सूर्यकांत द्वारा मैकडानल के **वैदिक माइथॉलोजी** का **वैदिक देवशास्त्र** के नाम से अनुवाद है। डाक्टर सूर्यकान्त का अनुवाद बहुत बढ़िया है। इसमें प्रवाह है। अनुवाद के प्रारम्भ में उन्होंने २७ पृष्ठों की एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी दी है जो अनुवाद का महत्त्व और भी बढ़ा देती है।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित सूरजनारायण मुंशी तथा सावित्री निगम की **रोगी मन** नामक पुस्तक असामान्य मनोविज्ञान अथवा व्यक्तित्व विकार के क्षेत्र में हिन्दी में प्रतिष्ठा प्राप्त करेगी। ऐसी पुस्तकों के अन्त में सहायक ग्रंथसूची और अनुक्रमणिका तथा पारिभाषिक शब्दसूची का न होना खटकता है।

मन के मनोविज्ञान का भी अनुवाद इस वर्ष छप गया है। मूल अंग्रेजी पुस्तक बड़ी उपयोगी है और विश्वविद्यालयों में बी०ए० के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित है। हिन्दी रूपान्तर मूल पुस्तक की लोकप्रियता शायद ही प्राप्त कर सके। अनुवाद में शिक्षा-मन्त्रालय के द्वारा स्वीकृत शब्दावली का न होना एक महत्त्वपूर्ण कमी है। आशा है अगले संस्करणों में इसका ध्यान रखा जायेगा।

शिक्षा :—

प्रोफेसर हुमायुन कबिर द्वारा विभिन्न विश्वविद्यालयों के समावर्त्तन समारोहों में दिये गये दीक्षांत भाषणों का अनुवाद **भारतीयशिक्षादर्शन** नाम से प्रकाशित हुआ है। ये भाषण काफी गम्भीर और प्रेरणाप्रद हैं। अनुवाद की भाषा अच्छी और विषयानुकूल है।

शिक्षाशास्त्र :—प्रस्तुत ग्रन्थ प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री श्री सैयदेन के अंग्रेजी ग्रंथ का अनुवाद है। पुस्तक में प्राक्कथन का अभाव खटकता है। अनुवाद प्रायः निर्दोष है।

शिक्षण मापन का इतिहास, सिद्धांत और प्रयोग : इस पुस्तक के लेखक श्री डी० एस० रावत हैं। application के लिए 'प्रयोग' पर्याय त्रुटिपूर्ण है। शिक्षण-मापन विषय पर हिन्दी में अभी बहुत ही कम साहित्य है। इसलिए इस पुस्तक का काफी महत्त्व है। एल. टी., बी. टी. इत्यादि के विद्यार्थियों के लिए यह लिखी गई है। पारिभाषिक शब्दों का चुनाव कहीं-कहीं ठीक नहीं हुआ है। जैसे concept के लिए 'मनोभाव' प्रयोग करना त्रुटिपूर्ण है। बुनियादी शिक्षा पर श्री के० सी० मलैया एवं श्रीमती विद्यावती मलैया की पुस्तकें छात्रों की उपयोगिता से अच्छी हैं।

वैज्ञानिक साहित्य—

हिन्दी में उच्चतर वैज्ञानिक साहित्य का निर्माण सफलता के साथ हो सकता है। इस सम्बन्ध में कुछ लोगों के मन मे संदेह है। हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना तथा विज्ञान-परिषद, प्रयाग काफी समय से उच्च वैज्ञानिक साहित्य प्रकाशित कर रही हैं। इस वर्ष अनेक मौलिक और अनूदित पुस्तकें प्रकाशित

हुई हैं जो इस सम्बन्ध में हिन्दी के सामर्थ्य का परिचय देती हैं। काशी विश्व-विद्यालय में भूगर्भ शास्त्र के भूतपूर्व अवैतनिक प्रोफेसर डॉ० विद्यासागर दुबे ने **भारत का आर्थिक भूगर्भ शास्त्र** नामक पुस्तक लिखकर हिन्दी का बड़ा उपकार किया है। डॉ० दुबे भूगर्भ शास्त्र के क्षेत्र में अनेक मौलिक अनुसंधानों के लिए लोक-विश्रुत हैं। इस मौलिकता की छाप इस पुस्तक पर सर्वत्र है। इस प्रकार **क्रोमैटोग्राफी** जैसी आधुनिक रासायनिक पद्धति की जानकारी देने वाली अपनी मूल पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद कर डॉ० हरिभगवान ने प्रशंसनीय कार्य किया है। डॉ० हरिभगवान भारतीय मानक संस्था में कार्य करते हैं। इसी विषय में शोध पर आपको पी-एच० डी० की उपाधि मिली है। लगभग १५० पृष्ठों में लेखक ने क्रोमैटोग्राफी की भिन्न-भिन्न विधियों, उनमें प्रयुक्त उपकरणों, क्रोमैटोग्राफी के उपयोग आदि के संबन्ध में सरल शैली में बहुमूल्य जानकारी दी है। प्रयुक्त हिन्दी पर्याय भी ठीक हैं। पाद-टिप्पणियों में मूल अंग्रेजी शब्दों के देने से ग्रन्थ की उपयोगिता और बढ़ गई है। सहायक ग्रन्थसूची भी बड़े काम की है।

'प्राणिशास्त्र' :—विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, मास्को द्वारा प्रकाशित यह पुस्तक मूल रूसी से श्री यशवन्त ने अनूदित की है। पुस्तक में सरल शारीरिक रचना वाले जीवों से लेकर अत्यन्त विकसित प्राणियों तक की जानकारी बड़ी सरल शैली में देने का यत्न किया गया है। पाठ्य-पुस्तक के रूप में इस पुस्तक का उपयोग नहीं हो सकता, हाँ, आनुषंगिक पठनीय साहित्य के रूप में यह अवश्य बड़े काम की है। अनेक रंगीन चित्रों तथा रेखाचित्रों ने पुस्तक की उपयोगिता और उसका आकर्षण काफी बढ़ाया है।

ऊपर अत्यन्त संक्षेप में सन् १९६१ में विभिन्न विषयों में प्रकाशित साहित्य की चर्चा की गई है। जैसा मैंने प्रारम्भ में ही कहा है, इस समीक्षा का उद्देश्य एक दिग्दर्शन मात्र कराना है। ऐसा संभव हो सकता है कि इसमें किसी विषय के किसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का उल्लेख छूट गया हो। इसका कारण उस ग्रन्थ का न मिलना ही है। जान-बूझकर किसी ग्रंथ का उल्लेख नहीं छोड़ा गया है।

उर्वशी

भारत भूषण अग्रवाल

'उर्वशी' कवि दिनकर की नवीनतम रचना है। वह इस वर्ष की ही नहीं, इस दशाब्द की भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य-कृति है। आज जब कविता अधिकतर छोटे-छोटे ताल-तलैयों और सरोवरों का रूप ले चुकी है, तब 'उर्वशी' जैसी सशक्त और मौलिक रचना से शीतल झरने का-सा आनन्द मिलता है। 'कुरुक्षेत्र' में हमें जिसकी पूर्व-सूचना मिली थी, 'उर्वशी' में वही आधुनिक प्रबन्ध-प्रतिष्ठा मुखरित हो उठी है। 'उर्वशी' नये हिन्दी काव्य की प्रौढ़ि की घोषणा है।

यद्यपि 'उर्वशी' का आधार परम्परागत पौराणिक कथा ही है, जो वेदों से लेकर कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' तक में मिलती है, पर कवि ने अपने उद्देश्य और प्रयोजन के अनुसार उसमें कई महत्त्वपूर्ण मौलिक परिवर्तन किए हैं जिनसे कथा का स्वरूप नितान्त नया और भिन्न हो गया है। सच तो यह है कि अन्य आधुनिक पौराणिक प्रबन्ध काव्यों के विपरीत 'उर्वशी' के कवि का उद्देश्य पौराणिक कथा को नवीन स्वरूप देना नहीं है, वरन् आधुनिक जीवन के सत्य को प्रखर और गहरी व्यंजना देने के लिए प्राचीन कथा का माध्यम अपनाना है। दृष्टिकोण का यह विभेद 'उर्वशी' काव्य को अन्य समस्त प्रबन्ध काव्यों से अलग कर देता है। केवल एक 'कनुप्रिया' ही और ऐसा काव्य है जो कदाचित् इसी कोटि में आता है।

यही कारण है कि 'उर्वशी' को प्रबन्ध काव्य की शास्त्रीय कसौटी पर कसना ग़लत होगा। उससे 'उर्वशी' के प्रति तो अन्याय होगा ही, उसके मर्म का वास्तविक रस-ग्रहण भी कठिन हो जायेगा। यद्यपि कवि ने काव्य में कथा-विकास को कुशलता-पूर्वक सहेजा है और प्रमुख पात्रों के चरित्र-चित्रण में विलक्षण सूझ-बूझ और सामर्थ्य

उर्वशी : प्रबन्ध काव्य; लेखक, श्री रामधारीसिंह दिनकर; प्रकाशक : उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना—४; रायल साइज़, पृष्ठ संख्या १६८ ; सचित्र-सजिल्द, नयनाभिराम सज्जा; मूल्य १२ रु०; प्रथम संस्करण : १९६१।

का परिचय दिया है, पर कथा अथवा चरित्र कवि का कथ्य नहीं है, वे साधन-मात्र हैं।

'उर्वशी' आधुनिक व्यक्ति-जीवन में काम की समस्या का काव्य है। कवि ने इस तथ्य को उजागर करने के लिए उसकी व्याख्या करते हुए स्वयं ही उसको 'कामाध्यात्म' का काव्य कहा है। पर फिर भी यह खेद का विषय है कि अभी तक उसकी जितनी भी समीक्षायें प्रकाशित हुई हैं, उनमें या तो इस तथ्य को भुला दिया गया है, या फिर उसको गौण ही माना गया है। हमारा विनम्र आग्रह है कि 'उर्वशी' को काम समस्या के काव्य के रूप में देखना ही सही है। तभी उसके वास्तविक सौन्दर्य के दर्शन किये जा सकते हैं और उसका यथार्थ महत्त्व पहचाना जा सकता है।

आधुनिक काम-दर्शन के दो आधार-स्तंभ हैं : एक : नर-नारी, दोनों के आकर्षण की ऐकान्तिकता, और दो : काम की सफलता-असफलता की देहातीत सम्पूर्ण व्यक्तित्व में व्याप्ति। 'उर्वशी' इन्हीं दोनों सिद्धान्तों की गौरवपूर्ण स्थापना करती है, और रूढ़ियों में बँधे काम-जीवन की वेदना और विडम्बना का उद्घाटन। यद्यपि नारी के लिए पातिव्रत अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त है, और पुरुष के लिए एक पत्नी-व्रत भी कोई कम प्राचीन सिद्धान्त नहीं है, पर उनका आधार समाज-नीति है, व्यक्ति-मन का प्रेम नहीं। यही कारण है कि आदर्श रूप में इन दो कर्त्तव्यों की दुहाई देते रहने पर भी मानव-समाज आदि काल से अब तक इनकी प्रतीति नहीं कर सका है। फलतः बहु-पत्नी प्रथा और वेश्यावृत्ति—ये दोनों विभीषिकायें प्रायः सभी युगों में मानव-समाज की व्यवस्था से जुड़ी मिलती हैं। आज का समाज इन दोनों के उन्मूलन के लिए कटिबद्ध है, और वह जानता है कि इन का अन्त तभी होगा जब समाज में एक नए और सर्वांगीण कामदर्शन की प्रतिष्ठा हो जाय। इसीलिए एकान्त और अनन्य व्यक्ति-प्रेम नई कविता का अभिन्न अंग बन चुका है। 'उर्वशी' इसी व्यक्ति-प्रेम को अत्यन्त उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयत्न है। रूढ़ियों की जकड़ के कारण प्रेम की यह समग्रता जीवन-परिपाटी में बड़ी गहरी उथल-पुथल मचा देती है। औशीनरी की वेदना, उर्वशी की विवशता और पुरूरवा के समाज-त्याग में कवि ने उस विडम्बना को भी प्रबल रूप से उद्घाटित किया है।

पुरूरवा चन्द्रवंशी राजा है, पराक्रमी और दिग्विजयी। स्वर्ग तक उसका स्यंदन पहुँचता है। उसे अपनी क्षमता की प्रखर चेतना है। वह अपने प्रताप का स्वयं वर्णन करता है :—

> **मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं,**
> **उर्वशी ! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।**
> **अंध तम के भाल पर पावक जलाता हूँ,**
> **बादलों के सीस पर स्यंदन चलाता हूँ।**

कथा के प्रारम्भ में यही लगता है कि पुरूरवा के जीवन में अभाव का कोई स्थान नहीं। पर उर्वशी पर दृष्टि पड़ते ही मानो इस परमवीर प्रतापी पुरुष की दुनिया उलट जाती है। परिपाटी में बँधा जीवन जीते हुए और अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को वीर-कर्म में झोंकते हुए उसने जो कुछ पाया था, वह अब सब निःसार लगने लगता है। अपने जीवन के सबसे बड़े अभाव की उसे पहली बार चेतना होती है। वह उर्वशी के लिए विकल हो उठता है। उर्वशी के रूप के लिए नहीं, उसके व्यक्तित्व के लिए।

यह अन्तर महत्त्वपूर्ण है। पुरूरवा की यह प्रेम-विकलता छायावादी प्रेम-विकलता से अधिक गहरी है। यह 'किसी अपरिचित' की चाह नहीं है, एक निश्चित लक्ष्य की चाह है। और 'उर्वशी' का पुरूरवा, 'विक्रमोर्वशीय' के पुरूरवा से तो नितान्त भिन्न स्तर का है। दिनकर ने इसकी सूचना रचना-कौशल की एक सूक्ष्म भंगिमा से दी है। उन्होंने राजा के मित्र और विदूषक को काव्य में आने ही नहीं दिया है। कालिदास का पुरूरवा उर्वशी को पाने की विकलता में जब विदूषक को अपने हृदय का हाल सुना कर सान्त्वना पाना चाहता है, तब विदूषक अपनी भूख की विकलता का वर्णन कर पाठकों के सामने यह स्पष्ट कर देता है कि राजा की विकलता किस कोटि की है। इसीलिए दिनकर ने विदूषक को काव्य में प्रवेश ही नहीं दिया। 'उर्वशी' का पुरूरवा अपनी विकलता में अपने अन्तर का ही मंथन करता रहता है। औशीनरी न होती, तो कोई बाधा न थी। इन्द्र उससे प्रसन्न थे। उर्वशी से परिणय कठिन न होता। पर औशीनरी के रहते वह अपने प्राणों की अभिलाषा ओठों तक भी नहीं ला सकता, वह भीतर-ही-भीतर घुटता रहता है। कालिदास ने पुरूरवा के चरित्र के इस पक्ष पर अटकने की जरूरत ही नहीं समझी, क्योंकि वह राजा था, और राजा तो एकाधिक रानियाँ रखते ही थे। पर दिनकर इस पक्ष की अवहेलना नहीं कर सकते। उनका पुरूरवा राजा नहीं, मात्र पुरुष है। सो भी आधुनिक जीवन-दृष्टि से बँधा। उर्वशी को वह क्योंकर पाये, पर उर्वशी को देख लेने के बाद औशीनरी को भी क्योंकर स्वीकारे? कवि फिर एक रचना-कौशल का सहारा लेता है। पूरे काव्य में पुरूरवा और औशीनरी एक बार भी आमने-सामने नहीं आते।

हो सकता था, कहानी यहीं समाप्त हो जाती, जैसे कि यथार्थ जीवन में अनगिनत प्रेम-प्रसंग समाप्त हो जाते हैं, पर पौराणिक कथा आगे बढ़ने का पुष्ट आधार देती है। सच पूछिए तो असंख्य पौराणिक कहानियों में से इसी एक को चुनने के पीछे संगति ही यह है कि कहानी यहीं नहीं रुकती, वह आगे चलती है। पुरूरवा प्रेम में विकल होकर मन-ही-मन घुटता रहे क्योंकि वह स्वतन्त्र नहीं है, पर उर्वशी क्यों चुप रहे। वह तो स्वतन्त्र है, अप्सरा है। आधुनिक संदर्भ में देखें तो वह सुशिक्षित, सुसंस्कृत समाज की विकसित व्यक्तित्व आत्माधीन नारी है। पुरूरवा के लिए उसके

प्राण भी उतने ही छटपटा रहे हैं। वह प्रमाद-वश भरतमुनि का शाप अर्जित करती है, और उसके सहारे मर्त्यलोक में आकर पुरूरवा से भेंट करती है।

उर्वशी और पुरूरवा का यह मिलन काव्य के तृतीय अंक की वस्तु है, जो काव्य का प्रधान और सबसे लम्बा अंश है। उर्वशी को सामने पाकर भी पुरूरवा उसे स्वीकार नहीं कर पाता क्योंकि उसके मन में बाधा है। वह उस बाधा को पार करने का मार्ग नहीं जानता, अतः अपनी कामना से जूझना चाहता है, और अनासक्ति में ही सच्चे प्रेम का दर्शन करना चाहता है। दूसरे छोर पर, उर्वशी उसके द्वन्द्व का मूल कारण जानती है, अतः काम के महत्त्व और दर्शन पर अपने विकसित विचारों द्वारा पुरूरवा को अतीत-भविष्य की चिन्ता छोड़ प्रस्तुत क्षणों की सहज स्वीकृति के लिए प्रेरित करती है। इस अंक में पुरूरवा और उर्वशी का सम्बन्ध बहुत-कुछ अर्जुन और कृष्ण के सम्बन्धों की लीक पर चलता जान पड़ता है। जिस प्रकार मोह में पड़े अर्जुन को कृष्ण ने निष्काम कर्म का पाठ पढ़ाकर कर्त्तव्य में प्रवृत्त किया था, उसी प्रकार उर्वशी भी द्विधा-ग्रस्त पुरूरवा को निष्काम काम का ज्ञान देकर अभीष्ट-प्राप्ति में प्रवृत्त करती है। पूरा अंक प्रेम भावना के नाना-विध रूपों का और जीवन में काम के प्रति सही दृष्टिकोण का विशद विवेचन प्रस्तुत करता है, जिसमें आधुनिक विचारधारा अत्यन्त उभर कर ऊपर आती है। यह अंक इस पौराणिक कथा को नए आध्यात्मिक अर्थ ही नहीं देता, समस्त काव्य को अभूतपूर्व महत्त्व भी प्रदान करता है। तन-मन के मिलन का ऐसा समग्र और आन्तरिक चित्रण दुर्लभ है। यह प्रमाण है कि सच्चे और गहरे प्रेम का सहज स्वीकार कितना उत्थानकारी होता है। अन्तर की एक-एक परत की छानबीन कर प्रेम के सही मर्म का यह उद्घाटन जितना विलक्षण है उतना ही प्रेरणादायक। प्रेम के परम्परागत अर्थों के विरुद्ध और रूढ़ियों के विरुद्ध यह विद्रोह दिनकर के अनुकरणीय साहस का प्रमाण है। यही कारण है कि वर्तमान के सहज स्वीकार के रास्ते चलकर ही पुरूरवा और उर्वशी सदैव के लिए बँध जाते हैं।

पर उर्वशी पर भरत मुनि के शाप की छाया है, इसलिए विछोह अवश्यंभावी है। उर्वशी अपने पुत्र को अपने प्रियतम से छिपाकर उस विछोह के दिन को दूर ठेलने का प्रयत्न करती है, और मातृत्व के दुर्लभ अतिरिक्त को उतनी वेदना से अपने मन में बन्द कर लेती है, जितनी वेदना से प्रारम्भ में पुरूरवा ने अपनी विकलता छिपाई थी। पर विछोह का दिन आकर रहता है। उर्वशी को स्वर्ग लौट जाना पड़ता है, और पुरूरवा राज-पाट छोड़कर संन्यास ले लेता है।

संन्यास किस लिए ? यह प्रश्न सहज ही मन में उठता है, इसलिए और भी कि कवि को जो कथा परम्परा से मिली थी, उसमें पुरूरवा के संन्यास लेने की कोई चर्चा नहीं। उस चर्चा की जरूरत भी न थी, क्योंकि उर्वशी के स्वर्ग जाते-न-जाते स्वयं

देवगण उर्वशी को स्वेच्छा से पुरूरवा को सौंप देते हैं क्योंकि उन्हें असुरों के विरुद्ध युद्ध में पुरूरवा की मदद चाहिए। पर एक पत्नी के रहते पुरूरवा उर्वशी को कैसे स्वीकार करे ? काव्य की मूल समस्या ही यह है। अतः कवि मौलिक उद्भावना कर पुरूरवा को संन्यास-पथ पर भेज देता है। परित्याग का यही रूप तत्कालीन वातावरण से मेल खा सकता है। पुरूरवा का यों चला जाना औशीनरी को विषाद के सागर में डुबो देता है, और कवि साहस-पूर्वक उसका चित्रण करता है, पर उसे प्रश्रय देना रूढ़ि को ही प्रश्रय देना होता। जो सम्बन्ध आडम्बर मात्र है, आधुनिक कवि उसको तोड़ने में ही कल्याण मानता है।

पर संन्यास की एक संगति और भी है। पाठकों को याद होगा कि 'कुरुक्षेत्र' में धर्मराज युधिष्ठिर भी विजयी किन्तु अशान्त की स्थिति से बचने के लिए, शान्ति पाने के लिए संन्यास लेने की कामना करते हैं। पर फिर भीष्म के कहने से 'धर्म' 'करुणा' का दीप जलाते रह जाते हैं। 'उर्वशी' तक आते-आते कवि के दृष्टिकोण में प्रखरता और प्रौढ़ता दोनों की वृद्धि हुई है, और वह मूल कथा में आवश्यक संशोधन कर पुरूरवा को संन्यास की ओर भेज देता है, क्योंकि संन्यास तप का, ध्येय-प्राप्ति के लिए साहसपूर्ण सत्प्रयत्न का प्रतीक है। और पुरूरवा संन्यास द्वारा उर्वशी को पाना चाहता है, ठीक जैसे च्यवन ने तपस्या द्वारा सुकन्या को प्राप्त किया था। काव्य में च्यवन और सुकन्या के प्रसंग के समावेश की यही सार्थकता है।

अपनी कल्पना में 'उर्वशी' जितना साहसपूर्ण प्रयास है, अपनी रचना में भी वह कवि के विलक्षण सामर्थ्य का प्रमाण है। प्रेम-काव्य होने के कारण वह रमणीक स्थलों से भरा पड़ा है। तन और मन के सौंदर्य का ऐसा मुग्ध और प्रेरणाप्रद चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। पुरूरवा, औशीनरी और उर्वशी—तीनों के चरित्रचित्रण में कवि ने गहरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है, और काम-सम्बन्धों के विवेचन में आधुनिक जीवन दृष्टि का। काव्य की रचना नाटक के रूप में कर कवि ने अनावश्यक विस्तार से बचने का मार्ग निकाला है, जो वह 'कुरुक्षेत्र' में नहीं कर सका था, और संवादों के व्यवहार से वैदग्ध्य और मार्मिकता का। भाषा और व्यंजना दोनों में प्रीतिकर प्रखरता और ओज है जो काव्य को उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं। उर्वशी और पुरूरवा घर और बाहर के ही नहीं, भाव-जगत् और वस्तु-जगत् के भी प्रतीक हैं। इस प्रकार 'उर्वशी' काम-प्रेरणा के सही और साहसपूर्ण अनुगमन एवं प्रतिपालन द्वारा व्यक्ति के पूर्णत्व-अभियान का जयघोष है।
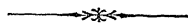
डा० शम्भुनाथ सिंह

त्रिभंगिमा बच्चन की नवीनतम कविताओं का संग्रह है। इसमें कवि की तीन शैलियों की रचनाएँ संगृहीत हैं। इसलिए इसका नाम भी त्रिभंगिमा रखा गया है। बच्चन के व्यक्तित्व और काव्य की प्रौढ़ता का प्रतिनिधित्व इस संग्रह की कविताएँ पूर्ण रूप से करती हैं। बच्चन का कवि अब वह पहले वाला फक्कड़, दुनिया से लापरवाह और व्यक्तिगत जीवन की स्थूल समस्याओं में उलझा रहने वाला कोरा व्यक्तिवादी नहीं रह गया है। भौतिक जगत् और जीवन को अतिक्रमित करने वाली वास्तविकताओं के प्रति भी वह इन कविताओं में उन्मुख हुआ है और साथ ही अपने परिवेश की भोंड़ी कुरूपताओं और वैषम्यपूर्ण स्थितियों पर उसने व्यंग और उपहासपूर्ण दृष्टि भी डाली है। यही नहीं अभिव्यक्ति की विलक्षणता और अभिधा-शैली के परित्याग के कारण भी त्रिभंगिमा में बच्चन एक बदले हुए कवि के रूप में दिखलायी पड़ते हैं।

अन्य किसी भी व्यक्ति की तरह कवि के लिए भी अपने व्यक्तित्व का चतुर्मुख विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। विकास का अर्थ है वह क्षमता जिसके द्वारा व्यक्ति बदले हुए परिवेश और विचारधाराओं के अनुरूप अपने को ढालता तथा अपनी मौलिक चिन्तना-शक्ति, कल्पना और नवीन उद्भावनाओं के द्वारा अपने परिवेश में भी परिवर्तन उपस्थित करता है।

त्रिभंगिमा का कवि एक ओर समाज के सुख-दुःख के प्रति पूर्ण संवेदनशील है तो दूसरी ओर जीवन के शाश्वत प्रश्नों और जिज्ञासाओं के प्रति भी पूर्ण सजग और उन्मुख है। एक ओर वह वर्तमान बौद्धिक युग की ज्ञान-गरिमा युक्त आधुनिकता-वादी दृष्टि से जीवन और जगत् को देखता है तो दूसरी ओर आदिम मानव की भाँति अकृत्रिम और आदिम वातावरण के दृश्यों और घटनाओं को अकुंठ भाव से

लेखक : **हरिवंशराय बच्चन।**
प्रकाशक : **राजपाल एण्ड सन्स।**
मूल्य : **चार रुपये।**

प्रतीकात्मक बिम्बों और ऐन्द्रजालिक प्रभाव वाले गीतों में ढाल कर खुले कंठ से गाता भी है।

त्रिभंगिमा में बच्चन की सबसे बड़ी उपलब्धि उनके लोक-धुनों पर आधारित गीत हैं। केवल लोक-धुन का आधार ग्रहण करके गीत लिखना अपने आप में कोई बात नहीं है; बड़ी बात है, लोक-जीवन के उस आदिम स्रोत तक पहुँचना जो सभ्य समाज में शिष्टता, शिक्षा और पांडित्य के आवरण में कहीं बहुत नीचे ढक गया है किन्तु अपढ़ और ठेठ ग्रामीण समाज में अब भी जिसकी धारा अजस्र गति से प्रवहमान है। बच्चन ने आदिम मानव जीवन के उपादानों, दृश्यों और बिम्बों को ग्रहण कर कविता को मानव-जीवन की मूल धारा से जोड़ने का ही प्रयास किया है। यद्यपि लोकतत्त्वों के प्रति कवि के मानस की सम्पृक्ति उतनी नहीं दिखायी पड़ती जितनी उपयोगितावादी भावना, फिर भी उनके उपयोग से ये गीत शुद्ध काव्य के बहुत निकट आ गये हैं। सम्भवतः कवि की यह आन्तरिक अभिलाषा है कि ये गीत जनता में उसी प्रकार गाये जायँ जैसे अज्ञात लोक-कवियों के रचे लोकगीत गाये जाते हैं। किन्तु लोकगीत विकसनशील काव्य है। उनका रूप लोक-कण्ठ में प्रवाहित होते रहने से बदलता रहता है; वे लिखित और परिनिष्ठित रूप वाले नहीं होते। अतः बच्चन के ये गीत भी यदि कभी लोकगीत बन सकेंगे तो फिर वे बच्चन के नहीं रह जायेंगे और न उनका रूप ही आज जैसा रह जायेगा। दूसरे, लोकगीतों में केवल धुन और विशेष साज की ही बात नहीं होती, उनमें लोक-जीवन की आत्यन्तिक सम्पृक्ति होती है। उस सम्पृक्ति के अभाव में शिष्ट समाज का काव्य कभी भी लोकगीत नहीं बन सकता। यदि बच्चन की यह धारणा हो कि शिष्ट समाज के लोग ही इन गीतों को गायें तो यह भी सांस्कृतिक कार्यक्रमों में लोकगीतों और लोकनृत्यों के आयोजन जैसी ही बात होगी, क्योंकि शिष्ट समाज लोकगीतों को, उनके नयेपन के कारण, केवल मनोरंजन की अथवा क्यूरियो मार्ट की वस्तु समझता है।

बच्चन लोकाश्रित गीत लिखने के बाद भी तथाकथित लोक-जीवन के कवि नहीं बने, यह प्रसन्नता की बात है। किन्तु लोकाश्रित होने से ही इन गीतों में ऐसी ताज़गी और मिठास आ गयी है कि ये बरबस पाठक के मन को खींच लेते हैं। इस ताज़गी और आकर्षण का मूल कारण वे आदिम बिम्ब (आर्कीटाइपल इमेजेज़) हैं जो मानव-जाति के सामूहिक मन में अचेतन रूप से विद्यमान रहते हैं और जो मानवजाति की बाल्यावस्था के वातावरण से सम्बन्धित होने के कारण रहस्यमय आत्मीय भावना से युक्त तथा जादू-टोना जैसे ऐन्द्रजालिक प्रभाव वाले होते हैं। शुद्ध कविता का ऐसे बिम्बों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इन गीतों के आदिम बिम्ब अचेतन रूप से निस्सृत और खंडित नहीं हैं

जैसे येरोपियन अतियथार्थवादी और बिम्बवादी कविताओं में होते हैं। किन्तु आधुनिकतावादी कविताओं के बिम्बों की भाँति ये बिम्ब भी प्रतीकात्मक और सांकेतिक हैं। लोकगीतों में प्रयुक्त विश्व प्रतीकात्मक नहीं, जीवन-सम्पृक्ति के अभिव्यंजक और प्रत्यक्ष होते हैं। इस तरह बच्चन के इन गीतों में प्रयुक्त बिम्ब आधुनिकवादी कविता और परम्परागत लोकगीत, दोनों के बिम्बों से भिन्न, सचेत रूप से नियोजित, प्रतीकात्मकता से युक्त, सुश्रृंखलित और क्रमबद्ध हैं। इस दृष्टि से इनकी तुलना मध्यकालीन रहस्यवादी प्रतीकात्मक कविता के बिम्बों से की जा सकती है। इन बिम्बों में प्रतीक कहीं तो आध्यात्मिक हैं और कहीं भौतिक जीवन से सम्बन्धित। उदाहरण के लिए 'सोन मछरी' शीर्षक गीत में सोने की मछली माया का प्रतीक है। माया की मछली एक लोक-कथात्मक अभिप्राय (Motif) है। इस अभिप्राय को बच्चन ने एक प्रतीक-कथा (एलेगॉरी) का रूप दे दिया है। मछुआ (व्यक्ति) अपनी स्त्री (मन) के वशीभूत होकर सोन मछरी (माया) के पीछे दौड़ता और उसे प्राप्त कर अपने मूल आध्यात्मिक लक्ष्य को भुला देता है। किन्तु प्रतीकात्मक कविता में एक सुविधा यह है कि उससे अनेक अर्थ निकाले जा सकते हैं। इस दृष्टि से यदि इस कविता का आध्यात्मिक अर्थ न लेकर विशुद्ध लौकिक अर्थ लिया जाय तो भी कोई हर्ज नहीं है। अतः इस कविता में मछुआ आधुनिक मानव का, मछुए की स्त्री उसकी भौतिकतावादी दृष्टि का, सोने की मछली भौतिक उन्नति का प्रतीक हो सकते हैं। भौतिक उन्नति करता-करता मानव आज ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया है जहाँ मानवता, प्रेम, उदारता आदि आध्यात्मिक गुणों के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है। फलतः मानव अपने नाश की ओर तेजी से बढ़ता जा रहा है

त्रिभंगिमा की दूसरी भंगिमा बच्चन की पूर्ववर्ती गीत-शैली ही है। अतः इन गीतों में कलात्मकता की दृष्टि से तो कोई नवीनता या ताज़गी नहीं है पर वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से ये गीत इस संग्रह में सर्वाधिक महत्त्व के हैं। इनमें बार-बार कवि अपनी पूर्ववर्ती विचार-भूमि को अस्वीकृत करके नवीन भाव-बोध की ओर अग्रसर होने की आकांक्षा प्रकट करता है।

निस्सन्देह इन गीतों में बच्चन ने एक बड़े सत्य की उपलब्धि की है और वह सत्य है वह मानवतावादी भाव-बोध, जिसकी आज मानव जाति को सब से अधिक आवश्यकता है।

दार्शनिक गम्भीरता के अतिरिक्त कुछ गीतों में सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित चिन्तन की गम्भीरता भी वर्तमान है। कवि सुलभ संवेदनशीलता के कारण युग-बोध उसे मथता, और उसमें चिन्तन का आलोक उत्पन्न करता है। 'युग के दीप', 'यात्री' और 'युग की उदासी' शीर्षक कविताओं में यह बात देखी जा सकती

है। इस दार्शनिक गरिष्ठता के अतिरिक्त बहुत सी कवितायें ऐसी हैं जिनमें सहजता के गुण से सम्पन्न शुद्ध कविता वर्तमान है। ये कवितायें केवल अनुभूति पर आधारित हैं। जीवन-दर्शन और चिन्तन-मनन की प्रक्रिया से मुक्त ऐसा ही एक गीत है 'राह-रात-प्रीति पीर' जो अपनी गेयता, संक्षिप्ति, भावान्विति और सहजता के कारण बहुत ही आकर्षक बन गया है।

त्रिभंगिमा में तीसरे प्रकार की कविताएँ मुक्त छन्द वाली हैं। ये कविताएँ भाव-सम्पदा, अभिव्यंजना-पद्धति और छन्द योजना, सभी दृष्टियों से विविधतापूर्ण हैं। इनमें कहीं तीखा व्यंग और उपहास है तो कहीं मर्मस्पर्शी दृश्यों और घटनाओं का चित्रण; कहीं उदार मानवतावादी विचारों का ऊहापोह है तो कहीं चरित्र-अध्ययन और स्केच के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों और अभिशापों का उद्घाटन, और कहीं यात्रा वर्णन है तो कहीं अखबारी ढंग के व्यंगपूर्ण रिपोर्ताज। अभिव्यंजना की दृष्टि से भी इनमें कहीं तो अभिधा की सीधी शैली प्रयुक्त है, कहीं लक्षणा-व्यंजना पर आधारित अन्योक्ति और प्रतीक पद्धति और कहीं रूपक प्रधान अलंकृत शैली। इसी तरह छन्दों में भी तीन शैलियाँ प्रयुक्त हुई हैं, मुक्त छन्द, छन्द-मुक्त या गद्याश्रित काव्य और अतुकान्त नियमित छन्द। इस प्रकार त्रिभंगिमा का यह भाग वैविध्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विविधता ही नहीं, नवीनता के आग्रह, भावुकता की अपेक्षाकृत कमी और नए प्रयोगों की प्रवृत्ति की दृष्टि से भी यह अंश अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अपनी व्यंग-कविताओं में बच्चन ने कहीं-कहीं बहुत सुन्दर प्रतीकों, विशेषकर पौराणिक प्रतीकों का प्रयोग किया है जैसे 'दानवों का शाप' और 'मिट्टी का द्रोणाचार्य' में। अन्य प्रतीकात्मक व्यंग-कविताओं में 'खजूर और महागर्दभ' (भ्रष्टाचारी नेता और सामान्य जनता) कवि की ईमानदारी और समाजिकता की प्रवृत्ति को तो विशेष रूप से स्पष्ट करती ही हैं, अपने तीखेपन के कारण अत्यन्त प्रभावपूर्ण भी हैं। 'छुरी और मूठ', 'जब नदी मर गयी—जब नदी जी उठी', 'तुम्हारी आँखों में—तब और अब' ऐसी ही गम्भीर कविताएँ हैं जो नये उपमान और आधुनिक सन्दर्भ, आकर्षक वस्तु-योजना तथा बिम्बों के प्रयोग के कारण नयी कविता के अन्तर्गत मानी जा सकती है। यदि इनमें स्फीति और बिम्बों को उद्घाटित कर देने की प्रवृत्ति न होती तो ये नयी कविता की अत्यन्त उत्कृष्ट कविताएँ मानी जातीं। कुछ अन्य मुक्त छन्द की कविताएँ ऐसी भी हैं जिनमें वक्तव्य देने और व्याख्या करने की प्रवृत्ति वर्तमान है। यह प्रवृत्ति काव्य को संक्षिप्त बनाने की जगह उसे फैला देती है जिससे कविता में बिखराव आजाता है और उनकी प्रभावान्विति तथा सघनता नष्ट हो जाती है।

कुल मिला कर कहा जा सकता है कि 'त्रिभंगिमा' बच्चन की सफल काव्य-कृति है। ये कविताएँ अपनी ताज़गी, नवीनता और आधुनिक भाव-बोध के द्वारा यह प्रमाणित करती हैं कि बच्चन के कवि में यह क्षमता है कि वह आधुनिकता के उपादानों को ग्रहण कर अपने को तदनुरूप पुर्नानिर्मित कर सकते हैं। यह क्षमता अपनी उपलब्धियों से मानव-जाति को कुछ और ऊँचा उठाती है। आशा है कि इस क्षमता के सचेत उपयोग से वे भी उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ते जायेंगे।

———

शिला पंख चमकीले

डा० जगदीश गुप्त

'शिला पंख चमकीले' कवि की जीवन-दृष्टि का परिचायक एवं उसीसे उद्‌भूत एक प्रतीक-नाम है जिसका प्रतीकार्थ उसने प्रारम्भिक गद्यांश 'प्रक्रिया' में व्यक्त करना चाहा है पर मेरे विचार से वह कहीं अधिक स्वाभाविक रूप में 'चन्द्र-खण्डों की आत्मा' और 'अंध शिलाओं की दुनियाँ' शीर्षक कविताओं में व्यक्त हुआ है। 'प्रक्रिया' में उसकी अपनी अर्थ-व्यक्ति है ।

चमकीले पंखों वाली शिलाएँ
विराट् शिलाएँ जो चमकदार पंख फैलाकर उड़ जाती हैं।
शिलाएँ जो वास्तविकताओं सी कठोर और भावनाओं सी गहन हैं।
जो दीप्तमान हैं और सूक्ष्म में तैर जाती हैं। वही तो चारो ओर दीखती हैं।

....

सत्य आज क्षेत्रीय, स्थिति सापेक्ष्य, समानान्तर (Parallel Truth) हो गया है, मस्लहत* (expediency) बन गया है।
काली शिलाएँ चमक कर गिर रही हैं।

....

आदमी आत्मा से इस समय एकदम नंगा है। उसका पिछला सभी कुछ खो गया है, केवल पूर्व-स्मृति के महताबी कुहासे में ही आज वह भटक रहा है। इस ऐतिहासिक स्मृति की खुमारी टूटने के बाद ही वह नये वैज्ञानिक मूल्यों को ग्रहण करने योग्य बनेगा।

---

*मस्लहत का अर्थ expediency न होकर अप्रकट शुभ हेतु होता है । यह त्वरा बोधक कैसे हो गया ?

रचयिता : गिरिजाकुमार माथुर।
प्रकाशक : साहित्य भवन प्रा० लि०
इलाहाबाद; १९६१।
मूल्य : साढ़े तीन रुपये।

एक मनवंतर बीत रहा है,
चमकीली शिलाएँ पंख फैला कर उड़ गयी हैं। पृ० ५-७

उपर्युक्त पंक्तियों से प्रतीक का जो रूप, जो अर्थ सामने आता है वह अन्त तक वैयक्तिक, विचित्र और प्रायः अस्फुट ही रहता है। वैचित्र्य के कारण आकर्षक होते हुए भी सामान्य, सहज और बोध-गम्य नहीं हो पाता। शिलाओं की कठोरता, गहनता, कालिमा, चमक और विराटता आदि विशेषताओं को सामने लाकर कवि जैसे उन्हें किसी व्यापक दीप्त और गहन आन्तरिक सत्य का व्यंजक बनाना चाहता है। पर जब वह कहता है कि 'कोई सार्वजनीन सत्य अब नहीं रह गया है' और 'काली शिलाएँ चमक कर गिर रही है, तो लगता है कि वह प्रतीकार्थ की गरिमा को स्वयं ठेस दे रहा है। फिर आगे उसका यह कहना कि आदमी का पिछला सभी कुछ खो गया है जैसे चमकीली शिलाएँ पंख फैला कर उड़ गयी हैं, शिलाओं के प्रतीकार्थ को 'भग्न अतीत-वैभव के मोह' तक लाकर छोड़ देता है—वह भी एक खिन्नता, उदासी और निराशा के बोझीले वातावरण के बीच जहाँ 'इकाई के प्रति, व्यक्त किया हुआ उसका विश्वास, भी खो जाता है।[1] 'एकदम' और 'सभी कुछ' जैसे आत्यंतिकता-सूचक शब्द उसकी स्थापनाओं के मूल में निहित भावुकता की ओर संकेत करके उनके स्वीकार में बाधक बनते हैं। 'इतिहास के प्रति नवीन लाजिकल दृष्टि'[2] इन शब्दों में कहीं भी नहीं मिलती। एक 'मनवंतर' (सही रूप 'मन्वन्तर') बीत रहा है लेकिन कुण्ठा देकर, मनुष्य के प्रति सारी आस्था मिटा कर। युगीन यथार्थ का कवि-दृष्ट यह चित्र क्या वास्तविक है, मेरे मन में यह प्रश्न उठता है और इससे भी बड़ा प्रश्न यह सामने आता है कि क्या कवि यही कहना चाहता था, क्या प्रतीक को चमकदार बनाने की 'प्रक्रिया' में वह कुछ अधिक या कुछ अनभीष्ट तो नहीं कह गया ? यह शंका इसलिए भी आती है कि इस संकलन की कविताएँ अधिकतर मानव-व्यक्तित्व एवं मानव-भविष्य के प्रति आस्था और विश्वास से स्पंदित हैं, उनमें निराशा की नहीं अनुभव से उत्पन्न तृप्ति एवं परिपक्वताजन्य उल्लास की मुद्रा है जो कवि की संवेदनशीलता और गीतिमयता के अकुंठित रूप को प्रत्यक्ष करती है।

मैं कवि के कथन की अपेक्षा उसकी रचनाओं के कथन को अधिक प्रामाणिक मानता हूँ अतः उन दो कविताओं की ओर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक समझता हूँ जिनका उल्लेख कर चुका हूँ। महत्त्वपूर्ण अंश ये हैं :—

(१) यह मैं
मेरा व्यक्तित्व बोध

---

१. द्रष्टव्य—नयी कविता ५-६, पृ० ४३;
२. वही, पृ० ४८।

क्षण जीवन का उपभोग परम
पंखों सी गिरी शिलाएँ
जिसकी चमकदार

पंखों की नियति छूट जाना
पर्वत की नियति शिला होना
दुख की अनुभूति नियति क्षण की
आगम की नियति विलय होना

—पृ० ४१-४२

(२) तप-भ्रष्ट मंत्र सा विफल हुआ
जिस दिन विश्वास, स्वप्न, प्यार यह
चांद बना आबनूस
परियाँ शिलाएँ स्याह
वर्तमान आहत
भविष्य : अंधकार यह

—पृ० ४४

पहले अंश में 'पंखों सी गिरी शिलाएँ जिसकी चमकदार' कवि के 'व्यक्तित्व बोध' का ही अतीत-गर्भित स्वरूप प्रस्तुत करता है और दूसरे अंश में 'परियाँ शिलाएँ स्याह' से स्पष्टत: उस व्यक्तित्व के विगत-जीवन की रूमानी निराशा का परिचय मिलता है। जिस वर्तमान और जिस भविष्य के आहत एवं अंधकारमय होने की बात इसमें जोड़ी गयी है वह समस्त युग का 'वर्तमान' और मानव मात्र का 'भविष्य' नहीं है। वह है 'तूफान एक्सप्रेस की रात' के अन्त की पंक्तियों की अनुगूँज और यह भी वैयक्तिक संदर्भ की ही कविता है। मैं बलपूर्वक कहना चाहता हूँ कि वैयक्तिक जीवन के निराशा-उदास रूमानी अतीत के भग्न वैभव की छाया में सहज रीति से उपजे इन प्रतीकों को कवि ने प्रक्रिया में मानवमात्र की नियति का व्यापक संदर्भ देकर अतिरिक्त अर्थ देने की चेष्टा की है और इसीलिए उसके कथन में वास्तविकता के स्थान पर अतिशयता और भावुकता की मात्रा अधिक हो गयी है।

इस संकलन में एक विशेषता यह है कि 'अनुक्रम' और कविताओं से पूर्व प्रकाशक की ओर से ४७ शब्दों की एक संक्षिप्त सूची दी गयी है जिसमें कवि द्वारा प्रयुक्त कुछ नए शब्दों को अर्थ और प्रयोग की विशेषताओं समेत उपस्थित किया गया है। साधारण पाठक इस सार्थक शब्द सूची से न केवल लाभान्वित होगा, वरन् कवि के भाषागत प्रयोग-वैशिष्ट्य के प्रति उसके मन में, कविताएं पढ़ने से पूर्व ही, एक ऐसी धारणा बन जायेगी जिसका स्वाद उसे कविताओं के आस्वादन के साथ-साथ मिलता रहेगा। उसका अनेक नये शब्दों से परिचय होगा और लगेगा कि कवि देशज शब्दों के ठेठ प्रयोग से भाषा में 'टटकापन' लाना चाहता है। पर यदि

पाठक साधारण से कुछ अधिक ऊँचे स्तर का हुआ त वह यह भी सोचेगा कि यह सूची अंत में होती और इस 'संक्षिप्त' सूची में 'अगर', 'ज्वलन' और 'गोफन' जैसे शब्द न होते तो अच्छा होता, क्योंकि ये शब्द भाषा के सुपरिचित क्षेत्र में ही आते हैं, उसके बाहर के नहीं हैं।

नये शब्दों की रचना और अप्रचलित शब्दों के प्रयोग की सार्थकता संवेदना और औचित्य के संदर्भ से ही मिलती है। शब्द के औचित्य की ओर आधुनिक काव्य-चेतना विशेष जागरूक है इसमें संदेह नहीं [एजरा पाउण्ड और उनके अनुवर्ती बिम्बवादियों के 'उद्देश्य-पत्र' की पहली शर्त ही 'एग्जैक्ट वर्ड' से सम्बद्ध है। देश-विदेश के बहुत से कवियों ने इससे प्रेरणा ग्रहण की है] शब्दों के प्रति सजगता नयी कविता की चेतना का एक-अनिवार्य अंग है अतः इस क्षेत्र में गिरिजाकुमार माथुर के योग की महत्ता स्वयंसिद्ध है। उनकी दृष्टि आस-पास के वातावरण से उपयुक्त शब्दों को चुनती रहती है और आवश्यकता पड़ने पर वे अपनी ओर से शब्द रच लेते हैं, कभी समास-योजना के नयेपन से, कभी ध्वनि की नवीनता से।

जब 'शिला पंख चमकीले' की कविताएँ मेरे सामने आती हैं तो मेरा ध्यान सर्वप्रथम कवि के इसी 'स्थायीभाव' की ओर जाता है। इसमें 'सूरज का पहिया' शीर्षक से जो पहली कविता दी गयी है वह आधुनिक भाव-बोध से युक्त* एवं अभिव्यंजकता की सूक्ष्म, संयमित, नवीन भंगिमाओं से अनुस्यूत एक परिष्कृत गीत है जिसकी भाव-भूमि वैयक्तिक परिधि से अनुस्यूत एक मुक्तक है और जीवन के व्यापक स्वरूप के प्रति मंगलमय उदात्त निष्ठा से आलोकित लगती है। गीत की विधा को छायावादी और उत्तरछायावादी सीमाओं से निकाल कर प्रगति-प्रयोग और नयी कविता की भूमिका तक सफलतापूर्वक ले आने का दुष्कर कार्य गिरिजाकुमार माथुर ने किया है [जो 'बच्चन जी' जैसे लोकप्रिय गीतकार द्वारा भी इतने सहज रूप में सम्पन्न नहीं हो सका फलतः उन्हें लोक-धुनों का आश्रय लेने के लिए विवश होना पड़ा। कवि सम्मेलनी गीतकार तो कृत्रिम एवं बाह्य उपकरणों की योजना की ओर झुक कर गीत के सहज व्यक्ति-निष्ठ संवेदनीय एव मार्मिक-पक्ष को ही उपेक्षित करते जा रहे हैं।] सूरज के पहिये के अतिरिक्त प्रगीत-तत्त्व से युक्त इस संग्रह की अन्य कविताएँ है...'खटमिट्ठी चाँदनी', 'भूले हुओं का गीत', 'वसंतः एक प्रगीत स्थिति', अनकही बात', 'जूड़े के फूल', 'पन्ने, लकीरें और इतिहास' तथा दो एक और।

***द्रष्टव्य, 'धूप के धान' की 'पहिए' शीर्षक कविता, पृ० ३३-३७ तथा 'शिला पंख चमकीले' में हो 'व्यक्तित्व का मध्यांतर', पृ० ७९-८० इन दोनों कविताओं में 'सूरज चांद सितारों के पहिए' या 'सूरज के चक्रों' के एक जैसे प्रतीकों के सहारे आधुनिक जीवन की त्वरित गतिशीलता तथा परिवर्तन की प्राकृतिक विवशता को व्यक्त किया गया है।**

'छाया मत छूना मन' के बाद 'अनकही बात' दूसरा मार्मिक गीत है जो मुझे पूरी तरह अपने में डुबा लेता है। इसकी सौन्दर्य-भावना में रीति-कवियों जैसी परिपक्व रसमयता झलकती है और आधुनिक भाव-बोध की वैयक्तिक आत्मीयता भी। ['चूड़ी का टुकड़ा' जैसी कविता लिखने वाला कवि ही ऐसी कविता लिख सकता था।] 'खटमिट्ठी चांदनी' कवि की चांदनी विषयक अनेक प्रसिद्ध रचनाओं में अपना स्वतन्त्र स्थान रखती है। 'चाँदनी' यहाँ मात्र उजाली रात की रोशनी नहीं है, वह कवि के प्रेरक भाव-स्रोत का सुकुमार प्रतीक भी है। उसके द्वारा प्राप्त जीवन-रस में केवल मधुर ही नहीं कटु, तिक्त, खट्टे-लोने आदि अन्य रसों का भी समावेश है जिसके कारण कवि की अनुभूति साधारण रूमानी स्तर से सर्वथा भिन्न अनुभव की विविधता के आस्वाद से सिक्त और पकी हुई दिखायी देती है। यह पकावन उस कवि का है जिसकी कामना है—जिन्दगी सिक के ताज़ा फूल बने, घर के मृदु वक्ष की गरमाई में। *चन्द्रासक्ति, 'ल्यूना' से सम्बद्ध होने के कारण आप चाहें तो उसे ल्युनिसी कह सकते हैं, यह कवि-कलाकारों में थोड़ी-बहुत होती ही है। मैं भी अपने को इसमें शामिल करके बात कह रहा हूँ। माथुर साहब में यह गुण काफी मात्रा में मिलता है। यानी चन्द्रासक्ति और चाँदनी के रूप का नवीन-नवीन बिम्बों, शब्द-योजनाओं से वर्णन करना उनके कवि-स्वभाव की एक विशेषता है। वे चाँदनी से प्राप्त अनगिन अनुभूतियों को नये ढंग से वर्णित कर चैलेंज सा अपने भीतर अनुभव करते रहते हैं।

डा० नगेन्द्र जैसे रसवादी आलोचक को, जो नयी कविता को बहुत समय तक कविता मानने को प्रस्तुत नहीं थे, उनके कृतित्व ने यह लिखने पर विवश किया कि 'नयी कविता में जो स्थायी काव्य-तत्त्व है उसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं।' मैं इसे गिरिजाकुमार माथुर और नयी कविता की सम्मिलित उपलब्धि मानता हूँ। डा० नगेन्द्र का कहना है कि 'ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दोनों दृष्टियों से उनका स्थान अज्ञेय के समकक्ष है।' मेरी दृष्टि से ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात सत्य नहीं है क्योंकि 'तारसप्तक' की 'त्रिवृत्ति और पुरावृत्ति' के लेखन का ऐतिहासिक कार्य अज्ञेय के द्वारा सम्पन्न हुआ है। गिरिजाकुमार माथुर उस सप्तक के अन्तर्गत एक विशिष्ट कवि के रूप में ही सम्मिलित हुए हैं।

गिरिजाकुमार माथुर के काव्य में जो चीज़ मुझे सर्वाधिक आकृष्ट करती रही है वह है शब्दार्थ को नया संस्कार देकर भाव का संवाहक बनाने की उनकी निरन्तर जागरूकता, जिसमें दृश्यगत तथा अर्थगत बिम्बों को रूपायित करने की अद्भुत क्षमता निहित मिलती है। बिम्ब (Image) को an intellectual and emotional complex के रूप में समझा गया है। एज़रा पाउण्ड के मत से वह a vortex

---

*'धूप के धान', 'शाम की धूप' नामक कविता की अंतिम पंक्तियाँ।

or cluster of fused ideas है। दोनों परिभाषाएँ भाव और विचार की संश्लिष्ट स्थिति को बिम्ब के लिए अनिवार्य मानती हैं। 'शिला पंख चमकीले' की कविताओं में ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं जहाँ बिम्ब-विधान की यह विशिष्ट शिल्प-शक्ति अपने पर्याप्त विकसित रूप में सामने आती है। नीचे ऐसी कुछ पंक्तियाँ चुन कर उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा रही हैं—

१. नीली रात चंदोवे वाली
पंख गिरा ज्यों मोर का।

२. अंतहीन खोह सी रात।

३. सिगरेट के कश से
पीछे को खिचती है आग
राख गिरती है
धातु की मूर्ति चमक उठती है।

४. धूप का गोटा लगी
छतों की किनारियाँ।

उन उदाहरणों में जो रूप-बिम्ब समाहित हैं उनमें पहली विशेषता उत्कृष्ट एवं परिष्कृत वर्ण-बोध की है और दूसरी है सादृश्य से संश्लिष्ट प्रत्यक्षीकरण की जो शायद अन्य प्रकार से सम्भव नहीं हो सकता था।

इस संग्रह की समीक्षा एक प्रकार से अपूर्ण ही रह जायेगी यदि 'दियाघरी' और 'हब्श देश' नाम की बड़ी और वर्णनात्मक कविताओं पर स्वतन्त्र रूप से विचार न किया जाय। इन कविताओं में कवि ने प्रायः वही 'टेकनीक' अपनायी है जिससे उसने 'ढाकवनी' जैसी सुप्रसिद्ध रचना की सृष्टि में की थी। 'दियाघरी', 'ढाकवनी' से कहीं अधिक उत्कृष्ट कृति है। यह दोनों की तुलना करके सरलता से सिद्ध किया जा सकता है।

यदि मैं कहूँ कि गिरिजाकुमार माथुर की मानववादी दृष्टि अधिकतर जीवन के प्रति शुभाकांक्षाएँ व्यक्त करने में अपनी सार्थकता समझती है तो शायद असत्य न होगा। यहाँ वे पंत जी के करीब आ जाते हैं। कल्याणकामना के साथ रूमानी भावना का मेल अवश्य उनकी अपनी विशेपता है। 'बाँह गोरी मनुजता की ध्वज बने' कहने वाला कवि इस संकलन में भी लिखता है—'उड़ने दो रेशम बाल कि क्षण इतिहास बनाएँगे।' नयी कविता मानवीयता के क्षेत्र में शुभाकांक्षा की सतह से कहीं अधिक गहरे स्तर की माँग करती हैं ऐसा मुझे लगता है। इस संकलन में 'लौह-मकड़ी का जाल' जैसी कुछ ही कविताओं में उसके दर्शन होते हैं।

संक्षेप में कहना चाहूँ तो कहूँगा कि इतिहास के प्रति सजगता, मानव-मूल्यों के प्रति कुछ-कुछ विराटता की ओर झुकी हुई चेतना, जन भविष्य या मानव भविष्य के प्रति शुभाकांक्षा, प्रगाढ़ गीतिमयता और वस्तु को रूपायित करने वाली व्यंजक बिम्ब-योजना गिरिजाकुमार की कविता के सशक्त पक्ष को व्यक्त करती हैं; और प्रयोगशीलता का प्रदर्शन-भाव, कुछ कविताओं में शिथिल विस्तार, सूचीबद्ध नामगणना, वस्तु के सूचना-पक्ष पर बल और कहीं-कहीं 'रिपीटीशन' भी, उनके दुर्बल-पक्ष को व्यक्त करते हैं।

बाणाम्बर

श्री० सत्यभूषण 'योगी'

संस्कृत साहित्य में बाण का स्थान अत्युच्च है। प्राचीन आलोचकों ने 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' (सम्पूर्ण जगत् बाण की जूठन है) तथा 'वाणी बाणो बभूव' (वाणी ही बाण के रूप में अवतीर्ण हुई) आदि वचनों से बाण की प्रशंसा की है। बाण की रचनाओं में हर्षचरित (आख्यायिका) और कादम्बरी (कथा) बहुत प्रसिद्ध हैं। बाण को अपनी सरस रचना का विषय सर्वप्रथम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बनाया। इसके अनन्तर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के ग्रन्थों में बाण के अन्तर की विशाल झाँकी दिखाई दी।

'बाणाम्बरी' में बाण के जीवन को काव्य का विषय बनाने का प्रयास किया गया है। प्रथम पृष्ठ पर हम पढ़ते हैं—'काव्य संस्कृति से रससिक्त भारत का प्रथम महाकाव्य'। यह महाकाव्य है, इसमें भी विद्वानों में मतभेद होगा क्योंकि महाकाव्य के प्राचीन या अर्वाचीन कोई भी लक्षण इस पर घटित नहीं होते। 'प्रथम' के सम्बन्ध में क्या कहा जाये, कुछ समझ नहीं आता।

'बाणाम्बरी' की कथा अत्यन्त संक्षिप्त है। कल्पना के आधार पर बाण की पत्नी की चर्चा की गयी है। पत्नी—वेणी—अंधी है। बाण की 'बौद्धिक कला-प्रेरिका' रेखा पर भी कवि ने 'भाव-भाषा का रंग' चढ़ाया है। इस सब कथा का परिचय कैथेराइन दीदी ने दिया है। वह बाण की पूर्वजन्म में कला-प्रेरिका (रेखा) है। कथावस्तु वास्तविक है कि काल्पनिक—इस पर हमें विवाद अभिप्रेत नहीं। कवि ने अन्धवधू वेणी का विरह वर्णन किया है और बौद्धिक कला-प्रेरिका रेखा का भी सविस्तार वर्णन किया है।

लेखक : श्री पोद्दार रामावतार 'अरुण'।

प्रकाशक : किरण कुंज समस्तीपुर, (बिहार)

पृष्ठ संख्या : ४००

मूल्य : बारह रु०

वेणी का विरह-वर्णन अत्यन्त करुण है—

'शव हूँ जीवित मैं भव में, पीरमयी हूँ
मैं स्वयं अँधेरी रात अधीरमयी हूँ
मैं सुख-सुहाग का भार सम्हाल न पाती
कोई क्या समझे कितनी मैं अकुलाती

('अधीरमयी' और 'कितनी' प्रयोग विचारणीय हैं)

बौद्धिक कला-प्रेरिका रेखा का चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

प्रेरिका प्राण-रेखा प्रबुद्ध
अप्रौढ़ शिल्प-विधु-बल विरुद्ध
धृतिमयी चाह

कवि ने ठीक ही बाण को भारत के राष्ट्रकवि के रूप में चित्रित किया है—

'वर दे बाण के प्राणों में
भारत का चित्र उतर आए
भारती किसी दिन साँसों में
अमरत्व-रागिनी भर पाए'

'बाणाम्बरी में बाण एक अत्यन्त उच्च-चरित्र महात्मा के रूप में चित्रित हुए हैं। उनके जीवन में सामान्यजन के सदृश पतन भी है—पर सब पर विजय प्राप्त करते हुए वे उत्—उत्तर—उत्तम—प्रगति के पथ पर बढ़ते जाते हैं। अन्तिम से पूर्व (उपोत्तम) पद में उनका यह ऊर्ध्व रूप वर्णित हैं :—

'मैं सोम सिक्त अम्बरित बाण
उस प्रीतिकूट से दूर प्राण
आनन्द-अस्थि चेतन-प्रधान उर्ध्वात्मा'

('उर्ध्वात्मा' प्रयोग विचारणीय है)

कवि स्वतन्त्र रहे—अपने मन के उन्मुक्त गान गाए तभी वह सच्चा कवि रह सकता है। पर बाण तो राजकवि था। उसे अवश्य बन्धनों ने जकड़ा होगा। इस प्रसंग में 'बाणाम्बरी' के कवि की निम्न उक्ति प्रायः गद्यमय होते हुए भी अवितथ है :—

'ईश्वर न करे
कि भविष्य का कोई कवि शासनान्तर्गत रहे

और, छन्द के अस्तित्व मे अपने मुक्त ब्रह्म को बंदी बनाले
क्योकि हे कविते !
काव्य के काल-सिंहासन पर बैठने के लिए
आत्म-निरंकुशता अपेक्षित है—अनिवार्य है !'

काव्य मे कविता सम्बंधी अनेक समस्याओ पर विचार किया गया है। कवि ने विभिन्न मनोभावनाओ के चित्रण का प्रयास भी किया है। परन्तु कवि कला के अवगुण्ठन मे छिपी सलोनी आकृति को देखने मे असमर्थ प्रतीत होता है। अवगुण्ठन के चित्र उसने देखे हे—पर वह छिपी कला पूर्णरूप से छिपी ही रह गई। बाणभट्ट के 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' मे उसके उद्दाम भावनामय यौवन के दर्शन होता हे। वह कवि था—महान् कवि। पर 'बाणाम्बरी' के कवि का आग्रह उसे महात्मा सिद्ध करने का है। काश ! कवि उसे कवि ही रहने देता। संस्कृत आलोचको ने बाण का 'पंचबाण' के रूप मे स्मरण किया है। पर न जाने क्यो अरुणजी इस रस-चषक को औषध चषक बनाये बिना प्रसन्नता का अनुभव नही करना चाहते ?

कवि का संस्कृत साहित्य का अध्ययन अत्यल्प प्रतीत होता है। अत्यंत प्रशंसनीय सत्यवादिता से कवि ने प्राक्कथन (सत्य और स्वप्न) मे स्वीकार किया है कि उसे संस्कृत नही आती—"जब वह दीदी मुझसे संस्कृत और पाली मे बोलने लगी तो मैं चुप हो गया। और वह किंचित् विहँसती हुई हिंदी मे बोली—तू संस्कृत नही जानता है तो बाणभट्ट पर काव्य कैसे लिखेगा रे ?" पर कवि ने संस्कृत जाने बिना भी काव्य लिखा ही, पर दीदी की बात भी वितथ नही हुई क्योकि यह काव्य बाणभट्ट के नाम का निर्देश करता हुआ भी बाणभट्ट पर नही है।

इस काव्य मे कथा का अंश न के बराबर है, कामायनी से भी कम। आलोचको को कामायनी के महाकाव्यत्व पर ही संशय होने लगा है। निःसन्देह ही कामायनी अपनी उदात्तता के कारण महाकाव्य है, जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने अत्यन्त विद्वत्तापूर्वक प्रतिपादित किया है।

'बाणाम्बरी' पढना प्रारम्भ कीजिये, पर आप समाप्त भी कर सकेंगे, इसमे सन्देह है। मुझे तो आग्रहवश समाप्त करनी पडी, आलोचना जो करनी थी। काव्य मे प्रायः रस का परिपाक दृष्टिगोचर नही होता। भाषा भी व्याकरण की दृष्टि से अत्यंत दोषपूर्ण है। कविवर दिनकर ने कामायनी की भाषा पर अत्यन्त तप्त रोष प्रकट किया है। उनसे निवेदन है कि 'बाणाम्बरी' की भाषा की परीक्षा करें, और अपनी सम्मति प्रस्तुत करें।

प्राक्कथन मे ही हमे 'संग्रहित' शब्द के दर्शन होते है। सुरुचिपूर्ण पाठक के लिए इतना ही संग्रहणी कर देने के लिए काफी है। कुछ नमूने सहृदय विद्वानो के

सम्मुख रखता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि वे—विशेष रूप से श्री पं० किशोरीदास वाजपेयी—इस पर विचार करें :

श्वेद (स्वेद), उर्ध्व (ऊर्ध्व), उड्डीन विहग (उड्डीयमान विहग), हृस्ति (अन्त्य ईकार को ह्रस्व करने की स्वतन्त्रता अनेकत्र ली गई है), घिरित, उड्डीयन (उड्डयन) निष्वृन्त (निर्वृन्त) दूहती, चिन्तन, ब्रहिल, रुचि, पेखिल, अरण्याणी (अरण्यानी), पञ्चिल, बिखरित, निष्भृंग(निर्भृंग), रुग्न (रुग्ण), इशान (ईशान) अलिपत कर, रस जयनी (रस जयिनी), संस्थित (ठहरा हुआ अर्थ में प्रयुक्त है, जबकि इसका अर्थ है मृत), घनिल, यक्षिणी (यक्ष का स्त्रीलिंग !), मिलन-वाष्पित, दृगी (दृग के स्थान पर), ब्रह्मे (ब्रह्म के सम्बोधन के रूप में), ऐन्द्रिक (इन्द्रिय सम्बन्धी के अर्थ में ऐन्द्रियिक होना चाहिए), धर्म-चकित, आप्लायित (आप्लावित), स्वामि (स्वामी के सम्बोधन के रूप में) 'जल मुक्ता बरसाया', कपालिक (कापालिक), सर्पिल स्वर, 'उत्सुकता की हिरन विचरती', व्याघ्रिल, सिकता—द्वीपित, टपकित, तिमिरित, नीरित, संस्मरणित, पगागित, दुर्वा (दूर्वा), रतिल, मुकुटित, इन्द्रित, गोबर-लिपित, कृपि-क्रीडित, द्वन्द्वित, अनलित, नीतिवान् (नीतिमान्), यजनमान, ताम्बूलित, प्रस्थानित (प्रस्थित), उत्सुकित, दर्पणित, मणित, दभित, जीवेम् (जीवेम), उत्तरापंथ, पितु(पिता), प्राङ्गन (प्राङ्गण), निःछत्र (निश्छत्र), प्रच्छालन (प्रक्षालन), यशी(यशस्वी), प्रवहमान (प्रवहमाण), अष्टाध्याय (अष्टाध्यायी) प्रीतित, निर्शाथित, सूंढ़ों (सूंडों), लाभोचित वणिक् (उचित लाभ लेने वाला वणिक्), 'उन्हें रख दी,' अभिमानित, उत्सवित, अंजनित, ओषधि पीकर (औषध पीकर), शोकित, फूलित, खिलित, वेगित, अनीन्धन (अनिन्धन), गरिमा-गन्धित, निर्त्रिशंकु इत्यादि ।

इनमें से कोई भी मुद्रण की गलती प्रतीत नहीं होती । रुग्न, उर्ध्व तथा श्वेद आदि अनेक शब्द तो अनेकत्र प्रयुक्त हैं। सूंढ़ भी एकाधिक स्थान पर प्रयुक्त है। पता नहीं किस अभिनव चमत्कार की सृष्टि के लिए कवि ने अष्टादश के स्थान अष्टदश का प्रयोग किया है ।

बाणभट्ट की अंधी पत्नी वेणी का विरह-वर्णन बौद्धिकता तथा नीरस उद्गारों से पूर्ण है । वह सहृदय के हृदय को नहीं छूता । डा० हज़ारीप्रसाद के उपन्यास में बाण के मन का—अन्तरतम की गहराइयों का—परिचय मिलता है। परन्तु 'बाणाम्बरी' को पढ़कर अत्यन्त विरसता की अनुभूति होती है । ऐसा लगता है कि रंग-बिरंगा नयनाभिराम बुरादा मुँह में भर दिया गया हो ।

इस काव्य में हृदय-स्पर्शी उद्गार यदि अलभ नहीं तो दुर्लभ अवश्य हैं। हाँ, उपदेशात्मक सूक्तियाँ यत्र-तत्र अनायास उपलब्ध हो जाती हैं । यथा—

बिना धूल से नेह लगाये कुछ न मिलेगा,
बिना कीच से कमल कभी भी नहीं खिलेगा।

इसमें भी कीच से (कीच के) खटकता है। कभी के बाद 'भी' मन को भाता नहीं है।

कवि ने उत्कृष्ट काव्य का स्वरूप भी वर्णित करने का प्रयास किया है—

सर्वालंकारों से भूषित हो भाषा
नवरस संगम पर स्नान करे अभिलाषा
व्याकरण-सप्त अश्वों के रथ पर छवि हो
रवि रश्मि ध्वनित साहित्य सारथी वि हो।

पर स्वयं कवि व्याकरण के सातों अश्वों की हत्या के लिए बद्धपरिकर है।

प्रस्तुत काव्य अनेक सामान्य सूक्तियों से परिपूर्ण है :—

स्वार्थ शोषण से भरे आनन्द का क्या मूल्य ?
....
कला के उत्थान से ही विश्व का कल्याण।

लगभग सम्पूर्ण पंचदश सर्ग में हर्षवर्धन का वर्णन है। यह बाणभट्ट के चरित्र से असंबद्ध होने के कारण 'बाणाम्बरी' के लिए निरर्थक है।

अन्त में निम्न पंक्तियाँ विचारणीय हैं :—

भिक्षु च्याँग जा रहे यहाँ से चीन
विनयपिटक में ये हैं अधिक प्रवीण
भूल गए अब सोयाबीन अफ़ीम

प्रथम तो सोयाबीन और अफ़ीम को एकत्र रखने का अभिप्राय समझ नहीं आया। इसके अतिरिक्त क्या हर्षवर्धन के समय चीन अफ़ीम खाने के लिए प्रसिद्ध था ?

कवि में प्रतिभा तो है परन्तु साधना और स्वाध्याय का अत्यन्त अभाव है। काव्य का स्तर सामान्य है। 'कामायनी' तथा 'साकेत' इत्यादि से तो यह तुलना करने भी योग्य नहीं है। कवि ने भाषा के साथ जो बलात्कार किया है वह अक्षम्य है।

अमरुशतकम्

डॉ० सत्यव्रत

श्री कमलेशदत्त त्रिपाठी की अमरुशतक टीका हिन्दी-संसार को एक अनुपम भेंट है। इसमें मूल संस्कृत श्लोकों का रोचक हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। अनुवादक ने स्वयं ही लिखा है कि अनुवाद शाब्दिक है यह दावा न करते हुए भी स्वच्छन्दता पर अंकुश अवश्य रखा गया है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि अमरुशतक पर कभी कोई टीका ही नहीं हुई क्योंकि वेम भूपाल, रवि तथा रुद्रम की टीकाएँ साहित्य-जगत् में बहुत पहले ही आ चुकी थीं। रिचर्ड साइमन द्वारा भी अमरुशतक का अत्यन्त वैज्ञानिक संस्करण साहित्य-प्रेमियों के समक्ष उपस्थित किया जा चुका था, तो भी इतना तो कहना ही होगा कि हिन्दी संसार इस अनुपम कृति के शाब्दिक एवं भावात्मक (छन्दयुक्त) अनुवाद से अभी तक वंचित ही था। उस रिक्तता की पूर्ति श्री त्रिपाठी ने की है।

अमरुशतक एक ऐसा स्रोत है जो संस्कृत की उस मुक्तक परम्परा की धारा से जो वैदिक काल के उन्मुक्त जीवन की झाँकी का प्रतिनिधित्व करती हुई आज तक अजस्र गति से बहती आई है, जल ग्रहण करता है और पुनः उसी में मिल जाता है। परन्तु उसका जल इतना मीठा, इतना सरस है कि उसकी विशिष्टता अनायास ही प्रकट हो जाती है और सहृदय जन उस रस का पान करते अघाते नहीं।

ऋग्वेद संहिता में प्रकृति के प्रति मानव जीवन के बालसुलभ कौतूहल ने ही उषा, पर्जन्य और अरण्यानी के सूक्तों को जन्म दिया किन्तु अथर्ववेद में मानव-स्वभाव प्रकृति के लगाव को उतनी मात्रा में रखते हुए भी मानवीय जीवन के उतार-चढ़ाव तथा मन की अनेक आकांक्षाओं के प्रति जागरूक हो गया था। उसके मन में

संग्रहकर्ता एवं अनुवादक : श्री कमलेश दत्त त्रिपाठी
प्रकाशक : मित्र प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद।
पृष्ठ संख्या : ३१६
मूल्य : दस रुपये

जो छोटी छोटी आकाक्षाये उठती गिरती थी उनका मूत रूप एक युवती के इस कथन मे मिलता है जब वह अपनी प्रतिस्पर्धिनी क या से कहती है कि वह सदैव अपने माता-पिता के घर मे ही रहे जब तक कि उसके बाल सफेद न हो जाये। अमरुशतक ऐसी ही, एव उत्तरवर्ती थेर गाथा, थेरी गाथा, सातवाहन हाल द्वारा सकलित गाहा सतसई, भत हरि की नीति, शृ गार और वैराग्यशतक की परम्परा का अनुगमन करता है। अपनी प्रौढ रचना शैली और जीवन के छोटे-छोटे चित्रो को बिलकुल अलग कि तु सर्वागीण रूपो मे प्रस्तुत करने की शक्ति के कारण अमरुशतक ने अपने बाद मे आने वाले कवियो को बहुत प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप बिल्हण की 'चौरपञ्चाशिका' आई। यह अमरु की शैली की अनुकृति ही मानी जायगी, चित्राकन शैली के दृष्टिकोण से भी और प्रत्येक चित्र के अपने विशिष्ट भाव के दृष्टिकोण से भी। यह मानना पडेगा कि बिल्हण की काव्य दृष्टि सवथा अपनी ही है कि तु फिर भी स्थान स्थान पर लगता है कि भाव अमरु से ग्रहीत हे, बिल्हण तो प्रस्तोता मात्र है। 'चौरपञ्चाशिका' के बाद इस परम्परा की महत्त्वपूर्ण कृति है गोवधन की 'आर्यासप्तशती'। अमरु परम्परा का पहला चरण यदि चौरपञ्चाशिका है तो दूसरा चरण हे आर्यासप्तशती। इसमे भी प्रणय का इतिहास छोटे-छोटे चित्रो मे अकित है। इसके पश्चात् सुभाषितो का स्थान है। सुभाषितरत्नस दोह (अमितगतिरचित), श्रीधरदास सकलित सदुक्तिकणामृत, जल्हण सकलित सूक्तिमुक्तावली यह सभो सग्रह अमरुशतक का अमिट अस्तित्व स्वीकार करते हुए, उसकी अजस्र सरस धारा से मन चाहा रस ग्रहण करते हुए अपनी साथकता प्रतिपादित करते है। पण्डितराज जगन्नाथ का भी इस विषय मे अत्य त स्तुत्य प्रयास है, उन्होने नूतन मुक्तको की रचना की। आश्चयजनक शैली के अधिकारी होने के नाते और जीवन की विविधता से परिचित होने के कारण उनके मुक्तको का क्षेत्र बडा व्यापक है।

अपनी पूवजा सस्कृत की ही अनुगामिनी हि दी ने भी इस मुक्तक परम्परा को अक्षुण्ण रखा। यह परम्परा भक्तिकाल से प्रारम्भ होकर विद्यापति, कबीर, सूर और तुलसी के आश्रय मे पल कर समृद्धि को प्राप्त करती हुई रीतिकाल मे मानो युवावस्था के शृ गारभाव को ग्रहण करती हुई कवि बिहारी को अपना सबसे बडा अधिकारी मानती हुई सदैव आगे बढती रही।

अमरुशतक मे क्या है ? यह प्रश्न जितना सरल है उसका उत्तर उतना ही कठिन। वैसे कहने को तो उसमे शृ गार के भाव है। कभी प्रिय से सुखद मिलन है तो कभी तीव्र कसक उत्पन्न करने वाला वियोग है। कि तु उस सयोग के कितने ही रूप है। जिस समय प्रिय और प्रिया का मिलन होता है उस समय एक ही दृष्टि मे कितनी भाव भगिमायें मिली होती है यह कहना अत्य त कठिन है। अमरु ने अपने अमरु शतक मे उन भगिमाओ की वक्रता, सरलता, उत्सुकता, उदासीनता, भोलापन एव तीक्ष्णता को एक-एक स्वतन्त्र मुक्तक मे बाध दिया है। प्रत्येक चित्र दूसरे से

अलग है किन्तु अपने में पूर्ण । प्रत्येक चित्र प्रणय, कोप अथवा वियोग-जनित शोक की एक अलग कहानी है । चित्र को देखते ही दर्शक पहले और बाद का कथासूत्र जोड़ने में बरबस विवश हो जाता है । पुन: चित्र धीरे-धीरे एक ऐसा वाक्य बन जाता है जिसका पहले और बाद का इतिहास उसी में अनायास ध्वनित हो उठता है और पाठक का मस्तिष्क उन ध्वनियों का परस्पर सम्बन्ध अपने-आप जोड़ लेता है । श्री कमलेशदत्त ने प्रस्तुत संस्करण में उन्हीं शब्दचित्रों को वास्तविक चित्रों का रूप दे दिया है। रंग-बिरंगे छायाचित्रों के ऊपर उभरे हुए शब्द-चित्र मानो एक दूसरे के पूरक बनकर बोलने लग गये हैं। दर्शक को पृष्ठ उलटने के प्रयास के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना पड़ता, चित्र स्वयं जो बोलते हैं ।

प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद के विषय में हमें इतना ही कहना है कि जो पाठक संस्कृत नहीं जानते या बहुत कम जानते हैं उनके लिए संस्कृत का श्लोक मानो झीने अवगुण्ठन से युक्त सुन्दर नारी के समान है जिसका कुछ-कुछ सौन्दर्य तो द्रष्टा देख सकता है लेकिन पूर्णतया उस सौन्दर्य के दर्शनों से वंचित रहता है । हिन्दी अनुवाद मानो उसी सुन्दरी का अवगुण्ठन रहित मुख है जिससे सरलता से उस सौन्दर्य का अवलोकन किया जा सके । कुछ उदाहरण लीजिए :

पीले रंग के छाया-चित्र में एक विशालाक्षी अवनतमुखी होकर अपने प्रिय के स्वागत में तत्पर है किन्तु अर्घ्य का पात्र व्यर्थ ही हाथ में लिया हुआ है, वन्दनवार भी उपेक्षित सा दूर पड़ा है । पूजन-सामग्री की थाली की भी उसे आवश्यकता नहीं । भला क्यों ? इसका उत्तर देते हैं कविवर अमरु अपने इन शब्दों में—

> दीर्घा वन्दनमालिका विरचिता दृष्ट्यैव नेन्दीवरैः
> पुष्पाणां प्रकरं स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः ।
> दत्तः स्वेदमुचा पयोधरभरेणार्घो न कुम्भाम्भसा
> स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मंगलम् ।।
>
> श्लोक ४५

त्रिपाठी जी के हिन्दी अनुवाद ने उसी भाव को कितनी सुन्दरता से ग्रहण किया है—

> बन्दनवार लम्बा सा विरच दिया
> इन्दीवर नयनों से,
> नहीं नील सरसिज से,
> अपनी मुसकान से सुमन बिखेर दिये,
> नहीं कुन्द जाती से,
> स्वेदनिःष्यन्दी पृथु पृथुल पयोधर से अर्घ्य दिया

घट जल की बात नहीं,
घर आये प्रियतम का मंगल किया,
अपने अंगों से।

जिसके पास प्राकृत उपादान हों वह भला कृत्रिम उपादानों का उपयोग क्यों करे ?

रात्रि की मंगलमयी रतिक्रीड़ा की कहानी किसी को सुनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह विशिष्ट चादर ही सब कुछ कह देती है—

क्वचित्ताम्बूलावतः क्वचिद्गुरुपङ्काङ्कमलिनः
क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपदः।
वलीभंगा भोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः
स्त्रियो नानावस्थं प्रथयति रतं प्रच्छदपटः।

श्लोक १०७

वहाँ पान से रंगी वहां पर
अगर लेप से अंकित श्यामल,
भरी कहीं पर गन्ध चूर्ण से
और कहीं पर आलक्तक रंजित पद अंकित,
सिलवट की विस्तृत लहरों से और
कुसुम से; जो अलकों से गिर कर बिखरे,
भरी हुई वह चादर कहती मधुर कहानी
दयिता के बहुभाँति सुरत की। (श्री कमलेश जी का अनुवाद)

सुख के क्षण बड़ी शीघ्रता से समाप्त हो जाते हैं मानो उनके पंख लगे हुए हों और वे उड़ने को उत्सुक हों। विरह की दीर्घ घड़ियाँ जहाँ की तहाँ खड़ी हो जाती हैं मानो उनके पैरों में अवसाद की भारी शृंखला पड़ी हुई हो। जिसके हृदय में प्रिय मिलन की मीठी ज्योति जल चुकी हो उसके हृदय को विरह का दावानल कितनी भीषणता से जलाता है, जिसके हृदय में संयोग-सुख की मधुर अनुभूति सोई हुई हो, उसे विरह की तड़प किस तरह झकझोर कर उठा देती है और जिस उच्चतम सुख को नवयुवती हृदय में कृपण के धन की तरह संजो कर रखती है, विरह रूपी चोर उस सुख को किस निर्दयता से चुरा लेता है इसका अनुमान तो नहीं किया जा सकता, हाँ कोई भुक्तभोगी अपनी वैसी ही अवस्था की मानसिक पुनरावृत्ति से उसका प्रत्यक्ष अनुभव अवश्य कर सकता है। अमरुशतक की विरहिणी की क्या दशा होती है, इसे अमरु के शब्दों में इस प्रकार सुना जा सकता है—

अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु कृतं चिन्ता गुरुष्वर्पिता
दत्तं दैन्यमशेषतः परिजने तापः सखीष्वाहितः ।
अद्यश्वः परनिर्वृतिं भजति साश्वासैः परं खिद्यते ।
विस्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया ।।

श्लोक ११०

बन्धुजनों की अश्रुधारा अविरल कर दी है,
चिन्ता अर्पित वृद्ध जनों को,
सेवक जन को अखिल हीनता दे डाली है,
सखियों पर संताप रख दिया।
यों ही उसने विरहजक्लेश विभक्त किया है
सांस ग्रहण करने में बहुत विकल होती है,
अब तो उसे आज या कल तक परमानन्द मिलेगा निश्चय,
तुम बिल्कुल निश्चिन्त रहो जी !

(श्री कमलेश दत्त त्रिपाठी का अनुवाद)

विरहिणी की इससे करुण दशा और क्या हो सकती है !

त्रिपाठी जी का हिन्दी अनुवाद बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है इसमें सन्देह का लेश मात्र भी नहीं । इसमें भावों को अधिकाधिक स्पष्टता देने का सफल प्रयास किया गया है । यह स्पष्टता न तो लय में व्याघात पहुँचाती है और न ही विषय से अधिक दूर जाती है । स्पष्टता लेखक की बिलकुल अपनी सूझ है और मूल श्लोक में उससे सम्बन्धित शब्द नहीं मिलते । इसलिए रूपान्तरकार महोदय ने उन शब्दों को कोष्ठकों में रखा है ।

उदाहरण के रूप में अमरु ही का एक श्लोक हिन्दी अनुवाद सहित नीचे दिया जा रहा है—

तथाभूदस्माकं प्रथममविभक्ता तनुरियं
ततो न त्वं प्रेयानहमपि हताशा प्रियतमा ।
इदानीं नाथस्त्वं वयमपि कलत्रं किमपरं
मयाप्तं प्राणानां कुलिशकठिनानां फलमिदम् ।।

श्लोक ६६

पहले हम लोगों का तन यह—
ऐसा एक हुआ था,
फिर न रहे तुम प्रियतम,
और न हत आशाओं वाली मैं ही रही प्रियतमा,
अब तो तुम स्वामी हो—

(जैसे गायों का मालिक हो)
मैं भी पत्नी (धर्म से ब्याही जो हूँ)
और कहूँ क्या ?
भर पाया है कुलिश कठिन जीवन का यह फल

अनुवाद के विषय में एक और बात है जो भावागत होने के कारण भाषा के विषय में भी लागू होती है और वह है हिन्दी और उर्दू शब्दों का मधुर मिश्रण। लेखक उर्दू के भी अच्छे ज्ञाता हैं, शब्दों के प्रयोग से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। किन्तु लेखक ने उन्हीं उर्दू शब्दों का अधिक प्रयोग किया है जो या तो हिन्दी-संसार में अधिक प्रचलित हैं अथवा जिन शब्दों के हिन्दी में प्रयोग से वह भाव नहीं आता जिस भाव को लेखक पाठकों के समक्ष रखना चाहते हैं। नज़र-अन्दाज़ (भूमिका, ३३ पृ० आदि) ऐसे ही शब्द हैं। अमरु के मुक्तकों जैसी छाया लिए हुए 'फैज़' के शेर भी लेखक की पैनी दृष्टि से बच नहीं सके। इसीलिए लेखक ने "अगर फैज के शब्दों में मैं अमरु की आत्मा को बुला सकता तो अमरु भी यही कहते—" इतना कह कर उर्दू के प्रसिद्ध कवि फैज़ का एक शेर उपस्थित किया है—

ये भी हैं ऐसे कई और भी मज़मूँ होंगे
लेकिन उस शोख के आहिस्ता से खुलते हुए होंठ,
हाय उस जिस्म के कम्बख्त दिलावेज़ खुतूत,
आप ही कहिए कहीं ऐसे भी अफसूँ होंगे ?
अपना मौज़ू-ए-सुखन इनके सिवा और नहीं।
तब ऐ शायर का वतन इनके सिवा और नहीं।'

(भूमिका, पृ० ४२)

प्रस्तुत संस्करण में लेखक ने ग्रन्थ के आदि में ५६ पृष्ठ की विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी है जिसमें अमरु के व्यक्तित्व के बारे में प्रचलित कथा का उद्धरण देते हुए उस मत का खण्डन किया है जिसके अनुसार ग्रन्थकार अमरु और शंकराचार्य एक ही व्यक्ति थे। अमरु के स्थितिकाल के विषय में कितना वादविवाद है इस विषय पर भी लेखक ने प्रकाश डाला है। पुस्तक के एक से अधिक संस्करण होने के कारण इसमें पाठ-भेद, श्लोकों का आगे पीछे होना तथा कुछ प्रक्षिप्त अंशों का अस्तित्व भी स्वाभाविक है। ग्रन्थ के अन्त में दी गई टिप्पणी में लेखक ने उन सभी पाठ-भेदों का विशेषकर वेम, रवि तथा रुद्रम के परस्पर पाठान्तरों का निर्देश किया है। इस तुलनात्मक अध्ययन से प्रस्तुत संस्करण का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। पूर्ववर्त्ती सभी टीकाकारों का मन्तव्य एक ही स्थान पर एकत्रित कर देना नि:सन्देह अपने में बहुत बड़ा कार्य है।

अमरु के विभिन्न टीकाकार अर्जुनवर्म देव, वेमभूपाल, रविचन्द्र तथा रुद्रम देव कुमार की जीवनियों पर भी लेखक ने प्रकाश डाला है।

शृङ्गार रस की रचना होने के कारण नायक तथा नायिका-भेद और उनकी वृत्तियों का उल्लेख भी आवश्यक था। लेखक ने उनका विस्तृत वर्णन कर ग्रन्थ को सर्वाङ्गीण बना दिया है।

श्री कमलेशदत्त त्रिपाठी का प्रस्तुत प्रयास सभी दृष्टियों से स्तुत्य है। आशा है हिन्दी-संसार इसका समुचित स्वागत करेगा।

मंझनकृत मधुमालती

श्री० परशुराम चतुर्वेदी

आज से ५० वर्ष पूर्व, 'काशीनागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित उसमान कवि की 'चित्रावली'[1] का सम्पादन करते समय स्व० जगन्मोहन वर्मा ने उसकी 'भूमिका' के अन्तर्गत, मंझन की 'मधुमालती' की किसी प्रति का कदाचित् सर्वप्रथम परिचय दिया था। यह प्रति उन्हें उसी वर्ष अर्थात् सन् १९१२ ई० में काशी में गुदड़ी बाजार में मिली थी। यह "उर्दू लिपि में अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई थी। किन्तु इसमें केवल १७ वें से लेकर १३३ वें तक ही पन्ने थे जिस कारण यह अपूर्ण थी"। इस प्रति के द्वारा 'मधुमालती' के रचयिता मंझन के नाम का तो पता भलीभांति चल जाता था, किन्तु उसके रचना-काल का कोई संकेत नहीं मिल पाता था। इसके आदि वाले '३९ पन्नों तक बायें पृष्ठ पर के किनारे पर दो-दो पंक्ति में फ़ारसी भाषा में कुछ याददाश्त लिखे' थे जिनके अन्त में दिये गए हिजरी सन् १०६६ के अनुसार उन्होंने इस प्रति के लिपि-काल का उसके पहले होना अनुमान किया। उधर शेख कुतवन की रचना 'मिरगावती' का पता 'सभा' को सन् १९०० में ही लग चुका था। इसलिए, उसके साथ मंझन की 'मधुमालती' की तुलना कुछ दृष्टियों से करते हुए, स्व० वर्मा इस परिणाम पर पहुँचे कि यह भी उसी की तरह जायसी की 'पदमावत' के पहले रची गई होगी। उनका कहना था कि जिस प्रकार 'पदमावत' के अन्तर्गत 'मिरगावती' की कथा का उल्लेख किया गया पाया जाता है उसी प्रकार उसमें 'मधुमालती' की कथा का भी संकेत आ जाता है और इन दोनों की रचना-शैली तक में भी बहुत कुछ समानता है।

स्व० वर्मा द्वारा दी गई इस प्रकार की सूचना के पीछे अन्य अनेक लेखकों

सम्पादक : डाक्टर माताप्रसाद गुप्त

प्रकाशक : मित्र प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

मूल्य : २० रुपए

१. उसमान की 'चित्रावली' (का० ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित, १९१२ ई०) भूमिका-भाग पृ० ३-५

का भी ध्यान 'मधुमालती' की ओर आकृष्ट हुआ और इसकी चर्चा बहुत सी पत्र-पत्रिकाओ मे होने लगी। तदनुसार उनके पुत्र श्री सत्यजीवन वर्मा ने 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (स० १६८२) मे, उक्त अपूर्ण प्रति के ही आधार पर इस सम्बन्ध मे अपनी यह धारणा प्रकट की कि मझन ने अपने को सभवत 'मलिक' लिखा है, इस कारण, वह मलिक मुहम्मद जायसी की भाति मुसलमान रहा होगा और, 'पदमावत' के अतगत 'मधुमालती' की चर्चा, कुतबन की 'मृगावती' (रचना-काल स० १५५६) के अनतर की गई है। इस कारण, यह रचना स० १५५६ तथा स० १५९५ (पदमावत का रचना काल) के बीच लिखी गई होगी। श्री वमा के इस प्रकार किये गय अनुमान की पुष्टि फिर स्व० रामच द्र शुक्ल द्वारा रचित 'हि दी साहित्य का इतिहास' (प्रथम सस्करण, स० १९८६) मे भी हो गई और उसमे स्पष्ट लिख दिया गया 'यह निस्सदेह है कि इसकी रचना विक्रम सवत १५५० और १५९५ (पदमावत का रचनाकाल) के बीच मे और बहुत सभव है कि, 'मृगावती के कुछ पीछे हुई।' (पृ०१००)। पर तु श्री ब्रजरत्नदास ने इस विषय मे अपना एक भि न सुझाव प्रस्तुत किया और उ होने, प्रयाग की हि दुस्तानी पत्रिका के सन १९३८ ई० वाले (पृ० २१२ पर) प्रकाशित अपने एक लेख द्वारा यह विचार प्रकट किया कि "मझन हिंदू थे। अत उ होने मुसलमानी प्रथानुसार अपने काव्य के आरम्भ मे अपन समय के सम्राट का उल्लेख नही किया है और न ग्र थ निर्माण का समय दिया है। 'मधु-मालती' के मगलाचरण से यह निगु ण निराकार के मानने वाले ज्ञात होते है। इस प्रकार 'मधुमालती' का रचना काल सवत १६५० वि० के लगभग आता है और इ हे जायसी का पूववर्ती मानना भ्रामक है और उसके लिए कोई दृढ आधार भी नही है।" इस कारण स्व० च द्रवली पाडे ने इस पर आपत्ति की और इनकी बातो का खण्डन करत हुए, 'सभा' की उक्त 'पत्रिका' (स० १९९५ वष ४३, पृ० २५५-६४) के अपने एक लेख के अत मे अपना यह मत व्यक्त किया। "वस्तुत मझन एक मुस्लिम सूफी कवि थे और उनकी रचना 'मधुमालती' जायसी की 'पदमावत' या 'पदुमावती से पुरानी है।"

इस प्रकार जब तक 'मधुमालती' की अपूर्ण प्रतिया मिलती रही उसके सब ध मे ऐसे विवादो का उठना स्वाभाविक रहा और यह उक्त रूप मे तब तक न ब द हो सका जब तक रामपुर स्टट की जैसी कुछ (लगभग पूर्ण) प्रतियो का कोई विवरण हमारे सामने नही आया, अथवा जब तक पूर्ण समझी जाने वाली 'एकडला' की प्रति का एक सस्करण डा० शिवगोपाल मिश्र द्वारा सम्पादित होकर सन १९५७ ई० मे प्रकाशित नही हुआ। रामपुर वाली जैसी प्रतियो की जानकारी हो जाने पर इस ग्रन्थ के रचना-काल, हिजरी सन् ९५२ अर्थात् सन १५४५ ई० का निर्णय हो गया और इसके रचयिता का मुस्लिम सूफी कवि भी होना स्वीकार कर लिया गया। परन्तु एकडला वाली प्रति का प्रकाशन हो जाने पर इस रचना के मूल प्रामाणिक

पाठ तथा इसमें आ गये हुए प्रक्षिप्तांशों के विषय में निर्णय कर डालने की समस्या विशेष रूप से प्रमुख बन गई है। डा० मिश्र ने, अपने द्वारा सम्पादित उक्त संस्करण की 'भूमिका' के अन्तर्गत, उस समय तक उपलब्ध कई प्रतियों का न्यूनाधिक विवरण प्रस्तुत किया, किन्तु जैसा उसे देखने से स्पष्ट होता है, उन्होंने उनके आधार पर अपना कार्य पूरा करने का भी कष्ट नहीं उठाया जिसके फलस्वरूप उक्त संस्करण में अनेक ऐसे स्थल रह गए जिनका समझ पाना कभी सरल नहीं कहा जा सकता था। अतएव, 'मधुमालती' के एक अच्छे संस्करण की आवश्यकता फिर भी बनी रह गई। डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपनी ओर से, विभिन्न चार प्रतियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा, पाठ निर्णय तथा प्रक्षिप्तांशों के निराकरण एवं रचना के अनुवाद का कार्य प्रस्तुत करके अब इसका एक आदर्श संस्करण निकालने की चेष्टा की है।

डा० गुप्त ने अपना संस्करण जिन चार प्रतियों के आधार पर तैयार किया है उनमें से सर्वप्रथम उक्त रामपुर स्टेट लायब्रेरी वाली प्रति की ही एक प्रतिलिपि है जिसकी पुष्पिका से पता चलता है कि वह सन् ११३२ ई० अर्थात् १७१९ ई० में लिखी गई और जिसका प्रथम पन्ना नहीं है। इस कारण रचना का पहला छन्द उसमें नहीं पाया जाता। उनकी दूसरी एवं तीसरी प्रतियाँ 'भारत कलाभवन' वाराणसी की हैं और वे दोनों ही अपूर्ण हैं। इनमें से प्रथम की लिपि फ़ारसी है और दूसरी नागरी लिपि में है और इसी का लिपिकाल सं० १६४४ अर्थात् सन् १५८७ ई० दिया गया मिलता है। डा० गुप्त ने इसकी किसी सं० १९९९ अर्थात सन् १९४२ ई० की प्रतिलिपि से काम लिया है। उनकी चौथी प्रति उपर्युक्त एकडला वाली है जो भी अब, उनके अनुसार, 'भारत कलाभवन' में ही आ गई है और इसका लिपिकाल सं० १७४४ अर्थात् सन् १६८७ ई० है। यह प्रति कैथी लिपि में लिखी कही जाती है, जिस बात को डा० मिश्र ने अपने संस्करण में दिये गए तीन फोटो से भी प्रमाणित किया है। किन्तु डा० गुप्त ने इसे भी 'नागरी में लिपिबद्ध' ही कहा है (भूमिका पृ० ३०) जिससे प्रतीत होता है कि इसकी भी कोई प्रतिलिपि ही उनके काम-में आई है। डा० गुप्त ने इन चारों का तुलनात्मक अध्ययन करके, इनकी लिपि परम्परा तथा इनके पाठ संबन्ध पर भी प्रकाश डाला है और इनमें से दूसरी एवं तीसरी को एक कुल की, प्रथम को उससे भिन्न कुल की तथा चौथी को दोनों के मिश्रण का परिणाम ठहराया गया है। उन्होंने इसके आगे अपने सम्पादन-कार्य के मूल सिद्धान्तों की भी एक चर्चा कर दी है जिससे उनकी वैज्ञानिकता प्रकट हो जाती है। डा० गुप्त ने, मूल पुस्तक का पाठ देते समय विभिन्न पाठान्तरों का उल्लेख करके बहुत अच्छा काम किया है। उनका कहना है कि "दो स्वतन्त्र शाखाओं के पाठ प्राप्त हो जाने से पाठ-निर्धारण अपेक्षित प्रकार का हो गया है और पाठ-संशोधन की आवश्यकता बहुत ही कम पड़ी है। फलतः जहाँ तक जान पड़ता है, डा० गुप्त का

यह संस्करण उपलब्ध सामग्री की दृष्टि से, एक आदर्श संस्करण कहा भी जा सकता है।

डा० गुप्त ने अपने इस संस्करण के अन्तर्गत, 'मधुमालती' के छन्दों को, पृथक् पृथक् ५३९ खण्डों में विभाजित करके प्रकाशित किया है और उनमें से प्रत्येक में आई हुई पंक्तियों का पृथक-पृथक अर्थ देकर फिर आगे कुछ टिप्पणियाँ भी लगा दी हैं। इस प्रकार उन्होंने भरसक यही प्रयत्न किया है कि रचना का कोई भी अंश अस्पष्ट न रह जाय। परन्तु फिर भी इसमें अनेक स्थल ऐसे आ गए हैं जहाँ पर उन्हें (?) चिन्ह लगाना पड़ गया है। ऐसे स्थल संभवतः मूल रचना के वास्तविक पाठ के अब तक उपलब्ध न हो सकने के कारण, भ्रांतिवश 'अस्तित्व' में आ गए हैं और ये कभी आगे सुधारे जा सकते हैं। इसलिए इनके अर्थ का स्पष्टीकरण करते समय बहुत सावधानी से काम लेना आवश्यक होगा। डा० गुप्त ने भी भरसक ऐसा ही किया है और कहीं-कहीं पर उन्होंने अपने तद्विषयक संदेह की ओर संकेत भी कर दिया है। किंतु इस संस्करण के अन्तर्गत कुछ ऐसे स्थल भी मिल सकते हैं, जहाँ पर उन्होंने अपनी धारणा में अनावश्यक दृढ़ता ला दी है। उदाहरण के लिए पुस्तक के ३९वें खण्ड वा अंश में जहाँ पर—

"सन नौसै बावन जब भए। सती पुरुख कलि परिहरि गए।
तब हम जिय उपजी अभिलाखा। कथा एक बाँधउ रस भाखा।"

पंक्तियाँ आई हैं वहाँ पर इसका अर्थ "सन् ९५२ जब हुए, और सत्यनिष्ठ पुरुष (मुहम्मद गौस) कलि को छोड़कर चले गए, तब हमारे जी में यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि एक कथा भाषा के रूप में बाँधू" दिया गया है। जिसमें 'सती पुरुख कलि परिहरि गए, के लिये मुहम्मद गौस का प्रसंग उपयुक्त नहीं जान पड़ता। 'कलि परिहरि गए' से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस 'सत्यनिष्ठ' पुरुष के लिए ऐसा कहा जा रहा है वह 'सन् नौ से बावण वा हिजरी सन् ९५२ अर्थात् सन् १५४५ ई० में संभवतः मृत्यु को प्राप्त हुआ होगा जो मुहम्मद गौस के लिए संभव नहीं था। इनका देहावसान ९७० हिजरी अर्थात् सन् १५७१ ई० में हुआ जैसा स्वयं डा० गुप्त की भूमिका (पृ० १५) से भी विदित होता है। परन्तु वहीं पृष्ठ (१४ पर) उन्होंने 'सती पुरुख कलि परिहरि गए' के विषय मे 'स्पष्ट नहीं है' कहते हुए भी, इतना और बतला दिया है कि "विवेच्य स्थल पर 'सती पुरुख' शेख मुहम्मद गौस के लिए ही प्रयुक्त ज्ञात होता है। 'कलि' संभवतः उनके उस अज्ञातवास की यातनाओं की ओर संकेत करता है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। संभवतः ९५२ हिजरी में शेरशाह के देहान्त के अनन्तर ही शेख मुहम्मद गौस को उक्त अज्ञातवास से मुक्ति मिल सकी थी" (पृष्ठ १४-१५) जिससे ऐसा लगता है कि उन्हें यहाँ पर कुछ क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ गई है। इससे-अच्छा तो कदाचित् यह हो सकता था कि उक्त 'सती पुरुख' को यहाँ पर स्वयं शेर

शाह के ही लिए प्रयुक्त समझ लिया जाय, क्योंकि एक तो उसका देहान्त उसी वर्ष (मई सन् १५४५ ई०) में हुआ था और दूसरे उसे 'सती पुरुख' कह देना अनुपयुक्त भी नहीं था। मंझन के संभवतः पाँच वर्ष पहले (हि० ९४७ में) जायसी ने भी अपने 'पदमावत' के अन्तर्गत उसके लिए "धरम निआउ चलइ सत भाषा" जैसे ही शब्द लिखे थे (दे० डा० गुप्त का संस्करण सन् १९५२ ई०, पृ० १३०) जिनका अर्थ "वह धर्म से न्याय करता है और सत्य बोलता है" किया गया मिलता है।

मंझन द्वारा सुलतान शेरशाह के लिए 'सतीपुरुख' जैसे शब्द का प्रयोग किया जाना कुछ आश्चर्य की बात भी नहीं है। उसने अन्यत्र उसके लड़के सलीम शाह के लिए भी लगभग वैसे ही शब्दों के प्रयोग किये हैं जैसे शेख मुहम्मद गौस के लिए और इन दोनों को ही "सापुरुस गरुव गरिस्ट" की एक समान उपाधियाँ दे डाली हैं (दे० क्रमशः पृष्ठ १० और १४)। इसके सिवाय किसी बादशाह की मृत्यु का एक महत्त्वपूर्ण घटना बन जाना तथा उसके द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति की विचारधारा का भी प्रभावित हो जाना जिसका उसके दरबार के साथ संभवतः कोई प्रत्यक्ष संबंध न भी रह चुका हो कोई वैसी विलक्षण बात भी नहीं जान पड़ती। बिहार प्रांत के प्रसिद्ध सन्त बाबा धरणीदास के लिए तो कहा जाता है कि उन्होंने बादशाह शाहजहाँ द्वारा अपनी बीमारी के कारण शासन-कार्य का परित्याग कर दिये जाने पर ही उस घटना से प्रभावित होकर अपना 'वैरागी भेष' धारण कर लिया था। इस बात की चर्चा उन्होंने, अपने प्रेमाख्यान 'प्रेम परगास' में स्वयं भी इस प्रकार की है :—

"संमत सत्रह सौ चली गैऊ। तेरह अधीक ताहि पर भैऊ।
शाह जहान छोड़ि दुनी आइ। पसरी औरंगजेब दोहाइ।
सोच बिसारी आत्मा जागी। धरनी धरेउ भेष बैरागी।"

(एक अप्रकाशित हस्तलिखित प्रति)

डा० गुप्त द्वारा वहीं पर "मैं छाँडेउ गुन कर परसादू" का "मैंने प्रसाद (गुण) करके (के निमित्त) (अन्य) गुणों को छोड़ दिया" जैसा किया गया अर्थ भी शब्दों का यथाक्रम भाव व्यक्त करता हुआ नहीं प्रतीत होता जिसका कारण पाठ का विकृत होना भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार पुस्तक के १७६ वें अंश में जहाँ 'सहन भंडार' शब्द आया है उसका अर्थ उन्होंने "सहन (संरक्षणीय सामग्री) तथा भंडार" किया है (दे० पृष्ठ १४९) जो कदाचित् उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। यहाँ पर 'सहन तथा भंडार' के स्थान पर केवल संरक्षित अथवा, अधिक से अधिक 'बाहर संरक्षित कोष' मात्र कह दिया गया होता तो संभवतः ठीक था। गो० तुलसीदास की 'गीतावली' में भी यह शब्द इस प्रकार आया है :—

"रानिन दिए बसन मनि भूषन, राजा सहन-भंडारे (राग जैतश्री)

पुस्तक के ३०० वें अंश वाले 'नीख' शब्द का अर्थ डा० गुप्त ने पृ० २५६ पर "तुम्हारा (तुम्हारे ऋण का) एक निष्क (सिक्का)" किया है जहाँ पर केवल 'ऋण' मात्र कह देने से भी काम चल सकता था क्योंकि, मूलतः 'निष्क' रहता हुआ भी, अब यह शब्द अधिक व्यापक अर्थ रखने लगा है। भोजपुरी में यह शब्द 'नीखि' के रूप में पाया जाता है और वहाँ पर भी इससे ऐसा ही अभिप्राय समझ लिया जाता है। इसी प्रकार ३३७वें अंश में आये हुए 'ओहट' का अर्थ जहाँ (पृ० २९२) पीछे हटा हुआ' किया गया है वहाँ पर भी कुछ अनुपयुक्तता आ गई जान पड़ती है। क्योंकि यह शब्द भी चाहे पहले 'अपसृत' के रूप में ही क्यों न रहा हो, प्रायः 'दूर' का भी आशय प्रकट किया करता है। १९१ वें अंश में यह भले 'पीछे हट (दूर हो)' का भाव प्रकट करता हो यहाँ पर तो इसका संभवतः 'दूरवर्ती' का अर्थ व्यक्त करना ही अधिक संगत कहला सकता है। संयोगवश यह 'ओहट' शब्द भी भोजपुरी में 'ओहटा' के रूप में पाया जाता है और बराबर 'दूर' वा 'दूरवर्त्ती' के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ करता है। हमें ऐसा लगता है कि डा० गुप्त ने, इन दोनों शब्दों का अर्थ बतलाते समय इनके मूल रूपों का ही भाव व्यक्त करने की ओर विशेष ध्यान दे दिया है। रचना के इस संस्करण में कतिपय छापे की भूलें भी रह गई हैं, जैसे, 'निभरम' का 'निभरभ' (पृ० ९४ पं० ३), 'कुंवरिहि' का 'कुंवरहि', (पृ० १०९ पं० ३३), 'कहते हैं,' का 'करते हैं' (पृ० १२० पं० २४), 'मूरख' का 'मूख' (पृ० १३७ पं० ६), 'बिगासै' का 'निगासै' (पृ० १७१ पं० ३५), 'पौनि' का 'पैनि' (पृ० २४२ पं० २७), 'उपजहि' का 'उपी-जहि' (पृ० २५१ पं० ७) और 'पानी' का 'पानी' (पृ० ३७९ पं० २३) हो गया है और ये अगले संस्करण में सुधार ली जा सकती हैं।

डा० गुप्त ने पुस्तक के अन्त में एक 'परिशिष्ट' द्वारा प्रक्षिप्त छन्दों की भी चर्चा कर दी है। इनके सम्बन्ध में उनका कहना है कि ये "समस्त बहिरंग और अन्तरंग साक्ष्य के आधार पर प्रक्षिप्त प्रमाणित हुए हैं" और इनमें से किसी के भी "सम्पादन का कोई प्रयास नहीं किया गया है" (पृ० ४८३)। सब के अंत में एक 'शब्दानुक्रमणी' भी जोड़ दी गई है जिसमें रचना के बहुत से अपरिचित शब्द व्युत्पत्ति एवं अर्थ के साथ आ जाते हैं। इस संस्करण के आरम्भ में दी गई 'भूमिका' के अन्तर्गत 'मंझन का जीवन वृत्त' 'मंझन की कला', 'मंझन का जीवन-दर्शन' तथा 'मंझन का प्रेम दर्शन' जैसे विषयों पर सम्पादक द्वारा अपना मत प्रकट किया गया है और उसे इस रचना की पंक्तियों द्वारा प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है। उनके उस मत का अधिकांश केवल परिचयात्मक मात्र है और कहीं-कहीं निरा संकेत सा भी लगता है, किंतु इसमें संदेह नहीं कि उसमें जो कुछ किसी नए सुझाव के रूप में दिया गया है उसे सर्वथा विचारणीय ही कहा जा सकता है। वास्तव में डा० गुप्त ने 'मधुमालती' का यह संस्करण प्रस्तुत करके, कम से कम उसके पाठ-संबन्धी अनेक प्रश्नों का बहुत कुछ समाधान कर दिया है और अब इस महत्त्वपूर्ण रचना का एक ऐसा

रूप हमारे सामने आ जाता है जिसके आधार पर उसके सम्बन्ध में बहुत दूर तक विचार किया जा सकता है तथा जब तक हमें फिर कोई नयी प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती तब तक यह पूर्णतः विश्वसनीय ही समझा जा सकता है। इसके 'राजसंस्करण' का मूल्य २०) रु० कुछ अधिक जान पड़ता है किन्तु आशा है, इसका यथेष्ट स्वागत होगा और इससे कई समस्याओं के सुलझाने में सहायता ली जायगी।

सूर-सारावली और साहित्य-लहरी

डॉ० शरणबिहारी गोस्वामी

'सूर-सागर' सूर-हृदय का रस-भरित 'सहस्रदल' है तो 'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी' सूर की मानसी 'निष्ठा' एवं विशिष्ट चमत्कारिणी 'मेधा' के वे द्विदल हैं, जो पुष्प की हास्य-छटा को आधार भूमि प्रदान करते हुए उसकी शोभा को पूर्ण बनाते हैं। कुछ आलोचकों की सम्मति में ये द्विदल रंग-रूप, आकार-प्रकार आदि में सूर-सागर से भिन्न हैं, अतः सूर-सागर-पुष्प के सजातीय नहीं हैं—परन्तु हमारी दृष्टि में रूप-रंग, आकार-प्रकार एवं अभिव्यक्ति में भिन्नता होते हुए भी, पुष्प और पत्र में यह भिन्नता स्वाभाविक है, इन सभी में एक ही जीवन-रस और मूल सुवास समान है, इसलिए ये पत्र-पुष्प एक ही डाल के प्रतीत होते हैं। फिर भी 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः' के अनुसार शोध एवं मनन की निश्चित परम्परा द्वारा ही किसी एकमत पर पहुँचा जा सकता है और यह प्रसन्नता की बात है कि आज नवीन साहित्य-सृजन की इस पावन वेला में भी अनेक विद्वान् अपने प्राचीन गौरव के इन अभिलेखों के मनन और मूल्यांकन में सतत यत्नशील हैं। आलोच्य ग्रंथों का प्रकाशन इसी साधना के महत्त्वपूर्ण सोपान के रूप में द्रष्टव्य है।

सूर-सारावली

किसी भी नवीन वस्तु के महत्त्व की प्रतिष्ठा इस आधार पर की जा सकती है कि उसके प्रकाश में आने पर हमारे ज्ञान में क्या अभिवृद्धि हुई अर्थात् वह वस्तु पूर्व-प्राप्त है अथवा नवीन ? यदि पूर्व-प्राप्त है तो उसका नवीन वैशिष्ट्य क्या है ? साथ ही यह भी विचारणीय है कि इस उपलब्धि के पश्चात् भविष्य के लिए कितना कार्य शेष रह जाता है ? इस दृष्टि से प्रथम आलोच्य ग्रंथ सूर-सारावली के 'पाठ' पर विचार किया जाना चाहिए, तदनन्तर उसके 'मूल्यांकन' पर जो भूमिका के रूप में संपादक द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

संपादक : प्रभुदयाल मीतल
प्रकाशक : अग्रवाल प्रेस, मथुरा
मूल्य : ३॥) तथा ६)

'सूर-सारावली' का प्रथम बार प्रकाशन कृष्णानन्द व्यास कृत 'रागकल्पद्रुम' में सं० १८९८ की कार्तिक शुदी ८ रविवार को हुआ था—आज से लगभग १२० वर्ष पूर्व।

संवत् १९२० में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित 'सूर-सागर' के आरंभ में पुनः 'सारावली' प्रकाश में आई, जो वास्तव में 'रागकल्पद्रुम' से ही ली गई थी।

संवत् १९५३ में वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से श्री राधाकृष्णदास जी के संपादन में प्रकाशित 'सूर-सागर' के आरंभ में 'सूर-सारावली' का पुनः प्रकाशन हुआ। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का अनुमान है—कि श्री राधाकृष्णदास जी ने भारतेन्दु जी की प्रति से इसे तैयार किया था। भारतेन्दु जी वाली उस प्रति का अब कहीं पता नहीं है। थोड़ा-बहुत पाठ-भेद होने पर भी, मीतल जी का अनुमान है कि हो सकता है भारतेन्दु जी ने भी अपनी प्रति 'राग-कल्पद्रुम' से ही नकल कराई हो।

इस प्रकार हिन्दी में प्राप्त समस्त 'सूर-सारावली' यत्र-तत्र पाठ-भेद होने पर भी 'राग-कल्पद्रुम' पर ही आधारित है। इन सभी मुद्रित सारावलियों की मूल हस्तलिखित प्रतियों की खोज में भी मीतल जी ने भारी परिश्रम किया है, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अन्यत्र 'सूर-सारावली' नाम से प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों की खोज में भी उन्होंने कोई कसर नहीं रखी—परन्तु वहाँ भी उन्हें सूर-सागर के ही कुछ पद उक्त शीर्षक के अन्तर्गत मिले। हाँ, इन सबसे अधिक प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण जिस आधार-सामग्री का प्रयोग मीतल जी ने किया है—वह है सारावली का दयाराम भाई कृत गुजराती अनुवाद। यह अनुवाद सं० १८८० का है, अर्थात् 'राग-कल्पद्रुम' के प्रकाशन से भी १८ वर्ष पूर्व। इस अनुवाद की विशेषता यह है कि इसमें केवल क्रियाओं का ही रूपान्तर किया गया है, संज्ञा-शब्द प्रायः ज्यों के त्यों ही है। पाठ-निर्णय के लिए इस प्रति का उपयोग निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण माना जायगा। यहाँ पर प्रश्न उठता है—कि क्या कृष्णानन्द व्यास ने भी अपनी यात्रा में दयाराम भाई से ही सारावली की प्रति प्राप्त की थी?—मीतल जी ने इस संभावना का निषेध किया है। फिर भी यह उनका अनुमान ही है क्योंकि कोई निश्चित मत इस संबंध में उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया है। हमारा विचार है कि 'सूर-सारावली' की संपूर्णता के लिए परिशिष्ट में या अन्यत्र दयारामकृत गुजराती अनुवाद भी पूर्ण या अंशतः दे दिया जाता—तो सूर-साहित्य के अध्येताओं को अधिक सुविधा हो जाती और वे एतत्संबन्धी निर्णयों की परीक्षा भी भली भाँति कर सकते। गुजराती अनुवाद की मूल सारावली के यथेष्ट उद्धरणों का अभाव बहुत ही खटकता है।

उक्त चारों मुद्रित प्रतियों को आधार बना कर मीतल जी ने सारावली का पाठ-निर्धारण किया है, या कहा जा सकता है कि गुजराती अनुवाद और राग-

कल्पद्रुम ही उनके विशिष्ट आधार हैं। पाठ-निर्णय के लिए मीतल जी ने व्रजभाषा की प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए संगत शब्द जिन प्रतियों में मिले हैं, ग्रहण किए हैं। इस प्रक्रिया के संबन्ध में कुछ संकेत एवं प्रयोग मीतल जी ने भूमिका में विभिन्न संस्करणों के पाठों की तुलना के रूप में भी प्रस्तुत किये हैं। पाद-टिप्पणी में उन्होंने पाठान्तर भी संयोजित किये हैं।

मूल पाठ में शीर्षक-उपशीर्षकों की योजना भी उन्होंने अपनी ओर से की है, जिससे पाठक को विषय-ग्रहण में अधिक सुविधा हो गई है।

'सारावली' के 'पाठ' की दृष्टि से प्रस्तुत संस्करण में हमारे निष्कर्ष निम्न-लिखित हैं—

१. सूर-सारावली की अभी तक कोई हस्तलिखित प्रति प्राप्त नहीं हुई है। अतः पाठ के संबन्ध में पूर्ण प्रामाणिकता का संतोष नहीं किया जा सकता।

२. पाठ-निर्णय का आधार प्रचलित प्रतियाँ रही हैं, परन्तु अब तक व्रजभाषा के शब्दों के संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति से उत्तरोत्तर पाठ की विकृति ही होती गई थी। मीतल जी ने इस ग्रंथ में प्रथम बार व्रजभाषा की प्रकृति को प्रस्थापित कर प्रामाणिक पाठ की ओर अभिगमन किया है।

३. गुजराती-अनुवाद का उपयोग एक महत्त्वपूर्ण पग है।

४. विषय का वर्गीकरण और तदर्थ शीर्षकों का आयोजन संपादन-सौष्ठव का परिचायक है।

५. सारावली ग्रंथ की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अभी तक यह ग्रंथ स्वतन्त्र रूप से प्राप्त ही नहीं था अतः मीतल जी द्वारा संपादित सारा-वली का यह स्वतन्त्र संस्करण अपनी अनेक विशेषताओं सहित स्वयं एक बड़े अभाव की पूर्ति है।

६. मीतल जी की शोध के प्रति पूर्ण निष्ठा होते हुए भी हस्तलिखित प्रतियों की अनुपलब्धि हमें इस दिशा में अधिक संयोजित एवं सामूहिक प्रयत्न की प्रेरणा देती है।

'सूर-सारावली' के संबन्ध में जो अनेक भ्रान्तियाँ अथवा मतभेद विद्वानों में विद्यमान हैं—उसके निराकरण के लिए साहित्यिक स्तर पर प्रयास करना भी सारावली के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यद्यपि सारावली की प्राचीनतम प्रतियों की प्राप्ति के अनन्तर ही इस प्रयास की सार्थक परिणति हो सकती है फिर भी

'प्राप्त' की सीमाओं में भी अपने निर्णयों को परिष्कृत किया जा सकता है, उसी दृष्टि से मीतल जी के इस ग्रंथ की भूमिका का अध्ययन अपेक्षित है।

आधार-प्रतियों के परिचय एवं विवेचन के उपरान्त लेखक ने इस ग्रंथ की प्रामाणिकता का प्रश्न उठाया है। रचयिता और उसकी नाम-छाप, भाव-भाषा और शैली की समानता के अतिरिक्त 'तत्त्व' और 'लीलाभेद' का स्पष्टीकरण, हरि-लीला दर्शन का अभिप्राय, कथावस्तु की रूपरेखा, होली-गान, परब्रह्म की नित्य लीला तथा वैष्णवभक्ति और पुष्टि संप्रदायी सेवा आदि विषयों पर विस्तार से विचार किया गया है। यों, मीतल जी ने अपने ग्रंथ 'सूर-निर्णय' में 'सारावली' के सम्बन्ध में जो मत प्रस्थापित किये हैं, इस भूमिका में भी उनमें कोई संशोधन या परिवर्तन नहीं हुए हैं। प्रामाणिकता के सम्बन्ध में जो तर्क 'सूर-निर्णय' में प्रस्तुत किये जा चुके थे, लगभग वे ही सब यहाँ दोहरा दिये गए हैं। वे मानते हैं कि 'सारावली' 'सूर सागर' का सूचीपत्र न होकर 'पुरुषोत्तम-सहस्रनाम' पर आधारित एक स्वतन्त्र तात्त्विक रचना है। 'ताकौ सार' से तात्पर्य एक लाख पदों के सूरसागर का सूचीपत्र न होकर सैद्धान्तिक-सार ही है। इसी प्रकार 'एक लक्ष पद-बंद' का अर्थ उन्होंने संख्या-वाची न लेकर एक लक्ष्य अर्थात् 'उद्देश्य' लिया है। यह 'लक्ष' श्री कृष्ण ही हैं, जैसा कि संप्रदाय की अन्य रचनओं से भी सिद्ध है। 'सारावली' का रचनाकाल वे सं० १६०२ मानते है और अष्टछापी सूरदास को ही इसका रचनाकार स्वीकार करते हैं। प्रो० व्रजेश्वर वर्मा द्वारा निर्देशित नागरीदास द्वारा उल्लिखित किसी व्रजवासी लड़के सूरज की सम्भावना का निरसन करने के लिए उन्होंने उक्त प्रसंग पूरा का पूरा उद्धृत किया है। इससे भी वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह प्रसंग अष्टछापी सूरदास के सम्बन्ध में ही है। इस प्रकार अष्टछापी सूरदास ही निर्बाध रूप से 'सारावली' के रचयिता ठहरते हैं।

इस भूमिका में मीतल जी ने 'सूर-सागर' और 'सारावली' की भाव-भाषा और शली की समानता दिखाने के लिए उद्धरणों की संख्या बहुत बढ़ा दी है, यह लगभग बारह पृष्ठों में फैली हुई है, जिससे सारावली का एक प्रकार से तुलनात्मक मंथन हो गया है। इन 'आश्चर्यजनक समानताओं' से वे यही सिद्ध करते हैं कि दोनों रचनाएं एक ही कवि की हैं।

'सूर-सारावली' में परब्रह्म की नित्य लीला को 'होली के खेल' के रूप में देखा गया है। समस्त सृष्टि-रचना, विभिन्न अवतार, राम और कृष्ण के चरित्र, ये सभी उस शाश्वत होली के अंग हैं। नित्य लीला का यह दृष्टिकोण काव्यात्मक तो है ही, इसमें निहित तात्त्विक दृष्टि भी इतनी गम्भीर है कि उसका धारक कोई सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व ही हो सकता है। ऐसा ही व्यक्ति श्रीकृष्ण के प्रकट चरित्र में एक मौलिक परिवर्तन कर उन्हें द्वारिका-लीला के पश्चात् पुनः वन्दाविपिन की सघन निकुंजों में

राधिका के आश्रय में लाकर सुखद-शुभद नित्यविहार का आनन्द प्रदान कर सकता है। हरिलीला का यह दृष्टिकोण सूर जैसे समर्थ उपासक ही प्रस्तुत कर सकते हैं, ऐसा हमारा विश्वास है।

'सूर-सारावली के सम्बन्ध में जो भी ज्ञातव्य है, उस सबको एक स्थान पर एकत्रित कर अपने सुसंपादन में इस ग्रन्थ को श्री मीतल जी ने प्रथम बार स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित किया है, इसके लिए वे हिन्दी-जगत् की ओर से साधुवाद के पात्र हैं।

साहित्य-लहरी

"साहित्य-लैहरी" महात्मा सूरदास की एक विशिष्ट महत्त्वपूर्ण रचना है; परन्तु 'सारावली' के समान है। इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में भी विद्वानों में आरम्भ से ही विवाद रहा है। इस ग्रन्थ में अन्तःसाक्ष्य के रूप में प्राप्त होने वाली कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री भी है, जिसके कारण सूर के पाठकों के सम्मुख इस रचना का नाम बार-बार आता है, फिर भी सूर के आत्मोल्लेख सम्बन्धी पदों के अतिरिक्त मूल ग्रन्थ से पाठकों का परिचय प्रायः नहीं के बराबर है। इसका प्रमुख कारण रहा है, 'साहित्य-लहरी' की मुद्रित प्रतियों की असुलभता तथा उसके सुबोध सटीक संस्करणों का अभाव। प्रसन्नता की बात है कि इस आवश्यकता की पूर्ति अब मथुरा और दिल्ली से लगभग एक साथ ही हुई है।

इस ग्रंथ की भूमिका से ज्ञात होता है कि मीतल जी द्वारा पूर्ण परिश्रम किये जाने पर भी इस ग्रंथ की आज तक कोई भी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी है। मुद्रित प्रतियों में सरदार कवि की टीका के साथ प्रकाशित, बनारस लाइट प्रेस की सं० १६२५ वि० की प्रति प्रथम है (सरदार कवि ने इसकी टीका सं० १६०४ में पूर्ण की थी)। दूसरी बार इस ग्रंथ का प्रकाशन नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सं० १६४७ में हुआ। यह प्रति भी सरदार कवि की टीका पर आधारित है। सं० १६४६ वि० में 'साहित्य-लहरी' खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर से छपी, जिसका संग्रह एवं कहीं-कहीं टिप्पणीकरण भारतेन्दु जी ने किया था। पुनः सं० १६६६ में यह महादेव प्रसाद की टीका के साथ लहेरिया सराय से प्रकाशित हुई। इस प्रकार इन चार प्रतियों में दो सरदार कवि के संग्रह पर आधारित हैं और दो भारतेन्दु के क्रम पर। इन सभी प्रतियों में पद-क्रम में भी अन्तर है तथा पाठभेद भी है। मीतल जी ने इन्हीं उपलब्ध प्रतियों के आधार पर अपना पाठ प्रस्तुत किया है। ग्रंथ की प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने 'साहित्य-लहरी' का प्रामाणिक पद उसे ही माना है, 'जिस पद में क्रमानुसार काव्यांग का कथन हो और उसमें कथित काव्यांग का नामोल्लेख भी हो।' ऐसा करने से इस ग्रंथ के प्रायः ११८ पदों में से १०८ पद ही साहित्य-

लहरी के अन्तर्गत रखे गये हैं, इनमें भी १०८वाँ पद रचना-काल विषयक है। शेष १० पद परिशिष्ट में दिये गये हैं। इन दस पदों को भी वे कवि द्वारा रचित मानते हैं परन्तु उन्हें मूल ग्रन्थ का अंग न मानकर स्फुट रूप मे उनकी रचना हुई है, ऐसा उनका अनुमान है। कवि के वंश-परिचय वाला पद अनेक विद्वानों, साथ ही मीतल जी की दृष्टि में भी प्रक्षिप्त है। इसलिए उसे भी अलग से परिशिष्ट में प्रकाशित किया गया है। 'साहित्य-लहरी' के इस रूप में प्रकाशित होने से इस ग्रंथ का रूप अधिक निखर आया है और इसकी अन्त:परीक्षा की दृष्टि भी बहुत कुछ साफ हो गई है, परन्तु प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की अनुपलब्धि में भी ऐसा करने का अधिकार सम्पादक को है या नहीं, यह एक विचारणीय विषय है। यह बात इसलिए कही गई है कि जहाँ मीतल जी क्रमानुसार काव्यांग के नामोल्लेख पर बल देते हैं वहाँ उनके सम्पादित क्रम में से अनेक महत्त्वपूर्ण अलंकार, स्वयं विनिर्गत हो जाते हैं, यही नहीं मीतल जी को १०६ संख्या का पद भी मूल 'साहित्य-लहरी' में से निकाल देना पड़ेगा, उसमे भी 'प्रेयस्' अलंकार का स्पष्ट कथन नहीं हुआ है। फिर सन्देह, भ्रान्ति, प्रतिवस्तूपमा आदि अनेक महत्त्वपूर्ण अलंकारों का इस क्रम में न होना भी ग्रंथ की अपूर्णता की ओर इंगित करता है, इसलिए 'साहित्य-लहरी' के पाठ को पूर्ण प्रामाणिक कहने से पूर्व हमें निश्चित रूप से प्रामाणिक प्राचीन प्रतियों की उपलब्धि की प्रतीक्षा रहेगी।

अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका में मीतल जी ने साहित्य-लहरी के सम्बन्ध में कुछ मौलिक प्रश्न उठाये है और उनका समाधान प्रस्तुत किया है। साहित्य-लहरी सूर-कृत है या नहीं, इस विषय पर उन्होंने अपने सूर-निर्णय के तर्कों को भी रूपान्तर करके दुहराया है परन्तु जो नये प्रश्न उठाये गये हैं उन पर विचार होने के पश्चात् भी वे विचारणीय प्रतीत होते हैं। मीतल जी ने साहित्य-लहरी पर अप्पय्यदीक्षित कृत 'कुवलयानन्द' के प्रभाव की चर्चा की है और बताया है कि वे सूर के कुछ परवर्ती हैं, इसलिए सम्भावना यही है कि साहित्य-लहरी पर कुवलयानन्द का प्रभाव न होकर किन्हीं अज्ञात समस्रोतों का प्रभाव रहा होगा। यह समाधान कुछ अस्थिर प्रतीत होता है। अब तक उपलब्ध तथ्यों के आधार पर तो अल्प, कारकदीपक, मिथ्याध्यवसिति, ललित, अनुज्ञा, रत्नावली, गूढ़ोक्ति, विवृतोक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति, एवं प्रतिषेध जैसे अलंकारों का प्रथम बार उल्लेख कुवलयानन्द में ही हुआ है। इनमें से कई अलंकारों के लिए अप्पय्यदीक्षित रसगंगाधर-कार जगन्नाथ के कोपभाजन भी बने हैं। उधर ये सभी अलंकार बड़े स्थिर रूप में साहित्य-लहरी में भी प्राप्त हैं, ऐसी स्थिति में इस तथ्य को बहुत हल्के हाथों से आगे बढ़ा देना उचित नहीं होगा। जब तक इन अलंकारों के प्रभाव के लिए निश्चित ग्रंथ सामने नहीं आ जाते, तब तक साहित्य-लहरी की प्रामाणिकता के गढ़ में एक कच्ची ईंट लगी ही रहेगी। इसी प्रकार रचना-काल विषयक पद के लिए जो विवरण डा० माताप्रसाद

की गणना के आधार पर प्रस्तुत किया गया है, उससे भी सं० १६०७ से १६६७ तक की कोई भी अक्षय तृतीया उल्लेखानुसार पूर्ण शुद्ध नहीं उतरती। 'शुद्ध के अधिक निकट' वाली बात गणित के क्षेत्र में स्वीकार नहीं की जा सकती, इसलिए यह भी एक विचारणीय विषय बन गया है। यहाँ हम तीन बातों के समाधान को साहित्य लहरी की पूर्ण प्रामाणिकता के लिए अभीष्ट मानते हैं—

१. हस्तलिखित प्रतियों के अभाव का समाधान

२. कुवलयानन्द के प्रभाव का समाधान

३. ज्योतिष की गणनानुसार रचनाकाल की शुद्धि का समाधान।

आशा है, मीतल जी जैसे विद्वान् इन विषयों पर अधिक सामग्री प्रस्तुत करेंगे।

वंश-परिचय के पद की अप्रामाणिकता सम्बन्धी उनके सभी तर्क मूल्यवान् एवं माननीय हैं। रचनाकाल सम्बन्धी पद की"···बिचारि 'सूर' नवीन"—पंक्ति में से उन्होंने 'नवीन विचार' को नवीनता दी है। उनका कथन है—"शृंगार के साथ ही साथ अलंकार, नायिका-भेद और भावभेदादि का सम्मिलित रूप से क्रमबद्ध कथन करने वाली पुस्तक 'साहित्य-लहरी' ही उपलब्ध हुई है। इस प्रकार का कथन भी साधारण छन्दों में न होकर दृष्टिकूट पदों में हुआ है। इस ग्रथ की रचना में कवि का यह 'नवीन विचार' था।

इस भूमिका में दृष्टिकूट की परिभाषा के साथ ही 'साहित्य-लहरी' के कूट पदों से अर्थ निकालने की प्रक्रिया का भी विश्लेषण किया गया है। सम्पादक ने कवि द्वारा शब्द-निर्माण की प्रणालियों का जो वर्गीकरण १. उक्ति वैचित्र्य बोधक, २. क्रमागत, ३. गणना, ४. कथात्मक, ५. मिश्रित आदि वर्ग-उपवर्गों में किया है, वह उनकी व्याख्या की सूक्ष्मता की ओर भी इंगित करता है। इस प्रकार 'साहित्य-लहरी' की यह भूमिका अनेक दृष्टियों से नवीन, अर्थवती और महत्त्वपूर्ण है।

व्याख्याकार के रूप में भी मीतल जी इस ग्रंथ में सफल रहे हैं। प्रत्येक पद के पाठान्तर शब्दार्थ, प्रसंग, भावार्थ—फिर काव्यांग, उनके लक्षण-उदाहरणादि तथा टिप्पणी आदि विस्तार से देकर व्याख्या को सरल, सुबोध और संगत बना दिया गया है। यत्र-तत्र शब्दार्थों में मतभेद होना तो स्वाभाविक ही है।

प्रस्तुत संग्रह के परिशिष्ट (३) में सारावली के दृष्टिकूट-कथन की व्याख्या भी मीतल जी ने लगे हाथों कर दी है—यह तो बिना मूल्य की प्राप्ति ही मानी जायगी।

अपनी सरस लेखन-शैली में मीतल जी ने सूर-साहित्य के इन दो रत्नों को प्रकाशित कर हिन्दी-जगत् का भारी उपकार किया है।

साहित्य-लहरी

डा० शरण बिहारी गोस्वामी

डा० मनमोहन गौतम द्वारा सम्पादित प्रस्तुत संस्करण का प्रकाशन मीतल जी द्वारा सम्पादित 'साहित्य-लहरी' से लगभग डेढ़ माह पूर्व ही सम्पन्न हुआ, अतः दोनों की रचना समकालीन ही मानी जाएगी। यही कारण है कि दोनों विद्वानों के दृष्टि-कोणों एवं व्याख्या प्रक्रिया में भी स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। इससे हिन्दी-जगत् को लाभ ही हुआ है—क्योंकि एक ही ग्रंथ पर दो स्वतन्त्र दृष्टिकोण प्राप्त होना समालोचना के लिए बहुत ही लाभदायक होता है।

'साहित्य-लहरी' के इस संस्करण के आरम्भ में 'सूरदास जी का जीवनवृत्त' और 'साहित्य लहरी' शीर्षक से सम्पादक की एक बत्तीस पृष्ठों की भूमिका है। 'साहित्य-लहरी' के वंश-परिचय वाले पद का विस्तार से खण्डन करते हुए डा० गौतम ने सूरदास जी के जीवन पर प्रकाश डाला है। अब तक इस सम्बन्ध में जो कुछ अन्यत्र लिखा जा चुका है, उसी का सारांश यहाँ प्रस्तुत कर दिया गया है। जीवनी के सम्बन्ध में कोई नया तथ्य डा० गौतम ने प्रस्तुत नहीं किया है।

'साहित्य-लहरी' के रचनाकाल पर विचार करते हुए लेखक ने सं० १६०७ को 'अधिक तर्कसंगत और अपेक्षाकृत निर्भ्रान्त' माना है। ज्योतिष के अनुसार गणना करने पर उक्त संवत् में अक्षय तृतीया को शनिवार और रोहिणी नक्षत्र था, जबकि मूलरचना में और लेखक की टीका के अनुसार भी उक्त दिन रविवार और नक्षत्र कृत्तिका निर्दिष्ट है। भूमिका में डा० गौतम ने लिखा है—"विशेष शोध की प्रवृत्ति के कारण विद्वानों को ऊहापोह में पड़ना पड़ा और शंका-समाधान के लिए ज्योतिष का सहारा लेना पड़ा···अन्यथा भ्रम का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।" हमारी

सम्पादक और व्याख्याकार : डा० मनमोहन गौतम एम. ए., पी. एच-डी.
प्रकाशक : रीगल बुक डिपो, दिल्ली
मूल्य : ५ रुपये

समझ में नहीं आता कि ज्योतिष की गणना से आँख मूँदकर प्राचीन तिथियों के परीक्षण का कोई और मार्ग भी है क्या ? हम समझते हैं कि ज्योतिष के प्रमाण को संतुष्ट करने के पश्चात् ही किसी तिथि को निर्भ्रान्ति कहना अपेक्षित होगा और ऐसी स्थिति में विशेष रूप से जब लेखक सूरदास को भी ज्योतिषी मानकर ज्योतिष को उनकी साहित्य-लहरी के निर्माण में सहायक मानता है।

'साहित्य-लहरी की प्रामाणिकता' में डा० व्रजेश्वर वर्मा के तर्कों का उत्तर उन्होंने प्रायः सूर-निर्णय को समीचीन मानते हुए ही दिया है। 'साहित्य-लहरी' में वे कवि की प्रेरणा साहित्यिक न मान कर भक्ति ही मानते हैं। 'साहित्य-लहरी' की आत्मा सूरसागर की आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है, ऐसा उनका मत है। इस ग्रन्थ की दृष्टिकूट शैली को भी वे सूर की ही शैली स्वीकार करते हैं। इस प्रकार अन्त में उनका निष्कर्ष यही निकलता है कि 'इस ग्रन्थ के सूर-रचित होने में किसी प्रकार की शंका न करनी चाहिए।'

'साहित्य लहरी' की प्रतियाँ शीर्षक में डा० गौतम ने लिखा है—"साहित्य-लहरी की प्राचीनतम उपलब्ध मुद्रित प्रति नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से १९०४ में सरदार कवि की टीका के साथ प्रकाशित हुई थी।" वस्तुतः १९०४ वि० में सरदार ने यह टीका लिखी थी। इसका प्रकाशन तो सं० १९४७ में हुआ था और यह प्राचीनतम भी नहीं है क्योंकि यही ग्रन्थ सं० १९२५ में बनारस से प्रकाशित हो चुका था।

इस भूमिका में डा० गौतम ने विभिन्न प्रतियों के पदों के क्रम का जो तुलनात्मक विवेचन किया है, वह महत्त्वपूर्ण है।

'प्रस्तुत संग्रह' का पद-क्रम विद्वान् लेखक के वक्तव्यानुसार "पद सं० १०८ तक सरदार के क्रम से है। १०९ से ११२ तक प्रेयस्, ऊर्जस्वि समाहित और संकर अलंकार है। पद सं० ११३ रचनाकाल सम्बन्धी, ११४ राधाकृष्ण की स्तुति वाला पद है। यही पद ग्रन्थ का अन्तिम पद है। जीवनी वाला पद तो प्रक्षिप्त है ही।" प्रक्षिप्त होने पर भी जीवनी विषयक पद को मूल ग्रन्थ में ही प्रकाशित किया गया है। मीतल जी की भाँति उसे परिशिष्ट में नहीं फेंका गया। भारतेन्दु की प्रति के बचे हुए पाँच पद परिशिष्ट १ में संयोजित हैं।

डा० गौतम की 'साहित्य लहरी' की व्याख्या निश्चित रूप से परिश्रमसाध्य और महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने शब्दों के पाठ अधिकतर भारतेन्दु जी की प्रति के अनुकूल ग्रहण किए है, जबकि मीतल जी सरदार कवि पर अधिक अवलम्बित रहे हैं। इस

संग्रह में भी पाठान्तर दिये गये हैं, किन्तु स्वल्प। पदों का मूल पाठ, शब्दार्थ, अर्थ—फिर विषय, जैसे नायिका या भाव और तत्पश्चात् अलंकार दिये गये हैं। काव्याङ्गों के लक्षण-उदाहरण विस्तार से दिये गये हैं। 'साहित्य-लहरी' के अनेक पदों के समान विषय पद सूरसागर से ढूँढ़कर रखने में भी गौतम जी ने परिश्रम किया है। अन्य कवियों की रचनाएँ उद्धृत करने में भी लेखक ने संकोच नहीं किया है।

हाँ, इस पुस्तक में अशुद्धियाँ अवश्य ही अधिक हैं, जिसके लिए प्रकाशक उत्तरदायी हैं।

कुल मिलाकर इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि 'साहित्य-लहरी' के ये दोनों संस्करण सूर-साहित्य के अध्ययन को अग्रसरित करने में अवश्य ही सहायक होंगे।

———

नानक-वाणी

डा० हरिभजनसिंह

नानक वाणी में गुरु नानक देव की वाणी संकलित, लिप्यन्तरित, अनूदित एवं विवेचित है। इस ग्रन्थ की समीक्षा संकलन, लिप्यन्तरण, अनुवाद एवं विवेचना की दृष्टि से करनी ही उपयुक्त होगी।

इस ग्रन्थ में गुरु नानक की समस्त वाणी संकलित करने की योजना थी। यह सुनियोजित कार्य पूर्णरूपेण सम्पन्न नहीं हो सका। इस संकलन से पूर्व हिन्दी विद्वान् अपने इतिहास ग्रन्थों में गुरु नानक देव की वाणी के अत्यन्त भ्रामक उद्धरण प्रस्तुत करते रहे हैं। गुरु ग्रन्थ में छः गुरुओं—गुरु नानक, गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेग़बहादुर—की वाणी संकलित है। सभी गुरुओं ने अपनी वाणी में नानक उपनाम का ही प्रयोग किया है। आदिग्रन्थ की संपादन-प्रविधि से अपरिचित कोई भी अध्येता किसी भी गुरु की वाणी को गुरु नानकदेव की वाणी समझ सकता है। नानक-वाणी के संकलनकर्त्ता ने पूर्ववर्ती हिन्दी कवियों की इस त्रुटि की ओर संकेत किया है। उन्होंने आदि-ग्रन्थ के सम्पादक द्वारा प्रयुक्त 'महला' शब्द के महत्त्वपूर्ण प्रयोग की भी व्याख्या की है। उनके कथनानुसार इस भ्रम के निवारणार्थ वाणी के प्रारम्भ में 'महला १', 'महला २', 'महला ३', 'महला ४', 'महला ५' तथा 'महला ९' दिया गया है। 'महला १' का अभिप्राय सिक्खों के आदि गुरु नानक से है, इस प्रकार 'महला २' का तात्पर्य गुरु अंगद से, 'महला ३' का गुरु अमरदास से, 'महला ४' का गुरु रामदास से, 'महला ५' का गुरु अर्जुन से तथा 'महला ९' का अभिप्राय गुरु तेग़बहादुर से है।'

डॉ० मिश्र का उपर्युक्त कथन शत-प्रतिशत सत्य है। सम्पादन के इस नियम से परिचित होते हुए भी डॉ० मिश्र के संकलन में बहुत-सी त्रुटियाँ रह गई हैं। 'नानक-वाणी' में न केवल नानकेतर गुरुओं की वाणी गुरु नानक-देव के नाम से सम्बद्ध हो गई है, बल्कि स्वयं गुरु नानक-देव जी की बहुत-सी वाणी इस ग्रन्थ में

सम्पादक : डा० जयगोपाल मिश्र
प्रकाशक : मित्र प्रकाशन (प्रा०) लिमिटिड, इलाहाबाद
मूल्य : ३० रुपया

संकलित होने से रह गई है। इस प्रकार डॉ० मिश्र द्वारा पूर्ववर्ती विद्वानों की त्रुटि का निराकरण नहीं हो सका वरन् इसमें एक और त्रुटि भी जोड़ दी गई है।

डॉ० मिश्र आदि-ग्रन्थ की संपादन-कला से तो परिचित हैं किन्तु पंजाब की रचना-शैलियों से पूर्ण-रूपेण परिचित प्रतीत नहीं होते। उनके दोषपूर्ण संकलन का मुख्य कारण यह अपरिचय ही है। पंजाब की एक प्रसिद्ध रचना-शैली है 'वार', वारों की रचना पूर्व-नानककाल से ही चली आ रही थी। वार की रचना पउड़ी छन्द अथवा निशानी छन्द में होती है। इसके प्रत्येक पद का नाम 'पउड़ी' है। गुरुनानक से पूर्व ये वारें, जन-समूह में गाकर सुनाई जाती थीं। गायक (ढाडी) प्रत्येक पउड़ी को सुनाने के बाद इसकी व्याख्या भी कर देते थे। व्याख्या करते समय वे किसी और कवि की रचना (श्लोक, दोहे) प्रमाण रूप में भी सुना दिया करते थे। सम्पूर्ण वार की 'पउड़ियां' तो एक ही कवि की होती थीं, पर उसमें सुनाये गए श्लोक अथवा दोहे उस कवि के अथवा किसी अन्य कवि या कवियों के भी हो सकते थे। वार-शैली के पूर्ण ज्ञाता होने के कारण आदि-ग्रन्थ के संपादक ने सभी गुरुओं की वारों में दूसरे गुरुओं के श्लोक सम्मिलित कर दिये हैं और 'महला' शब्द द्वारा इसका संकेत भी दे दिया है। वार (अथवा सारी पउड़ियाँ) किस गुरु की लिखी हुई हैं, इसका संकेत भी 'महला' शब्द द्वारा वार के आरम्भ में दे दिया गया है। संक्षेप में, वार का प्रारम्भिक महला-संकेत वार के रचयिता के लिए है और वार के आन्तरिक महला-संकेत प्रत्येक श्लोक के रचयिता के लिए है। आदि-ग्रन्थ की किसी वार में किसी 'पउड़ी' के लिए भिन्न संकेत नहीं दिया गया, न ऐसे संकेत की कोई आवश्यकता थी। वार-शैली से भली प्रकार परिचित न होने के कारण डॉ० मिश्र ने वार के प्रारम्भिक संकेत की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उनकी दृष्टि श्लोक के महला-संकेत पर रही है और श्लोक की परवर्ती पउड़ी को भी पूर्ववर्ती श्लोक के रचयिता से सम्बद्ध कर दिया है। परिणामतः गुरु नानक रचित वारों में उन्हीं की पउड़ियों को किसी और गुरु की रचना समझ कर बहिष्कृत कर दिया गया और अन्य गुरुओं की वारों की पउड़ियाँ गुरु नानक देव द्वारा लिखित समझ कर इस संकलन में सम्मिलित कर ली गई हैं। यहाँ कुछ उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा :

सिरी राग की वार—

इस वार का प्रारम्भिक-संकेत 'महला ४' है (आदिग्रन्थ पृ० ८३), डॉ० मिश्र ने इस संकेत को 'महला १' में बदल दिया है (नानक वाणी पृ० ८३)। इस वार की पउड़ी २, पउड़ी ७, पउड़ी २०, चतुर्थ गुरु द्वारा रचित हैं, नानक वाणी में उन्हें प्रथम गुरु द्वारा रचित समझ कर संकलित कर लिया गया है।

इस वार की सभी पउड़ियाँ गुरु रामदास (महला ४) द्वारा लिखित हैं किन्तु इनका कोई भी श्लोक महला ४ द्वारा लिखित नहीं। डॉ० मिश्र पउड़ी को श्लोक से सम्बन्धित करते हैं। उनके अनुसार इस वार में महला ४ की कोई एक पंक्ति भी नहीं आ सकती। फिर आदि ग्रन्थ के सम्पादक ने महला ४ का संकेत ही क्यों दिया ?

साझ की वार—

यह वार गुरु नानक द्वारा रचित है, इस वार की कुल २७ पउड़ियाँ हैं। नानक वाणी में केवल १५ पउड़ियाँ संकलित हैं। १२ पउड़ियाँ (२, ३, ५, ८, १६, १७, १८, १९, २२, २३, २५, २६) अन्य गुरुओं द्वारा रचित समझ कर छोड़ दी गई।

आसा की वार—

यह वार गुरु नानक रचित है। इस वार की कुल २४ पउड़ियाँ हैं। नानक वाणी में १८ पउड़ियाँ संकलित हैं। ६ पउड़ियाँ (२, ७, २१, २२, २३, २४) अन्य गुरु द्वारा रचित समझ कर छोड़ दी गई हैं।

बिहागड़े की वार—

इस वार के रचयिता गुरु रामदास (महला ४) हैं। इसका प्रारम्भिक संकेत महला ४ है (आदि-ग्रन्थ पृ० ५४९), डॉ० मिश्र ने इसे बदल कर महला १ कर दिया है (नानक वाणी पृ० ३६६), इसकी एक पउड़ी (२०) जो गुरु रामदास-रचित है, गुरु नानक-रचित समझ कर संकलित कर ली गई है।

वडहंस की वार—

इस वार के रचयिता गुरु रामदास हैं। डॉ० मिश्र ने इस वार का महला-संकेत भी बदल दिया है। डॉ० मिश्र ने आदि-ग्रन्थ के महला-संकेत अकारण बदल दिये हैं। आदि-ग्रन्थ के विद्वान् इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता को अविकल बनाये रखने के लिए इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन करने के पक्ष में नहीं हैं। डॉ० मिश्र द्वारा इस प्रकार के परिवर्तन न तो उनकी श्रद्धा के द्योतक हैं न उनकी संतुलित अनुसंधान-दृष्टि के। इस वार की दो पउड़ियाँ (१०, २०) जो गुरु रामदास रचित हैं, नानक वाणी में गुरु नानक के नाम से सम्बन्धित कर दी गई हैं।

सूही की वार—

इस वार का भी प्रारम्भिक महला-संकेत अकारण बदल दिया गया है। इस प्रकार तृतीय गुरु द्वारा लिखी समूची वार गुरु नानक के नाम से सम्बद्ध हो गई है। इसकी ९ पउड़ियाँ (४, १०, ११, १२, १३, १४ १५, १६, १७) जो गुरु अमरदास रचित हैं गुरु नानक से सम्बन्धित कर दी गई हैं।

वार बिलावल—

इस वार का महला-संकेत भी बदल दिया गया है। गुरु रामदास द्वारा रचित इस वार की एक पउड़ी (११) गुरु नानक के नाम से सम्बन्धित कर दी गई है।

रामकली की वार—

इस वार की गुरु अमरदास रचित ७ पउड़ियाँ (११, १२, १३, १७, १८, १६, २१) गुरु नानक के नाम से सम्बन्धित कर दी गई हैं।

मारू वार—

इस वार की गुरु अमरदास रचित ७ पउड़ियाँ (५, ६, १२, १३, १४, १५, २०) नानक वाणी में संकलित कर दी गई हैं।

सारंग की वार—

यह वार गुरु रामदास द्वारा रचित है। इसकी १७ पउड़ियाँ (१, २, ३, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १९, २२) गुरु नानक द्वारा लिखित समझ कर नानक-वाणी में संग्रहीत की गई हैं।

मलार की वार—

यह रचना गुरु नानक देव की है। इसमें सभी पउड़ियाँ गुरु नानक लिखित हैं। एक 'नई' पउड़ी पंचम गुरु ने अपनी ओर से जोड़ी है और उसका स्पष्ट निर्देश दिया है (आदि ग्रन्थ, पृ० १२९१)। डॉ० मिश्र ने शेष २७ पउड़ियों में केवल १० को ही स्वीकार किया है और १७ को किसी अन्य गुरु द्वारा लिखित समझ कर छोड़ दिया है। छूटी हुई पउड़ियों के अंक हैं—३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, २६)।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि 'नानकवाणी'

ग्रन्थ न तो नानक वाणी को ही समग्र रूप में प्रस्तुत कर सका है और न इसमें संकलित वाणी का कर्तृत्व प्रामाणिक है। परिमाण और गुण दोनों दृष्टियों से यह ग्रन्थ सदोष है। इस ग्रन्थ में न तो आदिग्रन्थ की पृष्ठ-संख्या का उल्लेख है और न ही पत्रों की अंक-संख्या आदि-ग्रंथ के अनुकूल है। परिणामतः इसे किसी आगामी अनुसन्धान के लिए आधार-ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करना संभव न हो सकेगा।

'नानकवाणी' में संकलित वाणी शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर के देवनागरी लिपि में प्रकाशित आदिग्रन्थ की यथावत् प्रतिलिपि है। स्वयं शिरोमणि कमेटी का यह काम नागरी लिपि के किसी विशेषज्ञ द्वारा नहीं किया गया। परिणामतः इसमें गुरुमुखी अक्षरों के स्थान पर नागरी अक्षर रख दिये गये हैं।

लिप्यन्तरित करते समय ध्यान अक्षरों एवं मात्राओं के लिखित स्वरूप पर रहा है, शब्दों के उच्चारण पर नहीं। उदाहरण के लिये गुरुमुखी लिपि में लिखित 'ਮਾਇਆ' एवं 'ਰਹਿਆ' शब्दों की उच्चारण-विषयक रक्षा 'माया' एवं 'रह्या' शब्दों द्वारा होगी। नागरी आदिग्रन्थ में लिप्यन्तरित 'माइआ', 'रहिआ' शब्दों का शुद्ध उच्चारण भी मूल उच्चारण को विकृत कर देगा। डॉ० मिश्र ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। परिणामतः नागरी लिपि में प्रकाशित 'नानकवाणी' की लेखन-शैली गुरुमुखी लिपि की ही रही है। मेरा नम्र सुझाव है कि डॉ० मिश्र और शिरोमणि प्रबन्धक कमेटी द्वारा प्रकाशित गुरुवाणी में संशोधन की आवश्यकता है। यदि वे पंजाबी और हिन्दी के विद्वानों की सहायता से इस विषय में कोई सर्वमान्य निर्णय कर सकें तो हिन्दी-पाठकों में गुरुवाणी का प्रसार अधिक सुचारु ढंग से हो सकेगा।

गुरु नानक पंजाबी भाषा के लगभग प्रथम कवि हैं। पूर्ववर्ती कवियों की रचनाएँ आज उपलब्ध नहीं, (कतिपय पंजाबी विद्वानों के अनुसार शेख फ़रीद इस कथन के अपवाद हैं)। उनकी वाणी भी अत्यन्त सघन शैली में लिखी गई है। अतः पूर्ववर्ती अथवा समकालीन काव्य का अभाव होने के कारण उनकी वाणी तथा तत्कालीन भाषा-प्रयोगों के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों में बहुत मतभेद पाया जाता है। उदाहरणार्थ बीजमन्त्र के प्रथम शब्द 'सतिनामु' की व्याख्या इस प्रकार की गई है :

१. उसका नाम है 'सति' अथवा सदा कायम रहने वाला —तेजासिंह
२. जिसका नाम है अस्तित्व वाला —साहिब सिंह
३. सर्वव्यापक—All pervading. —डॉ० गोपालसिंह दर्दी
४. तीन काल एकरस रहने वाला —कान्हसिंह
५. वह सत्य नाम वाला है —डॉ० मिश्र

डॉ० मिश्र का अनुवाद कई स्थानों पर इस वैभिन्न्य में ईषत् अभिवर्धन करता है। यदि द्वितीय संस्करण में, पाद-टिप्पणी के रूप में अन्य विद्वानों की व्याख्या भी उद्धृत की जा सके तो पाठक नानकवाणी को सम्यक् रूपेण समझ सकेंगे।

'नानकवाणी' के आरम्भ में ७६ पृष्ठों की भूमिका दी गई है जिसमें आदिग्रन्थ क्रम, राजनीतिक स्थिति, सामाजिक स्थिति, धार्मिक स्थिति, मध्यकालीन धर्म-सुधारकों में गुरु नानक देव का स्थान, व्यावहारिक पक्ष, सैद्धांतिक पक्ष, काव्य-पक्ष, प्रकृति-चित्रण, भाषा, सृष्टिक्रम, अहंकार, माया, जीवात्मा, कर्म मार्ग, योग मार्ग, ज्ञान-मार्ग, सद्गुरु, नाम आदि शीर्षकों के नीचे नानक वाणी के विभिन्न पक्षों का सुगम परिचय दिया गया है। मिश्रजी की दृष्टि सर्वत्र श्रद्धामूलक एवं परिचयात्मक रही है, विषयमूलक विवेचना इस भूमिका का अभिप्रेत नहीं। धर्म-परायण जिज्ञासु इस भूमिका से पर्याप्त लाभान्वित हो सकेंगे। किन्तु गुरु नानक के काव्य-सौष्ठव, उनकी प्रतीकात्मक रचना-शैली, गत्यात्मक एवं दीर्घाकार बिम्ब-विधान, उनकी संश्लिष्ट सैद्धान्तिक दृष्टि, उनकी भाषा के भाषा-शास्त्रीय एवं सौंदर्य-शास्त्रीय पक्षों का विवेचन होना अभी शेष है। आशा है हिन्दी के तत्त्व-प्रेमी अनुसन्धाता शीघ्र ही इस ओर ध्यान देंगे।

श्री हनुमच्छास्त्री

'रंगनाथ रामायण' तेलुगु साहित्य का यशोलब्ध पुराण-काव्य है। इस में पौराणिक-काव्य-शैली में प्राप्तव्य कथा-प्रवाह के साथ-साथ प्रबंधोचित तथा प्रसंगोचित वर्णन एवं चित्रण की निपुणता भी पूर्ण मात्रा में उपलब्ध है। इस के प्रणेता के सम्बन्ध में विद्वत्समाज में भारी मतभेद है। आज तक यह तय नहीं हो पाया कि चक्रपाणि रंगनाथ ने अथवा वेलिचेल रंगनाथ ने इसका निर्माण किया था या गोन (कोन ?) वुद्ध भूपति अथवा बुद्धा रेड्डी इस के प्रणेता थे ?

जनश्रुति तथा रीति-ग्रन्थों उदाहृत प्रसंगों के अनुसार इस के कवि कोई रंगनाथ थे जिनके बारे में न काव्य में कोई ज़िक्र है, न अन्य साहित्यिक आकरों से कोई प्रकाश पड़ता है। फिर भी पंडितों और पामरों में यह काव्य 'रंगनाथ रामायण' नाम से ही शतियों से प्रख्यात है, इस में कोई संदेह नहीं। ग्रन्थ के अंतःसाक्ष्य से तो गोन (कोन ?) बुद्धराजु के इसके काव्य-कर्ता होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। फिर भी अंतःसाक्ष्य के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि बुद्ध भूपति क्षत्रिय थे किंवा रेड्डी ? न तत्कालीन एतत्सम्बन्धी शिलालेखों से ही हमारा ज्ञान-संवर्धन होता है।[1] यही नहीं रंगनाथ, गोन बुद्धराजु अथवा बुद्धरेड्डी का जीवन-काल भी शोध-पंडितों के समक्ष एक अनिश्चित एवं विवादपूर्ण समस्या है। किसी विद्वान् के अनुसार रंगनाथ-रामायण का प्रणयन महाकवि तिक्कन्न (तेरहवीं शती ई०) के पूर्व हुआ था तो किसी अन्य विद्वान् के अनुसार तिक्कन्न के परवर्ती काल में यह सम्पन्न हुआ था।[2] 'रंगनाथ रामायण' की रचना एक-कर्तृका भी नहीं

मूल लेखक : गोन (कोन ?) बुद्ध राजु
अनुवादक : ए० सी० कामाक्षि राव
सम्पादक : अवधनन्दन
प्रकाशक : बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना
मूल्य : ६·५०

१. रंगनाथ रामायणम् : रायलु संस्करण पृ० ८-१२
२. रंगनाथ रामायणम् : रायलु संस्करण पृ० १३

थी। इसका पूर्व भाग अर्थात् बालकांड से लेकर युद्धकांड की समाप्ति तक तो काव्य के अन्त:साक्ष्य के अनुसार बुद्धराजु ने लिखा तथा उत्तर भाग अथवा उत्तर कांड की रचना बुद्धराजु के पुत्र विट्ठल भूपति ने की थी। परम्परा के अनुसार दोनों भागों का सम्मिलित नाम ही 'रंगनाथ रामायण' है। वास्तव में इस काव्य की रचना पितृ-वाक्य-प्रतिपालन के रूप में सम्पन्न हुई थी। बुद्धराजु ने पूर्व भाग की रचना अपने पितृदेव विट्ठल की इच्छानुसार की थी तथा उत्तर भाग की रचना इसी प्रकार बुद्धभूपति के आदेशानुसार उनके पुत्रों ने भी सम्पन्न की थी। जब हमें यह स्मरण हो आता है कि रामायण की कथावस्तु का निर्वाह अधिकांश में इसी पितृ-वाक्य-प्रतिपालन रूपी धर्म पर अवलंबित है, तब हम कथा-नायक तथा कृति प्रणेताओं में समान्तर में प्राप्त इस मनोधर्म की आकस्मिक संगति पर आह्लादित हुए बिना नहीं रह सकते।

हमारे सामने 'रंगनाथ रामायण' के पूर्व भाग का ही अनुवाद प्रस्तुत है — भाषान्तर-कर्ता हैं मद्रास क्रिश्चियन कालिज के हिन्दी प्राध्यापक श्री कामाक्षिराव। कामाक्षिराव जी समग्र दक्षिण भारत में एक सफल हिन्दी अध्यापक तथा कर्मठ-हिन्दी प्रचारक के रूप में प्रसिद्ध हैं। हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार क्षेत्र में इनकी स्तुत्य सेवाएँ हैं। साथ ही तेलुगु भाषा-भाषी होने के कारण तेलुगु भाषा तथा साहित्य में इनकी प्रशंसनीय रुचि तथा गति है। इनका इस काव्य का अनुवाद सरस, हृदयग्राही तथा मूलाविरोधी बन पड़ा है। अनुवाद के आरम्भ में तेलुगु भाषा तथा साहित्य पर इन्होंने यत्किंचिद् प्रकाश भी डाला है। इस 'प्रस्तावना' से हिन्दी भाषा-भाषी तेलुगु साहित्य के इतिहास में रंगनाथ रामायण के शोभामय स्थान से अवगत हो सकते हैं। परन्तु इस प्रस्तावना में कुछ दोष घर कर गये हैं जिनसे पाठकों के मन में कतिपय भ्रमों के उत्पन्न होने की सम्भावना है :

१. श्री राव जी की राय में 'ठेठ तेलुगु को जानु तेनगु कहते हैं'।[1] राव जी की यह धारणा ग़लत है क्योंकि ठेठ तेलुगु का अर्थ 'अच्च तेनुगु' है 'जानु तेनुगु' कदापि नहीं। 'जानु तेनुगु' शब्द के प्रयोग तथा उसके अर्थ के विकास और परिवर्तन का एक सुदीर्घ एवं रोचक इतिहास है, जिसका पूरा विवरण देना इस छोटे से समवेक्षण में सम्भव नहीं है। परन्तु इतना कह देना पर्य्याप्त है कि राव जी का यह निर्णय कि 'इसलिए ठेठ तेलुगु के प्राचीन काव्यों को समझना बहुत से तेलुगु भाषा-भाषियों के लिए भी आज कठिन सा हो गया है' अच्च तेनुगु में लिखे हुए काव्यों के विषय में सही निकलता है, परन्तु 'जानु तेनुगु' में लिखे हुए काव्यों के बारे में अनुवादक का निर्णय प्रमाणित नहीं हो सकता है। यदि रावजी का यह निर्णय ठीक है तो प्रसिद्ध आन्ध्र कवि पालकुरिकि सोमनाथ के प्रसिद्ध काव्य दुरूह होने चाहिएँ जो वास्तविक स्थिति के विपरीत हैं। 'जानु तेनुगु' वास्तव में वही संस्कृत

१. अनूदित रं० रामायण की प्रस्तावना, पृ० ६

तथा ठेठ शब्दों की मिश्रित शैली है जिसकी ओर अनुवादक ने निम्न प्रकार संकेत किया है :

"इन दोनों शैलियों का सामंजस्य भाषा के जिस रूप में पाया जाय, जिसमें तेलुगु का मुहावरा भी और संस्कृत का मधुर एवं गंभीर शब्द समूह भी हो, वही तेलुगु अधिक लोकप्रिय है और वही सुन्दर समझी जाती है।"[1] वास्तव में ये वाक्य 'जानु तेलुगु' की परिभाषा बता रहे हैं हालाँकि ये दूसरे प्रसंग के हैं।

२. अनुवादक का एक दूसरा निर्णय भी इसी प्रकार अत्यन्त भ्रामक रहा है। तेलुगु प्रबन्ध के मौलिक तत्त्व पर प्रकाश डालते हुए ये लिखते हैं "···तेलुगु जन जीवन को प्रतिम्बिबित करते हुए जिस कला-कृति का निर्माण कवि करता है उसे प्रबन्ध काव्य कहते हैं।" उदाहरण के रूप में 'मनुचरित्र', 'पारिजातापहरण' आदि का स्मरण करते हैं। तेलुगु साहित्य के ज्ञाता यह भली भाँति जानते हैं कि इन काव्यों में तेलुगु जन-जीवन छू तक नहीं गया। हाँ, ये इस साहित्य के उज्ज्वल प्रबन्ध अवश्य हैं। अतः तेलुगु प्रबन्ध रूप में हम उस काव्य को मान सकते हैं जिसमें कथानिर्वाह के साथ-साथ रीति-ग्रन्थों में वर्णित अष्टादश वर्णन तथा नायक-नायिकाओं के विविध हाव-भावों का अलंकार-पूर्ण वर्णन मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसे काव्यों में जिनमें कभी वर्णन के अतिरंजन तथा अलंकारों के अतिशय आयोजन के कारण कथा का प्रवाह भी कुंठित हो जाता है, जन-जीवन की कल्पना करना तो दूर की कौड़ी लाना है।

३. धूर्जटि कवि का 'काल हस्तीश्वर शतक' कोई काव्य अथवा प्रबन्ध नहीं है। वह मात्र 'शतक' है। हाँ, धूर्जटि-प्रणीत 'श्री कालहस्तीश्वर माहात्म्यमु' नाम की एक अन्य कृति है, जो अवश्य एक प्रबन्ध काव्य है। सम्भव है, अनुवादक ने भूल से एक की जगह दूसरे का स्मरण किया हो।

४. 'रंगनाथ रामायण' में प्राप्त 'अवाल्मीक' प्रसंगों की ओर अनुवादक ने संकेत किया है (दे० पृ० २३)। परन्तु इन प्रसंगों में कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिनको तेलुगु के यशस्वी संपादक श्री वेटुरि प्रभाकर शास्त्री प्रक्षिप्त कथानक मानते थे (दे०-रंगनाथ रामायण, आन्ध्र विश्वविद्यालय का संस्करण)। ऐसी दशा में, अनुवादक को अपनी प्रस्तावना में यह स्पष्ट कर देना चाहिए था कि अपने अनुवाद कार्य के लिए उन्होंने किस संस्करण को अपनाया। उपर्युक्त प्रामाणिक संस्करण में सुलोचना-प्रसंग तक प्रक्षिप्त माना गया है।

---

१. प्रस्तावना, पृ० ७

५. अनुवादक ने रावण के सम्बन्ध में द्विमुखी दृष्टिपात किया है—१. आर्य दृष्टि, २. द्राविड दृष्टि। वास्तव में इन द्विविध दृष्टियों के मौलिक उद्भावक स्वर्गीय कट्टमंचि रामलिंगा रेड्डी थे (आन्ध्र विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति)। वहीं से प्रेरणा लेकर श्री राव जी ने भी इन द्विविध दृष्टियों की चर्चा चलाई है (दे० पृ० १३, १४)। असावधानी के कारण इनकी लेखनी से कुछ ऐसे वाक्य निकले हैं जो सत्य की अवहेलना कर रहे हैं। अनुवादक के अनुसार द्राविड दृष्टि से ओतप्रोत रंगनाथ रामायण में "रावण भूत-प्रेतों का वंशज एवं भूत-प्रेतों का राजा नहीं था; किन्तु एक विलक्षण परिवार में उत्पन्न हुआ विशिष्ट व्यक्ति था।" (दे०-पृ० १३)। 'अविचारित रमणीयमिदं वाक्यम्!' उत्सुक पाठक यह अवश्य जानना चाहते हैं कि 'आर्य-रामायणों' में रावण का वर्णन 'भूत-प्रेतों का वंशज' एवं 'भूत-प्रेतों का राजा' के रूप में कहाँ हुआ है! वास्तव में 'भूत-प्रेतों का राजा' भूतनाथ भोला शंकर है, रावण कदापि नहीं। आर्य-कवियों को यह बात भली भाँति मालूम है। अतः इन्होंने कहीं रावण का वर्णन भूतनाथ अथवा भूत वंशज के रूप में नहीं किया है। अनुवादक की यह मौलिक सूझ पाठक को आश्चर्य-चकित कर देती है!

६. आर्य तथा द्राविड दृष्टियों का तुलनात्मक अध्ययन अनुवादक के शब्दों में और कर लीजिए "द्राविड दृष्टि में रावण भी एक वीर, विद्वान पराक्रमी मनुष्य ही था, किन्तु उसके गुणों पर दुर्गुणों ने विजय प्राप्त कर ली थी" (दे० पृ० १४)। रावण आर्य-कवियों की दृष्टि में उपर्युक्त गुणों से कब वंचित रह गया? रावण के विषय में महावीर जी का दिया हुआ निम्नांकित प्रमाणपत्र श्रीमद्वाल्मीकि रामायण में से पढ़िए :—

भ्राजमानं ततो दृष्ट्वा हनुमान् राक्षसेश्वरम्
मनसा चिन्तयामास तेजसा तस्य मोहितः ॥
अहो रूपमहो धैर्यमहो सत्त्वमहो द्युतिः
अहो राक्षसराजस्य सर्व-लक्षण-युक्तता ॥
यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः
स्यादयं सुरलोकस्य स शक्रस्यापि रक्षिता ॥

इससे बढ़कर और क्या प्रमाणपत्र रावण की वीरता, तेज, सत्त्व, रूप, धैर्य आदि गुणों के वर्णन में चाहिए? **'यद्यधर्मो न बलवान् स्यात्'** इसी चिन्ता से स्वयं हनुमान जी भी आकुलित थे। अतः मेरा नम्र निवेदन यह है कि 'रंगनाथ रामायण' के कवि के समक्ष द्राविड दृष्टिकोण नामक कोई विशेष दृष्टिकोण नहीं है। कारण स्पष्ट है। राम कथा किसी भी भारतीय भाषा में क्यों न लिखी जाय, आर्षकथा है। आर्ष

कथा-निर्वाह के लिए आर्ष दृष्टिकोण ही समीचीन है। वास्तव में, ऋषि-सम्मत दृष्टिकोण से ही 'रंगनाथ रामायण' के प्रणेता भी मंडित थे। मूलतः बात इस प्रकार है। तेलुगु साहित्य में 'रंगनाथ रामायण' से पहले ही प्रबन्ध-वर्णनों के दर्शन होने लगे हैं। भारतीय रचयिताओं के समक्ष पात्रोन्मीलन (Delineation of character) तथा पात्र-पोषण की अपेक्षा रसोन्मीलन तथा रसपोषण का ध्येय अधिक रहा है। अतः इस ध्येय की पूर्ति के लिए रसोचित कल्पनाओं के सहारे कथा में प्रत्येक कवि परिवर्तन लाने लगा है। इसी के फलस्वरूप 'वाल्मीकि रामायण' में अप्राप्त कथा-प्रसंगों का सन्निवेश परवर्ती रामायणों में होने लगा है। इन्हीं प्रसंगों को 'अवाल्मीक-प्रसंग' कहते हैं। "रंगनाथ रामायण' के प्रणेता भी इस परम्परा के अपवाद नहीं थे।

तथाकथित 'द्राविड दृष्टि-पूर्ण'[1] एक प्रधान प्रसंग को लीजिए—'सुलोचना वृतान्त'—रावण के पुत्र मेघनाद की पत्नी का नाम सुलोचना है जो अपने पति-प्रेम के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थी। यदि यह एकमात्र द्राविड-दृष्टि की कथा हो तो इसको बंगला आदि अन्य भाषाएँ क्यों अपनातीं ? इस कथा का उद्गम स्थान कौन सा है कोई भी निर्विवाद रूप से नहीं कह सकता। संस्कृत की 'आनन्द रामायण' में भी यह उपलब्ध है। यह कथा भी सर्वत्र एक रूप में नहीं है। स्वयं 'रंगनाथ रामायण' की प्रतियों में इस प्रसंग के भिन्न रूप पाये जाते हैं। लोक-मानस के विचित्र ऊहापोहों से भी कई प्रसंगों की उद्भावना सर्वप्रथम कहाँ कब हुई है कोई नहीं कह सकता। अतः 'द्राविड दृष्टिकोण' एक उज्ज्वल उदाहरण के रूप में इस को पेश करना समीचीन नहीं है। बंगला के 'मेघनाद वध' में भी यह प्रसंग उपलब्ध है। मेरे विचार मे मधुसूदन दत्त ने अपने काव्य 'मेघनाद वध' में सुलोचना को नहीं—जैसे अनुवादक मानते हैं[2]—परन्तु 'प्रमीला' को मेघदाद की पत्नी के रूप में माना है। अतः निष्कर्ष यह है कि लोक-मानस की ऊहापोहात्मक भावुकता तथा रसलोलुप कवियों की कल्पनामयी स्वर्णिल प्रतिभा ही इन वाल्मीकातिरिक्त प्रसंगों के मूल में काम कर रही हैं। द्राविड आदि दृष्टि-भेद नहीं।

७. प्रस्तावना के कुछ वाक्य स्ववचन-व्याघात-दोष से दूषित हैं। 'रंगनाथ रामायण' को पुराण-युग की रचना मानते हुए भी अनुवादक दूसरी जगह पर लिखते हैं—'अब तक रामकथा-सम्बन्धी जितने **प्रबन्ध-काव्य** उपलब्ध हुए, इनमें यही सब से प्राचीन काव्य है'। रंगनाथ रामायण को प्रबन्ध काव्य मानना ग़लत है (दे०-रंगनाथ

---

१. इस 'द्राविड दृष्टि' के पोषण में ग्रन्थस्थ आधार कुछ भी नहीं है। यह मात्र राजनीति-संवलित साहित्यिकों के कुमस्तिष्क में उत्पन्न आधुनिक भाव-वमन है।

२. प्रस्तावना, पृ० १५

रामायण—रायलु संस्करण बालकांड पृ० ४) मूल लेखक स्वयं इसे पुराण काव्य मानते थे।

८. उपरिलिखित विचार-गत दोषों के अतिरिक्त कुछ अर्थगत त्रुटियाँ तथा नाम-पठन सम्बन्धी त्रुटियाँ भी यत्र-तत्र हैं।

पृष्ठ १७ पर 'तोग' शब्द का एक अर्थ 'कमल' भी दिया गया है। वास्तव में 'तोग' का अर्थ कमल नहीं किन्तु 'कलहार' है।

मुद्दुपलनी की कृति का नाम 'राधिका सान्त्वनमु' है, 'राधिका स्वान्तनमु' नहीं जो पृ० ६ पर उल्लिखित है।

उपरिलिखित विचार-भेदों तथा त्रुटियों के होते हुए भी, इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ तक मूल ग्रन्थ के अनुवाद की बात है वह सर्वथा सुन्दर सरल एवं मूलानुसारी बना है जिस के लिए अनुवादक भूरि प्रशंसा तथा हार्दिक अभिनन्दन के पात्र हैं।

सम्पादक के नाते हिन्दी के धुरन्धर सेवी तथा प्रचारक श्री अवधनन्दन जी का यागदान अत्यन्त सम्मान्य एव प्रशंसनीय है। साथ ही बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् के संचालक, जो अपने अनर्घ कृति-रत्नों से हिन्दी-साहित्य मंदिर के हर कोने को जगमगा रहे हैं, कम प्रशंसा के पात्र नहीं हैं जिन्होंने तेलुगु साहित्य की इस अनुपम निधि को हिन्दी पाठकों के लिए सुलभ बनाया है।

वास्तव में ये तीनों अनुवादक, सम्पादक तथा परिषद् के संचालक समान रूप से ही हमारी कृतज्ञता के पूर्ण अधिकारी हैं।

———

वन्दना

डा० शान्तिस्वरूप गुप्त

श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव हिन्दी उपन्यासकारों की उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसका उद्देश्य एक ओर सुगठित कथानक द्वारा पाठक का कौतूहल अथ से इति तक बनाए रखकर उनका मनोरंजन करना और दूसरी ओर भारतीय आदर्शों की पुनः प्रतिष्ठा द्वारा पाठक को अपनी पुरातन संस्कृति की गर्वानुभूति कराना तथा उसे उसी मार्ग पर चलने की प्रेरणा देना रहा है। 'वन्दना' पाठकों के अनुरोध पर लिखी गई उनकी अभिनव कृति है जिसमें 'विदा' की कहानी को ही आगे बढ़ाया गया है। इस कृति द्वारा अंश रूप से उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांसीसी लेखकों की वह टेकनीक अपनाई है जिसके अन्तर्गत एक उपन्यास का कथानक दूसरे से सम्बद्ध होता था और नए पात्रों के समावेश के साथ-साथ पुराने पात्रों का क्रमिक विकास तथा उनकी अन्तिम परिणति दिखाई जाती थी। लेखक का कथन है, "अतएव प्रस्तुत उपन्यास 'वन्दना' का निर्माण १९४४-४५ की पृष्ठभूमि में किया गया है। कथानक के मुख्य पात्र वही हैं जो 'विदा' के हैं और कई नए पात्रों का भी समावेश हुआ है, जिनका दूसरी पीढ़ी में काल-धर्म के अनुसार प्रविष्ट किया जाना अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त कथानक की पृष्ठभूमि भारतीय क्षेत्र तक सीमित न रहकर मिस्र और इंग्लैंड देशों तक को भी अपनाती है।"

सन् १९४४-४५ की पृष्ठभूमि पर लिखा गया यह उपन्यास पाठक को उस काल के भारत की राजनीतिक स्थिति तथा विभिन्न आन्दोलनों का सम्यक् परिचय देने की दृष्टि से सफल है। जिन प्रसंगों को उठाया गया है—जैसे १९४२ का 'भारत छोड़ो आन्दोलन' या उससे भी पूर्व का 'व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन', क्रिप्स मिशन, सुभाष बोस की आज़ाद हिन्द सेना, अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण ब्रिटेन का विवश होकर भारत को स्वतन्त्र करने का निर्णय और चलते-चलते भी देश का बटवारा—उन सबका सांकेतिक वर्णन उस समय की राजनीतिक घटनाओं का परिचय कराने में पूर्ण समर्थ है। जहाँ तक सामाजिक समस्याओं—धार्मिक असहिष्णुता, वर्ण-भेद,

---

लेखक : **प्रतापनारायण श्रीवास्तव**
प्रकाशक : **भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली**
मूल्य : **१० रु०, पृष्ठ सं० ६३२**

पारिवारिक कलह, अंधविश्वास आदि—उन पर लेखक ने न तो गम्भीरतापूर्वक मनन ही किया है और न व्यावहारिक समाधान देने का ही प्रयास किया है। ईसाई जैनेट और मुसलमान सलीमा के प्रति अपनत्व और सौहार्द की भावना शान्ता के चरित्र की उदारता और हृदय की विशालता की परिचायक है, समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं करती। इसी प्रकार आयशा और कमल के विवाह द्वारा वर्णभेद के कारण विवाह की समस्या को उठाया अवश्य गया है पर उसका समाधान भी व्यक्तिगत स्तर पर हुआ है। नारी के अधिकारों को लेकर पुरुष के साथ संघर्ष की समस्या को भी केवल जैनेट-मुरारी के एक कथोपकथन तक सीमित कर नारी की दया, माया, ममता, क्षमा स्नेह, त्याग आदि कोमल वृत्तियों की प्रशंसा और पुरुष के दम्भ, स्वार्थ आदि अवगुणों की निन्दा कर हल करने का प्रयत्न किया गया है जो वस्तुतः कोई हल नहीं है।

मिस्र के पाशाओं के विलास, अत्याचार, ब्रिटिश शासकों की अधीनता में कठपुतली की तरह उनके संकेतों पर नाचना, वहाँ की दूषित शासन-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था के भार से पीड़ित प्रजा, उसके अन्धविश्वास और ढोंगी मुल्लाओं के आतंक और अनाचार का वर्णन यदि तत्कालीन मिस्र की झांकी प्रस्तुत करता है तो जर्मनी के आक्रमण के समय ब्रिटेन निवासियों द्वारा प्रदर्शित अपार धैर्य, सहनशीलता, अनुशासन और पारस्परिक सहायता भाव का परिचय भी पाठक को सहज ही हो जाता है। फिर भी लेखक उन तीनों देशों, जिनकी भूमि को कथा स्पर्श करती है, के जीवन और समाज की अतल गहराइयों में नहीं उतरता है, उनके जीवन के व्यापक प्रसार और संश्लिष्ट सूक्ष्मता की झाँकी प्रस्तुत करने में असमर्थ रहा है। इस दृष्टि से मराठी उपन्यासकार डा० केतकर के 'गांवसासू', 'प्रियंवदा' और 'विचक्षणा' जिनमें इंग्लैंड और अमेरिका के समाज का चित्रण है, अधिक सफल हैं।

वस्तुतः लेखक का मुख्य उद्देश्य 'विदा' की कथा को आगे बढ़ाना तथा पाठक के कौतूहल को पहले जाग्रत और शनैः-शनैः शान्त कर उसका मनोरंजन करना रहा है और इसमें वह पर्याप्त सफल भी रहा है। उपन्यास में मुख्य कथाएँ तीन हैं—(१) केट, चपला और कमल की (२) निर्मल, कुमुदिनी, लज्जा, मुरारी और शान्ता की, (३) सलीमा, बहादुर पाशा और सालेम की। पहली कथा का सूत्र इंग्लैंड से आरम्भ होकर मिस्र होता हुआ, भारत में आकर समाप्त हो जाता है। दूसरी कथा की रंगभूमि प्रधानतः भारत है पर वह भी इंग्लैंड और मिस्र में घूमती हुई पुनः भारत में आकर समाप्त होती है। तीसरी का सम्बन्ध मिस्र से है, यद्यपि कुछ समय के लिए उसका सूत्र इंग्लैंड चला जाता है।

"विदा" के अन्त में केट और चपला इंग्लैंड जाकर बस जाती हैं। 'वन्दना' का सूत्र वहीं से आरम्भ होता है, यद्यपि दोनों उपन्यासों की कथा के बीच बीस वर्ष

का व्यवधान है । इस बीच निर्मल-कुमुदिनी का पुत्र कमल अपने नाना सर माधव के साथ पढ़ने के लिए इंग्लैंड चला जाता है । वहाँ जर्मन वायु-आक्रमण के समय विलसन नामक डाकू के आघात से, जो उसका अपहरण कर सर माधव से धन ऐंठना चाहता था, वह घायल हो जाता है । संयोगवश केट और चपला के तत्क्षण आगमन से वह डाकू के हाथों से बच जाता है और पहले निर्मल से आकृतिसाम्य के कारण तथा बाद में स्मृतिनाश के फलस्वरूप वे उसे अपने संरक्षण में ले लेती हैं । उसी समय उनका परिचय अपनी पड़ोसिन मिस्र के सेनापति बहादुरपाशा की पत्नी सलीमा से होता है और कुछ समय बाद वे सब मिस्र आ जाते है ।

उधर निर्मल १९४२ के आन्दोलन में भाग लेकर जेल जाते हैं पर शीघ्र ही अपनी शिष्या जैनेट (जो जिलाधीश की पत्नी हो गई हैं) के सत्प्रयत्नों से छूट जाते हैं । उसी समय सर माधव की मृत्यु तथा कमल के लापता होने का समाचार सुन वह अपने साले मुरारी के साथ इंग्लैंड जाते हैं और वहाँ पुलिस तथा वकील की सहायता से उन्हें विलसन के षडयंत्र और कमल के चपला तथा केट के संरक्षण में होने का प्रमाण मिलता है और वे मिस्र रवाना हो जाते हैं । वहाँ वे न केवल चपला-केट से मिलते हैं अपितु कमल को भी अपने सच्चे रूप में पा लेते हैं क्योंकि सीढ़ियों से गिरने के कारण उसे पुनः स्मृतिलाभ हो जाता है । तभी बहादुर पाशा का भी रहस्य खुलता है कि वह लज्जा का भाई है जो युद्ध के समय घर से रूठ कर सेना में भरती हो गया था और युद्ध-समाप्ति पर मिस्र में बस गया था तथा अपने पराक्रम और कुशाग्र बुद्धि से वहाँ का प्रधान सेनापति बन गया था । इस रहस्योद्घाटन परी भारत से कुमुदिनी, लज्जा, शान्ता आदि को बुलाया जाता है । यद्यपि मार्ग में कुमुदन के चोट लगने से क्षण भर के लिए ऐसा लगता है कि कथा दुःखान्त होगी पर मिस्र के हकीम उसे स्वस्थ कर देते हैं और आयशा (मिस्र की राजकुमारी) तथा कमल के विवाह के निश्चय और सब के भारत आगमन के साथ कथा का सुखद अन्त होता है ।

सम्पूर्ण कथा को नाटक के समान अंकों में विभाजित करने की लेखक की जो पद्धति हमें 'विदा' में मिलती है, वही 'वन्दना' में भी है । उपन्यास को पाँच खण्डों में विभक्त किया गया है । पूर्वार्ध में रहस्य निर्माण करने और शनैः शनैः पाठक की उत्सुकता को तीव्र बनाने तथा उत्तरार्ध में क्रमिक रहस्योद्घाटन द्वारा उसके कौतूहल को शान्त करने की कला में वह पारंगत है । आरम्भ मे ही वायु आक्रमण के समय कमल के स्मृति-नाश तथा परिचय-पत्र के लोप से रहस्य निर्माण और बाद में उसका उद्घाटन अथवा बहादुर सिंह सम्बन्धी प्रकरण लेखक की कल्पनाशक्ति और कथा-निर्माण की क्षमता का ज्वलंत प्रमाण है । कतिपय स्थलों में जासूसी उपन्यास जैसी कुतूहल-निर्माण की क्षमता भी लेखक को प्रधानतः कथाकार ही प्रमाणित करती है । सालेम का छद्म वेश में जोहरा से प्रणयाराधन और विश्वासघात, मूसा द्वारा

आयशा का अपहरण और उद्धार, डाकू विल्सन का कमल सम्बन्धी षड्यन्त्र, खान-बहादुर का खुशवन्तराय की पार्टी में विषहीन सर्प को स्वयं थैली से निकाल कर तथा पकड़कर जैनेट को प्रभावित करने का कौशल—ये सभी प्रसंग सामाजिक उपन्यास के से न होकर जासूसी या तिलस्मी उपन्यास के से लगते हैं। लेखक ने पाठक की कुतूहल-वृत्ति को अन्तिम क्षण तक जाग्रत रखने के लिए तथा उसकी अपेक्षा के विरुद्ध घटना-प्रवाह को गति देकर तज्जन्य आनन्द प्रदान करने के लिए भी कुछ प्रसंगों की योजना की है—जैसे चपला के हाथ में विषबुझे चाकू का आघात अथवा कुमुदिनी का तेहरान में घायल होना।

प्रस्तुत उपन्यास के कथानक-शिल्प में दो बातें बहुत खटकती हैं—संयोग का अतिशय प्रयोग और अतिमानवीय तत्त्वों का समावेश। संयोग का प्रयोग घटनाओं के विधान में ही नहीं, पात्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी पाया जाता है जिससे उपन्यास कहीं-कहीं विचित्र घटनाओं का मायाजाल प्रतीत होने लगता है। पात्र लेखक की इच्छानुसार यथासमय एक स्थान पर एकत्र हो जाते हैं, पत्र वांछित व्यक्ति के पास नहीं पहुँच पाते और इस प्रकार घटनाओं के मोड़ में सहायक होते हैं। इसी प्रकार अतिमानवीय तत्त्व—एक आघात से स्मृतिनाश और दूसरे से स्मृतिलाभ, पिरैमिड देखकर मूक कमल का यकायक बोल पड़ना तथा उसका सम्बन्ध पूर्व संस्कारों से जोड़ना, चपला का पिरैमिड सम्बन्धी स्वप्न और मनोयोग, शान्ता का अपने मृत पति के दर्शन आदि बुद्धिग्राह्य नहीं हैं। लेखक को स्वयं संदेह है कि प्रसंग पाठक को विश्वसनीय प्रतीत होंगे, अतः वह एक बार नहीं, बार-बार पाठक का विश्वास उत्पन्न करने के लिए पात्रों से कहलाता है "भगवान् बड़ा कौतुकी है, छूंछी भरै, भरी ढरकावै।" "अथवा भाईसाहब, संसार इतना रहस्यपूर्ण है, मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी" "···तभी कहते हैं कि तथ्य कहानी से भी अधिक विस्मयजनक होते हैं।"

'विदा' में विदेशी प्रभाव से अनुरंजित वातावरण का चित्रण था, ऐसे समाज का अंकन था जो एंग्लो-इंडियन सभ्यता से प्रेरित था, जिसका रहन-सहन, आदर्श, विचार, शिक्षा, आचरण, वेशभूषा सब कुछ विदेशी हो चुका था तथा जिस पर तब तक के लेखकों की दृष्टि न पड़ने के कारण उसके वर्णन में अभिनवता का आकर्षण था। प्रस्तुत उपन्यास में यद्यपि मिस्र के पाशाओं के वर्णन द्वारा यह आकर्षण उत्पन्न किया जा सकता था, तथापि उसका उपयोग नहीं किया गया है। 'विदा' का एक अन्य आकर्षण था दो संस्कृतियों का संघर्ष। एक ओर वर्मा और कुमुदिनी थे, दूसरी ओर निर्मल और चपला। विदेशी तथा भारतीय संस्कृति और सभ्यता के पारस्परिक संघर्ष से उपन्यास में एक आकर्षण आ गया था जो 'वन्दना' में अनुपस्थित है।

श्रीवास्तवजी के उपन्यासों में विदेशी प्रभाव से अनुरंजित वातावरण का चित्रण होते हुए भी भारतीय संस्कृति और आदर्शवादिता की प्रतिष्ठा की गई है।

उनके पात्रों की परिणति भारतीयता में ही होती है, भले ही कुछ समय के लिए वे विदेशी प्रभाव में रंग गए हों। 'विदा' में कुमुदिनी इसका उदाहरण है। उनके अधिकांश स्त्री-पात्रों में आत्मिक प्रेम (Platonic love), अपूर्व त्याग और सेवा भाव मिलते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में भी चपला, केट, शान्ता, कुमुदिनी आत्म-त्याग के लिए आतुर हैं। 'विदा' में कुमुदिनी के कारण संघर्षजन्य तीव्रता ने उपन्यास को आकर्षक बना दिया था परन्तु "वन्दना" में आन्तरिक संघर्ष का अभाव ही है, केवल चपला में थोड़ा सा अन्तर्द्वन्द्व दिखाई देता है। अतः सभी पात्र स्थिर हैं। सबसे प्रभावशाली चरित्र, जिसके प्रति पाठक कुछ आकर्षण अनुभव करता है, सर माधव का है। वह विक्टोरिया युग के उन राजभक्तों की तरह चित्रित किए गए हैं जिनमें राजभक्ति, संकल्प की दृढ़ता और दुराग्रह ही सबसे बड़े गुण थे। अपने आदर्शों के लिए पुत्र, पुत्री और जामाता का परित्याग, सम्पूर्ण सम्पत्ति ब्रिटिश राज्य को दे देना, ब्रिटिश शासन के छोटे से छोटे विरोधी को भी अपना बड़े से बड़ा शत्रु मानना, अपने शव का दाहसंस्कार न कराकर दफनाने का आदेश देना, कुछ ऐसी बातें हैं जिनपर आधुनिक पाठक भले ही विश्वास न करे पर जो उस पीढ़ी के लोगों में सहज सम्भव थीं। हरिनारायण आप्टे के 'उषाकाल' में भी रंगराव अप्पा का इसी प्रकार का चित्र हमें मिलता है; अन्तर केवल इतना है कि रंगराव अप्पा मुगलों का स्वामिभक्त सेवक था और सर माधव अंग्रेज सरकार के।

लेखक के अन्य उपन्यासों की भाँति प्रस्तुत उपन्यास में भी पात्रों के पारस्परिक कथोपकथन सुन्दर, स्वाभाविक और परिहास युक्त हैं। लज्जा-कुमुदिनी, लज्जा-मुरारी अथवा जुलेखा-आयशा के संवादों में जो वचन-वक्रता, चुहल, परिहास और व्यंग्य है, उसके कारण वे अत्यन्त सजीव और प्राणवान बन गए हैं। इन संवादों की भाषा पात्रानुकूल और प्रवाहमय है, केवल कहीं-कहीं उर्दू का क्लिष्ट और अतिशय प्रयोग खटकता है। यद्यपि उर्दू का प्रयोग सालेम, बहादुरपाशा, सलीमा, हकीम आदि मुसलमान पात्रों ने ही किया है, तथापि हिन्दी उपन्यास में उसकी अतिशयता खटकती है। अन्य उपन्यासों 'विदा', 'विजय' अथवा 'विकास' के समान 'वन्दना' में लम्बे स्वगत भाषण या ऐकांतिक विचार-विमर्श नहीं हैं। कहीं-कहीं वार्तालाप ने वादविवाद का रूप यहाँ भी ग्रहण कर लिया है, तथापि वे रोचक हैं, उनसे कथा-रस में व्याघात नहीं पड़ता है। समय के साथ श्रीवास्तव जी की भाषा-शैली में भी पर्याप्त विकास हुआ है। अब वे भाषा के पूर्ण धनी हैं।

कुल मिलाकर यह उपन्यास वस्तुतः 'विदा' की कहानी का उपसंहार मात्र बनकर रह गया है। इसका यदि आकर्षण है तो कथानक के सुन्दर गुम्फन में और रहस्य-निर्माण के उपरान्त उसके कुशल उद्घाटन में। पर आज के उपन्यासकार से हम मनोरंजन मात्र की अपेक्षा नहीं करते, कुछ और भी चाहते हैं—चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, जीवन की व्यापक और सूक्ष्म संश्लिष्ट झाँकी, कला का औदात्य। खेद है कि ये सब हमें प्रस्तुत रचना में नहीं मिलते।

अपने-अपने अजनबी

डा० देवराज

अपने-अपने अजनबी अज्ञेय' का तीसरा उपन्यास है, यह उनका पहला लघु उपन्यास है। इधर अस्तित्ववादी लेखकों ने एक खास तरह के साहित्य की सृष्टि पर जोर दिया है; उसे अतिशयित अथवा अतिरंजित स्थितियों का साहित्य (लिट्रेचर आव एक्स्ट्रीम सिचुएशन्स) कहते हैं। अज्ञेय का यह उपन्यास इसी कोटि का साहित्य है। एक बूढ़ी औरत (सेल्मा) और उसकी मेहमान तरुण भतीजी (योके) बर्फ के नीचे घर में बन्दी हो गए। बर्फ कितने दिनों में हटेगा इसका कोई ठिकाना नहीं। रसद खतम होने पर बर्फ के ये कैदी मर भी सकते हैं। युवती योके का एक प्रेमी भी है, जो उसे खोज रहा होगा। उपन्यास में उक्त पात्रियों के इन कुछ दिनों के सह-चरित जीवन का वर्णन है। आँटी सेल्मा और योके की बातचीत, भविष्य की चिन्ता और कुछ पिछली यादें—यही उपन्यास का ताना-बाना है। हिम-कैद की अवधि में ही क्रिसमस अथवा "बड़ा दिन" का त्योहार आता है। एक बार योके आँटी सेल्मा का गला घोट देने का इरादा करती है, पर रुक जाती है। बाद में आंटी सेल्मा योके को अपनी पुरानी जीवन-गाथा सुनाती है। सेल्मा इसी तरह के एक और तूफ़ानी अनुभव से गुज़र चुकी है। वह किसी बस्ती में रहती थी। वहाँ एक बार बड़ी बाढ़ आयी। खाने-पीने की चीजें बड़ी मँहगी हो गईं। सेल्मा ने जोकि मांस आदि खाद्य पदार्थ बेचती थी, एक यान नाम के ग्राहक के साथ बड़ी कठोर स्वार्थपरता का व्यव-हार किया। बाद में उसे ग्लानि हुई और उसने अपनी सारी संपत्ति एक कागज़ पर यान के नाम लिख दी। यान ने उस कागज़ को फाड़ डाला। अन्त में सेल्मा और यान ने शादी कर ली और वहाँ से एक सहायक नाव में बचकर चले गये। उपन्यास के अन्तिम खण्ड में योके के बाद के जीवन की कथा है। उसका अपने प्रेमी से मिलन हुआ, किन्तु वह जर्मन सिपाहियों द्वारा भ्रष्ट की गई, और उसके प्रेमी ने उसे त्याग दिया। योके ने विष खा लिया और उसकी मृत्यु जगन्नाथन् नाम के एक सहानुभूति-शील भारतीय युवक के निकट हुई।

लेखक : स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय'
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
मूल्य : ३ रु०

कहानी विदेशी है और लेखक ने कोशिश की है कि वह अपनी भाषा तथा लहजे से विदेश के वातावरण को बनाये रखे। ईसाई महिलाओं की बातचीत को स्वाभाविक रूप देना कठिन काम था, जिसे लेखक ने खूबी से निभाया है। अज्ञेय की भाषा में यों भी एक निजी विशेषता तथा नयापन रहता है। इस उपन्यास में, विदेशी वातावरण के सम्पर्क से, भाषा की नवीनता ने एक निराला सा रूप ले लिया है। स्थिति को ठीक से न जानने वाले पाठक को मज़े में यह भ्रम हो सकता है कि पुस्तक किसी उपन्यास का अनुवाद है। इस तरह के भ्रम की संभावना को पुस्तक के महत्त्व का पोषक नहीं कहा जा सकता। हमारा नुमान है कि हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से, इसलिए, यह उपन्यास उतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जायगा जैसे कि अज्ञेय के दूसरे उपन्यास। इससे यह संदेह भी होता है कि केवल विदेशी पात्रों को लेकर लिखा हुआ उपन्यास, अपने देश के साहित्य की दृष्टि से, विशेष महत्त्वशाली नहीं बन सकता।

अज्ञेय के इस उपन्यास में किसी केन्द्रीय महत्त्वपूर्ण व्याख्या-सूत्र को पकड़ लेना कठिन जान पड़ता है। मृत्यु की समक्षता में प्रियजन अजनबी हो जाते हैं, और अजनबी अपने लगने लगते हैं, यह प्रतीति अपने में इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ती कि उसे एक स्वतंत्र कथाकृति का विषय बनाया जाय। उपन्यास के पृष्ठों में यह प्रतीति विशेष महत्त्वपूर्ण होकर उभरती भी नहीं। इस कथा के बहाने लेखक एक ज्यादा बड़े तथ्य का विश्लेषण प्रस्तुत कर सकता था—उन स्थितियों या शक्तियों का जो मानवीय प्रेम तथा घृणा का निर्धारण करती हैं। किन्तु लेखक में इस समस्या की अवगति नहीं है। उपन्यास के कलेवर में योके का आंटी सेल्मा का गला घोंटने का इरादा एक आकस्मिक घटना-सी प्रतीत होती है; लेखक योके की बाहरी-भीतरी परिस्थितियों का ऐसा विस्तृत विवरण नहीं दे सका है जिससे वह इरादा सुनिर्धारित होता दिखाई दे। इसकी अपेक्षा सेल्मा का यान के प्रति आकृष्ट होना कुछ ज्यादा स्वाभाविक घटना बन सकी है। वस्तुतः प्रसंग के अनुरूप बहुत सा विवरण-विश्लेषण प्रस्तुत करना अज्ञेय का कला की विशेषता नहीं है। यही कारण है कि अनेक असाधारण परिस्थितियों के उल्लेख के बावजूद उक्त उपन्यास हमारे मन पर मानवीय जीवन के संबन्ध में कोई स्पष्ट अवगति की छाप नहीं छोड़ता। अन्त तक पाठक यह नहीं समझ पाता कि लेखक ने मानव-जीवन के बारे में किस नये एवं महत्त्वपूर्ण सत्य का साक्षात्कार किया है।

इसका मतलब यह हो सकता है कि एक लघु उपन्यास के कलेवर में भी लेखक अपनी अनुभूतियों (अथवा उपन्यासगत चित्रों) को अभिप्राय तथा प्रभाव की एकता नहीं दे सका है। शुरू के पृष्ठों में आँटी सेल्मा के कुछ वक्तव्यों को रहस्यावृत दिखाने के संकेत दिये गये हैं, किन्तु कथा के अन्त तक पहुँचने पर ये संकेत व्यर्थ सिद्ध होते हैं—उपन्यास के संदर्भ में उनकी कोई सार्थकता प्रकट नहीं हो पाती। उदाहरण

के लिए सेल्मा से सम्बन्धित निम्न वक्तव्य पेश किये जा सकते हैं। 'आँटी सेल्मा क्या कहना चाहती है, या कि क्या कहना नहीं चाहती जो बार-बार उनकी जबान पर आ जाता है ? क्या वह उनसे सीधे-सीधे पूछ ले कि उनके मन में क्या है ?' (पृ०१३) 'उनके जीवन में कुछ है जो कि इन सब बातों से बिल्कुल अलग है।' (पृ० २४) 'मेरा भविष्य ! वह पढ़ना क्या आसान काम है।' (पृ० २८)। बुढ़िया ने 'हाथों से एक इशारा किया, जिसका अर्थ कुछ भी हो सकता था।' (पृ० ३८)। 'उसने मुसकराकर फिर हाथ से वही अनिर्दिष्ट इशारा किया, जिसका अर्थ कुछ भी हो सकता था।' (पृ० ५१)। इन वक्तव्यों से लगता है कि सेल्मा किसी ऊँची वस्तु या परिणति का आभास लिए हुए है। एक जगह योके पूछना चाहती है। 'वह क्या है, जो तुम्हें सहारा देता है, जब कि मुझे डर लगता है ?' (पृ० ५३)। यहाँ भी किसी ऊँचे, आध्यात्मिक तत्त्व का संकेत दीखता है। किन्तु आँटी सेल्मा के पिछले जीवन की कथा सुन लेने के बाद भी हम इन संकेतों के किसी गूढ़ अर्थ तक नहीं पहुँच पाते। बाढ़ के समय के तूफानी अनुभव के बाद भी आँटी सेल्मा किसी महत्त्वपूर्ण जीवन-सत्य का साक्षात्कार करती हुई नहीं जान पड़ती। हमारे विचार में इसका कारण यह है कि लेखक स्वयं ऐसा कोई साक्षात्कार किये बिना एक असाधारण ढंग की कहानी कहने बैठ गया। इस कहानी में जहाँ हमें पूर्वकालीन अज्ञेय का नये प्रयो का आग्रह मिलता है, वहाँ एक परिपक्व कलाकार की सुचिन्तित एवं सबल जीवन-दृष्टि नहीं मिलती। 'अपने-अपने अजनबी' की यह कमी मुख्यतः लेखक की चिन्तनात्मक साधना की कमी है। उसे पढ़कर बरबस यह भावना होती है कि इसका लेखक अभी तक प्रयोग को अपने में साध्य व श्लाघ्य समझने की धारणा से मुक्त नहीं हो सका है।

अँधेरे बन्द कमरे

श्री० प्रकाशचन्द्र गुप्त

पिछले वर्षों में हिन्दी कथा-साहित्य में अपूर्व प्रगति हुई है। किसी-किसी वर्ष तो अनेक श्रेष्ठ उपन्यास और कहानी-संग्रह एक साथ ही प्रकाशित हुए हैं। इस वर्ष "मैला आँचल", "बलचनमाँ", "सत्ती मैया का चौरा", "झूठा-सच", "बूँद और समुद्र", "जहाज का पंछी" और "भूले बिसरे चित्र", आदि की टक्कर की कोई रचना नहीं प्रकाशित हुई, किन्तु अनेक उपन्यास ऐसे निकले हैं, जिनमें कलात्मक तत्त्व है, कोमलता है, मानव-मन के व्यापारों का सहज विवेचन है और जिनके पीछे स्वस्थ सामाजिक दृष्टि है। ऐसे उपन्यासों में मोहन राकेश का "अँधेरे बन्द कमरे" स्पष्ट ही प्रमुख है।

"अँधेरे बन्द कमरे" का लेखक दिल्ली के आधुनिक जीवन का एक चित्र प्रस्तुत करता है जो भारतीय जीवन का ही प्रतीक है। बीच में कथा के प्रमुख पात्र इंगलैंड और यूरोप का भी चक्कर काटते हैं। विदेशी जीवन के यह चित्र सफल और अच्छे हैं, किन्तु शायद इनके बिना भी काम चल सकता था। कथानक का प्रवाह काफी धीमा है और यही विदेश यात्रा कथानक में घटना-चक्र का वेग प्रकट करती है।

"अँधेरे बन्द कमरे" में हमें मध्यम वर्ग के जीवन-चित्र मिलते हैं। यह पात्र दिल्ली की सर्दी में मीलों पैदल चलते हैं, कस्साबपुरा की गन्दी बस्ती में जिन्दगी काटते हैं, काफ़ी-हाउस और ला बोहीम में बैठक जमाते हैं और निरन्तर जीवन से संत्रस्त रहते हैं। समाचार-पत्रों के मालिक उनके श्रम का शोषण करते हैं और उन्हें ठगते हैं। विदेशी दूतावास उन्हें नैतिक स्तर पर निरस्त्र करके उनकी प्रतिभा को देशद्रोह के मार्ग पर ले जाना चाहते हैं। यह सब "कलचर और फ्रीडम" के नाम पर होता है। सिगरेट के धुएँ और कॉफ़ी की चुस्कियों के बीच भी वातावरण में काफ़ी ऊब, घुटन और निराशा रहती है। देहली की संपूर्ण रंगीनियों के बीच एक अजीब

लेखक : मोहन राकेश
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
मूल्य : ११ रु०

उदासी और थकान पात्रों के मन पर छा जाती है। बादल फिर आते हैं, वर्षा होने लगती है, ओले गिरते हैं, हवा किवाड़ झकझोर डालती है और "अंधेरे बन्द" कमरों में बैठे मनुष्य का मन एक विचित्र बेबसी और अकेलेपन की भावना से भर जाता है। यह व्यक्ति नींद की गोलियाँ खाते हैं, 'ट्रैंक्विलाइजर्स' का सेवन करते हैं, रात-रात भर जाग कर शराब पीते हैं, किन्तु इनकी व्यथा और अकेलेपन का जैसे कोई इलाज ही नहीं है। जब यह कुण्ठित, मध्यम वर्ग का प्राणी 'अँधेरे, बन्द" कमरे से निकल कर स्वच्छ और उन्मुक्त सामाजिक वातावरण में प्रवेश करेगा, तभी उसकी त्रस्त आत्मा को शान्ति मिलेगी।

"क्षण की अनुभूति" और "अनुभूति के क्षण" पर लम्बी-लम्बी बहसें कॉफी-हाउस में चलती हैं। असफल लेखकों, पत्रकारों, चित्रकारों और कलाकारों का यहाँ जमघट रहता है, हरएक दूसरे की निन्दा करता है :

"सुबह-सुबह हज़ारों साइकिलें शहर की विभिन्न बस्तियों से निकलती हैं और शाम को थकी-हारी उन्हीं बस्तियों को लौट जाती हैं। सन् दो की 'ओल्ड् स्मो-बाइल' से लेकर सन् साठ की 'डॉज किंग्सवे' तक सैकड़ों तरह की गाड़ियाँ यहाँ से वहाँ भटकती हैं—हार्डिंग रोड, सुन्दर नगर, चाणक्यपुरी, नॉर्थ एवेन्यू, साउथ एवेन्यू, जनपथ, राजपथ, ओल्डमिल रोड, पार्लियामेंट स्ट्रीट, कनॉट प्लेस, कनाट सर्कस !

"इस होड़ में हर व्यक्ति हर दूसरे व्यक्ति का प्रतिद्वन्द्वी है। हरएक का हरएक के साथ युद्ध है। हरएक का घर उसकी ग़ज़नी है··· ।" (पृष्ठ ३४७)

सहज, सुबोध, स्वाभाविक शैली में कलाकार अपने चित्र खींचता है। उसकी कथा में घटना-क्रम कम ही है। जीवन की गति ही मानो कथा की भी गति है। कभी-कभी स्थिर जल में लहरियाँ उठती हैं, भँवर बनते हैं, प्रबल प्रभंजन उठता है, किन्तु कभी-कभी ही ऐसा होता है। तब लेखक की शैली में शक्ति और काव्य का संचार हो जाता है। नादिरशाह के आक्रमण-काल में दिल्ली का स्वप्न-चित्र अत्यन्त प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी चित्र है। दिल्ली के निवासी इस नगर के प्राचीन इतिहास को कभी भूल नहीं सकते। संगीत के स्वर वायु में डूबते-उतराते और काँपते रहते हैं। नादिरशाही आतंक से यह स्वर भी पीड़ित है।

सुषमा और मधुसूदन के आलिंगन के वर्णन में लेखक की शैली बहुत भावात्मक और चित्रात्मक हो गई है : "जड़ों से उखड़े हुए फूल फिर अपनी जड़ों से जा मिले···कबूतर के पंखों का एक नरम-नरम बोझ मेरे ऊपर लद गया और मैं उस बोझ के नीचे अपने को बिलकुल भूलने लगा। कुछ देर लगता रहा जैसे अँधेरे की जगह हम गहरे पानी में डूबे हों और वह पानी अपनी गहराई के हल्के बोझ से हमें

सहलाता हुआ ऊपर से गुज़रता जा रहा हो और पानी में तैरती हुई मछलियाँ शरीर से टकरा-टकरा जाती हों और साँसों की रस्सियाँ हाथ-पैरों को कसती जा रही हों। एक लहर गुज़रने से पहले ही दूसरी लहर उमड़ आती हो, फिर तीसरी, और पानी हमें ऊपर-ऊपर अपनी सतह की तरफ उठाए लिए जा रहा हो।" (पृष्ठ ४६७-८)

इस उपन्यास का चित्रपट बहुत विस्तृत नहीं है। आज की सामाजिक पृष्ठभूमि में दो-चार व्यक्ति ही इस चित्र में अंकित हैं। यह पात्र मध्यम वर्गीय व्यक्ति है और सघन कुहासे से इनका जीवन घिरा है। यह अपने ही अंदर बंद, घुटे, छटपटाते हैं और बाहर निकलने के लिए तड़पते हैं। इस कथा में दो धागे परस्पर लिपटे हैं, किन्तु वे अलग-अलग भी हैं। मधुसूदन कस्साबपुरा की गंदी बस्ती में रहता है, जहाँ की तंग गलियों में नालियों का बदबूदार पानी बहता है, जहाँ निरन्तर गाली-गलौज और लड़ाई के कर्कश स्वर हवा में तैरते रहते हैं। नई दिल्ली के रंगीन किन्तु तृषित जीवन से ऊब कर इसी कस्साबपुरा की ओर मधुसूदन वापस लौटता है।

हरबंस, नीलिमा और शुक्ला का जीवन अधिक सुविधापूर्ण और समृद्ध है। व्यंग के बड़े हल्के स्पर्श और आघातों से कलाकार ने इनके चरित्र की रेखाओं को खींचा है। हरबंस और नीलिमा के संबंध अधिकाधिक बिगड़ते जाते हैं। उनका प्रेम क्या केवल शारीरिक वासना है? विवाह में दो व्यक्तियों के उलझाव और अन्तर्द्वन्द्व की कथा इस उपन्यास में बड़ी सूक्ष्म अनुभूति से और कुशलतापूर्वक कही गई है। मधुसूदन की दृष्टि से मानो हम हरबंस और नीलिमा के जीवन-व्यापार को देखते हैं। मधुसूदन मानो किसी ग्रीक नाटक का 'कोरस-पात्र' है।

इस कथा में मनुष्य के मानसिक अंतर्द्वन्द्वों की एक झाँकी हम देखते हैं। यह अन्तर्द्वन्द्व बड़े सामाजिक संघर्षों के परिपार्श्व में देखे गये हैं। बेचारा प्राणी किसी काल्पनिक सुख की आशा में चारों ओर भागा-भागा फिरता है, किन्तु उसे अपनी अशान्ति से छुटकारा नहीं मिलता। शर से बिंधे शिकार की भाँति वह तड़फड़ाता रहता है।

जिन समस्याओं को लेखक ने इस कथा में उठाया है, उनका कोई समाधान वह प्रस्तुत नहीं करता। मनुष्य के संबंधों को वह मानो वैज्ञानिक की भाँति अपनी अनुसंधानशाला में 'माइक्रोस्कोप' के नीचे देखता है। दाम्पत्य जीवन की इन उलझनों और विफलताओं का हल क्या है? नीलिमा हरबंस के घर वापस लौट जाती है, उसी प्रकार तड़पने और छटपटाने के लिए। सुरजीत ने तीन विवाह करके अनेक स्त्रियों को ठगा है, किन्तु नीलिमा को वही सबसे अच्छा आदमी लगता है। हरबंस अपने अहम् का बन्दी है, किन्तु अन्त में वह देश और समाज के प्रति

ईमानदार प्रतीत होता है। धन का लोभ त्याग कर देशद्रोह का मार्ग वह ठुकरा देता है। शुक्ला, जिसका लगाव हरवंस से है, सुरजीत के साथ कैसे जीवन बिता सकेगी? क्या मधुसूदन, जो शुक्ला से प्रेम करता है, ठकुराइन की लड़की से विवाह करके, संतुष्ट और सुखी जीवन बिता सकेगा? इन प्रश्नों को पाठक के मन में छोड़ कर उपन्यास का अन्त होता है।

मध्यम वर्ग की ज़िन्दगी, उसकी विषमताओं और विफलताओं का एक सजीव और सशक्त चित्र इस उपन्यास में पाठक को मिलता है। यह ज़िन्दगी नई दिल्ली की सड़कों और पुरानी दिल्ली की गलियों में बीतती है: "सड़कों की इस ज़िन्दगी के पीछे लोगों के अपने छोटे-छोटे घरों की ज़िन्दगी है। इस चमक-दमक और चहल-पहल के पीछे न जाने किन-किन अँधेरी और तंग गलियों की ज़िन्दगी है! एक नया शहर है जो तेज़ी से बन रहा है। उसके पीछे एक पुराना शहर है जो धीरे-धीरे ढह रहा है। एक तरफ बड़ी-बड़ी नयी-नयी योजनाओं और नये प्रयोगों की ज़िन्दगी है जिसकी एक अपनी संस्कृति है। दूसरी तरफ बदबू और गंदगी में पलती हुई एक सीलनदार कोठरियों की ज़िन्दगी है जिसकी एक अपनी संस्कृति है। ..."

(पृष्ठ ३२५)

कॉफ़ी हाउस और ला बोहीम आदि में बैठकर लेखकों, कलाकारों और पत्रकारों के झुंड इन विषयों पर अनवरत बातें करते हैं। उनके जीवन की संपूर्ण घुटन, बेबसी, लालसा, आकांक्षा इस बातचीत में प्रकट होती है। यह दीन, असहाय मानव मानों सितारों को हाथ बढ़ा कर छूना चाहता है। कभी-कभी इस बातचीत के अविराम प्रवाह से पाठक को ऊब भी होती है। वह सोचता है, क्या इसे कुछ तराश कर कथा को अधिक व्यवस्थित नहीं किया जा सकता था? अभी तो इस प्रवाह में जीवन की अनगढ़ अव्यवस्था ही प्रतिबिंबित हुई है।

जीवन की इस भागदौड़ में बड़ी कटुता और क्रूरता आ जाती है "लोग आजकल दोस्तों में बैठकर भी इस तरह तौल-तौलकर बातें करते हैं जैसे अदालत के कटघरे में खड़े होकर बयान दे रहे हों। जहाँ आपस में इतना संदेह और अविश्वास हो, वहाँ नाक को मजबूत किये बिना कैसे काम चल सकता है? आपको जीना है और ठीक ढंग से जीना है, तो आपको बेशरमी का सबक पढ़ना पड़ेगा। आपको अपना एक रैकेट बनाना पड़ेगा। अगर आपका कोई रैकेट नहीं है, तो समझ लीजिये कि आप बिना बुनियाद के खड़े हैं। जो चाहे आपको गिराकर आगे बढ़ सकता है..."

(पृष्ठ ३६३)

एक अकथ अवसाद पत्थर की शिला की तरह जमकर पाठक की आत्मा पर बैठ जाता है। सभी कहीं उसे अँधेरा-ही-अँधेरा नजर आता है। मध्य

वर्ग के संघर्ष-रत प्राणी के लिए आज प्रकाश की एक हल्की किरण भी कहीं दिखाई नहीं देती। यह आज की दिल्ली है, यह आज का भारत है। यह आधुनिक जीवन का एक यथार्थवादी चित्र है।

"यहाँ खड़े होकर जरा इस भीड़ को देखो··· । बस पर धक्कमधक्का करते हुए लोगों की गाली-गलौज, मद्रास होटल के पास के ग्राउण्ड में नवयुवती के साथ संदिग्ध स्थिति में पकड़े हुए नवयुवक की भीड़ और पुलिस द्वारा मरम्मत, गेलार्ड के सामने विकती हुई वेला और गु लाव की वेनियाँ, पुलिसमैन के डर से भागते हुए बूट-पालिश करने वाले लड़के, थियेटर कम्युनिकेशन्स बिल्डिग के सामने फुटपाथ पर पड़े हुए अपाहिज की कराह, भीड़ में खोये हुए अपने लड़के के लिए बिलखती हुई माँ···क्या यह संभव था कि इस पूरी भीड़ को तो क्या, इसके किसी एक हिस्से, किसी एक समूह या किसी एक एक व्यक्ति को ही खिड़की के पास खड़े होकर अच्छी तरह देखा जा सके ?" (पृष्ठ ३६६-७)

नागरिक जीवन के जो महत्त्वपूर्ण अध्ययन हिन्दी उपन्यास ने पिछले वर्षों में प्रस्तुत किए हैं, उनमें "अँधेरे बंद कमरे" का भी एक विशिष्ट स्थान होगा। "झूठा सच", "बूँद और समुद्र" और "भूले बिसरे चित्र" का विराट् पट यहाँ हमें नहीं मिलता, न "उखड़े हुए लोग" का तीव्र राजनीतिक व्यंग ; न "मेरा बचपन" की क्रूर, कठोर टीस। इस उपन्यास में लेखक ने मानव-मन के सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्व को रूप दिया है, उन्हें उनके सामाजिक परिवेश में रखकर देखा है। बाहरी और भीतरी संसार के खोखलेपन, घुटन और कुंठाओं का लेखक ने उपन्यास में सजीव, सशक्त और प्रौढ़, कलात्मक अंकन किया है। इन पृष्ठों में आज के भारतीय जीवन का रूप अपनी संपूर्ण उदासी, व्यथा और विफलता लेकर प्रकट हुआ है, किन्तु इस कथा का मानव सचेत सामाजिक प्राणी भी है। वह संघर्षों में अपने प्राण होम करने को तत्पर प्राणी है। अपनी समस्त बेबसी और दुर्बलताओं के बावजूद हरबंस और मधुसूदन विषम परिस्थितियों के आगे घुटने टेकने से इंकार करते हैं। वे देश के साथ विश्वासघात का मार्ग दृढ़तापूर्वक त्यागते हैं। इस प्रकार वे आज के आत्म-सम्मानी, प्रतिष्ठित भारतीय नागरिक के सहज प्रतीक भी हैं।

———

ये तेरे प्रतिरूप

श्री० राजेन्द्र यादव

संग्रह की लगभग सारी कहानियाँ यों तो पहले ही पढ़ रक्खी थीं लेकिन एक साथ पढ़ा तो अजीब-सा चित्र आँखों के सामने आया···अक्सर ही न्यूज़-रीलों, अखबारों में चित्र देखे हैं। मंत्री जी 'मुफ्त दुग्ध-वितरण केन्द्र' का उद्घाटन करने गए हैं, और एक गन्दे से नाक बहते बच्चे को गोद में उठाये, कैमरे की ओर आत्मगौरव से मुस्करा रहे हैं—"हम भी छोटों में 'घुल मिल' सकते हैं, उन्हीं के स्तर पर उतर कर" संग्रह की कुछ कहानियों में कुछ इसी भाव से अज्ञेय ने छोटे उपेक्षित लोगों पर विनम्र-सहानुभूति प्रदर्शित की है···या कहें, उनके दुख से अपने रचनाकार को आन्दोलित पाया है···और इस मानसिक स्थिति को (उन्हीं के शब्द दूँ तो) कहूँगा कि ये कहानियाँ "सैकिन्ड हैन्ड सनसनी" की कहानियाँ हैं। पढ़कर प्रश्न उभरता है—"उत्तेजना क्यों ? क्यों तुम इस सैकिंड हैन्ड सनसनी के शिकार हुए ?···तुम अपने जीवन की उत्तेजना से जूझो··· जिसके सामने ज़िन्दगी मौत का सवाल हो उसको ऐसी सनसनी से क्या मतलब···?" (पृ० ३७)।

लेकिन 'बहुमुखी प्रतिभा के स्वामी' को तो हर चीज़ से मतलब होना चाहिए ···उसे हर जगह असाधारणता खोजनी होती है, देनी होती है। अज्ञेय के पूरे कृतित्व में यह संग्रह भी असाधारण ही है। और शायद उन लोगों को जवाब देने के लिए लिखा गया है जो कहते हैं कि वे बहुत 'आत्म-केन्द्रित' हैं। वे अपने पर ही कहानी उपन्यास लिख सकते हैं। इसमें पोलियो का रोगी देवीसिंह है, रुण्ड-मुण्ड कबन्ध खितीन बाबू, उर्फ साक्षात् संकल्प है, लाला से पिटता हुआ नौकर है, शरणार्थी बच्चा और उदार-हृदय सरदार है, हरसू-परसू हैं······अर्थात् वे सारे पात्र हैं जिन्हें अभी तक अक्सर 'प्रगतिवादी लेखक' हथियाये हुए थे।

लेखक : अज्ञेय
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
मूल्य : २-५० रु०

इन कहानियों में—और अज्ञेय के सारे लेखन में—मुझे हमेशा एक अजब सा तनाव मिलता है···उनकी भाषा, शब्द-चयन, सूझबूझ, कोण और परिकल्पना सबके प्रति प्रशंसा का भाव आता है, प्रतिभा के प्रति आदर का भाव आता है, लेकिन नहीं आता तो तनाव-हीन खुलेपन का भाव, एक 'एटहोम' महसूस करने का भाव। साधारण से साधारण व्यक्ति, स्थिति उनकी बौद्धिक प्रक्रिया से गुज़र कर कुछ ऐसा रूप ले लेते हैं कि लगता है नाम रूप भले ही साधारण हो, बाकी कुछ भी वह नहीं है जो नाम रूप से द्योतित होता है और उन्हें इस प्रक्रिया से खँगालकर निकालने वाला हाथ उस सर्द-दिल कसाई के हाथ से मिलता है जो कच्चे माल में से निहायत भावना-हीन दृष्टि के साथ अपने मतलब का आकार और वजन तराशकर, धो-पोंछकर काउन्टर पर रख देता है······दूसरा लेखक जिसकी सफ़ाई और तराश देखकर यही बात अक्सर मेरे मन में उठती है वह है मोहन राकेश···ऐसे लेखकों की कहानियों में पाठक कहानियों के पीछे की लेखकीय संवेदना, चरित्र की सहानुभूति-पूर्ण समझ और सम्प्रेष्य प्रभाव की तारीफ़ नहीं करते—वे मुग्ध होते हैं तराश की सफाई पर, चाकू की धार और सधाव पर···जैसे तेज़ ब्लेड से साबुन काटने पर होते हैं···वहाँ न साबुन से मतलब है न ब्लेड से··· मतलब है 'मतलब' से।

लेकिन इस अभ्यासगत सधाव अर्थात् मानसिक अनुशासन और निरुद्विग्न-अनासक्ति को ही अक्सर प्रतिभा का नाम भी दिया गया है—या कहूँ प्रतिभा से कन्फ्यूज़ किया जाता रहा है; क्योंकि यह प्रतिभा का असम्पृक्त द्रष्टा-पक्ष है, रचनात्मक माध्यमों के लिए अपेक्षित, सहजीवन का भोक्ता पक्ष नहीं। इस प्रकार के पक्षाघाती द्रष्टा की प्रतिभा, वस्तुतः गणितज्ञ की प्रतिभा होती है और वह कहानी तथा 'पैरेबुल' का अन्तर भूल जाती है···तब परिवेश और प्रकृति की चिन्ता किये बिना वह हर देश काल से अपने पात्र उठा लेती है।

अतः 'ये तेरे प्रतिरूप' की कहानियों को पात्रों, परिवेश या मानव मन के अछूते अच्छे बुरे स्तर पाने के लिए पढ़ना गलत होगा, उन्हें सिर्फ लेखक के चिन्तन और शिल्प के लिए पढ़ने पर ही कुछ हाथ लग सकेगा; और इस धरातल पर लेखक अलग भी है और अद्वितीय भी··· अतः पाठक से अतिरिक्त समझ और सावधानी की माँग करता है; वह स्वयं अतिरिक्त सचेष्टता से पाठक को चेताता चलता है कि कहीं साधारण लोगों के माध्यम से कही जाने वाली इस बात को साधारण ही न मान लेना ···उसमें कुछ और है···देविन्दर लाल के 'शरणदाता' विश्वासघाती निकले; और जैबू नाम की लड़की ने उन्हें बचा दिया···इतनी सस्ती कथा-नाटकीयता के कारण कहानी का नाम मैंने 'शरणदाता' नहीं रक्खा···महीन बात यह कि किशोरी जैबू उस दमघोटू वातावरण में, मानवता को अपने भीतर शरण दिये है। कहानी 'लैटरबक्स' इसलिए नहीं लिखी गई कि एक अबोध दुखी लड़के ने उसमें अपनी कथा लिखकर खत डाल

दिया—लेकिन अपने माँ-बाप का पता उसे मालूम नहीं था—वह तो इतना जानता था कि लैटरबक्स से खत आगे जाता है। बात इतनी ही होती तो चैखव ने 'बांका' लिख ही दी थी अज्ञेय की जरूरत फिर क्या थी ? 'लैटरबक्स' से खत आगे जाता है बिना नाम पते का वह खत आप हम सब तक आ सके, इसलिए कहानी है।

और भी अनेक कहानियां हैं जिनमें कही गयी महीन बात हमें चकित करती है और मन में श्रद्धा उपजाती है कि यह लेखक ऐसी-ऐसी महीन बात सोच कर ऐसे सुन्दर ढंग से कहना जानता है—शायद 'अभिजात' कहानियों के यही शास्त्रीय-लक्षण हैं। वैसे इन कहानियों को पढ़कर तो विश्वास नहीं होता कि 'गैंग्रीन', हीलबोन की बतखें मेजर चौधरी की वापसी या जयदोल कहानियों का लेखक भी यही है।
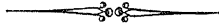
पहला नास्तिक

श्री० मोहनसिंह सेंगर

पौराणिक, धार्मिक तथा नीति कथाओं का आरम्भ यद्यपि सहस्रों वर्ष पूर्व हुआ और तिलस्मी एवं एयारी किस्से-कहानियों की आयु भी कई सौ वर्ष तो है ही। किन्तु जिसे हम आधुनिक कहानी, छोटी कहानी या गल्प कहते हैं, उसकी उम्र अभी कुल जमा एक सौ साल से बहुत अधिक नहीं है। और इसमें भी हिन्दी-कहानी तो अभी अपने जीवन के ६ दशक ही पूरे कर पाई है। उसका वर्तमान ढाँचा पश्चिम की देन है और उसकी आत्मा पर इंग्लैण्ड के अतिरिक्त रूस और फ्राँस का प्रभाव विशेष रूप से लक्षित है। पर आज उसका रूप और व्यक्तित्व बहुत कुछ अपने बन चुके हैं और विकसित होकर उन्होंने काफी प्रौढ़ता भी प्राप्त कर ली है। अतएव यदिह म यह कहें कि शिल्प, गहराई, व्यापकता और वैविध्य में आज की हिन्दी कहानी विश्व की किसी भी भाषा की कहानी से पिछड़ी नहीं है तो संभवतः यह कोई अतिशयोक्ति या गर्वोक्ति नहीं समझी जानी चाहिए।

हिन्दी कहानी को इस स्तर पर पहुँचाने में जिन अनगिनत सुधी साहित्यिकों और कृती कथाशिल्पियों का योग रहा है, उनमें श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार असंदिग्ध रूप से एक उल्लेखनीय और प्रमुख श्रेयार्थी हैं। वे लगभग चार दशकों से हिन्दी के कथा-साहित्य को अपनी चुनी और मंजी हुई कृतियों से समृद्ध कर रहे हैं। लिखना आरम्भ करने के काल की दृष्टि से देखा जाय तो हम चन्द्रगुप्त जी को सहज ही प्रेमचन्द-युग का कहानीकार कह सकते हैं। जबकि असहयोग आन्दोलन के बाद आए राष्ट्रीय जागरण का स्वर साहित्य में भी झंकृत व प्रतिध्वनित होने लगा था। उद्देश्य-परक, आदर्श-मूलक और दीन-दुखियों के दुःख-दर्द को अपनी कहानियों का आधार बनाने की दृष्टि से देखें, तो चन्द्रगुप्त जी प्रेमचन्द जी के शिल्प से काफी प्रेरित और प्रभावित से लगते हैं। पर उनकी अब तक की प्रकाशित कृतियों पर बारीकी से विचार करने पर कुछ ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द-युग की धाराओं से प्रभावित होकर भी चन्द्रगुप्त जी के शिल्प व्यक्तित्व ने उनकी सीमाओं का अतिक्रम कर अपना स्वतन्त्र विकास किया है। उनकी कोई भी कहानी ऐसी शिथिल निर्जीव या निरुद्देश्य

लेखक : चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
मूल्य : ३ रु०

नहीं, जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि उन्होंने कोई चीज़ सिर्फ़ फर्माइश पर या लिखने के लिए ही लिखी है।

इसे जानने-समझने के लिए उनके १९६१ में प्रकाशित कहानी-संग्रह 'पहला नास्तिक' को ही देख लेना काफी होगा। इसमें जहाँ उनकी ३८ साल पहले लिखी गई सर्वप्रथम कहानी 'मेरे मास्टर साहब' है, वहाँ उनकी सबसे बाद की नहीं, तो काफ़ी नवीनतम कहानी 'पहला नास्तिक' भी है। यद्यपि 'मेरे मास्टर साहब' में लेखक ने अपने बचपन के एक मास्टर साहब की कहानी बड़े ही रोचक एवं मार्मिक ढंग से कही है, तथापि आधुनिक कहानी की परिभाषा की दृष्टि से 'कहानी' की अपेक्षा इसे संस्मरण या रेखाचित्र ही अधिक कहा जायगा। इसके कथानक का विकास सहज, स्वाभाविक अथवा स्वतःस्फूर्त्त एवं स्वचालित रूप से नहीं होता, बल्कि एक बना बनाया संपूर्ण स्मृति-चित्र है, जिसे लेखक ने लगभग ज्यों-का-त्यों रख दिया है। फिर भी इससे इस बात का पता तो चल ही जाता है कि केवल १८ वर्ष की आयु में लिखी गई यह कहानी, कहानी की परिभाषा में चाहे शिथिल हो पर लेखक की सूक्ष्म मानवीयता, आदर्श की अन्तर्दृष्टि और कहानी की आत्मा की पहचान और पकड़ को तो प्रकट करती ही है।

यह बात लेखक की दूसरी कहानी 'ताड़ का पत्ता' से और भी स्पष्ट हो जाती है। पहले जहाँ उसने अपने मास्टर जी को ही बड़े गौर और गहराई से देखा तथा अपने मन मस्तिष्क पर पड़ी उनकी छाप को ही शब्दचित्र का रूप दिया; वहाँ अपने निरक्त के मास्टर जी को उसने चित्रित न कर, उनकी एक बात की गाँठ बाँध ली जो आगे चल कर 'ताड़ का पत्ता' कहानी बनी। इसमें जहाँ प्राचीन भारत की गौरव गरिमा की एक सामान्य झाँकी मिलती है, वहाँ गिरिधर पंडित के निर्लोभ के रूप में भारतीय आचार्यों के उदात्त चरित का सुखद स्मरण कहानी पढ़ने के श्रम को सुपुरस्कृत भी कर देता है। यही बात 'बदला' कहानी में अशोक द्वारा अपने बड़े भाई सुमन की हत्या करवाने के प्रतिशोध-स्वरूप उसकी भाभी शीला द्वारा अपने प्राण देकर उसकी प्राण-रक्षा करने की घटना के बारे में भी कही जा सकती है। इनमें कहीं भी प्राचीन प्रताप और गौरव के अतिरंजनापूर्ण गीत नहीं गाए गए हैं; बल्कि उनकी परोक्ष झाँकियों के सहारे उनमें कहीं ऊँचे और श्रेष्ठ मानव-चरित्रों को उभारा गया है।

'कैफियत' कहानी में लेखक ने ऋषि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों गार्गी और मैत्रेयी—की कैफ़ियत अपने कल्पना-पुराण से दी है। यह एक सफल कहानी का मनोरंजक आधार बनने के साथ ही इतनी तार्किक और मानवीय लगती है कि इसे पढ़कर बहुविवाह के कट्टर विरोधी के मन में भी याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी और गार्गी के प्रति श्रद्धा और सम्मान पैदा हुए बिना नहीं रह सकते। 'आँसू' कहानी में चन्द्र

द्वारा काबुल से लाए गए पिंजरबद्ध तोते के आँसुओं से सनी भू-रज इन्द्र को भेंट कर शाप-मुक्त होने की बात इतने अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से कही गई है कि पाठक कुछ क्षण यह सोचने को बाध्य हो जाता है कि मुक्ति और स्वदेश की भावना मानवों में ही नहीं पक्षियों तक में इतनी गहराई और आत्मीयता के साथ मौजूद है। वैसे वहाँ तोते के प्रतीक से प्राणि-मात्र की सहज स्वच्छन्दता के सुख की ओर ही इंगित है।

पुराने कथानकों या पात्रों को लेकर लेखक ने मानव जीवन के जिन शाश्वत सत्यों एवं आदर्शों को उभारा है, उनमें 'पहला नास्तिक' शायद सर्वश्रेष्ठ कहानी कही जा सकती है। इस कहानी की पृष्ठभूमि हज़ारों बरस पहले उत्तर से आर्यावर्त्त आया हुआ एक आर्य काफ़िला है। लेखक ने उस समय के धार्मिक-सामाजिक जीवन तथा यात्रा-कष्टों का खासा अच्छा चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। जीमूत के साथ सावित्री के विवाह की बातचीत सुन कर उसके पिता जमदग्नि के कुपित एवं असहमत होने से किस प्रकार आर्य काफ़िला दो शिविरों में बँट गया, युद्ध हुआ, आर्य राज्य की पराजय हुई—यह सब कहानी से अधिक इतिहास का वह नग्न सत्य है, जिससे हर व्यक्ति का परिचय होना अनिवार्य-सा है। पर इससे अधिक उल्लेखनीय है ऋग्वेदीय संस्कृति के बाद जीमूत का उस अथर्ववेदीय संस्कृति से परिचय, जिसमें कहा गया कि जो हमसे दुश्मनी करे, वह मरे और हम जिससे दुश्मनी करें वह भी मरे। आर्यों के इस नये मन्त्र ने ही जीमूत को नास्तिक बनाने पर बाध्य किया और उसने घोषणा की कि 'एक स्वार्थी आस्तिक की अपेक्षा न्यायनिष्ठ नास्तिक बनना वह अधिक पसंद करता है।' यह मानव-जीवन का एक ऐसा चिरन्तन सत्य है, जिसका कहानी पढ़कर पाठक के मन पर बड़ा ही गहरा और स्थायी असर होता है।

शेष कहानियाँ अपेक्षाकृत आधुनिक और समसामयिक समस्याओं से संबन्धित हैं। 'मैं जरूर बचा लूँगा' में जहाँ एक लोभी और क्रोधी डाक्टर के हृदय-परिवर्त्तन का बड़ा ही प्रभावपूर्ण चित्रण हुआ है, वहाँ डाक्टर की डायरी' में एक डाक्टर द्वारा असाध्य रोग से ग्रस्त एक रोगिणी के परिवार वालों को आश्वस्त करने के सहानुभूतिपूर्ण मानवीय रूप का खास अच्छा उद्घाटन हुआ है। "गोरा" में शेर से एक बैल को बचाने के लिए एक व्यक्ति के बलिदान की रोमांचकारी कहानी वर्णित है। 'दुआ' में साम्प्रदायिक अंधेपन के विस्फोट के समय एक हिन्दू युवक द्वारा एक मुस्लिम युवती की प्राणरक्षा और उसके तथा उसके परिवार वालों के लिए लड़की के दुआ करने की बड़ी ही प्राणवान कहानी कही गई है। 'खन्ने का कुआँ' में तख्त हज़ारा के हिन्दुओं तथा मुसलमानों द्वारा मिलकर लाहौर में ब्याही गई एक संत्रस्त हिन्दू कन्या को पति-सहित वहाँ ला बसाने और उनकी आजीविका के लिए जमीन देने तथा कुआँ बनवा देने की एक गौरवपूर्ण कहानी सामने आई है। इस तरह का भाई-चारा भारतीय जीवन की परम्परा का एक सुनहला पृष्ठ है। 'सपना' में एक अविश्वासी ग्रन्थी का सपना सच न होने पर एक मित्र द्वारा उत्तेजित भीड़ से उसकी

रक्षा करने का रोचक वृत्तान्त दिया गया है। 'उत्तेजना' में एक सरल स्वभाव पाठक नौजवान द्वारा उत्तेजना मिलने पर एक व्यापारी पर प्रहार करने और उसके मर जाने की घटना का वर्णन है। यह कहानी चरित्र-प्रधान है।

'चोट' और 'संदेह' संदेह के ही दो रूपों के चित्रण हैं। पहले में एक लड़की के कॉलेज-जीवन के सामान्य परिचित साथी के पात्रों का उसके पति द्वारा पढ़ा जाना और क्षुब्ध होकर लड़की का उसे आईन्दा पत्र न लिखने को कहना दोनों के मनों को चोट पहुँचाता है। दूसरी में बम फेंकने वाले एक क्रांतिकारी युवक की गिरफ़्तारी के लिये जिस वेश्या-पुत्री के यहाँ वह दो दिन छिपा था और जो उसे चाहने लगी थी, एक झूठे विज्ञापन द्वारा उसके मन में यह संदेह पैदा करके कि वह एक अन्य युवती के प्रेम पाश में फँस चुका है, सारा भेद जानने की चतुराई का चित्रण है। क्रांतिकारी जीवन के एक धुंधले पृष्ठ पर भी इससे प्रकाश पड़ता है।

इस तरह कुल मिलाकर इस संग्रह की कहानियाँ स्वस्थ, संयत, प्रौढ़ और सोद्देश्य दृष्टिकोण की परिचायक हैं।

कथान्तर

डा० कैलाश वाजपेयी

हिन्दी भापा को अन्य भाषाओं की तुलना में जहाँ श्रेष्ठ रचनाएँ उपजाना है वहीं विदेशी भाषाओं के महत्त्वपूर्ण कृतित्व का नागरी लिपि में रूपान्तरण भी करना है। अनुवाद-कार्य वस्तुतः मौलिक सृजन से अधिक दुस्तर होता है इसीलिए उसे कला माना गया है।

मौलिक सृजन में लेखक स्वतन्त्र होता है। स्वेच्छा से सृजन में बँधकर लेखक जब चाहे मुक्त हो सकता है और जिन अंशों तक वह सफल असफल रहा है उसी अनुपात में वह ख्याति का भागी भी होता है। किन्तु अनुवाद-कार्य में सारी शर्तें इसके ठीक विपरीत ढंग पर घटित होती हैं।

अनुवाद-कार्य मौलिक नहीं होता। अतः मौलिक सृजन की सी आन्तरिक स्वतन्त्रता के लिए अनुवादक बहिष्कृत होता है। जिस कृति का अनुवाद वह कर रहा या करने जा रहा है उसकी आत्मा में अपना 'स्वत्व' तिरोहित करते हुए एकाकार होना अनुवादक के लिए दूसरी बड़ी शर्त होती है। और तीसरी अन्तिम शर्त यह कि हर स्थिति में उसका अनुवाद-कार्य सफल बन पड़ना अनिवार्य होता है। असफल अनुवाद में वह दोहरे कलंक का भागी होता है। इन कठिनाइयों के अतिरिक्त कुछ समस्याएँ और भी हैं जो अनुवादक की व्यक्तिगत सीमाओं से आबद्ध होती हैं। जिनमें सर्वप्रमुख है भाषा की समस्या। हर भापा का शब्द-समूह उसकी सांस्कृतिक परम्परा के अधीन होने के कारण उस देश-विशेष के ऐतिहासिक, राजनीतिक एवं धार्मिक मोड़ों को विरासत के रूप में ग्रहण कर अपना आशयात्मक और संवेदनात्मक अर्थ देता है। अतः किसी भी शब्द का प्रयोग करने से पूर्व अनुवादक के लिए शब्दकोष का सहारा लेना ही पर्याप्त नहीं होता वरन् उस देश की सांस्कृतिक रूपरेखा से अवगत होना भी अपेक्षित होता है।

अनुवादक : शरद देवड़ा
प्रकाशक : व्यंजना प्रकाशन कलकत्ता
मूल्य : ६ रुपये

'कथान्तर' में विश्व के जिन पाँच महादेशों का प्रतिनिधित्व करने वाले इक्कीस देशों की चुनी हुई आधुनिक कहानियों के अनुवाद हैं वे किसी एक संकलन से न ली जाकर भिन्न-भिन्न संग्रहों से ली गई हैं। ये कहानियाँ निश्चित रूप से अनुवादक के चुनाव की सतर्कता का उदाहरण सामने रखती हैं। अधिकांश कहानियाँ भिन्न भाषाओं के लेखकों की वे कृतियाँ हैं जो अंग्रेजी में अनूदित होकर चर्चा का विषय बनी हैं।

सार्त्र का नाम उसके अस्तित्ववादी दर्शन और साहित्यिक निबन्धों के कारण हिन्दी पाठक के लिए नया नहीं। उसका अधिकांश साहित्य उसके चिन्तन का व्यावहारिक रूप है। 'कथान्तर' में संग्रहीत उसकी 'दीवार' कहानी जो संग्रह की प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहानी है अपनी सम्पूर्ण निर्वैयक्तिकता और तीखेपन के साथ अनुवाद में उतर आई है। जिस दार्शनिक पृष्ठभूमि पर कहानी की अवतारणा हुई है वह सार्त्र का नकारात्मक चिन्तन ही है! चूँकि सार्त्र का चिन्तन एक विशिष्ट प्रकार की (असामान्य) जिन्दगी या परिस्थिति में ही पूर्ण रूप से घटित होता है अतः इस कहानी का महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। यह कहानी स्पेन के स्वतन्त्रता-संग्राम से सम्बद्ध है। साम्राज्यवाद की क्रूरता तथा घोर अमानवीयता का इतना थर्रा देने वाला चित्रण मृत्युबोध को ही स्पष्ट नहीं करता, मनुष्य की स्वतन्त्रता को भी निन्दित घोषित करता है। मृत्यु की पूर्व सूचना और निश्चितता से उद्भूत हताशा का जो वातावरण सार्त्र की 'द वाल' में मिलता है ठीक वैसी ही झकझोर देने वाली पीड़ा अनुवाद में भी अनुभव की जा सकती है।

संग्रह की दूसरी कहानी डी० एच० लारेंस की है। डी० एच० लारेंस की कला में धार का प्रवाह है। उसके कहानी कहने का ढंग यों पुराख्यानों सा सीधा सरल होता है। किन्तु रचनाओं में निहित आक्रोश और व्यंग्य तत्त्व तत्काल किसी समर्थ लेखनी की सूचना दे देता है। 'कथान्तर' मे संग्रहीत 'काठ के घोड़े का सवार' को प्रारम्भ करते ही लारेंस की उस कृति का स्मरण हो आता है जिसे लेकर श्लील-अश्लील का प्रश्न विश्वव्यापी हलचल का कारण बना था।

स्टीफेन ज्विग का जीवन उसके कृतित्व के ही समान असाधारण माना जाता है। द्वितीय महायुद्ध के दिनों में ज्विग ने सपत्नीक आत्महत्या की थी। ज्विग की शैली कुछ-कुछ प्रभाववादियों की सी होती है। 'भगोड़ा' इस शैली का पूरा-पूरा उदाहरण सामने रखती है।

अगली सफल कहानी "सरबिया की एक रात" है। युद्ध के हिला देने वाले अनेक चित्रों में से एक सरबियन कप्तान का अपने ही देश के घायल नागरिकों को हारकर पीछे छोड़ जाने के लिए विवश होना, किन्तु शत्रु द्वारा प्रताड़ित होने की

तुलना में नागरिकों का कप्तान से ही मृत्यु की भीख माँगना अधिक उचित समझना और कारतूसों की कमी के कारण कप्तान का अपने असहाय भाइयों को मारने के लिए विवश होना और फिर एक एक कर उन नागरिकों की गरदन की नस तलवार की नोक से काटते जाना और शत्रुओं के पुनराक्रमण के भय से प्रत्येक जीवित घायल नागरिक का कप्तान के निकट आकर 'भाई जान मुझे पहले···मुझे पहले' कहना और चार मास बाद पेरिस के एक रेस्तराँ में इस थर्रा देने वाली घटना का स्वयं कप्तान द्वारा उपराम वर्णन, एक मानवीय छटपटाहट को जन्म देते हैं। विंसेन्ट ब्लास्को की इस कहानी के चुनाव के लिए अनुवादक बधाई का पात्र है।

काफ्का की 'शाही संदेश' सम्भवतः उसके 'जरनल्स' से ली गई है। यह कहानी थोड़ा गम्भीर चिन्तन के लिए विवश करती है। किर्केगार्ड, निजिस्की, विन्सेट वेनगॉग और आर्थर टिम्बो की भाँति काफ्का भी अपने समय में अस्वीकृत होकर जिया और अपने स्वीकृत होने की चेष्टा में और अधिक अस्वीकृत होता गया। काफ़्का की सम्पूर्ण कृतियों में विचित्रता यह है कि वे समाप्त करने के बाद पाठक को दोबारा पढ़ने के लिए विवश करती हैं। उसकी कहानियों का अन्त या तो अधूरा होता है अथवा फिर नहीं होता। भाषा की जड़ता मन के अनेक विविक्त उद्वेलनों को व्यक्त करने में असमर्थ होती है। काफ़्का ने इसे अनुभव द्वारा शीघ्र ही जान लिया था, और इसी लिए ऊबकर वह प्रतीकों की दुनियाँ में चला गया। आर्थर टिम्बो के साथ भी यही समस्या थी। वह केवल उन संवेगों की अभिव्यक्ति चाहता था जो 'नुआन्सेज़' के रूप में उसके हृदय में झिलमिलाते थे। हारकर उसने भाषा को तोड़ दिया ! मनमाने प्रयोग किए और थोड़े ही दिनों में घबराकर कविता से विदा ले ली।

अस्तित्ववादियों के अनुसार एक बार अस्तित्व की स्वतन्त्रता से अवगत होकर अपने 'होने की' सार्थकता खोज पाना सम्भव नहीं और काफ्का इसका सर्वाधिक ज्वलन्त उदाहरण था। आलबेर कैम ने जिस 'एवसर्ड' को एक दर्शन के रूप में अपनी 'द मिथ आफ़ सिसाइफ़स' में स्थापित किया है, काफ्का के 'द ट्रायल' और 'द कासल' में वह पूर्णरूप से घटित होता है। 'द ट्रायल' का 'जोजेफ़ के' दण्डित होता है किन्तु उसे नहीं ज्ञात कि उसका अपराध क्या है। वह सचमुच अपने पक्ष में कुछ कहना चाहता है किन्तु उसे नहीं ज्ञात कि वह ऐसा क्यों चाहता है। यह सब होते हुए भी वह पेपर पढ़ता है, खाना खाता है और प्यार करता है। न्यायालय में जहाँ अन्धेरा है उस पर कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं होती। वह जानता है तो केवल यह कि वह निन्दित है। किन्तु किस लिए ? यह उसके लिए आश्चर्य का विषय है। कुछ समय बाद दो सजे सँवरे लोग उसे कहीं चलने का निमंत्रण देकर किसी सड़ांध भरे उपनगर में ले-जाते हैं। उसका सर एक भारी पत्थर से दबाकर उसका गला घोंट देते हैं। मृत्यु से पूर्व वह केवल दो शब्द कहता है 'कुत्ते की तरह' और बस।

कुल मिलाकर 'द ट्रायल' की कहानी प्रतीकात्मक ढंग पर केवल इस विद्रूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न है कि जिन्दगी विचित्र है और आदमी का दुर्भाग्य यह है कि वह उसे सरलता से ग्रहण करता है।

काफ्का का 'द कासल' ईश्वर की खोज का गत्यात्मक रूप है। वह एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो आत्मा में निहित सौंदर्य को उद्‌घाटित करना चाहता है। जो स्त्रियों में सोए ईश्वरीय तत्त्व और दुनियाँ के शाही रहस्यों से अवगत होना चाहता है। 'कथान्तर' में अनूदित कहानी की आधार-भूमि भी कुछ ऐसी ही है।

काफ्का की कला का रहस्य द्विधा में है, बीच की स्थिति में है। सामान्य और असाधारण के बीच, दुःख और दिन-चर्या के बीच, अर्थवत्ता और तर्कातीति के बीच उसने कल्पना का इतना सूक्ष्म और धुँधभरा जाल फैला दिया है कि वह आधुनिक युग में एक अलग इकाई के रूप में स्थिर हो गया है।

'कथान्तर' के एशिया खण्ड में वर्मी कथाकार खीन म्योचित की 'तेरह कैरट हीरा' ही सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। इस आधुनिक बर्मी लेखक के विषय में अधिक कुछ ज्ञात नहीं है किन्तु इस एक कहानी से ही खीन म्योचित की प्रतिभा क. अन्दाज़ा लग जाता है। इस लेखक की अन्य कृतियों के अनुवाद भी यदि हिन्दी में आ सकें तो अच्छा रहे।

भीड़ की संस्कृति और उपनगरों का जीवन आधुनिक युग की यही दो देनें हैं जिनका सबसे बड़ा शिकार है अमेरिका। बहुत पहले कभी नीत्शे ने कहा था कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आदमी अत्यधिक दुखी हो जाएगा। यान्त्रिक प्रगति के समानान्तर आध्यात्मिक विकास न होगा। विज्ञान सुविधाएँ देता जायेगा, मनुष्य भोगातुर बनता जाएगा। और आज अमेरिका नीत्शे की इस भविष्यवाणी के सबसे निकट है। महानगरों के जीवन को बड़ी सतर्कता से आत्मसात करने के कारण आधुनिक कथा-साहित्य का अमरीकी कथाकार ओ० हेनरी नगर-सभ्यता का सबसे बड़ा लेखक माना जाता है। नगरों के मशीनी जीवन और प्राणघाती सभ्यता पर करारा व्यंग्य हेनरी के शिल्प कौशल के कारण द्विगुणित हो गया है।

संग्रह की अन्य कहानियों में अमरीकी कथाकार वेन्तुरा गरसिया काल्डरेन की 'लाटरी का टिकट', अफ्रीकी कथाकर्त्री ओलिव स्क्रनर की 'बौद्ध भिक्षु की पत्नी' तथा आस्ट्रेलिया की उपन्यास-लेखिका कैथरीन सुसाना प्रिच्चार्ड की 'जवान घोड़ा और बूढ़ा सवार' विशेष उल्लेखनीय हैं।

अन्त में इन कहानियों के हिन्दी अनुवाद पर भी दो शब्द लिखना अनुचित न होगा। गद्य का अनुवाद कविता की तुलना में सरल नहीं होता। उसमें भी उतने ही श्रम की अपेक्षा होती है जितना कि कविता में। साथ ही यह कि कविता में तो भावार्थ तक पहुँचने के लिए अनुवादक थोड़ी बहुत सर्जनात्मक स्वतन्त्रता भी ले सकता है जबकि गद्य में उसे पूर्णरूप से मौलिक कृति के आधीन रहना होता है। फिर, हर भाषा का मुहावरा भी अलग होता है। उसे ठीक उसी रूप में दूसरी भाषा में लाया भी नहीं जा सकता। इन तमाम सीमाओं को देखते हुए यही कहना अलम् होगा कि अनुवादक अपने कार्य में सफल रहा है।

श्रीरासपञ्चाध्यायी : सांस्कृतिक अध्ययन

डॉ० कृष्णदत्त भारद्वाज

श्रीकृष्ण की रास-लीला का प्रतिपादन हरिवंश, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण और भागवत में हुआ है। भागवत के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध में ३१ से ३५ तक अध्यायों में रास का वर्णन हुआ है, अतः इन पाँच अध्यायों को ही रासपञ्चाध्यायी कहा जाता है ; और डाक्टर रसिकविहारी जोशी ने उसी का एक सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया है जो बड़ा ही विद्वन्मनोरम है।

बाल-कृष्ण ने अपने आठवें वर्ष में एक चमत्कार दिखाया। एक शारदी संध्यावेला में कुसुमित कानन में पर्यटन करते हुए उन्होंने देखा कि प्राची में अरुणाभ सुधाकर का उदय हुआ है, तो छेड़ दी वंशी की तान। तान क्या थी, प्रेम की रसमयी धारा थी जिसके आकर्षण से ब्रज-युवतियों ने अपने को हठात् श्रीकृष्ण की सन्निधि में पाया। श्रीकृष्ण थे एक, और गोपियाँ थीं अनेक। अतः श्रीकृष्ण ने माया से उतने ही रूप धारण कर लिए जितनी गोपियाँ, और तत्पश्चात् उनकी मण्डलाकार रास-नृत्य की लीला हुई जिसका काव्यमय चित्रण महर्षि वेदव्यास ने उपर्युक्त पाँच अध्यायों के १७४ पद्यों में, सुललित पदों में, किया है।

डॉ० जोशी ने पुस्तक की वैदुष्य-पूर्ण भूमिका में यह सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है कि श्रीकृष्ण की रास-लीला किसी व्यक्ति-विशेष की काम-लीला नहीं थी, अपितु परब्रह्म परमात्मा का ही एक विशिष्ट चिद्विलास था। लेखक ने अपनी मान्यता की उपपत्ति में ये युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं—

(अ) इस रास-लीला प्रसङ्ग के वक्ता थे परम भागवत जीवन्मुक्त शुकदेव, और श्रोता थे महाराज परीक्षित जो उस समय मुमुक्षा-वश निराहार रहकर सप्ताह-प्रवचन के श्रवण में दत्त-चित्त थे। वक्ता के गौरव, श्रोता की योग्यता और प्रसंग

लेखक : रसिकविहारी जोशी
प्रकाशक : मुंशीराम मनोहर लाल दिल्ली
मूल्य : दस रुपये

की अनुकूलता की रक्षा इसी में है कि पञ्चाध्यायी के रहस्य का उद्घाटन भागवती दृष्टि से किया जाय।

(आ) रास-पञ्चाध्यायी जिस महान् ग्रंथ का एक अङ्ग है उस भागवत-महापुराण को उस के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर 'पारमहंसी संहिता' कहकर स्मरण करने का सम्प्रदाय है। अतएव परमहंस-शिरोमणि शुकदेव के द्वारा परीक्षित को निमित्त बनाकर साधकों को परमहंसता प्रदान करने वाली इस पावन रचना में काम-कालुष्य के उपदेश का दर्शन नितान्त अनुपयुक्त है।

(इ) लौकिक दृष्टि से भी आठ वर्ष के बाल-कृष्ण में कामोदय की भावना असंगत है। अतः [illegible] रास-लीला को लौकिकी काम-लीला कहना उचित नहीं।

(ई) इच्छानुसार सहस्रों रूप बना सकने की शक्ति जितेन्द्रिय योगियों को ही प्राप्त हो सकती है, किसी जघन्य काम-दास को नहीं। और श्रीकृष्ण तो योगेश्वर थे। अतः उनकी रास-लीला की अलौकिक व्याख्या करना ही समीचीन है।

(उ) रास-पञ्चाध्यायी के उपक्रम में ही 'भगवान्' शब्द का प्रयोग यह सूचित कर रहा है कि श्रीकृष्ण की यह लीला कोई साधारण नर-लीला नहीं, अपितु नारायण की ही लीला है। शुकदेव जी ने पाँच अध्यायों में, बीच-बीच में, अनेक बार श्रीकृष्ण के लिए अव्यय, अच्युत, अधोक्षज, महात्मा, परमात्मा, स्व-रति, आत्माराम, सत्यकाम, वृजिनार्दन, योगेश्वरेश्वर, अज, विभु, निर्गुण, ईश्वर, परमेश्वर, रमेश, मा-धव, श्री-वल्लभ, भगवान् और विष्णु पदों का प्रयोग किया है जिससे पाठकों को श्रीकृष्ण की भगवत्ता का विस्मरण न हो।

(ऊ) रास-पञ्चाध्यायी के वर्णन के अनुसार गोपियाँ जानती थीं कि श्रीकृष्ण परात्-पर तत्त्व हैं। अतः उनकी श्रीकृष्ण के साथ लीला को अलौकिक ही मानना चाहिये। उदाहरणार्थ, गोपियों की श्रीकृष्ण-विषयक धारणा के परिचायक ये वचन हैं:—

(१) 'यह सर्वथा निश्चित है कि आप गोपिका-नन्दन नहीं हैं। आप तो सम्पूर्ण प्राणियों की अन्तरात्माओं को देखने वाले हैं। हे सखे, ब्रह्मा की प्रार्थना पर संसार की रक्षा करने के हेतु आप सात्त्वत-कुल में प्रकट हुए हैं।' [पृष्ठ १३९]

(२) 'हे वृष्णियों में अग्र-गण्य, हे कान्त, जन्म-मरण रूपी भव-सागर के भय से आपके चरणों की शरण में आने वालों को अभय प्रदान करने वाला कर-कमल हमारे मस्तक पर रख दीजिये।' (पृष्ठ १४१)

(ए) श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ रास-नृत्य काम पर विजय-प्राप्ति का डिण्डिम-घोष था। रास-पञ्चाध्यायी के उपसंहार से भी यही विदित होता है, क्योंकि वहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि इस प्रसंग के प्रवचन और श्रवण से साधक व्यक्ति के हृदय का काम-रोग नष्ट हो जाता है।

इन युक्तियों के आधार पर भागवत के पारस्परिक व्याख्याताओं ने रास-लीला का अलौकिक-लीला-परक ही अर्थ किया है। कृष्ण और राधा को अद्वैत-वादियों ने ब्रह्म और माया बताया है; द्वैतवादियों ने पुरुष और प्रकृति; योगाभ्यासियों ने सहस्रदल-कमल-वासी परमात्मा और मूलाधार-स्थिता कुण्डलिनी; एवं भक्तों ने भगवान् और उनकी आह्लादिनी शक्ति।

उपरितन युक्तियों में मदन-दमन वाली युक्ति विशेष रूप से हृदयङ्गम होती है। प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधर ने भी उसके प्रख्यापन में जो मङ्गलाचरण किया है उसमें उनका यह अभिप्राय निहित है कि श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ रास-मण्डल की लीला में स्वरूपस्थ रहकर उस कामदेव के भी गर्व को खर्व कर डाला जो ब्रह्मादि-स्तम्ब-पर्यन्त प्राणि-वर्ग पर विजय प्राप्त करने के कारण दृप्त हो उठा था। कुरुक्षेत्र के रण-रंग में अर्जुन को निमित्त बनाकर मानव मात्र को स्व-धर्म पर आरूढ़ रहने की प्रेरणा देते हुए श्रीकृष्ण ने कर्मयोग पर प्रवचन करते समय जो अन्य अनेक आनुषङ्गिक उपदेश दिये थे उनमें से एक यह भी था कि 'अरे वीर, काम दुर्धर्ष शत्रु है, उसका विध्वंस कर।' इस काम-विध्वंस के उपदेश का अधिकार भी श्रीकृष्ण को इसलिए था कि वे पहले रास-लीला में स्वयम् मदन का अश्रुतपूर्व दमन कर चुके थे।

ग्रन्थकार ने मूल पद्यों की व्याख्या करते समय अपने विपुल वैदुष्य का परिचय दिया है। अपने मत को प्रस्फुटित करने के लिए उन्होंने यथास्थान प्रामाणिक स्रोतों से उद्धरण दिये हैं। पद और पदांशों के भी जितने सम्भाव्य अर्थ हो सकते हैं, उनका निर्देश किया गया है। दिग्दर्शनार्थ, रास-पञ्चाध्यायी के आदिम पद्य में प्रयुक्त 'योगमाया' पद के इकत्तीस अर्थों पर विलक्षण प्रकाश डाला गया है। साहित्यिक, भक्तिक और देवशास्त्रीय आधारों पर आधारित यह व्याख्यात्मक सांस्कृतिक अध्ययन एक ओर सभी संस्कृतानुरागियों को रुचिकर होगा, तो दूसरी ओर जीव की भूमा के प्रति प्रीति के संवर्द्धन में सहायक भी।

अन्त में, डॉ० जोशी ने श्रीगोपीगीत के कतिपय पद्यों को चित्रकाव्योक्त बंधों में चित्रित किया है—वे हैं मृदंग-बंध, चतुर्दल-बन्ध, मुरज-बन्ध, पद्म-बन्ध, नाग-बन्ध और धनुर्बन्ध। यह बन्ध-प्रदर्शन लेखक की अपनी प्रतिभा का चमत्कार है, क्योंकि इससे पूर्व भागवत के किसी पद्य की चित्र-बन्ध-परक चर्चा नहीं सुनी गई थी।

रास-पञ्चाध्यायी का यह सांस्कृतिक अध्ययन वस्तुतः संस्कृत-निष्ठ हिन्दी-साहित्य की विवेचनात्मक विधा में इस वर्ष की एक नूतन, रसमयी अभिवृद्धि है।

वैदिक देवशास्त्र

आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति

भारतीय आर्यों के धर्म, सभ्यता, संस्कृति और चिन्तना का मूलस्रोत वेद हैं। आर्यों के धर्मग्रन्थ, उनके दर्शनशास्त्र और उपनिषद्, उनके आयुर्वेद, ज्योतिप, गणित, शिल्प और विज्ञान के ग्रन्थ, उनके संगीत और नाट्यशास्त्र, सबके सब अपना उद्गम वेद से मानते हैं और कहते हैं कि जो कुछ वेद में कहा गया है उसी की व्याख्या वे कर रहे हैं। आर्यों के इतिहास की लम्बी परम्परा में होने वाले मनु, याज्ञवल्क्य, कणाद, गौतम, पतंजलि, व्यास, जैमिनि, कपिल और शंकर आदि अद्वितीय प्रतिभा के धनी असंख्य ऋषि-मुनि, आचार्य और विचारक तथा भगवान् राम और कृष्ण जैसे युग-पुरुष सब वेद के आगे नतमस्तक होते रहे हैं और उसे अपनी चिन्तनाओं एवं प्रेरणाओं का स्रोत मानते रहे हैं तथा उसके उपदेशों के अनुसार अपना जीवन ढालते रहे हैं। वेदों में पाई जाने वाली चिन्तना और ज्ञान-विज्ञान के सम्बन्ध में व्यास और शंकर जैसे आचार्यों की तो इतनी ऊँची धारणा रही है कि वेदों की सत्ता को वे परमात्मा की सिद्धि में युक्ति के रूप में उपस्थित करते रहे हैं। वे कहते रहे हैं कि वेद में इतना अधिक ज्ञान-विज्ञान भरा है कि उनका बनाने वाला कोई सर्वज्ञ ही हो सकता है। मनुष्य सर्वज्ञ नहीं होता। अतः वेद मनुष्य के बनाये नहीं हो सकते। क्योंकि वेद हैं इसलिये उनका बनाने वाला सर्वज्ञ परमात्मा (ब्रह्म) अवश्य है।* आर्यों के समग्र जीवन में ही वेद ओत-प्रोत है। एक आर्य वेद-मन्त्रों के उच्चारण के साथ पैदा होता है और वेद-मन्त्रों के उच्चारण के साथ ही उसकी अन्त्येष्टि होती है। जन्म और मृत्यु के बीच में होने वाले उसके नामकरण, उपनयन और विवाह आदि सभी धार्मिक तथा सामाजिक कृत्य वेद-मन्त्रों के द्वारा ही निष्पन्न होते हैं। यदि हमने भारतीय आर्यों की संस्कृति और चिन्तना के तत्त्व को समझना हो तो हमें उसके स्रोत वेद को अवश्य जानना और समझना होगा। वेद

प्रो० एम. ए. मैकडानल की वैदिक माइथोलोजी का अनुवाद

अनुवादक : डॉ० सूर्यकान्त। पृष्ठ संख्या ३४+४५५+३१=५२०।

मूल्य : लाइब्रेरी संस्करण ४० रुपया, साधारण संस्करण ३० रुपया।

प्रकाशक : श्री भारत भारती प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली ६।

*** वेदान्त दर्शन १. १. ३**

के गम्भीर अध्ययन के बिना भारत की चिन्तना के उदात्त रूप और मर्म को नहीं समझा जा सकता।

भारत के इतिहास में एक लम्बा समय ऐसा आया जब कि वेद का पठन-पाठन प्रायः विलुप्त हो गया था। जिसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे लोगों के लिये वेद की भाषा अपरिचित हो गई और वेद को पढ़ने और समझने की सही प्रक्रिया भुला दी गई। फलतः वेद के विचारों और शिक्षाओं के साथ लोगों का सीधा सम्पर्क टूट गया। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति हज़ारों वर्ष तक रही, और इसी लिये आज से कुछ शताब्दी पूर्व स्कन्द, वेंकटमाधव, सायण, उव्वट और महीधर आदि ने वेदों की जो टीकायें लिखीं उनमें विचारों की वह उच्चता, गम्भीरता और व्यापकता परिलक्षित न हो सकी जिसे हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि, आचार्य और विचारक वेदों में पाते थे। सौभाग्य से भारत के १९ वीं शताब्दी के संस्कृत भाषा और शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् स्वामी विरजानन्द और उनके प्रचण्ड मेधावी एवं उद्भट विद्वान् शिष्य स्वामी दयानन्द का ध्यान वेदों के प्राचीन गौरव की ओर पुनः आकृष्ट हुआ। नेत्रहीन होने के कारण स्वामी विरजानन्द इस सम्बन्ध में विशेष कार्य न कर सके। परन्तु उन्होंने अपना सारा चिन्तन दयानन्द को सौंप दिया और दयानन्द से प्रतिज्ञा ली कि वह अपना सारा जीवन वेद के प्राचीन गौरव के पुनरुद्धार और पुनः संस्थापन में समर्पित कर दें। अपने गुरु की आज्ञानुसार ऋषि दयानन्द ने अपना सारा जीवन इसी काम में लगा दिया। अपने भाषणों और साहित्य-निर्माण के द्वारा उन्होंने वेद को लोकप्रिय बनाने और उसके पठन-पाठन में जनता की रुचि उत्पन्न करने में अद्वितीय कार्य किया। उन्होंने वेद के पठन-पाठन की लहर चला दी। उन्होंने शास्त्रों में बिखरे हुए निर्देशों को एकत्र करके वेद के अध्ययन की वह प्राचीन प्रणाली भी खोज निकाली जिसके अनुसार पुराने ऋषि-मुनि, और आचार्य वेद को पढ़ा करते और उसके विचारों की तह तक पहुँचा करते थे।

१९वीं शताब्दी में जिस समय भारत में ऋषि दयानन्द और उनके अनुयायी तथा उनके आन्दोलन से अनुप्राणित कुछ दूसरे विद्वान् इस प्रकार वेदों के अध्ययन में लगे हुए थे लगभग उसी समय योरोप के अनेक विद्वानों का ध्यान भी वेदों के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुआ। १९ वीं शताब्दी में योरोप में दर्जनों विद्वान् ऐसे हुए जिन्होंने अपना सारा जीवन वेदों के अनुसन्धान में लगा दिया। इनमें से मेक्स-मुलर, मोनियर विलियम्स्, विल्सन आदि कुछ विद्वान् तो ऋषि दयानन्द के बिल्कुल समकालीन थे और ऋषि का इनके साथ अच्छा परिचय और सम्पर्क था। योरोप के इन विद्वानों ने वेदों और वैदिक साहित्य के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज और उन्हें मुद्रित करने में असीम परिश्रम किया। उनके इस परिश्रम से स्वयं ऋषि दयानन्द को भारी सहायता मिली। ऋषि दयानन्द को पहले-पहल वेदों और अन्य

वैदिक साहित्य के जो मुद्रित संस्करण उपलब्ध हुए थे वे योरोपीयन विद्वानों द्वारा ही प्रकाशित किये गये थे। इन योरोपीयन विद्वानों ने न केवल वेदों को मुद्रित ही कराया प्रत्युत अपनी भाषाओं में उनके अनुवाद भी प्रकाशित किये, उन पर आलोचनायें भी लिखीं और उनके अध्ययन में सहायता देने के लिये अपने दृष्टिकोण से अनेक सहायक ग्रन्थ भी लिखे। विदेशी होते हुए भी इन विद्वानों ने जिस लगन और परिश्रम से यह कार्य किया है उसकी जितनी प्रशंसा की जाये थोड़ी है। इस युग में वैदिक साहित्य को प्रकाश में लाने में इन योरोपीयन विद्वानों का बड़ा भारी हाथ है और इस दृष्टि से उनका हम पर बड़ा भारी उपकार है। परन्तु वेद को देखने की इन लोगों की दृष्टि प्राचीन भारतीय दृष्टि से बिल्कुल भिन्न है। प्राचीन भारतीय आर्य विचारक वेद को ऊँचे आध्यात्मिक और भौतिक ज्ञान-विज्ञान का आकर मानते थे। ये योरोपीयन विद्वान् वैसा नहीं मानते। इनकी दृष्टि में वेद मानव विकास के बहुत प्रारम्भिक काल की रचनायें हैं। ऊँचा ज्ञान-विज्ञान वेदों में कुछ भी नहीं है। वायु, जल, बादल, बिजली और वर्षा आदि प्राकृतिक पदार्थों या शक्तियों के अनुकूल प्रभावों से प्रसन्न और आश्वस्त होकर तथा प्रतिकूल भावों से भयभीत होकर प्राचीन आर्य इन पदार्थों की प्रशंसा में जो गीत गाते थे या अपनी रक्षा के लिये जो प्रार्थनाएँ करते थे, वेद उसी का संग्रह मात्र है। और ये गीत और प्रार्थनायें भी बहुत साधारण और कई बार बहुत निम्न कोटि की हैं। इन गीतों से उस काल के आर्यों के रहन-सहन, खान-पान और रीति-रिवाजों की भी कुछ झलक मिल जाती है। कुछ थोड़ी-बहुत कविताओं में, जो कि बहुत बाद में लिखी गई हैं, ईश्वर-विषयक कुछ विचार भी मिल जाते हैं जो कि बहुत विकसित नहीं हैं। आज के विकसित योरोपीयन मनुष्य के पास जो विचार हैं वेद में नहीं पाये जाते। और तो और, वेद के धार्मिक विचार भी योरोप की ईसाईयत की समता नहीं कर सकते। योरोप के सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् मैक्समुलर साहब तो वेदों का अनुसन्धान और प्रकाशन कर ही इस विचार से रहे थे कि जब वेदों के भद्दे और नामाकूल विचार शिक्षित भारतीयों के आगे आयेंगे तो वे हिन्दू धर्म को छोड़ कर ईसाईयत को ग्रहण कर लेंगे। उन्होंने १८६६ में अपनी पत्नी को लिखे एक पत्र में लिखा था, "मेरा वेदों का यह संस्करण तथा अनुवाद भारत के भाग्य पर भारी प्रभाव डालेगा। यह उनके धर्म का मूल ग्रन्थ है और मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि उन्हें उसका दिग्दर्शन कराना ही गत तीन हजार वर्षों की धार्मिक भावनाओं की जड़ों को उखाड़ फेंकने का एक मात्र साधन है।" उन्होंने अपने समय के एक भारत-मंत्री को लिखा था, "भारत के प्राचीन धर्म का भविष्य अन्धकारमय है, और अब यदि ईसाई धर्म आकर उसका स्थान नहीं लेता है तो यह किस का दोष होगा?" मैक्समुलर साहब के वेदानुसन्धान की नीयत स्पष्ट है। दूसरे योरोपीयन अनुसन्धानकर्त्ताओं के मन में भी कुछ इसी प्रकार के विचार काम कर रहे थे। योरोपीयन विद्वान् विकासवाद के सिद्धान्त में दृढ़ विश्वास रखते हैं। उनके अनुसार मनुष्य जंगली काल से धीरे-धीरे विकास और उन्नति करते

करते आज के उन्नतिशील युग में पहुँचा है। उनके मत में वेद विकास के बहुत प्रारम्भिक काल की रचनायें हैं। आज का मनुष्य क्या धार्मिक और क्या दूसरे, सभी क्षेत्रों में बहुत उन्नत, सुलझे हुए और वैज्ञानिक विचार रखता है। उनकी दृष्टि में वेद के अध्ययन की उपयोगिता केवल इतनी ही है कि हम देख सकें कि आरम्भ काल के मनुष्य ने कहाँ से चलना आरम्भ किया था।

योरोप के जिन विद्वानों ने अपना सारा जीवन वेद के अध्ययन और अनुसन्धान में लगा दिया था उनमें प्रो० मैकडानल का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने अपनी दृष्टि से वेदानुसंधान के क्षेत्र में बड़ा भारी कार्य किया है। उनके वैदिक ग्रामर, वैदिक रीडर, वैदिक इंडेक्स और वैदिक माइथोलोजी आदि ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं और उनके परिश्रम और अध्ययन के परिचायक हैं। उनकी "वैदिक माइथोलोजी" तो उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है और उनके अध्ययन और परिश्रम का मूर्त्त निदर्शन है। इस ग्रन्थ के प्रणयन में इस विद्वान् ने जो घोर परिश्रम किया है उसे देखकर सौ-सौ बार प्रशंसा करने को जी चाहता है। परन्तु वैदिक माइथोलोजी के प्रणयन में भी योरोपीयन विद्वानों की वही विकासवादी विचारधारा काम कर रही है। वैदिककाल के आर्यों ने विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों और घटनाओं को देखा—उदाहरणार्थ, उन्होंनें देखा कि अग्नि, वायु, बादल, बिजली, वर्षा, आँधी, पानी, सूर्य और चन्द्र तथा इनका उदय और अस्त होना आदि अद्‌भुत पदार्थ और घटनायें हैं। ये पदार्थ और घटनायें अनेक प्रकार से मनुष्य को लाभ पहुँचाती हैं और अपने रौद्र रूप में उसकी हानि भी करती हैं और उसे कष्ट भी पहुँचाती हैं तथा कभी-कभी तो घोर संहार भी कर डालती हैं। ये प्राकृतिक पदार्थ इस प्रकार मनुष्य के अनुकूल और प्रतिकूल कार्य क्यों करते हैं? वेदकालीन आर्यों ने इस प्रश्न का समाधान प्राप्त करना चाहा और उन्होंने इसका यह समाधान किया कि इन प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों के पीछे इनके अधिष्ठात्री देवता हैं जो मनुष्यों की तरह ही प्राणधारी हैं और एक प्रकार के मनुष्य ही हैं, जिन में सामान्य मनुष्य की अपेक्षा असीम शक्ति है। इन प्राकृतिक दृश्यों के ये देवता जब प्रसन्न होते हैं तो मनुष्य को लाभ पहुँचाते और उसका मंगल करते हैं, परन्तु जब अप्रसन्न और क्रुद्ध हो जाते हैं तो उसकी हानि करते और उसे कष्ट पहुँचाते हैं तथा घोर संहार तक भी कर डालते हैं। वेद में विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों के इन्हीं मानवीकृत देवताओं की गाथायें हैं और इन देवताओं की प्रशंसा और प्रार्थनायें हैं। वेद के अग्नि, मित्र, वरुण, इन्द्र, मरुत, सविता, सोम, सूर्य, चन्द्र, उषा, वायु, मातरिश्वा, पर्जन्य, आपः, द्यौः, पृथ्वी, बृहस्पति, प्रजापति, यम, अर्यमा और हिरण्यगर्भ आदि देवता विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों के मानवीकृत रूप ही हैं। "वैदिक माइथोलोजी" में प्रो० मैकडानल ने वेद के इन्हीं मानवीकृत देवताओं के स्वरूप का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है। वेद के मन्त्रों में आये विशेषणों और वर्णनों को एकत्रित और समन्वित करके विभिन्न देवताओं के आकार-प्रकार, स्वरूप, जीवन, परिवार और कार्यों

आदि का स्पष्ट चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। और यह भी दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि किस मानवीकृत देवता का आधार कौन-सा प्राकृतिक दृश्य है। प्रो० मैकडानल ने अपने अनुसंधान का आधार मूल रूप में ऋग्वेद को रखा है। अन्य वेदों से भी कहीं-कहीं सहायता ली गई है, और कहीं-कहीं ब्राह्मण-ग्रन्थों के उद्धरणों को भी समर्थन के रूप में उद्धृत किया गया है। प्रो० मैकडानल की सम्मति में इन्द्र, मरुत्, आदि कई देवताओं की अवस्था में तो मानवीकरण की प्रक्रिया बहुत दूर तक पहुँच गई है परन्तु सूर्य, वायु आदि आदि अनेक देवताओं की अवस्था में मानवीकरण बहुत दूर तक नहीं गया है। इनकी अवस्था में देवता का मानवीकृत रूप और उसका प्राकृतिक आधार घुले-मिले से मिलते हैं। युद्ध के वाद्यों और शस्त्रों, घर के उपकरणों, पशुओं, पक्षियों, मेंढकों, नदियों और वृक्षों आदि का भी मानवीकरण हुआ है और उनकी भी प्रशंसा तथा उनसे भी प्रार्थनाएं कीं गई हैं। पर इन स्थलों में मानवीकरण की प्रक्रिया बहुत दूर नहीं गई है और वर्ण्यमान पदार्थ का भौतिक या प्राकृतिक रूप ही अधिक सामने रहता है। यों तो सभी देवताओं का मानवीकृत रूप और उनका प्राकृतिक आधार घुले मिले से पाये जाते हैं। मैकडानल के मत में, जैसा कि अन्य योरोपीयन विद्वानों का भी मत है, वेद के देवी-देवताओं के ये विहंगम और बे-सिर पैर के वर्णन ही हिन्दू धर्म का आधार हैं और इनसे ही हिन्दुओं के असंख्य देवी-देवताओं तथा हिन्दुओं में पाये जाने वाले अनगिनत अन्ध-विश्वासों की व्याख्या होती है। हिन्दुओं के धर्म में जो मिथ्या विश्वास और अवैज्ञानिक बातें पाई जातो हैं उनका मूल आधार वेद ही है। मैकडानल और उसके सधर्मा योरोपीयन स्कालरों का मत है कि वेद में एकेश्वरवाद जैसी ऊँची चीज़ें नहीं पाई जाती हैं। मैकडानल ने आजकल के हिन्दू धर्म में पाए जाने वाले एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को विदेशी प्रभाव से आई हुई चीज़ कहा है।

प्रो० मैकडानल और उनकी विचारधारा के लोगों के ये विचार पुराने भारतीय ऋषि-मुनियों, आचार्यों और विचारकों के मत से मेल नहीं खाते। इन भारतीय आर्य विचारकों के मत में वेद ऊँचे आध्यात्मिक ज्ञान का भण्डार है। उसमें एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन किया गया है। अग्नि, मित्र, वरुण आदि सब नाम उसी एक ईश्वर के हैं। ये भिन्न-भिन्न देवताओं के नाम नहीं हैं। स्वयं वेद में कहा है—"इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान, यम और मातरिश्वा उसी एक के नाम हैं, उस एक को ही ज्ञानी लोग अनेक नामों से कहते हैं" (ऋग्. १. १६४. ४६ अथर्व ९. १०. २८)। "वही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही आपः है और वही प्रजापति है" (यजुः ३२. १)। और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में वेद कहता है "वही एक सब देवों के नामों को धारण करने वाला है" (ऋग्. १०-२. ३ यजु० १७.२७ अथर्व २. १. ३)। एक अन्य प्रसंग में वेद ने कहा है, "वह किसी अन्य की अपेक्षा दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ, आठवाँ, नौवाँ,

अथवा दसवाँ नहीं है, वह तो अकेला ही वर्तमान है, अन्य सब देव उसी में वर्तमान हैं" (अथर्व १३. ५. १४-२१)। एक दूसरे प्रसंग में वेद कहता है "लोगो तुम अज्ञान में ढके रहने के कारण उस जगत् स्रष्टा को नहीं जान पाते जो तुम्हारे भीतर घट-घट का वासी होकर रम रहा है" (ऋग् १०, ८२, ७)। इस प्रकार वेद की स्पष्ट मान्यता है कि सृष्टि का रचयिता, घट-घट का वासी देव एक ही है और अग्नि, मित्र, वरुण, इन्द्र, और ब्रह्म आदि नाम इसी एक देव के हैं। प्रो० मैकडानल की, और दूसरे योरोपीयन स्कालरों की भी, धारणा है कि ऋग्वेद का प्रथम और दसवाँ मण्डल तथा यजुर्वेद और अथर्ववेद ऋग्वेद के शेष मण्डलों से बहुत पीछे की रचना हैं। इन पीछे की रचनाओं में जो कहीं-कहीं देवैक्य एकेश्वरवाद की झलक मिलती है वह एक तो बहुत स्पष्ट मौर विकसित नहीं है और दूसरे वह ऋग्वेद-कालीन आर्यों की मान्यता नहीं समझी जा सकती। ऋग्वेद का प्रथम और दसवाँ मण्डल तथा यजुर्वेद और अथर्ववेद शेष ऋग्वेद से पीछे की रचना हैं। इस स्थापना की पुष्टि में मैकडानल आदि पाश्चात्य विद्वानों के पास कोई भी पुष्ट और अकाट्य रूप से विनिगमक प्रमाण नहीं है। यह उनकी कल्पनामात्र है और कल्पना को ही वे सिद्धान्त मान बैठे हैं। उन लोगों का यह कहना भी कहनामात्र ही है कि वेदों के जिन स्थलों में देवैक्य या एकेश्वरवाद का संकेत मिलता है वह स्पष्ट और विकसित नहीं है और केवल आभास या झलक मात्र है। देवैक्य या एकेश्वरवाद के समर्थन में ऊपर वेद के जिन स्थलों की ओर निर्देश किया गया है उन से अधिक स्पष्ट और शब्द नहीं हो सकते। पाश्चात्य विद्वानों का यह कथन भी कथन मात्र ही है कि प्रथम और दसवें मण्डल के अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्यत्र देवैक्य का वर्णन नहीं मिलता। ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के प्रथम सूत्र में उस देवाधिदेव का अग्नि नाम से वर्णन करते हुए कहा गया है कि इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति, वरुण, मित्र, अर्यमा, अंश, त्वष्टा, रुद्र, मरुत, पूषा, द्रविणोदा, सविता, यम, पिता, भ्राता, सखा, ऋभु, अदिति, इला, वृत्रहा, सरस्वती और आदित्य ये सब नाम उसी एक के हैं। देवैक्य या एकेश्वरवाद का इससे अधिक स्पष्ट वर्णन और क्या होगा ? ऋग्वेद के प्रथम और दशम मण्डलों से भिन्न मण्डलों में भी स्थान-स्थान पर यह देखा जा सकता है कि अग्नि, मित्र, वरुण आदि तथा-कथित देवताओं में से किसी एक का वर्णन करते हुए उस के लिए तथाकथित दूसरे देवताओं के नामों का भी प्रयोग कर दिया जाता है। स्वयं प्रो० मैकडानल ने "वैदिक माइथोलोजी" में कई जगह इस बात की ओर सकेत किया है। क्या तथाकथित देवताओं के इस प्रकार के पारस्परिक नाम-विनिमय से यह स्पष्ट सूचना नहीं मिलती कि वेद वास्तव में भिन्न-भिन्न नामों से एक ही सत्ता का वर्णन कर रहे हैं ? वेद वस्तुतः ही ऐसा कर रहे हैं। वे भिन्न-भिन्न नामों से एक ही सत्ता का, एक ही देवा-धिदेव परमेश्वर का, वर्णन करते हैं। उस एक देवाधिदेव के अनेक पहलू, अनेक रूप, अनेक गुण और कर्म हैं। उस के ये भिन्न-भिन्न नाम उसके इन्हीं अनेक पहलुओं, इन्हीं अनेक गुणों और कर्मों को द्योतित करते हैं। वेद की भाषा बह्वर्थगर्भा है। उस

का एक-एक शब्द अनेक अर्थों को प्रकट करता है। वेद के ये इन्द्र, मित्र और वरुण आदि नाम परमेश्वर के तो हैं ही पर अपनी बह्वर्थगर्भता के कारण ये शब्द क्षेत्रभेद से अन्य अनेक पदार्थों के वाचक भी हो जाते हैं। उदाहरण के लिए इन्द्र शब्द विश्व-ब्रह्माण्ड रूपी राष्ट्र में उसके नियन्ता परमात्मा का वाचक है, शरीर-राष्ट्र में उसके नियन्ता जीवात्मा का वाचक है, समाज रूपी राष्ट्र में उसके नियन्ता राजा (या राज्य-शासन) का वाचक है और भौतिक पदार्थों में विद्युत् का वाचक है। और भी अनेक चीज़ों का वाचक यह इन्द्र शब्द हो जाता है। यही स्थिति अग्नि आदि अन्य नामों की भी है। अपनी इस बह्वर्थगर्भता के कारण वे आध्यात्मिक और भौतिक अनेक प्रकार की विद्याओं, अनेक प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों, के भण्डार बन जाते हैं। पुराने आर्य विचारकों की यही मान्यता वेद के विषय में रही है।

प्रो० मैकडानल और दूसरे पाश्चात्य विद्वान् वेद को इस गम्भीर दृष्टि से नहीं देख पाते। और इसका कारण यह है कि वे वेद की भाषा की बह्वर्थगर्भता को नहीं पहचानते—वेद की भाषा की गहराई और व्यापकता को अनुभव नहीं करते। दूसरे शब्दों में, वेद का अध्ययन करने की उनकी शैली सही नहीं है। उनकी वेदाध्ययन की पद्धति सायण पर आधारित है। आज से कुछ शताब्दी पूर्व ईसा की १४वीं शताब्दी में जब सायण ने वेद का अर्थ लिखा था तो उसे भी वेदार्थ की सही शैली का परिज्ञान नहीं था। इसीलिए वह वेद में वैसा कुछ भी ज्ञान-विज्ञान नहीं दिखा सका जिसकी ओर मनु और दूसरे प्राचीन विचारकों ने संकेत किया है। केवल ऋषि दयानन्द ही नहीं कहते, इस युग के महान् योगी, पाश्चात्य विद्याओं के धुरन्धर पंडित और वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् श्री अरविन्द[1] ने भी लिखा है कि सायण और उसके पीछे चलने वाले राथ आदि पाश्चात्य विद्वानों की वेद का अध्ययन करने की शैली नितान्त ग़लत है, उससे वेद का मर्म नहीं समझा जा सकता। और भी अनेक विद्वानों का ऐसा ही मत है।

प्रो० मैकडानल वैदिक शब्दों की गहराई और व्यापकता तक नहीं पहुँच सके हैं। इसीलिए उन्होंने वैदिक देवताओं का जो स्वरूप निर्धारित किया है वह वेद के मर्माशय के अनुकूल नहीं है। उन के अपने मन्तव्य के अनुसार वैदिक देवता प्राकृतिक दृश्यों के मानवीकरण हैं। पर वे अधिकांश देवताओं के विवेचन में सुस्पष्ट रूप से यह नहीं बता सके हैं कि वे किस प्राकृतिक दृश्य के मानवीकरण हैं। अटकलबाज़ी से काम लिया गया है। कितने ही देवताओं के प्राकृतिक आधार की कल्पना करते हुए तो कई-कई अटकलें लगाई गई हैं। प्रो० मैकडानल ने कुछ देवताओं को तो विशुद्ध भारतीय बताया है। और कुछ को भारत-ईरानी काल के तथा कुछ को भारत-योरोपीयन काल के बताया है। जिसका अर्थ यह है कि जब पुराने आर्य योरोप में और

---

1. Tilak, Bankim and Dayanand.

फिर ईरान में रहते थे तब इन देवताओं की कल्पना की गई थी और वे जब वहाँ से कालान्तर में भारत में आये तो वे इन देवताओं को भी अपने साथ लेते आये। और बाद में भारत में बसने के बाद भी उन्होंने कुछ देवताओं की कल्पना की। यह मेक-डानल और अन्य पाश्चात्य स्कालरों की कोरी कल्पना है जो कि योरोप की भाषाओं में पाये जाने वाले कुछ शब्दों तथा 'जेन्द अवस्ता' में पाये जाने वाले बहुत से शब्दों की वैदिक शब्दों के साथ प्रतीयमान समता के आधार पर खड़ी की गई है। इस स्थापना के लिए कोई भी निश्चयात्मक और विनिगमक प्रमाण नहीं है कि भारत के आर्य योरोप और ईरान से ही आये थे। समस्त संस्कृत साहित्य में इस बात की ओर कहीं संकेत तक नहीं मिलता कि भारत के आर्य कहीं बाहर से इस देश में आये थे। इतिहास की इतनी बड़ी घटना का संपूर्ण संस्कृत साहित्य में कहीं स्पष्ट उल्लेख तो दूर रहा, संकेत तक भी न हो, यह आश्चर्य की बात है। योरोप और ईरान के पुराने साहित्य में भी इस घटना का उल्लेख नहीं मिलता। केवल योरोप की भाषाओं और अवेस्ता में पाये जाने वाले कुछ शब्दों की वैदिक शब्दों के साथ दिखाई देने वाली समानता के आधार पर कल्पना का यह महल खड़ा कर लिया गया है। यह भी तो हो सकता है कि भारत के आर्य ही कभी अतीत काल में ईरान और योरोप की ओर गये हों और उनके साथ उनकी भाषा के शब्द भी वहाँ पहुँच गये हों। पावगी आदि कई ऐति-हासिकों का तो यही मत है कि भारत के आर्यों ने ही भारत के बाहर प्रव्रजन किया था। प्रायः पाश्चात्य विद्वानों की यह शैली है कि वे पहले तो केवल कल्पना के आधार पर कहते हैं कि 'शायद ऐसा हुआ होगा' और फिर कहने लग पड़ते हैं कि 'ऐसा ही हुआ है'। वैदिक माइथोलोजी के लेखक की स्थापनाएँ भी कुछ इसी तरह की हैं।

जो लोग विकासवादी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वेद को देखते हैं और मानते हैं कि वेद में हिन्दूधर्म और उस के देवताओं के विकास की 'आरम्भिक कड़ियाँ' दृष्टिगोचर होती हैं, उनका दृष्टिकोण वैदिक माइथोलोजी में प्रो० मैकडानल ने बहुत अच्छी तरह प्रदर्शित किया है और उसके लिये किये गये प्रो० मेकडानल के अध्ययन और परिश्रम को देखकर दंग रह जाना पड़ता है। यह देखकर अचंभित रह जाना पड़ता है कि इस विद्वान् ने अपने दृष्टिकोण से किस प्रकार वेद के एक-एक शब्द को देखा है और उससे अपने परिणाम निकाले हैं। वेद को विकासवादी ऐति-हासिक दृष्टिकोण से देखने वाले, लोगों के लिये प्रो० मैकडानल का यह ग्रन्थ बड़े महत्त्व का है और इस के पढ़े बिना उनका अध्ययन अपूर्ण रहेगा। जो लोग इस दृष्टि-कोण को स्वीकार नहीं करते और वेद के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण को ही अपनाते हैं उनके लिए भी यह ग्रन्थ पढ़ने की चीज है। इसे पढ़कर वे जान सकेंगे कि इस युग के विकासवादी ऐतिहासिक लोग वेद के सम्बन्ध में क्या सोचते और क्या लिखते हैं। उन्हें अपने विचारों के साथ दूसरों के विचारों की तुलना करने का अवसर मिलेगा। इस प्रकार प्रो० मेकडानलै का यह ग्रन्थ सभी प्रकार के वेदानुशीलन-

कर्त्ताओं के लिए पठनीय ग्रंथ है। वेद का कोई भी विद्यार्थी इस ग्रन्थ की उपेक्षा नहीं कर सकता।

"वैदिक देवशास्त्र" प्रो० मेकडानल की वैदिक माइथोलोजी का हिन्दी अनुवाद है। अनुवादक हैं हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष डा० सूर्यकान्त। डा० सूर्यकान्त संस्कृत और वैदिक साहित्य के एक माने हुए विद्वान् हैं। वे पंजाब विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष भी रह चुके हैं। आपने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। वैदिक माइथोलोजी का आपका यह अनुवाद बहुत ही सुन्दर हुआ है। अनुवाद चलती और टकसाली हिन्दी में हुआ है। भाषा सरल और प्रवाहमयी है। अनुवाद अनुवाद नहीं लगता—मौलिक रचना प्रतीत होती है। अनुवाद का कार्य आसान नहीं होता। अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद कार्य तो और भी कठिन है क्योंकि दोनों भाषाओं की शैली और भावाभिव्यंजन के प्रकार एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। डा० सूर्यकान्त ने यह दुष्कर कार्य भी बड़ी योग्यता से निभाया है। मूलग्रन्थ के आशय की पूर्ण रक्षा करते हुए उसका सरल, सुबोध और सरस अनुवाद किया गया है। वेदों के प्रति पाश्चात्य विद्वानों का मत जानने के लिये प्रो० मैकडानल की वैदिक माइथोलोजी बड़े महत्त्व का ग्रन्थ है। वैदिक माइथोलोजी दुष्प्राप्य थी। डा० सूर्यकान्त ने उसका यह अनुवाद प्रस्तुत करके वेद के विद्यार्थियों और अनुशीलन-कर्त्ताओं का बड़ा उपकार किया है। "वैदिक माइथोलोजी' में वेदों और अन्य ग्रन्थों के उद्धरणों के पते ही दिये गये थे, मूल उद्धरण नहीं दिये गये थे। डाक्टर साहब ने अपने अनूदित 'देवशास्त्र' में इन ग्रन्थों के मूल उद्धरण भी दे दिये हैं। इस से ग्रन्थ की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। ऐसा उपयोगी ग्रन्थ हिन्दी जगत् को देने के लिए डा० सूर्यकान्त बधाई के पात्र हैं।

आरम्भ में डा० सूर्यकान्त ने एक लम्बी भूमिका भी लिखी है। इस भूमिका में इन्होंने भी विकासवादी ऐतिहासिक दृष्टिकोण को ही अपनाया है। पाश्चात्य विद्वानों ने विभिन्न जातियों, विशेपकर आदिम जंगली जातियों के विश्वासों, धर्मों, और देवमालाओं का अनुसन्धान करके धार्मिक मन्तव्यों के विकास के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं उन्हीं के आधार पर इन्होंने यह भूमिका लिखी है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि हिन्दू धर्म और अन्य धर्मों में आत्मा और परमात्मा-सम्बन्धी जो ऊँचे और प्रौढ़ विचार आज पाये जाते हैं वे प्रारम्भ से ही वैसे नहीं रहे हैं। वे दीर्घकालीन विकास का परिणाम हैं। जीवन की अशान्ति, चिन्ता और दुःख से छूटने तथा सुरक्षा पाने की भावना से प्रेरित होकर अनेक प्रकार की स्पिरिटों (Spirits), दैत्य-दानवों और देवी-देवताओं की कल्पना मानव करता रहा है और उन्हें प्रसन्न करने के लिए भाँति-भाँति के उपासना-प्रकारों को अपनाता रहा है। धीरे-धीरे यह कल्पना सुलझती और मँजती रही और लम्बे समय तक यह परिष्कार की प्रक्रिया चलती रही। बहुत दीर्घकाल के विकास और परिष्कार के

अनन्तर धर्मों में पाये जाने वाले आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी आज के सुलझे हुए, प्रांजल, सूक्ष्म और तर्कसम्मत विचारों की उपलब्धि हुई है। अपनी इस भूमिका के द्वारा डा० सूर्यकान्त ने एक प्रकार से प्रो० मैकडानल की वैदिक या हिन्दू धर्म विषयक विकासवादी मान्यताओं का ही समर्थन किया है। इस भूमिका से इनके विस्तृत अध्ययन और भारी पाण्डित्य का परिचय मिलता है।

पुस्तक का आकार-प्रकार, कागज और छपाई सब सुन्दर हैं।

डा० कैलाशनाथ शर्मा

प्रस्तुत पुस्तक के १० अध्यायों में लेखक ने क्रमशः पृथ्वी के जन्म और जीवन के विकास, मनुष्य के आविर्भाव और प्रकृति पर विजय, पाषाणकाल के विभिन्न युगों, ताम्र, प्रस्तर और कांस्य कालों एवं नगर क्रान्ति और सभ्यता के जन्म पर प्रकाश डाला है। १२७ पृष्ठ की इस पुस्तक में ५७ चित्र, ४ मान-चित्र और ४ तालिकायें हैं। पुस्तक के अन्तिम भाग के १८ पृष्ठों में पाषाण-कालीन संस्कृतियों, हिन्दी-अंग्रेज़ी पर्यायवाची शब्दों और पठनीय सामग्री की सूचियाँ एवं अनुक्रमणिका दी गई हैं। हिन्दी में इस प्रकार की सांगोपांग पुस्तकें कम प्रकाशित होती हैं, अतः लेखक का यह प्रयत्न प्रशंसनीय है।

इस पुस्तक को पढ़ने के समय मुझे कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय (बर्कले) के कला-विभाग के एक प्राध्यापक की महत्त्वपूर्ण बात याद आ गई। मैंने वहाँ के कुछ आधुनिक चित्रों को देखकर उनसे पूछा : 'इन चित्रों में क्या चित्रित किया गया है? मेरी समझ में कुछ नहीं आता।' उन्होंने उत्तर में कहा, 'जब आप कुछ लिखते हैं तो यह ध्यान में रखते हैं कि आप किस प्रकार के पाठकों के लिये लिख रहे हैं। जिस प्रकार प्रारम्भिक विद्यार्थियों, ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों, सामान्य पाठकों और विशिष्ट विद्वानों के लिये अलग-अलग शैली अपनायी जाती है, ठीक उसी प्रकार चित्रों की बात है। ये चित्र चित्र-कला के विशिष्ट विद्वानों के लिए बनाये गये हैं, न कि सामान्य दर्शकों के लिये।' भले ही एक व्यक्ति यह कहे कि केवल विशिष्ट विद्वानों के लिये ही चित्र बनाना चित्रकला का हनन करना है, पर पुस्तक की शैली के बारे में उनकी उक्ति बिलकुल खरी है। लेखक ने पुस्तक के संक्षिप्त रूप की भाँति लिखे हुए 'दो शब्द' में 'आधा' शब्द भी यह बतलाने के लिये नहीं लिखा है कि यह पुस्तक किस प्रकार के पाठकों के लिये लिखी गई है। ऐसी दशा में प्रकाशक ने यह घोषणा करने का दुस्साहस किया है कि 'सामान्य तथा विशिष्ट पाठकों के

लेखक : **श्री० श्रीराम गोयल**
प्रकाशक : **विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर (१९६१)।**
मूल्य : **६.५० रुपये**
पृष्ठ : **१२७**

लिये······लेखक ने इस पुस्तक की रचना की है।' यदि 'विशिष्ट पाठकों' से प्रकाशक का तात्पर्य (विशिष्ट अर्थ में) केवल प्रारम्भिक विद्यार्थियों से है तो कोई बात नहीं है। पर सामान्य अर्थ में 'विशिष्ट पाठकों' की दृष्टि से यदि इस पुस्तक को देखा जाय तो यह उनकी बुद्धि और ज्ञान का सरासर अपमान है। सामान्य अर्थ में सामान्य पाठकों के लिये विस्तृत व्याख्या और वर्णन आवश्यक हैं, जबकि पुस्तक की लिखित सामग्री बहुत अधिक संक्षिप्त (करीब ४० पृष्ठ) है। यह सर्वथा अपर्याप्त है। यदि प्रारम्भिक विद्यार्थियों को दृष्टि में रख कर यह पुस्तक लिखी गई है तो मैं इसका स्वागत करता हूँ।

हिन्दी में 'ताकनिकल' विषयों पर पुस्तक लिखने में सबसे प्रमुख समस्या अंग्रेजी के रूढ़िगत शब्दों का अनुवाद है। लेखक ने इसके लिये संस्कृत भाषा के साथ-साथ साधारण बोलचाल की भाषा और अंग्रेज़ी के शब्दों का प्रयोग कर न केवल अपनी समस्या का ही निराकरण किया है, वरन् अपनी उदारता का परिचय भी दिया है। पर कुछ शब्दों के अनुवाद खटकते हैं, जैसे अंग्रेज़ी के 'Mutation' शब्द का अनुवाद 'तात्त्विक परिवर्तन' (पृष्ठ ५)। वास्तव में इस शब्द से आकस्मिकता का बोध होता है, न कि तत्त्व का। अंग्रेजी के 'Mana' शब्द का स्वीकृत उच्चारण 'माना' है, न कि 'मन' (पृष्ठ ११४)। हिन्दीकरण की दृष्टि से भी 'मन' लिखना मन का भ्रम पैदा कर सकता है। मेरी दृष्टि में हिन्दी के 'ताकनिकल' शब्दों के साथ अंग्रेजी के शब्द देना अभी कम से कम एक दशक तक आवश्यक रहेगा। पर इस सम्बन्ध में प्रत्येक लेखक को अपनी एक नीति का निर्धारण करना चाहिये। कहीं केवल अंग्रेज़ी के शब्दों का हिन्दी उच्चारण (प्रोटोप्लाज्म, प्रोटोजोआ और मेटाजोआ (पृष्ठ, ४), कहीं हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों के शब्द देना [जीवन-संघर्ष का नियम (struggle for existence] (पृष्ठ ४), कहीं केवल अंग्रेज़ी में ही नाम का उल्लेख (Goldsmith, पृष्ठ ५), कहीं हिन्दी और अंग्रेजी के शब्दों का साथ-साथ देना (अतिनूतन अथवा प्लीयोसीन युग Pliocene period), (प्रातिनूतन अथवा प्लीस्टोसीन युग Pleistocene period, पृष्ठ, १३) इस बात का प्रमाण है कि लेखक ने किसी भी नीति का निर्धारण किये बिना शीघ्रता में पुस्तक लिखी है।

भाषा की दृष्टि से भी कुछ त्रुटियाँ हैं। यदि भूतकाल की क्रियाओं के साथ किये गये लम्बे वर्णन के बीच में वर्तमान-काल वाले वाक्य आ जाते हैं तो खटकते हैं, जैसे 'जल-बिच्छू, जो ६ फीट तक लम्बा होता था, प्राचीन जीव-युग के प्रारम्भ में पृथ्वी का सर्वोच्च प्राणी था। लेकिन कुछ समय बाद परिस्थिति बदल जाती है और पृथ्वी पर मछलियों की संख्या बढ़ जाती है। चित्र २)। इनके आँख और दाँत इत्यादि अवयव भली भाँति विकसित हो चुके थे और रीढ़ की हड्डी बन चुकी थी।' (पृष्ठ ८) और इसके साथ ही नये प्रकार के जीव भी दिखाई देते हैं, जिनमें पक्षी

और स्तनपायी प्राणी (Mammals) प्रमुख हैं।······जिस समय पृथ्वी पर सरी-सृपों का बाहुल्य था, बहुत से प्राणियों को जीवन-संघर्ष में सफलता नहीं मिली।' (पृष्ठ, ११)

भाषा की इन कमियों के लिए लेखक से अधिक उत्तरदायित्व प्रकाशक का है। लेखक से भाषा और पुस्तक के सम्पादन की पूरी आशा नहीं की जाती। यह कार्य प्रकाशक की ओर से नियुक्त योग्य सम्पादक का है। भारत में विशेष रूप से हिन्दी के प्रकाशक सम्पादन पर व्यय व्यर्थ या अपव्यय समझते हैं। वे यह जानना नही चाहते कि हिन्दी के विकास में उनकी अपनी देन की इतिश्री लेखक की पाण्डु-लिपि के प्रकाशन-मात्र से नहीं हो जाती।

फिर भी प्रकाशक और लेखक दोनों बधाई के पात्र हैं, क्योंकि प्रकाशक के अनुसार इस विषय पर यह पुस्तक हिन्दी भाषा में सर्वप्रथम है।

———

प्राचीन भारतीय साहित्य (प्रथम भाग, प्रथम खंड)

डा० रसिक बिहारी जोशी

प्रस्तुत पुस्तक संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० विन्टरनित्स की 'A History of Indian Literature' Vol. I, Part I, का हिन्दी भाषान्तर है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय तथा संस्कृत साहित्य के इतिहास पर पाश्चात्य तथा पौरस्त्य विद्वानों के भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं तथापि अपनी प्रामाणिकता, विषय-गाम्भीर्य, सरल, स्पष्ट तथा सुगम्य भाषा प्रवाह के कारण विन्टरनित्स की कृति का मूर्धन्य स्थान आज भी अक्षुण्ण है। ऐसे यशस्वी लेखक की रचना के हिन्दी अनुवाद का संकल्प और प्रकाशन का विनियोग अपने में अत्यन्त शुभ है।

अनुवादक ने प्रारम्भ में ही यह दावा किया है कि उनका हिन्दी अनुवाद मूल लेखक की जर्मन रचना पर आधारित है। समीक्षक का जर्मन भाषा-ज्ञान इतना नहीं है कि हिन्दी अनुवाद का मूल्यांकन जर्मन भाषा की मूल रचना पढ़कर कर सके, फलतः प्रस्तुत समीक्षा श्रीमती केतकर के अंग्रेजी अनुवाद के ज्ञान पर अवलम्बित है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि श्रीमती केतकर स्वयं जर्मन थीं। इस प्रकार अंग्रेजी अनुवाद की प्रामाणिकता में सन्देह का स्थान अत्यल्प है। साथ ही विन्टरनित्स ने स्वयं श्रीमती केतकर के अंग्रेजी अनुवाद को पढ़कर और उसका संशोधन करके अपनी पूर्व सहमति द्वारा अनुवाद को प्रामाणिकतम बना दिया है।

किसी ग्रन्थ के अनुवाद की सफलता तभी पूर्ण होती है जबकि मूल लेखक के भाव तथा अभिप्राय विकृत न हों। यह लक्ष्य वर्तमान अनुवाद में स्थान-स्थान पर च्युत परिलक्षित होता है। स्थालीपुलाकन्याय द्वारा मैं इस अनुवाद की कुछ ऐसी त्रुटियों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कराना चाहता हूँ जो इसकी प्रामाणिकता तथा उपादेयता को नष्ट करती हैं।

मूल लेखक : डा० एम. विन्टरनित्स,
अनुवादक : श्री० लाजपतराय
प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
मूल्य : दस रुपया, पृष्ठ संख्या ६+२६४।

(१) विन्टरनित्स ने अपने ग्रन्थ में मूल ग्रन्थ के स्पष्टीकरण के हेतु अनेक संक्षिप्त टिप्पणियाँ जोड़ी हैं। ये टिप्पणियाँ प्रचुर संख्या में हैं और कहीं-कहीं दस-दस पंक्तियों की हैं। अनुवादक ने इन टिप्पणियों का अनुवाद कहीं-कहीं बिल्कुल छोड़ दिया है। उदाहरण के लिए—"शूद्र कहीं का" (पृ० १८४)। यहाँ मूल लेखक ने टिप्पणी में लिखा है कि यहाँ शूद्र शब्द का प्रयोग गाली के अर्थ में किया गया है। टिप्पणी के अभाव में शूद्र शब्द का अभिधेय द्वारा उपस्थान असंगत है।

(२) विन्टरनित्स ने जहाँ-जहाँ ऋग्वेद आदि संस्कृत के मूल ग्रन्थ के अनुवाद दिये हैं, वहाँ सर्वत्र टिप्पणी में यह स्पष्ट संकेत किया है कि यह अनुवाद मैक़डानल, ग्रिफ़िथ, ब्लूमफील्ड आदि का है। हिन्दी भाषान्तर में अनुवादक ने इन सभी उद्धरणों को हटा दिया है। इससे यह भ्रम उत्पन्न होता है कि अनुवादक का अनुवाद ऋग्वेद आदि मूलग्रन्थ पर अवलम्बित है, जबकि अनुवाद की वाक्यरचना और शब्दविन्यास आदि यह स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि अनुवाद मैकडानल आदि विद्वानों के अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी अनुवाद है।

(३) अनुवादक ने स्थान-स्थान पर कुछ ऐसी पंक्तियाँ जोड़ दी हैं जिनका मूल रचना से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार का परिवर्धन विन्टरनित्स की मूल भाव-धारा को कपायित करता है। देखिए—

(क) "लोगों का खून चूस कर उन्हें कमजोर कर देते हो," (पृ० १०३)। इस आशय का एक शब्द भी मूल ग्रन्थ में नहीं है।

(ख) (पृ० ११३) पर 'कम्बख्त' शब्द का मूल से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(४) अनुवाद करते समय हिन्दी शब्दचयन में भी अनुवादक ने पर्याप्त असावधानी का परिचय दिया है—

(क) Ethnology का अनुवाद 'जनशास्त्र' किया गया है, (पृ० ५१)। इससे नागरिक शास्त्र की भ्रान्ति होती है। जबकि 'नृवंशविद्या' से आशय है।

(ख) 'Priestly religion' (पृ० ११२) को 'ब्राह्मणों की पोपलीला' कहा गया है (पृ० १०२), इसका अनुवाद 'पौरोहित्य धर्म' उपयुक्त था। 'पोपलीला' शब्द द्वारा जो हेय ध्वनि निकलती है, वह मूल में लेशमात्र भी नहीं है।

(ग) Most precious possession को केवल प्रशंसा में कहकर छोड़ दिया है। (पृ० ५०)।

(घ) 'Poorer' का अनुवाद 'कम्बख्त' किया गया है। "क्या देवताओं से भी कम्बख्त वस्तु दुनिया में कोई है।" (पृ० १६१)। इस शब्द द्वारा भाव ही परिवर्तित हो जाता है और पाठक की एक अन्य विकृत धारणा बनती है।

(५) अनेक स्थलों पर अनुवाद करते समय कुछ महत्त्वपूर्ण शब्द छोड़ दिये गये हैं। कहीं-कहीं वाक्यों का सारमात्र ग्रहण किया गया है—

(क) 'प्रत्येक अंग की, प्रत्येक रहस्य की व्याख्या ब्राह्मणों में काफी खोलकर की गई है।' पृ० १४१ (विन्टरनित्स ने इस प्रसंग में Mystical तथा Symbolical शब्दों का प्रयोग किया है।) ये दोनों शब्द ब्राह्मण-ग्रन्थों के एक विशेष पक्ष को प्रकाशित करते हैं। अनुवाद में दोनों को छोड़ दिया गया है।

(ख) "भारतीय धर्म विकास के अपेक्षया अर्वाचीन युग में" पृ० १५२। अनुवाद की यह पंक्ति मूल लेखक का भाव स्पष्ट नहीं करती।[1] अनुवाद के द्वारा तन्त्र में रहस्यात्मक मन्त्रों तथा बीजमन्त्रों का भाव सर्वथा लुप्त हो जाता है।

(ग) 'The characteristic element of the Yajurveda is the prose formulae and prayers' (पृ० १५५) का अनुवाद है "जो विशुद्ध यजुर्वेदीय गद्य मन्त्रों का" इस प्रकार अनुवाद में यजुर्वेद की प्रधान विशेपता छूट जाती है।

(६) कहीं-कहीं अनुवाद इतना विकृत हो गया है कि इसका कोई भी सम्बन्ध मूल लेखक की रचना से प्रतीत नहीं होता।

(क) 'Fire is looked throughout as identical with firegod.' (पृ० १५१) इस पंक्ति का अनुवाद है— "पुजारी की ध्यान-धारणा का एकमात्र विपय है।" (पृ० १४१)। यह भाव मूल में कहीं नहीं है।

(ख) 'As women cover within a chest'. (p. 124) का अनुवाद किया गया है—"जैसे किसी सन्दूक में अपने मनहूस खजाने को" (पृ० ११४)।

---

1. 'In the tantras, the religious books of more recent Indian sects, the use of such mystical syllables and words', *A History of Indian Literature*, p. 162.

(ग) 'As a wreath of the tree' (p. 124) का अनुवाद "जैसे वन से एक फूलों की माला गूँथ रही होऊँ" (पृ० ११३)। अनुवाद असंबद्ध व असंगत है।

(घ) 'शूद्र को वेद का अधिकार नहीं है।' (पृ० १८५)। मूल लेखक ने लिखा है कि केवल तीन उच्च जातियों के सदस्य को ही वेद में उपदिष्ट करने का अधिकार है।[1] इसी भाव को न रखकर शूद्र के वेदाध्ययन के अनधिकार पर ज़ोर दिया गया है।

इस समीक्षा के पश्चात् यह लिखते हुए मन खिन्न होता है कि विन्टरनित्स जैसे यशस्वी लेखक की प्रामाणिक रचना के हिन्दी अनुवाद की पूर्ति का श्रेय वर्तमान अनुवाद को प्राप्त नहीं होता। इस रचना के प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद की अब और भी अधिक आवश्यकता हो गई है।

---

1. 'Only a member of the three highest castes may be instructed in the Veda'. *A History of Indian Literature*', p. 201.

प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन

डा० कृष्णदत्त वाजपेयी

इतिहास के निर्माण में अभिलेखों का महत्त्व निर्विवाद है। भारत के प्राचीन इतिहास की सामग्री जिन मुख्य साधनों द्वारा इकट्ठी हुई है, उनमें मुद्राओं एवं विविध कलावशेषों के अतिरिक्त वहुसंख्यक अभिलेख भी हैं।

इस देश में अभिलेखों की खोज तथा उनके आधार पर इतिहास-निर्माण का कार्य अठारहवीं शती के अंतिम चतुर्थांश से प्रारम्भ हुआ। प्रसिद्ध विदेशी विद्वान् प्रिंसेप के द्वारा भारत की प्राचीन लिपि ब्राह्मी का पाठ प्रस्तुत कर लेने के बाद अभिलेखों के अभिज्ञान की दिशा में पर्याप्त सफलता मिली। मौर्य काल से लेकर मध्य काल तक के लेख पढ़ लिए गये। उन पर अनेक विद्वानों ने गवेषणापूर्ण ग्रंथ एवं लेख लिखे, जिनसे हमारे प्राचीन इतिहास पर बड़ा प्रकाश पड़ा। अभी तक जो अनेक युग 'अंधकार युग' कहे जाते थे उनके बारे में भी अब भ्रांति बहुत कुछ दूर हो गई।

अधिकांश भारतीय अभिलेखों के सम्बन्ध में आवश्यक विवरण अंग्रेजी या अन्य विदेशी भाषाओं में प्रकाशित मिलते हैं। अनेक लेखकों ने ब्राह्मी या खरोष्ठी लेखों को रोमन लिपि में मुद्रित कराया। इससे हिन्दी पाठकों के लिए बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दी का पहला बड़ा प्रकाशन है, जिसमें प्राचीन भारत के सभी युगों के मुख्य अभिलेखों के संग्रह का प्रयास दिया गया है। इस दृष्टि से ग्रन्थ के लेखक और प्रकाशन का यह कार्य सराहनीय है। लेखक डा० वासुदेव उपाध्याय प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के जाने-माने विद्वान् हैं। उन्होंने

लेखक : डा० वासुदेव उपाध्याय

प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

पृष्ठ : १८ + २८३ + २४६

मूल्य : २० रुपये

इस ग्रन्थ के द्वारा न केवल इस विषय के विद्यार्थियों को उपकृत किया है, अपितु हिंदी साहित्य के भंडार में एक उल्लेखनीय अभिवृद्धि की है।

प्रस्तुत ग्रंथ के दो खंड हैं—पहले में विस्तृत भूमिका के रूप में अभिलेखों के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे खंड में मौर्य युग से लेकर ई० बारहवीं शती तक के लेख संग्रहीत हैं। पहले खंड में विवेच्य विषयों को क्रमशः इस प्रकार दिया गया है—इतिहास की भौगोलिक पृष्ठभूमि, प्रशस्ति का विवेचन, अभिलेख लिखने के आधार, प्रशस्ति अंकन के अवसर एवं स्थान, अभिलेखों से इतिहास ज्ञान, समाज सम्बन्धी-ज्ञान, धार्मिक-चर्चा, साहित्य, आर्थिक वितरण, तिथियाँ और संवत्, भारत में लेखन-कला की प्राचीनता तथा भारतीय लेख और बृहत्तर भारत। अन्त में दो परिशिष्ट दिये गये हैं। दोनों में भारतीय पुरातत्त्व-संबन्धी चर्चा की गयी है।

पुस्तक में भारत का एक मानचित्र तथा विभिन्न लेखों के १२ चित्र-फलक दिये गए हैं। इससे ग्रंथ की उपयोगिता में वृद्धि हुई है।

इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन में कुछ असंगत एवं खटकने वाली बातों की ओर संकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है। दक्षिण कोशल की राजधानी त्रिपुरी लिखी गई है, (पृ० ३) परन्तु वहाँ की दूसरी प्रारम्भिक राजधानी श्रीपुर (वर्तमान सिरपुर) का उल्लेख नहीं किया गया। पृ० ३१-३२ पर पिपरावा लेख का संस्कृत रूपांतर दिया गया है। परन्तु लेख मूलतः पाली में है, जिसे नहीं दिया गया। पृ० ४१, ५४, १२३ और १७४ पर एक ही बौद्ध मन्त्र को चार प्रकार से लिखा गया है और ये चारों रूप अशुद्ध हैं। भूमिका में बार-बार एक ही बात को उद्धृत करना आवश्यक न था। पृ० ४९-५१ पर मुद्राओं के वर्णन में कौशांबी, मथुरा, अहिच्छत्रा, झूसी आदि कई महत्त्वपूर्ण स्थानों के नाम नहीं दिए गए। अशोक के नाम का पता उसके मास्की लेख (पृ० ६४) के अतिरिक्त गुर्जरा से प्राप्त लेख से भी चला है इसका हवाला देना चाहिए था। 'सातवाहनों का राज्य ई० चौथी शती तक रहा', यह प्रमाणसंगत नहीं। 'अप्सरा' और 'गणिका' (पृ० १०७) में अन्तर है, दोनों एक नहीं। अभिलेखों में गणिकाओं की चर्चा करते समय कंकाली टीला (मथुरा) से प्राप्त आयागपट्टों का उल्लेख करना चाहिए था। वस्त्राभूषण एवं शृंगार का परिचय देते समय सं० ५८९ के मन्दसोर लेख के इस उद्धरण का दिया जाना अपेक्षित था, जो दशपुर के प्रसिद्ध वस्त्र व्यवसाय का अत्यन्त मनोरम वर्णन प्रस्तुत करता है।

तारुण्यकान्त्युपचितोऽपि सुवर्णहार-
ताम्बूल-पुष्पविधिना समलङ्कृतोऽपि।
नारीजनः प्रियमुपैति न तावदग्र्याँ,
यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते॥

(अर्थात् जवानी और सुन्दरता से भरपूर सोने के हार एवं पुष्पमालाओं से अलंकृत, पान खाती हुई महिलाएँ अपने प्रिय के पास जाने में तब तक लज्जा का अनुभव करती हैं जब तक वे दशपुर के बने रेशमी वस्त्रों का जोड़ा न पहिन लें।)

प्रूफ देखने में असावधानी के कारण पुस्तक में बहुसंख्यक अशुद्धियाँ रह गयी हैं। केवल कुछ का ही उल्लेख यहाँ दिया जा सकता है जिन्हें शुद्धिपत्र में भी नहीं दिया गया। गोवर्धन के लिए 'गोवधनस' (पृ० ३), कासपगोत के लिए 'कासमगोत' (पृ० १३), बाँधवगढ़ के लिए 'बंदोगढ़' (पृ० ५४), अशोक के लिए 'अकोस' (पृ० ६४), हड़हा के लिग 'हरड़ा' (पृ० १६२), मूलवर्मा के लिए भूलवर्मा (पृ० २३२), खोतन को 'खोटान' (पृ० २३५) और 'खारवेल की अग्रमहिषी' के लिए 'खारवेली महिषी' (पृ० २८ द्वितीय खंड) लिखा गया है। विदेशी विद्वानों के कई नामों में भ्रांतियाँ हैं। ब्युलर को कहीं 'बुलर' (पृ० १८४, २३६), कहीं 'बुलर' (पृ० २३६), कहीं 'बूल्लर' (पृ० २३६) और कहीं 'बूल्लर' (पृ० २८२-८३) लिखा गया है। फ्लीट को 'ल्फीट' (पृ० २८), रोजर्स को 'राजर्स' (पृ० २८३), मार्शल को 'मार्सल' (पृ० २७७, पंक्ति २८), हुल्श को 'हुल्स' (पृ० २७७-७८) तथा ऑरेल स्टाइन को 'आरेस स्तीन' (पृ० २७८, पं० ६) लिखा गया है। पृ० २७६ पर वायसराय लार्ड मेयो का समय १८१७ ई० दिया है, जो अशुद्ध है। खंड २ (पृ० २४-२८) में आँध्र-वंश का एक भी लेख नहीं दिया गया। इसका शीर्षक 'शुंगकालीन तथा आँध्रवंशी लेख' अशुद्ध है। पृ० ९५ पर 'उत्तर गुप्त की प्रशस्तियाँ' शीर्षक के स्थान पर 'उत्तर गुप्तकालीन प्रशस्तियाँ' होना चाहिए था। पृ० १७४ तथा १७६ पर दिए गए दोनों लेख गहड़वाल-शासकों के हैं, पर एक के शीर्षक में 'गहड़वाल शासक' और दूसरे में 'कन्नौज राजा' दिया हुआ है।

प्रथम खंड के अन्त में दिए गए परिशिष्ट 'अ' और 'ब' को एक ही में दिया जा सकता था। १९४४ ई० के बाद पुरातत्त्व क्षेत्र में किए गए अनुसंधानों के फल-स्वरूप जो नए महत्त्वपूर्ण अभिलेख प्रकाश में आए हैं उनका सम्यक् विवरण दिया जाना चाहिए था।

मूल लेखों के पाठ देते समय यह देखना आवश्यक था कि फुटनोटों में मुख्य पाठ-भेद दे दिए जाएँ। साथ ही अशुद्ध पाठ के आगे कोष्ठक में शुद्ध पाठ भी दिया जाना आवश्यक था। ऐसा केवल कुछ ही स्थानों में किया गया है। मूल लेखों के अंतर्गत कुछ लेखों का न दिया जाना खटकता है, यथा—अशोक का गुर्जरा लेख, भरहुत से प्राप्त धनभूति का लेख, क्षत्रपों का मथुरासिंह शीर्ष (खरोष्ठी) लेख, कुषाण-शासकों के कुछ अन्य लेख, शक श्रीधरवर्मा का साँची या एरण लेख तथा गुप्त-सम्राट् स्कंदगुप्त का धुबेला-संग्रहालय लेख। बृहत्तर भारत के भी कुछ अन्य लेख अपेक्षित थे, विशेषकर मलाया से प्राप्त नाविक बुद्धगुप्त का लेख तथा हिन्देशिया

और हिंदचीन से प्राप्त कुछ अन्य लेख। पृ० २२२-२६ पर सिक्कों एवं मुद्राओं पर के कुछ लेख दिये गये हैं, परन्तु वे पर्याप्त नहीं। पृ० २२२ के सामने लगे फलक पर मुद्राओं आदि के संकेत यथास्थान देने चाहिए थे।

फलकों पर संख्या नहीं दी गई। कई लेखों के चित्र स्पष्ट नहीं आये। यथा—पृ० ५३ के सामने चन्द्र का मेहरौली लेख तथा पृ० १४३ के सामने लगा भोज का लेख। पृ० १०० के सामने लगे चित्र की प्रथम दो पंक्तियाँ कट गई हैं। प्रारम्भ में दिया गया भारत का नक्शा बहुत छोटा है और उससे स्थानों का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। कई प्रमुख स्थान, जहाँ से लेख मिले हैं, नक्शे में नहीं दिये गये, जैसे—दशपुर, गुर्जरा, एरण, नालंदा, पहाड़पुर, नासिक, अयोध्या, ग्वालियर, अजंता, वलभी, खजुराहो आदि।

आशा है आगामी संस्करण में उपर्युक्त बातों की ओर ध्यान दिया जाएगा और लेखक एवं प्रकाशक जल्दबाज़ी के कारण इस प्रकाशन की गरिमा को क्षत-विक्षत न होने देंगे।

भारतीय इतिहास की मीमांसा

(भारतीय इतिहास की मीमांसा, अथवा भारतीय राष्ट्र
का विकास, ह्रास और पुनरुत्थान)

डा० ओम्प्रकाश शर्मा

अंग्रेज़ शासकों के समय में जिन पाश्चात्य विद्वानों ने भारत का इतिहास लिखा उनका अपना एक निश्चित दृष्टिकोण था और उन्होंने सब घटनाओं का विवेचन उसी दृष्टिकोण से किया। इसलिये भारत के इतिहास का वास्तविक रूप हमारी आँखों से ओझल रहा। दासता के युग में बहुत से भारतीय विद्वानों ने भी यूरोपीय विद्वानों के दृष्टिकोण को ही अपनाया। इसलिये भारतीय इतिहास का पुनः मूल्यांकन होना आवश्यक है। श्री जयचन्द्र जी उन इने-गिने भारतीय विद्वानों में से है जिन्होंने सत्य की खोज में तर्क का ही आश्रय लिया है और बिना ठोस प्रमाणों के किसी भी विद्वान् के मत को स्वीकार नहीं किया है। प्रस्तुत पुस्तक श्री जयचन्द्र जी के बीस वर्ष के सूक्ष्म ऐतिहासिक अध्ययन और मनन का फल है। इस पुस्तक में पटना विश्वविद्यालय में रामदीन व्याख्यानमाला में सन् १९४१ में दिये दस व्याख्यानों का संकलन है।

पहले व्याख्यान में लेखक ने यह सिद्ध किया है कि हमारी यह धारणा कि हमारी संस्थाएँ सदा से ही ऐसी ही चली आ रही हैं जैसी इस समय हैं और उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ, ठीक नहीं है। यह भी कहना कि भारतीय संस्कृति मूलतः आध्यात्मिक है, ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सत्य प्रतीत नहीं होता।

दूसरे व्याख्यान में यह दिखलाया गया है कि भारतवर्ष की भाषाओं का आज जो बँटवारा है वह उसके पिछले सारे इतिहास का फल है। इस व्याख्यान में लेखक

लेखक : श्री जयचन्द्र विद्यालंकार
प्रकाशक : हिन्दी भवन, ३१२ रानी मण्डी, इलाहाबाद—३
पृष्ठ संख्या : ७११
मूल्य : १२)

ने आर्य फैलाव की एक विशेष पद्धति का वर्णन किया है जिसमें बहुधा वंशों में शाखा-प्रशाखाएँ फूटने पर उनके लोग नये प्रदेशों में जा बसते थे। आर्यों के मुनि भी जंगलों में आश्रम बनाते थे। आर्य राजा उनकी रक्षा करने के लिये वहाँ पहुँच जाते थे। वर्तमान आर्य बोलियों के क़रीब क़रीब वही विभाग हैं जो प्राचीन जनपदों के थे। आर्यों का फैलाव भारत तक ही सीमित न रहा। वे लोग पूर्व में सुवर्ण-भूमि तक और उत्तर-पश्चिम में मध्य एशिया तक पहुँच गये। इसी व्याख्यान में लेखक ने अशोक की धर्म-विजय की नीति का कुछ अंश में समर्थन किया है परन्तु साथ ही यह भी कहा है कि भारतवर्ष की आत्मा ने उसकी शान्ति-नीति को स्वीकार नहीं किया।

तीसरे व्याख्यान में सातवाहन शुंग-शककालीन इतिहास की मीमांसा करने पर लेखक का यह निष्कर्ष है कि उन विदेशी लोगों पर जिन्होंने भारत पर आक्रमण किया भारतीय संस्कृति की इतनी छाप पड़ी कि उनका निजी अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

चौथे व्याख्यान में राजा चन्द्र का बंगाल, बलख और दक्षिण जीतना तर्क-संगत बताया गया है और इस काल में बृहत्तर भारत की स्थापना का चित्र प्रस्तुत किया है। लेखक ने वैदिक काल से यशोधर्मा के समय तक प्रत्येक युग में पिछले युग से कुछ न कुछ आगे बढ़ना पाया है। यशोधर्मा के बाद प्रगति की यह परम्परा रुक जाती है। इस प्रकार लेखक ने विद्वानों के उस मत का खण्डन किया है जिसके अनुसार भारतीय इतिहास में उन्हें यूरोप के इतिहास जैसी कोई विकास-प्रक्रिया दिखाई देती है।

पाँचवें व्याख्यान में भारतीय इतिहास के पहले मध्य युग की मीमांसा की गई है। इसके आधार पर लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस युग में आर्यावर्ती राज्यों का क्षेत्र न केवल बढ़ा नहीं प्रत्युत छठी शताब्दी में उससे उसका तुरफ़ान राज्य, फिर सातवीं आठवीं में मकरान सिन्ध और खोतान राज्य तथा बोलौर का जिला कट गये और दसवीं-ग्यारहवीं में अफ़गानिस्तान, पंजाब तथा उत्तरी चम्पा की भी स्वतन्त्रता जाती रही। अरबों के हमले के समय भारत ने काफ़ी दृढ़ता दिखाई, परन्तु दो शताब्दी बाद भारतीय राज्य पूर्णतया जीर्ण हो गये।

सल्तनत युग के इतिहास की समीक्षा करते हुए लेखक ने स्पष्ट कहा है कि प्रचलित पाठ्य-ग्रन्थों में घटनाओं का जो वर्णन दिया गया है उस पर भरोसा नहीं करना चाहिये। उन्होंने पाठकों का ध्यान डा० ईश्वरीप्रसाद, सरवल्सी, और जॉपन्स की एटलस की त्रुटियों की ओर आकर्षित किया है। इस काल के हिन्दू राजाओं की मनोवृत्ति का लेखक ने बड़ा सजीव चित्र उपस्थित किया है—'दुश्मन ने उनके दरवाजे

पर आकर ठोकर लगाई तो वे उठे और वीरता से लड़े । वह लौटा और वे फिर सो गये । राज्यों और साम्राज्यों को खड़ा करने और चलता रखने के लिये जिस सामूहिक क्षमता और जागरूकता की अपेक्षा होती है वह इस युग के हिन्दुओं में समाप्त हो चुकी थी ।' लेखक के अनुसार जो युग तरावड़ी की लड़ाई से शुरू होता है वह १५०९ ई० में समाप्त हो जाता है । इस वर्ष वह संघर्ष प्रारम्भ होता है जिसके कारण मुगल राज्य की स्थापना होती है । इस प्रकार लेखक का इसे युग सन्धि की तिथि कहना सर्वथा उचित प्रतीत होता है ।

मुग़ल काल के इतिहास की मीमांसा करने पर लेखक का यह निष्कर्ष है कि महाराष्ट्र से जो पुनरुत्थान की भावना शुरू हुई वह बुन्देलखण्ड और ब्रजभूमि होकर पंजाब और नेपाल तक पहुँच गई । इसीलिये लेखक ने इस युग को 'मुग़ल मराठा' युग कहा है ।

आठवें व्याख्यान में लेखक ने १९ वीं शताब्दी में भारतीय समुद्र में जो अराजकता थी उस पर प्रकाश डाला है और भारतीयों द्वारा तोपों और मुद्रण-कला की उपेक्षा का वर्णन किया है । भारतीयों ने यूरोपीय ढंग पर प्रशिक्षित सेना के मर्म को भी जानने की चेष्टा नहीं की । मराठों ने नई शैली को सीखने का पूर्ण प्रयत्न न किया और वे अपनी पुरानी शैली भी छोड़ बैठे । लेखक के इन शब्दों में कितनी मार्मिकता है—'जापान ५० वरस में जाग उठा, पर हम लोग १५०९ से १८४६ तक बराबर टोकरें खाते रहे तो भी हमारी आँखें न खुलीं ।'

अंग्रेज़ों ने अपनी सैनिक शक्ति और सुसंगठित शासन के बल पर भारत को जीत लिया । भारतीय किसानों को उनके अधिकारों से वंचित कर दिया गया और सब प्रकार से भारत का आर्थिक शोपण होने लगा । भारतीय जुलाहों का नियन्त्रण किया गया। अंग्रेज पूँजीपतियों ने बहुत से भारतीयों को प्रतिज्ञाबद्ध कुली बना लिया । विनिमय का नियन्त्रण भी ब्रितानिया के हितों को ध्यान में रखकर किया गया । लेखक इस बात से सहमत नहीं है कि ब्रितानवी साम्राज्य का विस्तार उसकी नौ शक्ति के कारण हुआ । उनके अनुसार इसमें भारतीय सिपाही की सहायता कुछ कम महत्त्व की न थी । इसी व्याख्यान में लेखक ने गाँधीजी की अहिंसा-बल से एक साम्राज्य तोड़ देने की नीति की कटु आलोचना की है । यह उनकी स्पष्टवादिता का अच्छा नमूना है । गाँधीजी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अपने विश्वासों के प्रति अन्याय नहीं करना चाहते ।

अन्तिम व्याख्यान में लेखक ने अपने पहले नौ व्याख्यानों का उपसंहार किया है । उनके अनुसार भारत के इतिहास में विकास, ह्रास और पुनरुत्थान का क्रम

स्पष्ट दिखाई देता है। राज्य-संस्था के इतिहास, साहित्य, विज्ञान, कला और सामाजिक जीवन पर भी विकास ह्रास और पुनरुत्थान की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। इन तथ्यों के आधार पर लेखक ने भारतीय इतिहास का काल-विभाजन किया :

१. लगभग ५४० ई० तक विकास युग।

२. ,, १५०९ ई० तक विकास का रुकना, सड़ांद होना और ह्रास।

३. १५०९ ई० के बाद पुनरुत्थान।

पहले चार परिशिष्टों में लेखक ने कुछ ऐसे विषयों पर विशेष प्रकाश डाला है जिनका जिक्र उसने अपने व्याख्यानों में किया है जैसे कि अवतार-कल्पना का विकास, रामगुप्त वाली घटना और सल्तनत युग के प्रचलित इतिहासों की भ्रमात्मकता।

लेखक ने दस नये परिशिष्ट १९५४ ई० से सन् १९५९ के बीच लिखे हैं। इनमें बहुत से ऐसे इतिहास-परक विषयों का विवेचन किया है जिनके विषयों में इतिहासकारों में बहुत मतभेद है, जैसे कम्बोज मूषिक पर्वत, कनिष्क सम्वत्, चन्द्रगुप्त की वाह्लीक-विजय, नैपालियों की देन और भारत के ऐतिहासिक काल का फिरकेवार बंटवारा।

जयचन्द्र जी ने इतिहास-प्रवेश में जिस मौलिक विचारधारा और विशद आलोचक दृष्टि का परिचय दिया था उसका इस ग्रन्थ में विकसित रूप पाया जाता है। इस ग्रन्थ में उन्होंने भारतीय साहित्य के साथ-साथ सिक्कों और अभिलेखों से प्राप्त होने वाली सामग्री का भी पूर्ण उपयोग किया है। उनकी भाषा में एक सजीवता है जो मीमांसा जैसे गम्भीर विषय को भी रुचिकर बना देती है। अनुमान के लिये 'अटकल' और विदेशियों के लिये लड़ने वाले सिपाहियों के लिये 'भाड़ैत' शब्दों का प्रयोग इसके उदाहरण हैं। हाँ, कहीं-कहीं उनके शब्द कुछ कठिन हो गये हैं जैसे (पृष्ठ ३२५) पर 'संहति' शब्द का प्रयोग।

जयचन्द्र जी की भौगोलिक अन्वेषण की सूझ भी गजब की है। इसका परिचय उन्होंने पारियात्र और ऋक्ष और कम्बोज देश की स्थिति निश्चित करने में दिया है। उन्होंने पाठकों के सम्मुख बहुत सी ऐसी समस्याएँ रखी हैं जिनकी ओर इतिहासकारों का ध्यान अभी तक नहीं गया है, जैसे नैपाल से मिलने वाली ऐतिहासिक सामग्री, हिन्दुओं में समुद्र-यात्रा के प्रति उपेक्षा कब से शुरू हुई, क्या शिवाजी का आन्दोलन औरंगज़ेब की प्रतिक्रिया थी ?

प्रस्तुत पुस्तक ऐतिहासिक तथ्यों की ऐसी मीमांसा है जिससे हमें ऐतिहासिक घटनाओं के महत्त्व की पूरी अनुभूति होती है । अपनी प्रखर बुद्धि के प्रकाश द्वारा लेखक ने इतिहास के धुँधले चित्रों को प्रकाशित कर दिया है। हिन्दी भाषा में ऐसे मीमांसकों की बहुत आवश्यकता है जो ऐतिहासिक तथ्यों को अपने अन्वेषणों द्वारा अनुप्राणित कर सकें और जिनके निष्कर्ष केवल कल्पना पर आधारित न हों।

प्राकृत साहित्य का इतिहास

डा० भरतसिंह उपाध्याय

प्राकृत भाषाओं का सम्बन्ध मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा युग से है, जिसकी काल-सीमाएँ ५०० ईस्वी पूर्व से ११०० ईस्वी तक हैं । इसी युग में प्राकृत भाषाओं का उत्कर्ष हुआ और उनके विपुल साहित्य की रचना हुई । भाषातात्त्विक और साहित्यिक, दोनों दृष्टियों से इस साहित्य का बड़ा महत्त्व है और वह सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है । प्राचीन भारतीय साहित्य के अनेक महत्त्व-पूर्ण अंगों और पक्षों पर विवेचनात्मक अध्ययन-ग्रंथ लिखे गये हैं, परन्तु प्राकृत साहित्य अभी तक प्रायः उपेक्षित रहा है । कुछ यूरोपीय विद्वानों और इधर कुछ भारतीय विद्वानों ने भी उसके कुछ अंशों से सम्बद्ध प्रकरण-ग्रंथ अवश्य लिखे हैं, परन्तु कोई सर्वांगपूर्ण क्रमबद्ध अध्ययन प्राकृत भाषाओं के साहित्य का अब तक उपलब्ध नहीं था । यह प्रसन्नता की बात है कि प्राकृत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० जगदीशचन्द्र जैन के इस ग्रंथ के प्रकाशन ने इस अभाव को दूर कर दिया है । इसके पहले भी डॉ० जैन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है जिसमें उन्होंने जैन आगम-साहित्य के आधार पर प्राचीन भारतीय जीवन का चित्र दिया है—"लाइफ इन एन्शियण्ट इण्डिया ऐज़ डिपेक्टेड इन जैन कैनन्स" बम्बई, १९४७ । इस ग्रन्थ को पढ़ते समय ही मेरे मन में यह विचार आया था कि इस पुस्तक के लेखक ही वास्तव में प्राकृत साहित्य का एक परिपूर्ण इतिहास लिखने के अधिकारी हैं । इसलिये आज आठ-दस वर्ष बाद जब उनके द्वारा लिखित "प्राकृत साहित्य का इतिहास" को देखता हूँ तो मुझे भारी प्रसन्नता होती है । हिन्दी साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति एक बड़े अधिकारी विद्वान् के द्वारा हुई है ।

प्राकृत साहित्य एक संग्राहक नाम है । इसमें अनेक प्रकार की प्राकृतें और उनके साहित्य-रूप सन्निहित हैं, जैसे कि श्वेताम्बर जैन आगमों की अर्द्धमागधी प्राकृत, दिगम्बर जैनों के प्राचीन शास्त्रों की शौरसेनी प्राकृत, जैन लौकिक कथाओं

लेखक : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन
प्रकाशक : चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी-१
मूल्य : बीस रुपये; पृष्ठ-संख्या ८७६

की प्राकृत, संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त विभिन्न प्राकृतें, मुक्तक काव्यों की महाराष्ट्री प्राकृत, शिलालेखों की प्राकृत, आदि। लेखक ने इन सबका विशदतापूर्वक प्रामाणिक विवेचन किया है।

पहला अध्याय भाषा-सम्बन्धी है। इसमें लेखक ने मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं का परिचय देते हुए मुख्य रूप से प्राकृत भाषा और उसके विभिन्न प्रकारों का विवरण दिया है। प्राकृत भाषाओं में डॉ० जैन ने अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची और मागधी के भाषा-रूपों पर विशेषतः विचार किया है। वैसे यह परिच्छेद बहुत योग्यतापूर्वक लिखा हुआ है और साधु है, फिर भी भाषातात्त्विक दृष्टि से विभिन्न प्राकृतों के पारस्परिक सम्बन्ध को यदि उनकी ध्वनियों और रूपों के तुलनात्मक विवेचन से कुछ अधिक विस्तारपूर्वक समझाया जाता तो मुझे लगता है कि वह प्राकृत के उच्चतर विद्यार्थियों के लिये कदाचित् अधिक उपयोगी सिद्ध होता। डॉ० जैन ने प्राकृत-भाषा के विवेचन के लिये कुल ३२ पृष्ठ दिये हैं, जो अपर्याप्त लगते हैं।

दूसरे परिच्छेद में जैन आगम-साहित्य का विवेचन है, जिसका काल पाँचवीं शताब्दी ईस्वी-पूर्व से लेकर पाँचवीं शताब्दी ईस्वी तक है। आगम-साहित्य प्राकृत-साहित्य का सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है और ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इस पुस्तक में आगम-साहित्य का जितना विशद और स्पष्ट विवरण मिलता है वैसा मेरे देखने में अन्यत्र नहीं आया। द्वादश अंग, द्वादश उपांग, दस प्रकीर्णक, छेद-सूत्र, नन्दी और अनुयोग द्वार सम्बन्धी विवरण और विवेचन लेखक ने बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से किये है। साहित्य और इतिहास दोनों के विद्यार्थियों के लिये यहाँ निहित सामग्री समान रूप से महत्त्वपूर्ण हो सकती है।

तीसरे परिच्छेद में आगमों के व्याख्यापरक साहित्य का विवरण और विवेचन है। इस साहित्य की रचना द्वितीय शताब्दी ईस्वी से आरम्भ होकर सोलहवीं शताब्दी तक होती रही। इसमें निर्युक्ति साहित्य, भाष्य-साहित्य, चूर्णी-साहित्य, और टीका-साहित्य का परिचय है, जिससे लेखक के विस्तृत अध्ययन का पता चलता है। साहित्य का सामान्य विद्यार्थी इस व्याख्यापरक साहित्य में अधिक रुचि नहीं ले सकता, परन्तु धार्मिक दृष्टि से इस साहित्य का बड़ा महत्त्व है, इसमें सन्देह नहीं। प्राकृत-साहित्य की वर्तमान रूपरेखा में उसे उचित ही स्थान दिया गया है।

चौथे अध्याय में दिगम्बर जैनों के प्राचीन साहित्य का परिचय है जो शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध है। इस साहित्य का काल प्रथम शताब्दी ईस्वी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक है। इस अध्याय में डा० जैन ने षट्खण्डागम, महाबन्ध, प्रवचन-सार, समय-सार, गोम्मट-सार, जम्बुदीवपण्णत्ति-संग्रह जैसी अनेक शाश्वत महत्त्व वाली

रचनाओं के परिचय दिये हैं। विषय के अति विस्तृत होने के कारण यहाँ लेखक को अत्यन्त संक्षिप्त विवरणों से काम लेना पड़ा है, परन्तु पंचास्तिकाय, प्रवचन-सार और समय-सार जैसी व्यापक दार्शनिक और साधनात्मक महत्त्व वाली रचनाओं को कुल मिलाकर तीन पृष्ठ देने से कुछ दुःख होता है जो सम्भवतः लेखक को भी हुआ होगा। किसी भी प्राकृत-साहित्य के इतिहास की रूपरेखा में ये अमर रचनाएँ अधिक स्थान की अधिकारिणी हैं।

पाँचवें अध्याय में लेखक ने आगमोत्तरकालीन जैन प्राकृत साहित्य का विवेचन किया है, जिसका काल पाँचवीं शताब्दी ईस्वी से दसवीं शताब्दी तक है। इसमें दार्शनिक सिद्धान्त सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों का परिचय दिया गया है, जैसे सम्मइ-पयरण, धम्म-संगहणी, प्रवचन-परीक्षा, जीव-समास, कम्मपयडि, पंचसंगह, योग-विंशिका आदि। इस परिच्छेद में विवेचित ग्रन्थ-समृद्धि इतनी अधिक हैं कि उससे विशाल जैन दार्शनिक साहित्य का पता चलता है। लेखक ने संक्षेप में सबका सार-ग्राही परिचय देने का प्रयत्न किया है जो पढ़ने में सरल और सुबोध है। गहन दार्शनिक ग्रंथों के तत्त्वों को सरल भाषा में समझा कर रखना परिपक्व विद्वत्ता का काम है।

छठे, सातवें, आठवें और नवें अध्याय साहित्यिक दृष्टि से इस ग्रन्थ के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंश हैं। इनमें क्रमशः प्राकृत कथा-साहित्य, चरित-साहित्य, काव्य-साहित्य और संस्कृत-नाटकों में प्राप्त प्राकृत के विवेचन हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी साहित्य की भूमिका के रूप में ये अंश प्रत्येक हिन्दी के उच्चतर विद्यार्थी के द्वारा पठनीय हैं और उसके ज्ञान-क्षितिज को ये अंश ऊपर उठाने वाले सिद्ध होंगे। प्राकृत कथा, चरित और काव्य-साहित्य ईस्वी सन् के बाद से आरम्भ होकर करीब सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी तक चलता है, इसलिये हिन्दी साहित्य के साथ इसका निकट का सम्बन्ध भी है जिसका अध्ययन हिन्दी के विद्यार्थी के लिए परमावश्यक है। इन चारों परिच्छेदों में लेखक ने इतने अधिक प्राकृत ग्रन्थों का परिचय दिया है कि उनमें से मुख्य ग्रन्थों का भी नाम-परिगणन यहाँ असम्भव है। नवाँ अध्याय, जिसमें संस्कृत नाटकों में प्राप्त प्राकृत का विवेचन है, बहुत खोजपूर्ण ढंग से लिखा गया है और लेखक के परिश्रम का परिचय देता है। अन्य अनेक नाटकों के साथ लेखक ने अश्वघोष के नाटकों को भी लिया है। सब प्रकार लेखक ने अपने विषय को पूर्णता देने का प्रयत्न किया है।

दसवें अध्याय में प्राकृत व्याकरण, छन्द, कोश तथा अलंकार-ग्रंथों का विवरण और विवेचन है और ग्यारहवें (अन्तिम) अध्याय में शास्त्रीय प्राकृत साहित्य (प्रथम शताब्दी ईस्वी से चौदहवीं शताब्दी तक) का। इसी अध्याय में लेखक ने प्राकृत शिलालेखों का परिचय दिया है। प्रसिद्ध हाथी गुम्फा शिलालेख

और नासिक का शिलालेख, दोनों उद्धृत किये गये हैं और उनका संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

उपसंहार में लेखक ने प्राकृत साहित्य का सिंहावलोकन करते हुए उसके महत्त्व पर प्रकाश डाला है और अन्त में अनुक्रमणिका के अतिरिक्त दो महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट भी दिये हैं, जिनमें एक का शीर्षक है 'अलंकार-ग्रंथों में प्राकृत पद्यों की सूची'। यहाँ संकलित पद्यों में, जो महीन टाइप में छपे ८१ पृष्ठों में हिन्दी-अनुवाद सहित हैं, लेखक ने विशेषतः शृंगार रस के पद्यों को इकट्ठा किया है जिनसे इस दिशा में लिखित प्राकृत-साहित्य की समृद्धि का पता चला है। इनके पढ़ने से संस्कृत साहित्य के साथ प्राकृत के सम्बन्ध और इतना ही नहीं हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य पर भी उसके प्रभाव का पता चलत है और कई नई बातें सामने आती हैं, जिनका लेखक ने विवेचन नहीं किया है।

ग्रंथ में विवेचित विषय-वस्तु का जो परिचय ऊपर दिया गया है उससे स्पष्ट है कि एक भारी विशाल साहित्य को लेखक ने संक्षेप में समेटने का प्रयत्न किया है। यह कहने में कोई संकोच नहीं कि उसे इसमें पूरी सफलता मिली है। प्राकृत-साहित्य का इतनी समग्रता में वर्णन करने वाली और इतनी रचनाओं से परिपूर्ण कोई पुस्तक मेरी जानकारी में किसी आधुनिक भारतीय भाषा या विदेशी भाषा में भी नहीं लिखी गई है। इतनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखने के लिये लेखक को साधुवाद !

भारतीय कला के पद्-चिह्न

डा० राय आनन्द कृष्ण

भारतीय साहित्य में कला के विश्लेषण पर पुस्तकों का भारी अभाव है। हिंदी क्षेत्र में तो गिने-चुने लेखकों ने ही इस विषय पर कुछ लिखा है—उसमें भी कई पुस्तकें पाठ्यक्रम के लिए तैयार की गई जान पड़ती हैं, अतएव उनका दृष्टिकोण व्यापारिक जैसा है। इस वर्ग की कई एवं कुछ अन्य पुस्तकों में कला समीक्षा का ज्ञान बचकाना सा है। कई पुस्तकों में अधकचरा ज्ञान स्पष्ट प्रकट होता है क्योंकि वे अंग्रेजी साहित्य पर आधारित हैं, जिनके विषय के साथ लेखक का तनिक भी तादात्म्य नहीं जान पड़ता।

भारतीय कला के अनेक पक्षों में साहित्य की इस कमी को देखते हुए यदि आधुनिक कला पर साहित्य का घोर अभाव हो तो आश्चर्य की बात नहीं। वस्तुत: इस नए और बौद्धिक विषय पर काशी विश्वविद्यालय के चित्रकार-प्राध्यापक श्री रामचन्द्र शुक्ल एवं डा० जगदीश गुप्त की ही पुस्तकें मुझे देखने में मिलीं, जिनमें विषय का अध्ययन एवं उसे गहराई के साथ प्रकट करने की क्षमता दीख पड़ी। इस दृष्टि से डा० गुप्त का यह सत्प्रयत्न स्वागत के योग्य है।

डा० जगदीश गुप्त स्वयं आधुनिक शैली के चित्रकार, व्रज भाषा के कवि एवं हिन्दी साहित्य के प्राध्यापक हैं। ऐसा संयोग सर्वथा दुर्लभ है। उनकी लेखनी सशक्त है और उनकी भाषा में ऐसी प्रांजलता है, जिसके फलस्वरूप इस दुरूह और नीरस विषय को भी वे बड़े ही सुचारु और विराट् रूप में प्रतिपादित कर सके हैं, एतदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं।

लेखक : डा० जगदीश गुप्त
प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली
मूल्य : ५ रु०
पृष्ठ : डिमाई आकार के १३९, एवं चित्र

"भारतीय कला के पद-चिह्न", वस्तुतः उनके स्फुट लेखों का संग्रह है—एक संघटित प्रयत्न नहीं। अतएव कहीं-कहीं पुनरुक्ति होना संभव भी है। इसमें कुछ यत्र-तत्र प्रकाशित भी हो चुके हैं, कुछ बिलकुल ही सामयिक प्रकृति के हैं, जैसे "आधुनिक भारतीय चित्र कला का राष्ट्रीय प्रदर्शन" एवं „तृतीय राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी" (एवं पृ० ७०-७१ भी)। यों यह बात दूसरी है कि उनमें कुछ ऐसे सैद्धान्तिक विचार भी आ गये हैं, जिनका स्थायी महत्त्व है।

इस प्रकार यदि इस पुस्तक में हम एक सूचना का अभाव एवं पुनरुक्ति पाते हैं तो वह आश्चर्य की बात नहीं। फिर भी लेखक ने 'पदचिह्नों' के द्वारा भारतीय कला का विकास प्रकट किया है। परन्तु सब कुछ देखने पर समष्टिगत प्रभाव नहीं पड़ता है कि सारी पुस्तक का मूल उद्देश्य भारत में आधुनिक कला का पक्ष उपस्थित करना है। इस कारण वस्तु की दृष्टि से पुस्तक को मोटे तौर पर दो विभागों में बाँटा जा सकता है—(१) भारत में आधुनिक कला, (२) प्राचीन भारतीय कला-शैलियों में अयथार्थवादी अथवा अमूर्तवादी (अबस्ट्रैक्ट) प्रवृत्तियाँ क्योंकि उनके आधार पर लेखक यह सिद्ध करना चाहता है कि भारतीय कला की मूल प्रवृत्तियाँ ये ही हैं और इस प्रकार यदि आज का कलाकार इस दिशा में प्रयत्नशील है तो वह कोई नई बात नहीं। परन्तु मुख्य रूप से लेखक का उद्देश्य यह भी जान पड़ता है कि आधुनिक कला के रूप में जो कुछ आज अपने देश में हो रहा है, वह विदेशी न होकर भारतीय परम्परा में ही है।

फिर भी यह समझ नहीं पड़ता कि "सब एकान्त भारतीय हो उठा" (पृ० ३३) यह कैसे? संभवतः इसलिए कि अमृता शेरगिल के चित्रण का विषय भारतीय था। परन्तु वहीं अमृता शेरगिल का अगली पंक्तियों में जो उद्धरण दिया गया है, उससे क्या यह स्पष्ट नहीं होता कि वह एक तटस्थ या विदेशी की उक्ति है।

परन्तु इस सत्य को वह कैसे झुठला सकता है कि आधुनिक भारतीय कला का उत्स आधुनिक पश्चिमी कला है, वस्तु, रूप एवं अभिव्यक्ति में माध्यम तीनों ही की दृष्टि से। यह शैलीगत विवेचन द्वारा नितांत स्पष्ट है और इसे अस्वीकार करना इतिहास के चक्र को हठात् पीछे की ओर धकेलना जान पड़ता है। यह तो कुछ ऐसी बात होगी जैसे अंग्रेजी सरकार अपने को भारतीय सरकार मानकर भारतीय जनता को अस्वामिभक्ति का उपदेश दिया करती थी।

यदि कोई शैली "मैक्सिन प्रभाव से युक्त………" (पृ० ४३) है तो वह आरोपित ही मानी जायगी।

वस्तुतः यह पुस्तक, इस प्रकार, "भारतीय कला के पद-चिह्न" न होकर

आधुनिक कला के पदचिह्न मानी जानी चाहिए, क्योंकि सारी पुस्तक पढ़कर यह जान पड़ता है कि पुस्तक का मूल उद्देश्य तो आधुनिक कला की प्रशस्ति है। इस प्रक्रिया में प्राचीन कलाशैलियों की विवेचना उसकी पृष्ठभूमि बन कर ही उपस्थित होती है। आलोचनात्मक दृष्टिकोण होते हुए भी मूलतः इसमें लेखक चित्रकार-कवि के रूप में ही उभरता है। क्योंकि जहाँ उसने प्रशस्ति प्रारम्भ की है, वहाँ वह भावावेश में वह गया है और दूसरी खण्डनात्मक आलोचना भी उसी भावावेश की धारा से परिप्लावित है। पता नहीं ऐतिहासिक आलोचना के प्रसंग में ऐसा दृष्टिकोण कहाँ तक वैज्ञानिक माना जायगा। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

१. "भारत ने चित्रकला को कल्पना के सामंजस्य से आध्यात्मिक उच्चता तक पहुँचा दिया।" (पृ० ७)

२. इस प्रकार की शैली के अनेक प्रयोग पाठकों को पृ० ४६ से ५२ तक मिल सकते हैं।

३. पृ० ६० का प्रथम अथवा पृ० ६१ का अन्तिम पैरा।

४. पृ० ६७ की प्रथम चार-पाँच पंक्तियाँ।

५. पृ० ६८ की प्रथम दो पंक्तियाँ।

ऐतिहासिक अंशों के विवेचन में लेखक का ज्ञान सेकैंड हैंड जान पड़ता है; इस अर्थ में कि उसका विषय से सीधा परिचय नहीं है। इस प्रसंग में कुछ उक्तियाँ संदेह-जनक ही नहीं, भ्रामक जान पड़ती हैं :

१. पृ० ४—"स्पेन में **पुरापाषाण** युग के गुफा चित्र"

२. इसी प्रकार पृ० १३ पर प्राच्य और पाश्चात्य चित्रकला का अन्तर सतही है। पृ० १४ पर मिस्र की कला को पाश्चात्य कला का मूल ठीक ही माना गया है। परन्तु, इस अवसर पर जहाँ पाश्चात्य कला को प्रकाश-छाया के मूलभूत कारण पर एशियाई कला से भिन्न प्रकट किया गया है, मिस्र की कला भी पाश्चात्य कला से शैली की दृष्टि से भिन्न हो जाती है क्योंकि उसमें भी प्रकाश-छाया का अभाव है।

३. सम्भवतः आयाग पट्ट के स्थान पर "याग-पट्ट" (पृ० ५६) का प्रयोग।

४. पृ० ६४—"मध्यकालीन कला-विकास की सीमाएँ हैं ३५० ई० से ६५० ई०।"

५. पृ० ६५—(जैन मूर्तियाँ) बौद्ध कला से अनुकृत लगते हैं। (वस्तुतः बात बिलकुल ही उलटी है।)

६. पृ० १०८ पर अजंता, बाघ और कन्हेरी की गुफाओं को एक वर्ग में रखा गया है जिसमें कोई भी एकसूत्रता नहीं जान पड़ती, सिवा इसके कि तीनों चित्रित या मूर्ति-सम्पन्न गुफाएँ हैं।

७. "फारस और ईरान में"—(पृ० १०१ एवं पृ० ११३ भी)। फारस और ईरान में क्या भेद हो सकता है, यह ज्ञात नहीं।

८. "राजपूत" शैली का विवेचन जो परिशिष्ट रूप उपस्थित हुआ है।

कई उक्तियाँ ऐसी स्तर की हैं, जिनकी भाषा वैज्ञानिक नहीं मानी जा सकती, जैसे :

१. "××× से पूछिए प्रागैतिहासिक चित्रों के सम्बन्ध में, उत्तर मिलता है अजन्ता के चित्रों के बारे में।" (पृ० ६)

कुछ ऐसे विचार हैं जो विवादास्पद हैं—

१. "यों निरर्थक चित्र भी होते हैं, जैसे निरर्थक ध्वनि—(पृ० ६) यहाँ प्रश्न यह है कि उन्हें चित्र माना भी जा सकता है, जैसे निरर्थक शब्दों के समूह को वाक्य नहीं माना जा सकता।

२. हर्बर्ट रीड का उद्धरण : "कला के लिए सौंदर्य भी कोई अनिवार्य शर्त नहीं है" (पृ० १३) इसे लेखक ने स्वीकार किया है। परन्तु उसी सांस में वह कहता है : "कलाकार......एक व्यापक रूप का......दर्शन करता है और उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति ही उसका उद्देश्य बन जाता है।"

आधुनिक शैली के प्रतिपादन में भी कुछ मौलिक प्रश्नों का समाधान अपेक्षित है। क्या यह सच नहीं कि आधुनिक कला जटिल है, बुद्धिवार्यी और अस्थायी है। उसमें "चमत्कारवाद" है, "वैचित्र्य" है और कहीं-कहीं "उच्छृंखलता" (पृ० २०) एवं "दुरुहता" (पृ० २२) है। यह विलक्षण स्थिति है कि सरलीकरण या "परिशुद्धता की इस प्रवृत्ति के कारण भी आधुनिक चित्रकला में कुछ दुरूहता आ गई है" (पृ० २२)। क्लिष्ट और वैचित्र्यपूर्ण शैली कभी जनता की शैली नहीं हो सकती।

दूसरी ओर परम्परा और रूढ़ि की जहाँ बार-बार हँसी उड़ाई गई है, वहाँ यह विचार करने योग्य है कि आधुनिक कला "स्वयं एक परम्परा बन गया है" (पृ० २५)। इस उक्ति को "परम्परागत चित्रण-शैली" (पृ०२६) से मिलाकर देखना चाहिए, जहाँ एक ओर परम्परागत शैलियों का विरोध है (पृ० १०२ भी) वहाँ यह न भूल जाना चाहिए कि लोक-शैली भी परम्परागत है जिसे आधुनिक कला के

समकक्ष रखा गया है (पृ० ३०)। वस्तुतः भारतीय परम्परागत शैलियों की यही विशेषता रही है कि उनके उदात्त कालों में परम्परा के आग्रह में उन्मुक्तता नष्ट नहीं हो पाई। परम्परागत शैलियों के इस विकास का यही कारण था;

इसी प्रकार "जड़ता का ध्वंस" (पृ० २७) केवल "ध्वंस" ही होकर तो नहीं रह गया, यह भी विचारणीय है।

प्रस्तुत पुस्तक में "भारतीय कला के प्रमुख प्रतीक" शीर्षक भी एक लेख है। परन्तु उसमें भी केवल कुछ उदाहरणों के नाम दिए गए हैं और व्याख्याएँ अधूरी सी हैं।

इन सबके होते हुए भी इस पुस्तक की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, डा० जगदीश ने आधुनिक कला जैसे गूढ़ और उपेक्षित विषय को बड़े ही प्रभावशाली ढंग में उपस्थित किया है। उनका गद्य बड़ा सुललित और विशद है, अध्यापक होने के नाते वे विषय की समर्थ व्याख्या कर सके हैं। इस प्रकार पुस्तक का हिन्दी-संसार में स्वागत होना चाहिए।

महाकवि कालिदास

डा० रामचन्द्र द्विवेदी

हिन्दी में कालिदास पर पुस्तकें अधिक नहीं हैं। आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने अपने मन की मौज में अपनी शैली में कुछ लिखा है। डॉ० भगवतशरण उपाध्याय ने महाकवि के युग-परिवेश का अध्ययन-अनुशीलन किया है। "विश्वकवि कालिदास : एक अध्ययन" का लेखक कुछ छोटे-मोटे प्रश्नों में उलझ कर रह गया है। कालिदास—मेरा अर्थ है समग्र और कवि कालिदास के विषय में हिन्दी का पाठक इससे अधिक या तो अनूदित (जैसे कि प्रो० मिराशी की) पुस्तक से पढ़ पाता है या फिर संस्कृत साहित्य के इतिहास के पृष्ठों से। जिस कवि-सम्राट् का हम आज भी जयघोष करते हैं उसके प्रति हमारी भक्ति अधिक मुखर नहीं है ! इसलिए मैं श्री रमाशंकर तिवारी की पुस्तक का स्वागत करता हूँ।

वाल्टर रुवेन की भाँति, कालिदास के [illegible] स्वर से प्रभावित होकर (प्राक्कथन 'अ' में लेखक ने रवीन्द्र, अरविन्द और रामस्वामी शास्त्री आदि अनेक लेखकों का अपनी पुस्तक में पर्याप्त उपयोग किया है। प्रथम अध्याय में कालिदास के 'जीवनवृत्त' की चर्चा में महाकवि का "स्थितिकाल ईसा की चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध और पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच रहा होगा।" (पृ० १४), "काश्मीर कवि की जन्मभूमि तथा मालवा उसकी कर्मभूमि रहे हैं" (पृ० २३), "सुतरां हमारी कल्पना में ऐसे कालिदास का चित्र संतरण करता है जो सुधी सहृदयों के स्नेहपात्र, श्रीमन्तों के सम्मानार्ह, लोकसमुदाय में अत्यन्त प्रिय एवं श्रद्धेय, राजन्यवर्गों में अत्यन्त आकांक्षित एवं प्रतीक्षित अथ च सहधर्मा साहित्यकारों में उत्कट स्पर्धा के भाजन थे" (पृ० ३०)—इत्यादि सुपरिचित पर पुनरुक्तिसमर्थ निष्कर्ष दुहराये हैं। विपरीत

लेखक : रमाशंकर तिवारी
प्रकाशक : चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-१
संस्करण : प्रथम, वि० सम्वत् २०१८
मूल्य : ८-००
पृष्ठ संख्या : ६+४३६

निष्कर्षों के विरोध और अपनों की पुष्टि में लेखक ने नई ताजगी के साथ प्रमाणों का यथासम्भव संकलन भी किया है। यदा-कदा उसका स्वर अभिनिवेश और आग्रह का है किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि तर्क, विकल्प और सम्भावनाओं के जाल में फंसे हुए जीवनवृत्त के सम्बन्ध में आग्रह कदाचित् एक सहज आधार है।

'काव्यसाधना की पृष्ठभूमि' (द्वितीय अध्याय, पृ० ३०-६१) में लेखक ने कालिदासकालीन भारत का, कवि के साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिवेश का तथा गुप्तकाल की अन्य विशेषताओं का उल्लेख किया है। इससे हमें कवि के विचार, साधना और सीमाओं को समझने में समुचित सहायता मिलेगी। कीथ, राय चौधुरी, अरविन्द और भगवतशरण उपाध्याय आदि अनेक विद्वानों ने कालिदास की काव्य-साधना की चतुरस्र पृष्ठभूमि को समग्र रूप में प्रस्तुत नहीं किया है क्योंकि इन सभी की एक अपनी-अपनी दृष्टि थी। उनके द्वारा निर्दिष्ट सभी पक्षों का यथोचित संकलन और उनके अभिमत का अपेक्षित अनुवाद देकर (पृ० ५५-६१), बहुश्रुत लेखक ने साहित्य-साधना की पीठिका का सम्पूर्ण चित्र संवार कर संजो दिया है। मेरा एक अनुरोध अवश्य है कि इस प्रसङ्ग में जो चित्र उभरा है उसका कालिदास के काव्यों में प्रतिबिम्बन और सम्बन्ध (कार्यकारणभाव) स्पष्ट और विशद रूप में दिखा दिया जाना चाहिये था, अन्यथा मुझे भय है कि कहीं साधारण पाठक यह न समझे कि पृष्ठभूमि के पन्ने अलग से चिपके हुए हैं, वे वहिरङ्ग हैं, अन्तरङ्ग नहीं बन पाये हैं। हाँ, यह दोष अनूदित अंश (जैसे कि पृ० ५५-६१) में नहीं है।

महर्षि अरविन्द ने कालिदास के पाठकों को इस बात से सचेष्ट किया था कि वे जीवन-वृत्त और इतिहास की जानकारी में 'कवि' को न भूल बैठें। श्री तिवारी का भी कहना है कि कालिदास "कहाँ उत्पन्न हुए, कब उत्पन्न हुए, और कैसे जीवनयापन किया इत्यादि तथ्यों की जानकारी में समय एवं शक्ति का व्यय न कर उनकी कृतियों का ही अधिकाधिक अनुशीलन होना चाहिये" (प्राक्कथन 'आ')। उनके इस अनुगमन का मैं अभिनन्दन करता हूँ। मुझे खुशी है कि कालिदास के काव्य-सौन्दर्य के उन्मीलन में उन्होंने बारह अध्याय लिखे हैं। इनमें से सात में महाकवि के सर्वमान्य चार काव्य—ऋतुसंहार, मेघदूत, कुमारसम्भव तथा रघुवंश और तीन नाटक[1]—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस श्रेणी के शेष अध्याय सौन्दर्यभावना (११ वाँ), प्रेमभावना (१२ वाँ) तथा प्रकृतिचित्रण (१३ वाँ), कालिदास की नाट्यकला तथा काव्यकला (१४-१५ वें)

---

१. नाटकों के परिचय के पूर्व 'संस्कृत नाटक : उद्भव और विशेषताएँ' इस पर भी एक (सातवां) अध्याय है। इसे पढ़ने से सम्भव है कि प्रबुद्ध पाठक सोचे कि लेखक का अवचेतन मन विद्यार्थी के लिये एक अच्छी पाठ्यपुस्तक बनाने को उत्कण्ठित रहा है।

भी काव्य-नाटक के अध्ययन-अनुशीलन में हमारी सहायता करते हैं। ये सभी अध्याय लेखक के अध्ययन और अध्यवसाय के ही परिणाम नहीं अपितु उसकी भावयित्री प्रतिभा के भी सुन्दर निदर्शन हैं। उसने शायद ही इन कृतियों के किसी मार्मिक प्रसङ्ग को छोड़ा है; सभी आवश्यक स्थानों पर मूल के उद्धरण देकर वह सहज ही पाठक की उत्कण्ठा जाग्रत कर देता है। मेरा विश्वास है कि कोई भी ऐसा पाठक न होगा जो कालिदास के काव्यों का रससान्द्र परिचय पाकर मूल के लिये आतुर न हो उठे। प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करने वाले किसी भी लेखक की यह सबसे बड़ी सफलता है। पर एक बात मुझे कहनी है—और मैं इसे अवश्य कहना चाहता हूँ, कि कालिदास की कृतियों के प्रणयन का एक क्रम है (वह चाहे जो भी मानें), उसी क्रम से इनका अध्ययन प्रस्तुत किया जाना चाहिये था। जी. सी. झाला ने 'कालिदास : ए स्टडी' में (जिसका लेखक ने सम्भवतः उपयोग नहीं किया है), एक क्रम की चर्चा की है। वह बहुत लोगों को मान्य भी है; फिर कोई भी तो यह स्वीकार न करेगा कि रघुवंश से प्रारम्भ कर ऋतुसंहार में और शाकुन्तल से प्रारम्भ कर मालविकाग्निमित्र में अध्ययन और परिचय का उपक्रम और उपसंहार हो। यह पतत्प्रकर्ष पाठक को निश्चित ही खलेगा। महाकवि के विचार और शैली, दर्शन और साधना के कुछ सोपान रहे होंगे, उसकी प्रेमभावना, सौन्दर्य-भावना या प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण धीरे-धीरे किसी एक क्रम से विकसित हुए होंगे। अतः यह कहाँ तक उचित है कि सौन्दर्यभावना की चर्चा सीधे कुमारसम्भव से प्रारम्भ कर शाकुन्तल से उद्धरण देकर समाप्त कर दी जावे ? प्रेमभावना की चर्चा कुमारसम्भव, शाकुन्तल और रघुवंश तक ही विशेषतः क्यों सीमित रखी जाए ? ऋतुसंहार के वासनामूलक पार्थिक प्रणय की चर्चा क्यों अनावश्यक है ? कविमानस के ऊर्ध्वगामी विकास का, उसकी आदर्शोन्मुख साधना का चित्र तब तक न तो पूरा हो सकेगा जब तक विकास के टेढ़े-मेढ़े रास्ते नहीं बताये जाते।

पुस्तक के अन्तिम तीन में से प्रथम दो अध्याय (१६-१७) कालिदास के लोकादर्श तथा प्रभाव की चर्चा करते हैं और 'उपसंहार' (अन्तिम अध्याय) में वाल्मीकि और व्यास के साथ अपने कवि का क्या स्थान है, राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्त और उद्बुद्ध करने में उसका क्या योग है, क्या वह सामन्तीय व्यवस्था का वैतालिक है अथवा उसकी त्रुटियों के प्रति भी जागरूक है—आदि आज के पाठक के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न (विशेष रूप से अन्तिम दो) उठाये गये हैं—इन दोनों का उत्तर जो भी हो पर किसी को इसमें सन्देह नहीं होगा कि इस देश की आत्मा का काव्य में प्रतिबिम्बन करने वाला, भारतीय संस्कृति का प्रतिवाही कवि कालिदास हमारी आज की चेतना का परोक्ष स्रष्टा है, और वह किसी सामन्त का वैतालिक नहीं हो सकता। पर क्या हम कवि और उसके काव्य को लोकनेतृत्व की आशा से परे नहीं देख सकते ? क्या कवि के लिये मात्र कवि होना पर्याप्त न होगा ?

समीक्ष्य पुस्तक की शैली आरम्भ से अन्त तक मूलस्पर्शी है, जिससे पाठक मूलभाषा के पास पहुँच जाता है। कालिदास के काव्यों से इस प्रकार की आत्मीयता स्थापित करने में मूल के उद्धरण सहायक हुए हैं। मूल श्लोकों का अनुवाद लेखक का अपना है या और किसी का, इसका परिचय नहीं दिया गया है। कहीं-कहीं दो श्लोक देकर केवल एक का या उसके कुछ अंश का (पृ० १२७) या एक देकर उसकी एक पंक्ति का ही (पृ० १५७) अनुवाद दिया गया है। कभी-कभी मूल ही दिया गया है। इससे संस्कृत न जानने वालों को कठिनाई और भ्रम होगा अतः किसी एक रूप-पद्धति का पालन अपेक्षित था। जहाँ-तहाँ शैली में पुरानापन है जैसे कि "उनका चित्रण देख रसमग्न होवें' (पृ० ७२), वे कितना हैं महान् (पृ० ९७), "प्रवृत्तियां ही प्रामाण्य होती हैं" (पृ० १५२) आदि। व्याख्या करने के लिये "व्याख्यायित करना" (पृ० १३४, १४९), या निरूपण के लिये विरूपण (पृ० १२६) आदि अटपटे प्रयोग हैं। छापे की भूलें अधिक नहीं हैं पर 'उत्थिप्त' (पृ० ३३), 'प्राणेय' (पृ० ९७) जैसी अशुद्धियाँ साधारण पाठक को शायद समझ में न आवें। किन्तु इनसे पुस्तक का मूल्य नहीं घटा है।

अस्तु ! विवेच्य पुस्तक में विद्वान् लेखक ने कालिदास के जीवनवृत्त और काव्यों के सम्बन्ध में, उपलब्ध सामग्री का यथासम्भव उपयोग कर, एक कमनीय कृति हिन्दी संसार को प्रदान की है। आजतक हिन्दी में कालिदास पर ऐसी कोई पुस्तक प्राप्त नहीं है जिसमें अभी तक की उपलब्धियों का विवेचन हो और अपनी दृष्टि हो। इस दिशा में स्तुत्य साधना के रूप में हम एक बार फिर श्री तिवारी की पुस्तक का स्वागत करते हैं।

भाषा और समाज

डॉ० उदयनारायण तिवारी

भारत को ज्ञान-विज्ञान के जिन विविध क्षेत्रों में सर्वाग्रणी होने का गौरव प्राप्त है उनमें "भाषा-शास्त्र" प्रमुख है। भाषा का शास्त्रीय अध्ययन एवं सूक्ष्म विवेचन सर्वप्रथम भारत में ही हुआ था। प्रातिशाख्यों, शिक्षा-ग्रन्थों, पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि की कृतियों में भाषा का जैसा वैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है वह अपने समय में तो अद्वितीय था ही, आज भी वह भाषा-शास्त्र के अध्येताओं का मार्गदर्शन कर रहा है।

परन्तु प्राचीन भारत में यह भाषाशास्त्रीय विवेचन केवल, एक भाषा, संस्कृत तथा उससे अति घनिष्ठ सम्बन्ध वाली पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश आदि भाषाओं तक ही सीमित रहा। अठारहवीं शती में जब संस्कृत का ज्ञान यूरोप में पहुँचा तब वहाँ के विद्वानों को भाषा के वैज्ञानिक विश्लेषण करने की प्रेरणा मिली और वे अपनी भाषाओं की ध्वनियों एवं व्याकरणीय रूपों के शास्त्रीय विवेचन में प्रवृत्त हुए। धीरे-धीरे जब इन विद्वानों का संसार की अनेक जीवन्त भाषाओं एवं उनके प्राचीन इतिहासों से परिचय हुआ तब "तुलनात्मक" एवं "ऐतिहासिक" भाषा-शास्त्र का जन्म हुआ। उन्नीसवीं शती के अनेक यूरोपीय एवं अमरीकी विद्वानों के अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप भाषाशास्त्र के सिद्धान्त स्थिर हुए और व्यवस्थित शास्त्र के रूप में इसे प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इधर जब अमेरिका के विद्वानों ने वहाँ की इतिहास-विहीन आदिम जातियों की भाषाओं एवं बोलियों का अध्ययन एवं विश्लेषण प्रारम्भ किया तब वर्णनात्मक (Descriptive) एवं गठनात्मक (Structural) भाषाशास्त्र अस्तित्व में आए। वर्णनात्मक प्रणाली द्वारा जीवित भाषाओं का विश्लेषण प्रस्तुत करके तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण करते हुए उनके उद्गम एवं

लेखक : डॉ० रामविलास शर्मा
प्रकाशक : पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लिमिटेड,
रानी झाँसी रोड, नई दिल्ली १
मूल्य : १५ रुपये

विकास तथा पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन करना आज वस्तुतः भाषाशास्त्र का दायित्व हो गया है। परन्तु आज भाषाशास्त्र से यह भी आशा की जाती है और यह आशा करना सर्वथा उचित भी है कि वह भाषा-सम्बन्धी व्यावहारिक समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करे। हमारे ही देश में आज भाषा-सम्बन्धी अनेक ऐसी समस्याएँ हैं; यथा राजभाषा या राष्ट्रभाषा की समस्या, भाषाओं के आधार पर निर्मित राज्यों में अन्य भाषा-भाषी अल्पसंख्यकों की समस्या, आदि। इन सभी सामाजिक समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करने में आज भाषाशास्त्री की सहायता इसलिए अपेक्षित है कि वह किसी प्रकार के राजनीतिक मतवाद का पूर्वग्रह न रखते हुए वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार कर सकता है।

यह अत्यधिक प्रसन्नता की बात है कि इधर एक ओर जहाँ हिन्दी में भाषा-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन की प्रवृत्ति बढ़ रही है वहाँ दूसरी ओर हिन्दी के विद्वान् भाषा-शास्त्र के अभिनव ग्रंथों के प्रणयन में भी प्रवृत्त हो रहे हैं। डॉ० रामविलास शर्मा की प्रस्तुत कृति भाषाशास्त्र के सैद्धान्तिक विवेचन तथा भाषा-सम्बन्धी सामाजिक समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करने की दिशा में एक विशिष्ट प्रयास है। भाषा-शास्त्र के ग्रंथों के रूक्ष या दुरूह होने की जो शिकायत प्रायः की जाती है, वह डॉ० शर्मा की इस पुस्तक के प्रति नहीं दुहरायी जा सकती। अपनी सरस एवं रोचक शैली के कारण पुस्तक आद्यन्त पठनीय है। हिन्दी के लिए यह कम गौरव की बात नहीं है कि ऐसे गम्भीर विषय पर इतनी सरलता, स्पष्टता और रोचकता से लिखा जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में सोलह अध्याय हैं और इन अध्यायों में भाषा की उत्पत्ति, प्रकृति, शब्द-भण्डार, भाषा-परिवार और आदि-भाषा जैसे भाषाशास्त्रीय सैद्धान्तिक विचार से लेकर भारतीय आर्यभाषा के नाम से अभिहित परिवार में संस्कृत के साथ प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं के सम्बन्ध और इनके उद्गम तथा विकास की समस्याओं एवं जातीय-भाषा, राज्य-भाषा, राष्ट्रभाषा, हिन्दी-उर्दू का विरोध और साम्राज्यवादी भेदनीति, सामाजिक अन्तर्विरोध और भाषा के विकास जैसी भाषा-सम्बन्धी सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं तक का समावेश किया गया है। पुस्तक के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने ५२१ पृष्ठों में अतिविस्तृत सामग्री प्रस्तुत की है और उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के इन ६१ वर्षों में विविध देशों के अनेकानेक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विचारों का ऊहापोह किया है। आधुनिक युग में अपने सिद्धान्तों को पुष्ट बनाने एवं उन्हें वैज्ञानिक रूप देने में जो अभिनव विज्ञान अग्रसर हुए हैं उनमें भाषा-शास्त्र का स्थान अन्यतम है। इधर इस पुस्तक में इतने अधिक सैद्धान्तिक प्रश्न उठाये गये हैं कि पाँच-दस पृष्ठों में पूरी पुस्तक की आलोचना सम्भव नहीं है। इसके लिए तो इससे भी दुगुने आकार एवं विस्तार के ग्रन्थ की आवश्यकता होगी। यहाँ हम मूल्यांकन के रूप में डॉ० शर्मा की विवेचन-पद्धति की ओर इंगित मात्र ही कर सकते हैं।

प्रथम अध्याय में डॉ० शर्मा ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। जिन परिस्थितियों तथा क्रियाओं के कारण निरर्थक ध्वनियाँ सार्थक ध्वनियों में परिणत हो जाती हैं उनका स्पष्ट निर्धारण आज तक किसी भाषाशास्त्री ने नहीं किया है। भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई, इसकी व्याख्या करने में मानव को निकट भविष्य में कभी भी सफलता मिल सकेगी, इसमें भारी सन्देह है। इसका कारण है अपेक्षित प्रामाणिक सामग्री का अभाव जिससे इस सम्बन्ध में, आजतक, जो भी विवेचन हुआ है वह एकाङ्गी एवं अनुमानाश्रित हो है। आज से आधी शताब्दी पूर्व यूरोप के कतिपय देशों के भाषाशास्त्री तो इस प्रश्न से इतने चिढ़ उठे हैं कि पेरिस की "लिंग्विस्टिक सोसाइटी" ने एक नियम बना दिया है कि इसकी बैठकों में कोई भी विद्वान् न तो भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई विचार व्यक्त करेगा और न कोई निबन्ध ही पढ़ सकेगा। यह ठीक भी है क्योंकि जब आज भी भाषा-सम्बन्धी अनेक ऐसे तत्त्व हैं जिन पर नवीन ढंग से विचार करने की आवश्यकता है तब काल्पनिक एवं अनुमानाश्रित प्रश्नों एवं समस्याओं में उलझने की आवश्यकता ही क्या है? पता नहीं जब प्रस्तुत पुस्तक के लेखक के पास इस समस्या के समाधान के लिए कोई नवीन एवं उपयुक्त तथ्य न थे तब इसे सुलझाने का उसने अनावश्यक प्रयत्न ही क्यों किया? जब तक आदिम मानव की भाषा के सम्बन्ध में हमें प्रमाण-पुष्ट सामग्री न मिल जाय तब तक इस विषय की चर्चा ही व्यर्थ है। इसीलिये आज के भाषाशास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में विचार करना ही छोड़ दिया है। अंग्रेजी अथवा हिन्दी की जिन भाषाशास्त्रीय पाठ्य-पुस्तकों में इस विषय की चर्चा की गई वह आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व की काल्पनिक उड़ानों का वर्णन मात्र है। तब यदि डॉ० शर्मा भी भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न में उलझकर कोई स्पष्ट उत्तर प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

दूसरे अध्याय में डॉ० शर्मा ने भाषा की ध्वनि-प्रकृति के सम्बन्ध में विचार किया है। ध्वनिविचार के अन्तर्गत भाषा की ध्वनियों का सामान्य विवेचन करना चाहिये था। इस सामान्य विवेचन के अन्तर्गत प्रायः स्वरव्यंजन पर विचार किया जाता है। हाँ, जब हम किसी विशेष भाषा के सम्बन्ध में विचार करते हैं तब हम उसके ध्वनिग्रामों, स्वर-संयोगों, व्यंजन-गुच्छों एवं खण्डेतर ध्वनिग्रामों (Supra Segmental phonemes) पर विचार करते हैं। इस अध्याय में सामान्य रूप से 'सुर' तथा 'बलाघात' के सम्बन्ध में जो विचार किया गया है वह भी अपूर्ण एवं अवैज्ञानिक है। चीनी भाषा में सुर महत्त्वपूर्ण लक्षण अवश्य है किन्तु सुर के भी यहाँ विभिन्न स्तर होते हैं। इनके पूर्ण विवेचन के बिना इस सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष पर पहुँचना भ्रान्तिपूर्ण ही होगा। हिन्दी तथा उसकी बोलियों में भी वाक्य-स्तर पर सुर से अर्थ बदल जाता है। वाक्य-स्तर पर 'सुर' का अस्तित्व वस्तुतः हिन्दी का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। डॉ० शर्मा ने इस अध्याय में कहीं भी इस तथ्य की

ओर लक्ष्य नहीं किया कि चीनी भाषा में जहाँ पदग्रामिक संरचना अथवा शब्द स्तर पर सुर-भेद के कारण अर्थ में परिवर्तन हो जाता है वहाँ हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में वाक्य-स्तर पर यह प्रक्रिया होती है। हिन्दी के एकाक्षर शब्द "हाँ" तथा "ना" में भी सुर भेद के कारण अर्थ-भेद द्रष्टव्य है।

इसी अध्याय में डा० शर्मा ने 'स', 'ह' ध्वनियों का विवेचन किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि हिंद और हिंदी शब्दों का निर्माण भारत में ही हुआ था (दे० पृ० २७)। इस प्रकार के निष्कर्षों से, कुछ क्षणों के लिए, हमारे राष्ट्रीय अभिमान का पोषण भले ही हो जाय किन्तु शास्त्रीय अध्ययन के मूल में तो सदा के लिए कुठाराघात हो जाता है। यह सर्वविदित है ऋग्वेद के रूप में मानव की प्रथम साहित्यिक कृति प्रकट हुई थी। ऋग्वेद से लेकर परवर्ती लौकिक संस्कृत अथवा पालि-प्राकृत साहित्य में हमें कहीं भी "हिन्द" शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, जबकि अवेस्ता तथा प्राचीन फारसी के अभिलेखों में 'हिन्दव' शब्द अनेक बार आया है। थोड़ी देर के लिये भाषा-शास्त्र को बिलकुल अलग रख दें, तब भी उपलब्ध प्रमाणों से "हिन्द", "हिन्दी" शब्दों का प्राचीन ईरानी से, फारसी से होते हुए, भारत आना निर्विवाद है। इस संबंध में वस्तु-स्थिति यह है कि वेदों में इस प्रदेश (उत्तरी-पश्चिमी पंजाब) का नाम "सप्तसिन्धु" मिलता है। पालि जातकों में "सिन्धु सौवीर" देश का उल्लेख बराबर मिलता है। अवेस्ता में यही प्रदेश "हप्त हिन्द" कहा गया है। तो क्या भारतीय आर्य-जनों ने "हप्त हिन्द" जैसा रूप अपने व्यवहार के लिये न बनाकर ईरान में निर्यात करने के लिये बनाया था ?

इसी प्रकार विद्वान् लेखक को एक बात स्पष्ट दिखाई देती है कि "ह" ध्वनि का जैसा व्यापक प्रभाव, भारत में, वैदिक काल से लेकर अब तक बना हुआ है वैसा यूरोप के किसी भाषा-क्षेत्र में नहीं है। लेखक के अनुसार यह महाप्राणता भारतीय भाषाओं की अपनी विशेषता है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि कतिपय गिने-चुने शब्दों का उदाहरण देकर भारतीय भाषाओं को महाप्राण ध्वनियों का ठेकेदार मानना उचित प्रतीत नहीं होता। इसके लिए यह आवश्यक है कि यूरोप तथा भारत की समस्त प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओं की शब्द-राशि में "ह" के विवरण का पूरा ब्यौरा उपस्थित किया जाय।

केवल कतिपय उदाहरण देकर ही सामान्य नियम बना लेना अथवा उनके आधार पर व्यापक निष्कर्ष निकाल लेना, इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता है। इसी प्रकार दो विभिन्न स्तरों की बातों को भी एक कर देना विद्वान् लेखक के लिए साधारण बात है। उदाहरण के लिये "र", "ल" के प्रश्न को लिया जा सकता है। डा० चटर्जी तथा अन्य भाषा-शास्त्रियों ने इस विषय में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है। अशोक के पूर्वी शिलालेखों, प्राकृत व्याकरणों, संस्कृत-नाटकों में

उपलब्ध प्राकृतों एवं मागधी के एकमात्र शिलालेख 'शुतनुका' में प्राप्त सामग्री के अनुसार डॉ० चटर्जी का कथन सर्वथा युक्ति-युक्त है। अब यदि आधुनिक भाषाओं एवं बोलियों में "र-ल" की स्थिति पर विचार करना है तो इनके विवरण का पूर्ण रूप से अध्ययन करके ही कोई निष्कर्ष निकालना उचित होगा। इसी सन्दर्भ में विद्वान् लेखक ने लिखा है—"पंछाहीं बोलियों ने जिस तरह "ल" को अपनाया है उससे यह सम्भावना उत्पन्न होती है कि "हेलयो" कहने वाले असुर पछाँह के थे (पृ० ३४)। पूरब के अवध प्रदेश से जाकर पछाँह के ब्रज प्रदेश को निवास-स्थान बनाने के बाद लेखक को इस प्रकार की रहस्यात्मक अनुभूति भले ही हुई हो किन्तु इसे तथ्य की भूमि पर भी लाकर सिद्ध करने की आवश्यकता है। पता नहीं ब्रज-भाषा के आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी विद्वान् लेखक के इस विचार से सहमत हैं अथवा नहीं ?

पृष्ठ ४०-४१ में विद्वान् लेखक ने "अ-ए" के स्वरों का प्रश्न उठाया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि जहाँ संस्कृत "अ" के समानान्तर यूनानी में "ए" या अन्य कोई स्वर है वहाँ संस्कृत स्वर ही अधिक प्राचीन होगा। इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि पुराने भाषाशास्त्री भी इसी मत के थे किन्तु जब भारोपीय परिवार की अन्य भाषाओं का गहन एवं सम्यक् रूप से अध्ययन हुआ तो अन्ततोगत्वा "ए" की प्राचीनता ही सिद्ध हुई। यही अधुनातम मत है जो काफी वाद-विवाद के बाद निर्धारित किया गया है। अब इसे पुनः अन्यथा सिद्ध करने के लिये परम पुरुपार्थ की अपेक्षा है।

भाषाओं के पारस्परिक साम्य और भेद के विषय में डॉ० शर्मा का मत है कि व्याकरण एवं ध्वनियों के भेद से ही वे स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं हो जातीं, देखना चाहिए उनके मूल शब्द-भंडार की समानता को। कौन-सी भाषाएँ एक परिवार के अन्तर्गत हैं, यह तै करने में मूल शब्द-भंडार का अध्ययन हमारी सहायता करता है (पृष्ठ ७१)। डॉ० शर्मा का ध्यान कदाचित् इस ओर नहीं गया कि सर्वनाम, सम्बन्ध-सूचक शब्द और क्रियायें भी किसी भाषा के व्याकरण का अभिन्न अंग होती हैं। वस्तुतः व्याकरण की समानता, असमानता के आधार पर ही भाषाओं का साम्य या भेद स्पष्ट होता है, शब्द-भंडार की समानता के आधार पर भाषाओं का पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। प्रारम्भ में यूरोप के भाषा-शास्त्रियों ने भी यही गलती की थी जिसे स्पष्ट दिखाते हुए डैनिश विद्वान् रास्मस रास्क ने सर्वप्रथम यह सिद्धान्त निर्धारित किया था कि भाषाओं के साम्य या भेद का आधार उनका व्याकरणिक गठन होता है न कि शब्द-भंडार। संसार की अनेक भाषाओं ने अन्य भाषाओं से प्रचुर मात्रा में शब्द उधार लिये हैं, किन्तु इनकी

व्याकरणिक प्रणाली (गठन) अपनी है। उर्दू को जो हम निर्विवाद रूप से हिन्दी की एक शैली कह पाते हैं, उसका एक मात्र कारण यही कि अरबी-फारसी शब्दों की भरमार होने पर भी हिन्दी-उर्दू व्याकरण एक-सा ही है।

भाषा एवं बोली की चर्चा जहाँ विद्वान् लेखक ने की है वहाँ वे भाषा (Language), बोली (Dialect), तथा उपबोली (Idiolet) के भेद को स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। आधुनिक भाषाशास्त्र में इन तीनों का स्पष्ट स्थान है और बोली-विज्ञान अथवा शास्त्र (Dialectology) के अन्तर्गत विभिन्न स्तरों पर इनका अध्ययन किया जाता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भाषाओं एवं बोलियों के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या हम इस आधार पर भी नहीं कर सकते कि अमुक भाषा-भाषी अमुक भाषा-भाषियों से घृणा अथवा प्रेम करते हैं और इस तरह इन भाषाओं में घनिष्ठता या दूरी है। प्रेम या घृणा के कारणों की मीमांसा समाज-शास्त्र का विषय हो सकती है, किन्तु यदि भाषा-शास्त्री इसके आधार पर सिद्धान्त स्थापित करने लगें तो निश्चित रूप से वे भ्रामक होंगे। प्राचीन ईरानी और संस्कृत में 'असुर' : 'अहुर', 'देव' : 'द ए व' शब्दों के विपरीतार्थ से हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि प्राचीन ईरानी और संस्कृत परस्पर भिन्न भाषाएँ थीं। यह निष्कर्ष तो केवल इन भाषाओं के व्याकरण (गठन) के आधार पर ही निकाला जा सकता है। इसी प्रकार यह कथन कि बंगाली बिहारियों के लिए घृणा-व्यंजक "खोट्टा" शब्द का प्रयोग करते हैं और उत्तर प्रदेश के लोग बिहारियों से प्रेमपूर्वक मिलते हैं, इसलिए भोजपुरी, मैथिली आदि बंगला के समान मागधी परिवार की न होकर हिन्दी के साथ शौरसेनी परिवार की भाषाएँ हैं, अत्यधिक भ्रमपूर्ण होगा। बिहारियों के प्रति यदि बंगालियों का घृणा या उपेक्षापूर्ण भाव है तो उसके मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कारणों को अलग करने से ही यह दूर होगा, न कि भाषाओं के विवेचन की शास्त्रीय पद्धति को ताक पर रखकर केवल सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर उनका जोड़-तोड़ करने से।

डॉ० शर्मा की इस पुस्तक को पढ़ने से ऐसा लगता है कि वे किन्हीं पूर्वग्रहों को लेकर भाषा-शास्त्र के सिद्धान्तों के खंडन में प्रवृत्त हुए हैं। इसका स्पष्ट परिणाम यह हुआ है कि उनके अनेक निष्कर्ष दूषित हो गए हैं। भाषा-शास्त्र के विद्वानों के लिए यह ग्रंथ इस दृष्टि से भी पठनीय है जिससे उन्हें यह ज्ञात हो जाय कि एक उच्चशिक्षित व्यक्ति में भाषा-शास्त्र की स्थापनाओं के प्रति कितनी और किस प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ हो सकती हैं। यह ज्ञान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है और इसे उपलब्ध करने के लिए भाषा-शास्त्र के विद्वानों का डॉ० शर्मा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करनी चाहिए।

डॉ० शर्मा ने इस पुस्तक के लिखने में पर्याप्त सामग्री संकलित की है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि जहाँ वे पूर्वग्रहों से पृथक् रह सके हैं, वहाँ उनके विचार बड़े सुलझे हुए एवं उपादेय भी हैं। आशा है हिन्दी में भाषा-शास्त्रीय प्रश्नों के सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार करने में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से विद्वानों को, डॉ० शर्मा की इस कृति से सदैव प्रेरणा मिलती रहेगी।

इस्लाम के सूफी साधक

डा० रामपूजन तिवारी

रेनाल्ड ए० निकोल्सन की पुस्तक 'दि मिस्टिक्स ग्राफ इस्लाम' सूफी-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त सुपरिचित है अथवा यों भी कह सकते हैं कि सूफी-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह ग्रावश्यक है कि वे इस पुस्तक से परिचय प्राप्त करें।

निकोल्सन, अरबी और फारसी के बहुत बड़े विद्वान् थे। सूफीमत का विशेष रूप से उन्होंने अध्ययन किया था। सूफीमत सम्बन्धी उनकी कुछ पुस्तकों के अध्ययन से उनके पाण्डित्य और पैनी दृष्टि का पता चल जाता है। 'दि मिस्टिक्स ग्राफ इस्लाम' में विद्वान् लेखक ने सूफीमत के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है। ग्रालोच्य ग्रन्थ ('इस्लाम के सूफी साधक') उपर्युक्त पुस्तक का हिन्दी-रूपान्तर है।

इस पुस्तक में छः अध्याय हैं। इनके अतिरिक्त 'विषय-प्रवेश' शीर्षक देकर लेखक ने 'सूफीमत के ग्राविर्भाव और ऐतिहासिक विकास तथा इस्लाम धर्म के साथ इसके सम्बन्ध तथा इसकी सामान्य प्रवृत्ति' पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

लेखक ने (१) ईसाई धर्म, (२) नव अफलातूनी दर्शन, (३) नास्टिक मत, तथा (४) बौद्धधर्म के परिप्रेक्ष्य में सूफीमत को समझने का प्रयास किया है। लेखक ने बतलाया है कि सूफीमत वास्तव में इस्लामी रहस्यवाद है और इसे समझाने के लिये 'इस्लाम के बाह्य और आन्तरिक विकास पर ध्यान देना ग्रावश्यक है' (पृ० २)। लेखक ने 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति की चर्चा करते हुए बतलाया है कि सूफी स्वयं मानते हैं कि यह शब्द 'सफ़ा' अर्थात् शुद्धता से बना है, जबकि कुछ यूरोपीय विद्वान् 'थियोसोफिस्ट' से इसका सादृश्य मानते हैं।

लेखक : रेनाल्ड ए० निकोल्सन
अनुवादक : श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी
प्रकाशक मित्र प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद
मूल्य : चार रुपये, पृष्ठ संख्या : १५६

निकोल्सन ने नोएल्दे के मत का हवाला देते हुए बतलाया है कि यह शब्द 'सूफ़' (ऊन) से निकला है। निकोल्सन इस मत से सहमत हैं (पृ० २-३)। वैसे इस मत की चर्चा बहुत पहले अरबी पण्डितों ने की थी। अबू नसर अल-सर्राज ने अपनी पुस्तक 'किताब अल-लुमा' में सूफ़ी शब्द पर विचार किया है और 'सूफ़' (ऊन) से इस शब्द के निकलने के सिद्धान्त को ग्रहण किया है। अबू बकर-अल-कलाबाधी, इब्न खल्दून भी इसे 'सूफ' (ऊन) से ही बना हुआ मानते हैं। भाषा-शास्त्री इस व्युत्पत्ति को मानने को तैयार नहीं होते। लेकिन इतिहास को ध्यान में रखकर इस शब्द पर विचार करने वाले इस-मत के मानने के ही पक्ष में हैं। लुई मासिओ, ब्राउन आदि यूरोपीय विद्वान् इसी मत के समर्थक हैं।

सूफी मत के विकास की चर्चा करते हुए लेखक ने बतलाया है कि प्रारम्भिक काल में सूफी 'रहस्यवादी होने की अपेक्षा तापस और एकान्तवासी अधिक थे (पृ० ३)। उस काल में अर्थात् सन् ईस्वी की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा आठवीं शताब्दी में अरब देशों के निवासियों में नरकाग्नि की यातना तथा अल्लाह के कठोर न्याय का भय इतना फैला हुआ था कि वे संसार से भागकर मुक्ति पाने के लिए अत्यन्त व्यग्र हो उठे थे। इस दृष्टि से उस काल के अधिकांश सूफी साधक तथा सनातनपंथी इस्लाम के अनुयायियों में कोई विशेष अन्तर नहीं था। फिर भी, उस काल में कुछ ऐसे साधकों का पता चलता है जो सच्चे अर्थों में रहस्यवादी थे। उनमें राबिया अल-अदाविया अल-बसरी का नाम विशेष रूप से उल्लेख-योग्य है।

सन् ईस्वी की नवीं शताब्दी में इस्लाम-धर्म के अनुयायियों में कुछ ऐसे व्यक्ति दीख पड़ते हैं जो परमात्मा के प्रति प्रेम, ज्ञान, प्रकाश आदि की चर्चा करने लगते हैं। उनके लिए भय की अपेक्षा प्रेम का महत्त्व अधिक हो उठता है। उनके लिए परमात्मा परम प्रियतम हो जाता है। यह एक नई प्रवृत्ति थी। यह इस्लाम के बाहर की वस्तु थी। इस प्रवृत्ति को नाना प्रकार से समझाने की चेष्टा की गई है। कुछ लोग इसे भारतीय या ईरानी चिन्ताधारा से प्रभावित मानते हैं, और फिर कुछ लोगों ने इसे बौद्धधर्म या वेदान्त से प्रभावित होना बताया है। निकोल्सन इसे अंशतः स्वीकार करते हैं, फिर भी वे इसे बहुत दूर तक यूनानी संस्कृति का प्रभाव मानने के पक्ष में हैं (पृ० ७)। और अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "सूफीमत एक मिश्रित वस्तु है और इस कारण इस प्रश्न का, कि इसका आविर्भाव कैसे हुआ, कोई सीधा उत्तर नहीं दिया जा सकता।" ईसाई धर्म और नव अफलातूनी दर्शन की चर्चा करते हुए निकोल्सन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "नव-अफलातूनी दर्शन ने इस्लाम में उसी रहस्यवादी तत्त्व का अर्क काफी परिमाण में डाला, जिससे ईसाई धर्म पहले से ही सराबोर था (पृ० ११)। मैंने अपनी पुस्तक 'सूफीमत, साधना और साहित्य (पृ०३९६-३९७) में विस्तार से इस बात पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है कि नव-अफलातूनी दर्शन

भारतीय विचारधारा से प्रभावित है। इसलिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सूफीमत पर भारतीय विचारधारा का प्रभाव पड़ा है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

सूफीमत पर बौद्धधर्म के प्रभाव को आंशिक रूप से स्वीकार करते हुए भी निकोल्सन ने इस प्रभाव को भारतीय अधिक कहा है, बौद्ध कम। वास्तव में निकोल्सन ने बौद्धधर्म को भारतीय चिन्ताधारा से विच्छिन्न करके देखने की भूल की है। यही कारण है कि 'निर्वाण' के सम्बन्ध में उनके विचार दोषपूर्ण हैं।

निकोल्सन ने कहा है कि "दैवी-सौन्दर्य के आह्लादपूर्ण चिन्तन में अपने को भूले हुए सूफी की प्रसन्नता अरहत (?) की भावहीन बौद्धिक निर्मलता और शान्ति के बिलकुल विपरीत है" (पृ० १४) लेकिन जिसे निकोल्सन ने अर्हत की 'भावहीन बौद्धिक निर्मलता और शान्ति' कहा है वह कालक्रम से रहस्यवादी भावनाओं से ओत-प्रोत हो गई थी। बौद्धों का निर्वाण 'निष्प्राण और नीरस' ही नहीं बना रहा। वैसे इतना सही है कि बौद्धधर्म की कुछ शाखाएँ निर्वाण के शुष्क रूप को ही स्वीकार करती रहीं।

प्रथम अध्याय में पथ के सम्बन्ध में लेखक ने विचार किया है। सूफी इसे 'तरीक़त' कहते हैं। आध्यात्मिक जीवन को सूफी एक यात्रा समझते हैं। सूफी मानते हैं कि सालिक (यात्री) आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर होता हुआ कई 'मक़ामात' से गुजरता हुआ अपने चरम लक्ष्य तक पहुँचता है। निकोल्सन ने 'किताब अल-लुमा' में वर्णित इस आध्यात्मिक पथ के सात सोपानों का उल्लेख किया है। ये सात सोपान हैं: (१) पश्चात्ताप, (२) संयम, (३) विराग, (४) दैन्य, (५) धैर्य, (६) खुदा में विश्वास, और (७) सन्तोष। ये सोपान 'सूफी' के यौगिक एवं नैतिक अनुशासन के अंग हैं। इन सोपानों के सहारे सूफी मार्ग पर अग्रसर होने वाले साधक की दस दशाओं (अहवाल) का वर्णन 'किताब अल-लुमा' में किया गया है। उन दशाओं के नाम ये हैं :—ध्यान, खुदा से सामीप्य, प्रेम, भय, आशा, औत्सुक्य, मैत्री, शान्ति, चिन्तन एवं निश्चयात्मकता। यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि 'सूफी-मार्ग' की मंजिलों और अहवाल की और भी परम्पराएँ हैं। बहुत-से सूफी साधक परमात्मा तक पहुँचने की चार मंजिलें और चार अवस्थाएँ मानते हैं। कुछ सूफी साधक तीन मंजिलें मानते हैं और कुछ बारह मुक़ामात और अहवाल मानते हैं।

सूफी साधना में शेख़ या आध्यात्मिक गुरु का स्थान बहुत महत्त्व का है। निकोल्सन ने शेख़ के महत्त्व को बताते हुए हुजवीरी के मत को उद्धृत किया है। हुजवीरी ने विस्तार से इस बात पर प्रकाश डाला है कि किस प्रकार से शिष्य को शेख़ 'तीन वर्षों की अवधि तक आध्यात्मिक अनुशासन में रखते हैं' (पृ० २७)। इस

अध्याय में जिक्र या स्मरण (जप) तथा मुराक़बत या ध्यान पर भी प्रकाश डाला गया है। सूफी-साधना में इन दोनों का स्थान बड़े महत्त्व का है।

द्वितीय अध्याय में 'प्रकाश-प्राप्ति और आह्लाद' को समझाने का प्रयास किया गया है। सूफी विश्वास करते हैं कि अपने हृदय के विश्वास के प्रकाश में परमात्मा को प्रत्यक्ष किया जा सकता है। उनका कहना है कि 'यक़ीन' (अन्तर्ज्ञान से प्राप्त निश्चयात्मकता का प्रकाश), जिसके द्वारा हृदय ईश्वर को देखता है, वह ईश्वर के स्वप्रकाश की एक किरण है जिसे ईश्वर ने स्वयं हृदय में डाल दिया है, अन्यथा उसका कोई भी दृश्य प्रतिभासित होना संभव नहीं है।' (पृ० ४४)। यह प्रकाश-प्राप्ति, बोध का दूसरा नाम है।

'आह्लाद (आविष्टावस्था) के द्वारा आत्मा परमात्मा से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर उससे मिल जाती है' (पृ० ५०)। इसको यों समझा जा सकता है कि 'जब व्यक्तिगत स्व का लोप हो जाता है तब विश्वात्मा की प्राप्ति होती है' (पृ० ५०)।

'फ़ना' और 'बक़ा' को सूफी साधना का चरम लक्ष्य माना गया है। फ़ना की अन्तिम स्थिति 'अहं' का पूर्ण रूप से लोप हो जाना है और 'बक़ा' परमात्मा में सतत् निवास है। निकोल्सन ने 'फ़ना' और 'बक़ा' पर छठे अध्याय में विस्तार से प्रकाश डाला है। कुछ सूफी फ़ना को ही चरम लक्ष्य मानते हैं और वहीं जाकर उनकी आध्यात्मिक यात्रा का अन्त हो जाता है। उसके पश्चात् उनमें और संसार में कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। उनमें अपने अहं का कुछ भी शेष नहीं रह जाता; उनका व्यक्तिगत अस्तित्व मर जाता है। 'एकत्व में विसर्जित होकर न उन्हें धर्म का ज्ञान रहता है, न धार्मिक नियमों का और न किसी प्रकार की दृश्यमान सत्ता का' (पृ० १४०-१४१)। और फिर 'बक़ा' की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए निकोल्सन ने बतलाया है (पृ० १४१) कि 'फ़ना अर्थात् 'निजत्व' के मिटा देने के पश्चात् परमात्मा में वास करना ('बक़ा') पूर्ण मनुष्य (इन्सानुले-कामिल) का मुख्य चिह्न है। ऐसा व्यक्ति केवल परमात्मा की ओर अर्थात् अनेकत्व से एकत्व की ओर ही यात्रा नहीं करता, वरन् वह परमात्मा में और परमात्मा के साथ यात्रा करता है अर्थात् वह सदैव मिलनावस्था में रहता है और परमात्मा के साथ ही इस दृश्यमान जगत् में, जहाँ से वह चला था, वापस लौटता है और अनेकत्व में एकत्व को प्रकाशित करता है।" इस सुन्दर उद्धरण में बड़े सुन्दर ढंग से चरम लक्ष्य पर प्रकाश डाला गया है।

तीसरे अध्याय में 'मारफत' (ज्ञान) और चौथे में दैवी प्रेम की चर्चा है और उनके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास है। ज्ञान का अर्थ सूफियों के लिए अपनी एक अलग विशेषता रखता है। उनके लिये 'ज्ञान का अर्थ एकमेक होना और इस तथ्य का बोध होना है कि एकत्व के साथ नानात्व का आभास एक झूठा और छलपूर्ण स्वप्न है';

(पृ० ७३)। सूफी यह भी मानते हैं कि यह 'ज्ञान धर्म अथवा किसी प्रकार के मानवीय ज्ञान से नहीं प्राप्त होता। इसका समुचित सम्बन्ध दैवी गुण से होता है, जिनका ज्ञान परमात्मा स्वयं अपने उन सन्तों पर प्रकट करता है जो उसका चिन्तन करते हैं' (पृ० ६७)। सूफी मानते हैं कि परमात्मा न इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है और न बुद्धि द्वारा। सूफी कहते हैं कि उसका संदेश तीन द्वारों से पाया जा सकता है। "कल्ब' (हृदय), जो परमात्मा को जानता है; 'रूह' (जीव), जो परमात्मा से प्रेम करता है; और 'सिर्र' (अन्तरात्मा) जो परमात्मा का चिन्तन करता है" (पृ० ५८)।

ज्ञान के समान प्रेम भी सूफियों के लिए अपना एक विशेष अर्थ रखता है। उनके लिये 'ज्ञान और प्रेम आध्यात्मिक रूप से समान हैं, वे एक ही सत्य का भिन्न-भिन्न भाषा में उपदेश करते हैं' (पृ० ८७)। सूफी मानते हैं कि प्रेम 'कोई ऐसी वस्तु नहीं जो प्राप्त की जा सके (पृ० ६७), बल्कि यह परमात्मा की देन है। और परमात्मा से वही प्रेम करते हैं जिनसे परमात्मा प्रेम करता है' (पृ० ६७)। सूफी मानते हैं कि "प्रेम का तात्पर्य व्यक्तिगत 'अहं' का लोप हो जाना है। यह अबाध हर्षोन्माद तथा परमात्मा द्वारा भेजी गई कृपा है, जिसके लिए कठोर प्रार्थना तथा तीव्र इच्छा द्वारा प्रयास करना चाहिए" (पृ० ६७)।

पंचम अध्याय में 'संत और चमत्कार' सम्बन्धी रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। मुसलमान संत को साधारणतया 'वली' कहते हैं। इसका बहुवचन 'औलिया' है। संतों के चमत्कार-सम्बन्धी बहुत-सी कहानियाँ प्रचलित हैं। सूफियों का विश्वास है कि ये संत परमात्मा के द्वारा जगत् का शासन करने के लिए भेजे गए हैं। जगत् में उन्हीं के कारण सुव्यवस्था रहती है। इनमें सर्वोच्च अधिकारी को 'कुत्ब' की पदवी प्राप्त है और उनके नीचे तीन सौ अख़यार (नेक लोग), चालीस अब्दाल (प्रतिनिधि), सात अबरार (पवित्र आचरण वाले), चार औताद (स्तम्भ) और तीन नुकवा (पर्यवेक्षक) हैं (पृ० १०७)। वैसे सूफीमत की प्रारम्भिक अवस्था में संतों के सम्बन्ध में इतना अधिक बल नहीं दिया गया है। बाद में चलकर दरवेश-सम्प्रदायों में संतों की उपासना का महत्त्व बढ़ गया। सूफी विश्वास करते हैं कि संतों को यह चमत्कार की शक्ति भगवान् की कृपा से प्राप्त हुई है।

जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही कहा है कि सूफी साहित्य के लिये इस पुस्तक का बहुत महत्त्व है। इसका हिन्दी में रूपान्तर कर अनुवादक ने एक बहुत बड़ा काम किया है। अनुवादक ने अन्त में निकोलसन के जीवन तथा उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया है। प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दी गई है। अनुवादक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

हिन्दी नाट्यदर्पण

आचार्य बलदेव उपाध्याय

'हिन्दी नाट्यदर्पण' का यह संक्षिप्त समीक्षण प्रस्तुत करते समय मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के लेखक आचार्य विश्वेश्वर तथा सम्पादक डॉ० नगेन्द्र तथा उनके सहयोगी डॉ० दशरथ ओझा और डॉ० सत्यदेव चौधरी हिन्दी-संसार के धन्यवाद के पात्र हैं। नये युग की हिन्दी आलोचना पश्चिमी आलोचना के द्वारा इतनी अभिभूत हो गई है कि वह संस्कृत के अपने बहुमूल्य रिक्थ को भूल चली है। पश्चिमी जगत् के साधारण आलोचकों के विचारों को भी हिन्दी समीक्षक विशेष महत्त्व देते हैं, परन्तु संस्कृत के प्रथम कोटि के आलोचकों के भी मौलिक विचार उनकी उपेक्षा के पात्र बने हुए हैं। हिन्दी के तथाकथित आलोचक रस तथा ध्वनि का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं और उसके अज्ञान को अपनी स्तुति मानते हैं। ऐसी स्थिति एक दशक के पूर्व तो बिल्कुल ही थी, परन्तु इधर यह मनोवृत्ति बदल रही है और यह कहना कथमपि अनुचित न होगा कि इस परिवर्तन का कारण आचार्य विश्वेश्वर जी के संस्कृत-ग्रन्थों के सुबोध प्रामाणिक अनुवाद तथा डॉ० नगेन्द्र की भारतीय आलोचना के प्रति गाढ़ अनुरक्ति और उसकी सुगम व्याख्या है। इन दोनों विद्वानों के संयुक्त अध्यवसाय का फल इधर प्रकाशित अनेक संस्कृत आलोचना विषयक ग्रन्थों के अनुवाद तथा अनुशीलन के रूप में हमें मिलता है। यह 'हिन्दी नाट्यदर्पण' भी इस अध्यवसाय-शृंखला की एक कड़ी है और एक बहुत ही सुन्दर कड़ी है।

हिन्दी नाट्यदर्पण : व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त-शिरोमणि
प्रधान सम्पादक : डॉ० नगेन्द्र
सम्पादक : डॉ० दशरथ ओझा तथा डॉ० सत्यदेव चौधरी
प्रकाशक : हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
पृष्ठसंख्या : ९७+४०८+२५
मूल्य : २२ रुपया

संस्कृत का नाट्य-विषयक शास्त्रीय साहित्य मात्रा में उतना कम नहीं है, परन्तु अलंकार-शास्त्र की व्याख्या की ओर मध्य युग में संस्कृत विद्वानों की प्रतिभा इतनी स्फुरित हुई कि नाट्य-विषयक शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन नितान्त उपेक्षित रह गया। आलोचकों की दृष्टि से यह तथ्य परोक्ष नहीं है कि भारतीय आलोचना ने अपना प्रथम प्रकाश नाट्य की समीक्षा से ही प्रकट किया। अलंकार की समीक्षा तो नाट्य-समीक्षा का एक क्षुद्र अंश थी, क्योंकि वह चतुर्विध अभिनय के अन्यतम प्रकार 'वाचिक अभिनय' से अपना सम्बन्ध रखती थी। नाट्य के लक्ष्य तथा लक्षण उभयविध ग्रन्थों की प्राचीन काल में कमी न थी, अन्यथा भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र जैसे व्यापक ग्रन्थ की रचना सम्भव नहीं हो सकती। ग्रीस में ट्रैजिडी की प्रमुखता तथा भारतवर्ष में रूपक की प्रधानता का क्या हेतु है ? इसका परिचय पोइटिकल तथा नाट्यशास्त्र के तौलनिक विवेचन से भली-भाँति मिलता है। ग्रीक साहित्य में 'नेमिसिस' के व्यापक क्षेत्र की पूर्ण अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन होने के कारण ट्रैजिडी का श्रव्य-काव्य तथा सुखान्त-रूपक (कामेडी) की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व था; परन्तु संस्कृत-साहित्य में रसबोध की प्रक्रिया में, रसोन्मेष के निमित्त अनुकूल साधन प्रस्तुत करने के कारण रूपक का विशेष गौरव था। 'काव्येपु नाटकं रम्यम्'—यह प्रख्यात आभाणक इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। फलतः लौकिक संस्कृत में श्रव्य-काव्य की रचना की अपेक्षा दृश्य काव्य का प्रणयन प्राचीन माना जाता। जिस महर्षि पाणिनि को 'जाम्बवती विजय' की रचना के कारण लौकिक संस्कृत के प्रथम महाकाव्य के लिखने का गौरव प्रदान किया जाता है, उन्होंने ही अपने सूत्रों में शिलालि तथा कृशाश्व के रचे नटसूत्रों का उल्लेख किया है। ये नटसूत्र भरत के नाट्यशास्त्र से निःसन्देह प्राचीन हैं। भरतपूर्व युग तथा भरतोत्तर युग के नाट्याचार्यों का निर्देश डॉ० दशरथ ओझा ने इसी ग्रन्थ में (पृष्ठ ८८-८९) किया है, जिससे इस विद्या की शास्त्रीय व्याख्याओं के प्राचुर्य का यत्किञ्चित् आभास आलोचकों को मिल सकता है, इसी नाट्य-परम्परा के अन्तर्भुक्त है 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रंथ जिसकी प्रौढ़ हिन्दी-व्याख्या ऐतिहासिक तथा साहित्यिक परिवेश के साथ इस ग्रंथ में प्रस्तुत की गई है।

मूल संस्कृत ग्रंथ कलिकाल-सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र के शिष्यद्वय **रामचन्द्र** तथा **गुणचन्द्र** की सम्मिलित रचना है। द्वादश शती का यह नाट्य ग्रन्थ चार 'विवेक' (अध्याय) में विभक्त है जिसमें २०७ पद्य हैं और जो ग्रन्थकर्ताओं द्वारा 'नाट्य-दर्पणसूत्र' के नाम से निर्दिष्ट है। इसकी व्याख्या 'विवृति' नाम से उल्लिखित है जिसकी रचना में दोनों लेखकों का संयुक्त अध्यवसाय जागरूक है। विषय के स्पष्टी-करण के निमित्त लेखक ने प्रचुर अज्ञात तथा अल्पज्ञात रूपकों के उद्धरण दिये हैं। नाट्यदर्पण में उद्धृत इन ३५ अलभ्य ग्रन्थों का ऐतिहासिक विवरण आचार्य विश्वेश्वर जी ने बड़ी खोज के साथ दिया है (भूमिका भाग पृष्ठ ३४ से लेकर ५२ पृष्ठ तक)। व्याख्याकार का यह विवरण पर्याप्त अनुसन्धान-मूलक तथा प्रामाणिक है। पृष्ठ ४२

पर 'पार्थ विजय' के प्रणेता त्रिलोचन को वाचस्पति मिश्र के गुरु 'त्रिलोचन' से अभिन्न माना गया है; परन्तु जब तक इस अभिन्नता के साधक प्रबलतर प्रमाण उपलब्ध न हों, तब तक इसे सिद्ध-कोटि में नहीं मानना चाहिये। 'हयग्रीववध' का स्वरूप-विवेचन बड़ी सुन्दरता के साथ किया गया है- (पृष्ठ ४८-५२) और सप्रमाण दिखलाया गया है कि यह नाटक न होकर 'महाकाव्य' ही था। यह ऐसा निष्कर्ष है जिसे कोई भी आलोचक अस्वीकार नहीं कर सकता। नाट्यदर्पण के कतिपय उद्धरण प्राचीन नाटकों के तो इतिहास की दृष्टि से युगान्तरकारी हैं। विशाखदेव का ऐतिहासिक 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक नाटक इसी कोटि का है। इस 'नाट्यदर्पण' के प्रकाशन से पूर्व चन्द्रगुप्त के द्वारा शकाधिपति के व्यापादन की घटना का परिचय ऐतिहासिकों को 'हर्षचरित' के प्रामाण्य पर अवश्य था; काव्यमीमांसा के आधार पर रामगुप्त की सत्ता का ज्ञान भी था, परन्तु यहाँ सात बार उद्धृत नाटकीय उद्धरणों से 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक की वर्ण्यवस्तु स्पष्ट हो जाती है कि किस प्रकार रामगुप्त की दुर्बलता से उत्साहित होकर शकराज ने उसकी महिषि ध्रुवदेवी (या ध्रुवस्वामिनी) को अपने रनिवास के लिए माँगा था और किस प्रकार चन्द्रगुप्त ने स्त्रीवेष धारण कर उसे मार डाला था। इस प्रकार गुप्तवंश के प्रामाणिक इतिहास-परिचय में नाट्यदर्पण समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के बीच में 'रामगुप्त' नामक शासक की सत्ता स्वीकार कर एक नूतन ऐतिहासिक तथ्य की उपलब्धि कराता है। आज यह निर्णीत तथ्य है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पूर्व शासक दुर्बल रामगुप्त को हटाकर राज्य और रानी दोनों को प्राप्त किया था। 'नाट्यदर्पण' का और भी मूल्य भले ही न हो, परन्तु इस विस्मृतप्राय घटना की समग्र कड़ियों को एकत्र उपस्थित कर तथा 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के आवश्यक उद्धरणों का संरक्षण कर इस नाट्य-ग्रन्थ ने गुप्तों के इतिहास जानने के लिए जो बहुमूल्य सामग्री एकत्र कर रखी है; उसके लिए ऐतिहासिकगण इस ग्रन्थ के रचयिता के चिरऋणी रहेंगे।

इतना ही नहीं, नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से भी इसका मूल्य कम नहीं है। इसी विषय पर धनञ्जय ने इतःपूर्व 'दशरूपक' नामक प्रख्यात ग्रन्थ का प्रणयन किया था जिसमें दशरूपकों के साथ 'नाटिका' नामक मिश्र रूपक का निर्देश किया गया है। नाट्य-दर्पण की दृष्टि में नाटक तथा प्रकरण के मिश्रण से 'नाटिका' तथा 'प्रकरणिका' नामक दो प्रकार के मिश्र रूपकों का उदय होता है (नाट्य-दर्पण, द्वितीय विवेक, पृष्ठ २१३—२१७ तक)। इन दोनों की विभाजक रेखा बड़ी झीनी है। दोनों में समस्त लक्षण एक समान होते हैं, केवल नायक के स्वरूप में अन्तर होता है। 'नाटिका' का नायक नाटक के समान राजा (धीरोदात्त) होना चाहिए तथा 'प्रकरणिका' का नायक प्रकरण के सदृश वणिक् आदि (धीरप्रशान्त) होना चाहिए। 'नेता प्रकरणोदितः'—बस प्रकरणिका का वैशिष्ट्य इसी नेता के चुनाव में है। 'नाटिका' तो संस्कृत में संख्या में पर्याप्त हैं, परन्तु 'प्रकरणिका' का दृष्टान्त प्रख्यात

नहीं है। इस विषय में हमें व्याख्याकार से आशा थी कि वे 'प्रकरणिका' के उपलब्ध ग्रन्थ का नामोल्लेख करेंगे तथा यह दिखलायेंगे कि पीछे के किस नाट्यकर्ता ने इस उपभेद की स्वीकृति अपने ग्रन्थों में दी है। जान पड़ता है कि इस विषय को उपेक्षणीय समझ कर न आचार्य विश्वेश्वर जी ने कुछ लिखा और न डाक्टर दशरथ ओझा जी ने अपनी स्वतन्त्र भूमिका में ही इसका विचार किया। मेरा ख्याल है इसका भी विचार होना चाहिए कि 'प्रकरणिका' का स्वतन्त्र रूप किस अवान्तर-कालीन नाट्याचार्य ने स्वीकृत किया है। 'नाटिका' के विषय में मेरा निजी मत रहा है कि यह मिश्र रूपक (जैसा नाट्य-ग्रंथों में लक्षित है) महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' की वस्तु के ऊपर आधारित है। प्रथम नाटिका का गौरव रखने वाली 'रत्नावली' की 'मालविकाग्निमित्र' की वर्ण्य वस्तु से तुलना करने पर किसी भी आलोचक को यह अपरोक्ष न होगा कि हर्षवर्धन को प्रेरणा कालिदास के इस प्रख्यात नाटक से निःसन्देह मिली। जो कुछ हो, संस्कृत नाट्य के इतिहास में मिश्र रूपकों तथा उपरूपकों का अनुशीलन एक महत्त्वपूर्ण विषय है जिससे प्राचीन नाटक के स्वरूप तथा इतिहास के विषय में अनेक ज्ञातव्य विषयों की उपलब्धि हो सकती है। आशा है इस ग्रन्थ के नये संस्करण में आवश्यकतानुसार इस विषय की भी चर्चा छूट न जावेगी।

नाट्यदर्पण के महत्त्व के विषय में डॉ० दशरथ ओझा ने एक स्वतन्त्र भूमिका ही दी है (पृ० ८८—९७) जिसमें ग्रंथ के वैशिष्ट्य का सुन्दर विवेचन किया गया है। पृ० ८८ तथा पृ० ८९ पर प्राचीन नाट्याचार्यों के नाम विस्तार से दिये गये हैं जिनमें से अनेक अप्रख्यात अथवा अल्पख्यात हैं। इसके लिए निर्देशस्थलों का रखना नितान्त आवश्यक था। मातृगुप्त के नाट्यग्रन्थ के प्रभूत उद्धरण 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की प्राचीन टीका में दिये गए हैं (निर्णयसागर सं०) जिनका अनुशीलन उनके विशिष्ट मत जानने के लिए किसी शोधकर्ता को करना चाहिए। इन प्राचीन नाट्याचार्यों के समस्त उल्लेखों का तथा उनके विशिष्ट मतों का एकत्र अध्ययन कम महत्त्व का नहीं होगा। आशा है कि इस विषय के विशेष शोधकर्ता ओझा जी इधर ध्यान देंगे तथा निकट भविष्य में अपने अध्ययन का फल प्रकाशित करेंगे।

इस ग्रंथ के अन्यतम सम्पादक डॉ० सत्यदेव चौधरी ने 'नाट्यदर्पण में रूपकेतर काव्यशास्त्रीय प्रसंग' के विषय में अलग से विवेचन किया है और सुन्दर विवेचन किया है। उन्होंने काव्यलक्षण, काव्यहेतु, कवित्वमहिमा, अलंकार, गुण तथा रस के विषय में इस नाट्य-ग्रंथ में जो महत्त्वपूर्ण अव्यक्त तथा अभिव्यक्त मत प्रकट किये गये हैं या अंशतः संकेतित हैं उन सब अंशों का सामूहिक अनुशीलन कर बड़े ही उपादेय मन्तव्य प्रकाशित किये हैं। इस अंश का विवेचन उन्होंने तुलनात्मक ढंग से दिया है तथा तथ्यों के विकासक्रम को ढूँढ निकालने का जो प्रयत्न उन्होंने

किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है। 'रस-भाव की स्वशब्दवाच्यता' के विषय में पृ० ७० तथा ७१ के ऊपर प्रकटित मन्तव्य पर्याप्तरूपेण अनुसन्धेय हैं। पृ० ७४—७५ पर 'नवरसों का क्रम' रामचन्द्र की दृष्टि से दिया गया है, परन्तु इस विषय का नाट्यशास्त्र में केवल संकेतित तथा दशरूपकालोक में बहुशः चर्चित विवरण चौधरी जी ने छोड़ दिया है जिससे यह अंश अधूरा ही है। नवरसों का क्रम धनञ्जय की दृष्टि में मनोवैज्ञानिक पद्धति पर समझाया जा सकता है। भरत की दृष्टि में 'मूल' रस चार ही हैं तथा अन्य चार उससे 'व्युत्पन्न' रस हैं तथा हृत्कमल की कर्णिका के रूप में शान्त रस विराजता है— यह तथ्य गम्भीरता से समझने तथा समझाने योग्य है। इसके लिए धनञ्जय, धनिक तथा अभिनवगुप्त के मतों का तारतम्य नितान्त उपयोगी सिद्ध होगा। आशा है चौधरी जी इस अंश को सांगोपांग बनाने की अगले संस्करण में अवश्य चेष्टा करेंगे।

'नाट्यदर्पण' रस के स्वरूप के विषय में नवीन दृष्टिकोण रखने के कारण भी विशेष महत्त्व रखता है। इसकी चर्चा तीनों विद्वानों ने अपने-अपने लेखों में की है। व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर जी ने पृष्ठ २८—२९ पर अभिनवगुप्त के मत से ग्रंथकार के मत की तुलना करते हुए इसे 'विभज्यवादी मत' नाम दिया है, क्योंकि नाट्यदर्पण में रसों को अलग-अलग दो भागों में विभक्त कर शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत तथा शान्त इन पाँच रसों को सर्वथा सुखात्मक तथा करुण, रौद्र, भयानक तथा बीभत्स इन चार को सर्वथा दुःखात्मक रस माना गया है। व्याख्याकार ने इस विभाजन तथा रूप-निर्देशन पर अपनी कोई सम्मति नहीं दी है। डॉ० सत्यदेव चौधरी ने अपने वक्तव्य में पृ० ८४ से लेकर पृ० ८७ तक इस पर जम कर विचार किया है तथा इसे समझाने की चेष्टा की है। इस प्रयास को हम सफल मान सकते हैं। सच तो यह है कि [illegible] को लौकिक अनुभूति से पृथक् करने की नितान्त आवश्यकता है और लौकिक घटमान विषयों के लिए 'रस' शब्द का प्रयोग करना, कम से कम एक मेरी सम्मति में उचित नहीं प्रतीत होता। इस महत्त्व-पूर्ण अभिधान का प्रयोग तो काव्यानुभूति के लिए ही सीमित रखना न्याय्य प्रतीत होता है। रह गई रस की दुःखात्मक होने की बात। कवि की प्रतिभा के द्वारा चर्चित होते ही विषय में एक अपूर्वता का संचार होना स्वाभाविक है जिसमें लौकिकता का सर्वथा विलोप हो जाता है और अलौकिकता का उन्मेष होता है। कला का यही धर्म है। काव्य का यही वैशिष्ट्य है। यदि काव्य की सृष्टि लोक की सृष्टि से इस विषय में विलक्षण न हो, तो उसमें आकर्षण ही किंमूलक होगा? श्रोता तथा द्रष्टा की हृदयावर्जना ही किस प्रकार सम्भव हो सकेगी? इसीलिए तो लोक में वैरस्यजनक भी घटना काव्य में वर्णित होते ही, शब्दमय विग्रह प्राप्त करते ही, नवीन रूप में उन्मीलित होती है। यह सब साधारणीकरण व्यापार का भी प्रभाव है। फलतः रसों को नितान्त दुःखात्मक मानना कथमपि उचित नहीं

प्रतीत होता। हाँ, लौकिक वस्तु से अभिन्नता रखने के लिए कहीं-कहीं दुःखानुबेध मान सकते हैं जैसा अभिनवगुप्त ने माना है (देखिए इस ग्रन्थ का पृष्ठ २८)। इस लिए 'नाट्यदर्पण' का पूर्वोक्त मत विचारोत्तेजक अवश्य है; साहित्य शास्त्र के मान्य निष्कर्ष के रूप में कथमपि स्वीकार्य नहीं है।

अन्त में, मैं इस ग्रंथ के व्याख्याकार तथा दोनों सम्पादकों को ऐसी सुन्दर रचना के लिए साधुवाद देता हूँ। यह हिन्दी नाट्यसाहित्य का सचमुच नितान्त उपयोगी तथा विश्वासार्ह प्रामाणिक ग्रन्थ है। आशा ही नहीं, पूरा विश्वास है कि इस ग्रंथ के विद्वान् लेखक इस प्रकार की अन्य प्रौढ़ रचना से हिन्दी भारती का भण्डार भरते रहेंगे।

अनुसंधान और आलोचना

श्री० देवेन्द्रनाथ शर्मा

आलोच्य पुस्तक हिन्दी के प्रख्यात आलोचक और अनुसंधाता डॉ० नगेन्द्र के पन्द्रह निबन्धों का संकलन है। पुस्तक के नाम की सार्थकता उसके 'अनुसंधान और आलोचना' नामक निबन्ध को लेकर ही नहीं है जिसमें अनुसंधान और आलोचना का तत्त्विक विश्लेषण हुआ है और उनके भेदाभेद का सूक्ष्म विवेचन किया गया है, अपितु उसके अन्य निबंधों के कारण भी है जिनमें श्रेष्ठ आलोचना और अनुसंधान के व्यावहारिक रूप का निदर्शन है।

आरंभ के दो निबन्ध सैद्धान्तिक आलोचना से संबद्ध हैं। 'साहित्य का धर्म' में साहित्य की प्रवृत्ति एवं प्रयोजन की तात्त्विक व्याख्या है और 'कविता क्या है ?' में कविता के अनिवार्य तत्त्वों का निरूपण करते हुए उसकी परिभाषा दी गई है। इन निबन्धों में लेखक ने साहित्य या कविता के किसी सर्वथा नवीन तत्त्व का उद्घाटन तो नहीं किया है, भारतीय काव्यशास्त्र का सुपरिचित शब्द 'रस' ही उसकी दृष्टि में साहित्य का धर्म यानी प्राणतत्त्व एवं प्रयोजन है और रमणीय अनुभूति, उक्ति-वैचित्र्य और छन्द ही कविता के अनिवार्य तत्त्व हैं—किन्तु ये निष्कर्ष जिस व्याख्या पर आधृत हैं उसमें लेखक की पुनराख्यान की अद्भुत क्षमता व्यक्त होती है। यहाँ अनायास अंग्रेजी के एक श्रेष्ठ समीक्षक आइ. ए. रिचर्ड्स की इन पंक्तियों का स्मरण हो जाता है :

"One does not expect novel cards when playing so traditional a game ; it is the hand which matters."

वास्तव में यह भी मौलिक चिन्तन का ही स्पृहणीय रूप है जो काव्यशास्त्र जैसे विषय की गत्यात्मकता का सहारा है। ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं में जो नवीन विचार प्रस्तुत होते रहते हैं उनके आलोक में काव्यशास्त्र की मान्यताओं का

लेखक : डॉ० नगेन्द्र
प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
मूल्य : चार रुपये
पृष्ठ संख्या : १३३

पुन:परीक्षण एवं उसके पारिभाषिक शब्दों, नवीन अर्थ-छवियों का उद्‌घाटन आज के आलोचक का बड़ा दायित्व है। पाश्चात्य मनोविज्ञान, काव्यालोचन, सौन्दर्यशास्त्र एवं भारतीय काव्यशास्त्र के गम्भीर अध्ययन और मनन के फलस्वरूप डॉ० नगेन्द्र में इस दायित्व-निर्वाह की जो योग्यता और क्षमता है, वह दुर्लभ है। ध्यातव्य है कि नगेन्द्रजी में प्राचीन या नवीन किसी भी विचार-धारा के प्रति अन्धासक्ति नहीं है, चाहे वह कितनी भी लोकप्रिय क्यों न रही हो। प्रमाणस्वरूप 'कविता क्या है ?' निबन्ध में उन्होंने आचार्य शुक्ल से असहमति प्रकट करते हुए उक्ति-वैचित्र्य को और आधुनिक साहित्यकारों के उग्र विरोध के बावजूद छन्द को कविता के अनिवार्य तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया है।

'रस शब्द का अर्थ-विकास' नामक तीसरा निबन्ध अनासक्त अनुसंधान का आदर्श रूप प्रस्तुत करता है जिसमें प्राचीन वाङ्‌मय का आलोड़न करके लेखक ने 'रस' शब्द के विभिन्नयुगीन विभिन्न अर्थों का अनुसंधान किया है और उसके काव्य-शास्त्रीय अर्थ के विकास की प्रक्रिया, कारण एवं काल का निर्धारण किया है।

भारतीय साहित्य की आन्तरिक एकता का जो निदर्शन लेखक के 'भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता' निबन्ध में प्राप्य है उससे इस विश्वास को बल मिलता है कि जाति, धर्म, रीति-रिवाज और भाषा की विविधता के बावजूद भारत सांस्कृतिक दृष्टि से एक और अखण्ड रहा है, भले राजनीतिक दृष्टि से समय-समय पर उसके अनेक टुकड़े हो गए हों। लेखक का आग्रह है कि भारतीय साहित्य की किसी प्रवृत्ति का अध्ययन समग्र भारतीय भाषाओं के साहित्य को आधार बनाकर किया जाय। वास्तव में साहित्यिक शोध की यह नवीन व्यापक दृष्टि लेकर यदि भारतीय साहित्य का अनुसंधान किया जाय तो राष्ट्रिय अखण्डता की सुरक्षा के सामयिक प्रश्न के समाधान में पर्याप्त सहायता मिलेगी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि लेखक बाह्य उद्देश्यों—विशेषत: राजनैतिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर शोध की वैज्ञानिक तटस्थता को सीमित करने का प्रस्ताव कर रहा है। लेखक का 'भारतीय-साहित्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव' निबंध इस प्रकार की ग़लत-फ़हमी पैदा नहीं होने देगा। उक्त निबन्ध में लेखक ने उन लोगों की आलोचना की है जो राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर भारतीय साहित्य पर रवि बाबू के प्रभाव का अतिरंजित आकलन करते हैं। लेखक ने बड़े साहस से कहा है :

"उनका (रवि बाबू का) प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय कवियों की प्रारम्भिक रचनाओं तक ही सीमित रहा। बाद में प्रत्येक भाषा के समर्थ कवियों का स्वतन्त्र विकास हुआ और अनेक ने ऐसी कलाकृतियाँ भी प्रस्तुत कीं जो रवीन्द्रनाथ की श्रेष्ठ उपलब्धियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं। रवीन्द्रनाथ की समवेत उपलब्धि इतनी प्रचुर और महान् है कि आधुनिक भारत का अन्य कोई कवि उनकी समता नहीं कर

सकता। किन्तु इस युग की कई समृद्ध भाषाओं में ऐसी प्रतिभाएँ हुई हैं जिनकी उपलब्धियों का इकाई के रूप में कम महत्त्व नहीं है। आज के जागरूक आलोचक का यह कर्त्तव्य है कि राजनीतिक प्रचार से अनातंकित रह कर संतुलित एवं अनासक्त बुद्धि से अन्य प्रतिभाओं का अवमूल्यन न करता हुआ आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास में रवीन्द्रनाथ के योगदान का मूल्यांकन करे। विश्व कवि के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने की यही सर्वश्रेष्ठ पद्धति है—अभाव में भाव का अनुसंधान कर, अनुमान के आधार पर इधर-उधर से उक्तियाँ और विचार एकत्र कर बरबस यह सिद्ध करना कि हमारे साहित्य में जो कुछ सुन्दर और उदात्त है वह सब रवीन्द्रनाथ का दान है, घोर साहित्यिक अपराध होगा।"

'रीतिकालीन कवि-आचार्यों का योगदान' निबन्ध रीतिकाव्य का विवेकपूर्ण और संतुलित मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। उक्त काव्य का शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से महत्त्व-आकलन करते हुए लेखक ने उसके प्रति द्विवेदी युग से लेकर प्रयोगवादी युग तक के आलोचकों द्वारा किए गए आक्षेपों पर यह टिप्पणी की है: "इस प्रकार की आलोचनाएँ निश्चय ही पूर्वाग्रह से दूषित हैं। इनमें बाह्य मूल्यों का रीतिकाव्य पर आरोप करते हुए काव्यालोचन के इस आधारभूत सिद्धान्त का निषेध किया गया है कि आलोचक को आलोच्य काव्य में से ही दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए।" लेखक की इस मान्यता का समर्थन आई. ए. रिचर्ड्स की इन पंक्तियों से होता है: "It is only fair to say that few critics seen ever to notice it that poetry is of more than one kind, and that the differernt kinds are to be judged by different principles. There is a kind of poetry into the judgement of which ulterior ends directly and essentially enter... There are other kinds, into which ulterior ends do not enter in any degree......" आचार्य शुक्ल जैसे नैतिक मानों के आग्रही समीक्षक ने भी रीतिकाव्य की सरसता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। खेद है, परवर्ती आलोचकों ने आचार्य की सहृदयता न पायी। डॉ० नगेन्द्र इस दृष्टि से विशिष्ट आलोचक हैं। जिन्होंने रीतिकाव्य के अदृष्ट महत्त्वों से पाठकों का परिचय कराया है।

'कामायनी का महाकाव्यत्व' शीर्षक निबन्ध में महाकाव्य के स्थूल शास्त्रीय लक्षणों की उपेक्षा करके उसके मूल तत्त्व औदात्त्य को आधार बनाकर 'कामायनी' का महाकाव्यत्व लेखक ने सिद्ध किया है। 'कामायनी' के कथानक, कार्य, चरित्र, भाव और शैली के औदात्त्य का जैसा मार्मिक विवेचन उक्त निबन्ध में प्रस्तुत किया गया है वह लेखक की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि एवं मौलिक चिन्तन का उत्तम परिचायक है।

'दीपशिखा' की भूमिका का महत्त्व लेखक ने इसी नाम के निबन्ध में इस प्रकार स्थापित किया है: "इससे छायावादी काव्य-दृष्टि अनाविल हुई, उसके सम्बन्ध में

प्रचारित अनेक भ्रान्तियों का निराकरण हुआ, शाश्वत काव्य-मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई और हिन्दी में सौष्ठववादी आलोचना का पथ प्रशस्त हुआ।"

'स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी साहित्य' और 'स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी आलोचना' शीर्षक निबन्ध सूचित करते हैं कि लेखक हिन्दी साहित्य का सजग प्रहरी है और उसके मूल्यांकन में न तो पक्षपात की भावना है और न अतिरंजना या अवरंजना का दोष ही। दूसरे निबन्ध में लेखक ने अपनी चर्चा तक न करके आलोचक की मर्यादा का आदर्श प्रस्तुत किया है। प्रचार के इस युग में इस प्रकार का संयम अनुकरणीय है।

'हिन्दी में शोध की कुछ समस्याएँ' में शोध के व्यावहारिक पक्ष का और 'अनुसंधान और आलोचना' में सैद्धान्तिक पक्ष का गम्भीर विवेचन हुआ है यद्यपि दूसरे निबन्ध का व्यावहारिक मूल्य भी कम नहीं होगा। लेखक ने अनुसंधान और आलोचना के सम्बन्ध को लेकर जो मन्तव्य प्रस्तुत किए हैं वे वस्तुतः गम्भीरतापूर्वक विचारणीय हैं। लेखक के विचार बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं कि शोध की एक ही प्रक्रिया वाङ्मय के प्रत्येक क्षेत्र के लिए उपयुक्त नहीं है तथा साहित्यिक शोध यदि केवल तथ्य-परक रह जाय तो वह वस्तुतः हीन कक्षा का ही शोध होगा। लेखक के अनुसार तत्त्वपरक शोध से ही, जिसके लिए उत्कृष्ट कोटि की आलोचनात्मक क्षमता उपेक्षित है सत्य की सिद्धि हो सकती है जो उच्चतर साहित्यिक अनुसंधान का लक्ष्य है।

"दादा : स्व० पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन," और "रेडियो में पंत जी का आगमन" लेखक के अनुसार संस्मरण या ललित निबन्ध मात्र हैं जिनके मूल में भी आलोचनात्मक दृष्टि का एकान्त अभाव नहीं है। यों, इनको संस्मरण मानना ही समीचीन है। इनमें हिन्दी के दो महान् कवियों की प्रकृति का, उनके आत्मिक गुणों का ऐसा विश्लेषण है जो उनके काव्य को समझने में सहायक होगा। उक्त संस्मरणों का आलोचनात्मक महत्त्व यही है जिसके कारण उन्हें पुस्तक में स्थान मिला है। गिरिजाकुमार माथुर पर लिखे गए अन्तिम निबन्ध में लेखक ने उन्हें नये कवियों का अग्रणी और सर्वाधिक सफल कवि माना है।

डॉ० नगेन्द्र की आलोचनाओं की सुपरिचित विशेषताएँ : विषय का तार्किक उपस्थापन, विचारों की मौलिकता, संयत आत्माभिव्यक्ति एवं शैली की प्रांजलता, 'अनुसंधान और आलोचना' में वर्धमान दिखाई पड़ती है। सहजस्वच्छ प्रभाव-ग्रहण, मार्मिक व्याख्या एवं संतुलित निर्णय का भी उत्कृष्ट निदर्शन पुस्तक में प्राप्य है। अपनी इन विशेषताओं के कारण 'अनुसंधान और आलोचना' हिन्दी साहित्य के अध्येताओं और अनुसंधित्सुओं के लिए अतीव उपादेय सिद्ध होगी, तथा विद्वानों और आलोचकों के बीच इसका यथेष्ट समादर होगा, इसमें सन्देह नहीं।

———

नाट्यकला

डॉ० दशरथ ओझा

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त भारतीय भाषाओं में नाट्यकला-सम्बन्धी वाङ्मय की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। साहित्यकारों एवं राष्ट्र के कर्णधारों ने उच्च कोटि के नाटकों और उनके प्रयोगों का महत्त्व मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। विगत दो शताब्दियों में नाटकाभिनय की ओर अधिकारी व्यक्तियों का ध्यान पहले की अपेक्षा अधिक आकर्षित हुआ है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं एवं गोष्ठियों में तद्विषयक लेख लिखे और पढ़े जा रहे हैं। विभिन्न भाषा-भाषी विद्वान् एक मंच पर एकत्रित होकर नाटक एवं रंगमंच की अनेक समस्याओं पर विभिन्न दृटिकोणों से विचार कर रहे हैं। डॉ० रघुवंश ने समय-समय पर नाट्यकला-सम्बन्धी जटिल समस्याओं की स्वतन्त्र रूप से समीक्षाएँ की हैं। इस पुस्तक में उन्हीं लेखों को क्रमबद्ध करने का प्रयास किया गया है। वे भूमिका में लिखते हैं 'यही कारण है कि लेखों में क्रमशः पूर्वापर ध्यान रखकर विषय का विकास तथा विस्तार नहीं मिलता है।'

लेखक को नाट्यकला-सम्बन्धी लेखों के प्रस्तुत करने की प्रेरणा भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यशास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त हुई है। अतः दोनों नाट्य-पद्धतियों की समीक्षा में तुलनात्मक दृष्टि का मार्ग-प्रदर्शन स्वाभाविक ही है।

नाट्यकला की समीक्षा करते हुए लेखक ने नाट्य-तत्त्वों एवं रस-बोध अथवा सौन्दर्य-बोध का जहाँ शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है वहाँ नाट्याभिनय के विकास-क्रम का संक्षिप्त इतिहास भी दिखा दिया है। इस पुस्तक में नाट्य सृजन के आवश्यक तत्त्वों और उनके समन्वय की अपेक्षा नाट्य प्रदर्शन के विविध विधि-विधानों को अधिक महत्त्व दिया गया है। प्रारम्भ के ८० पृष्ठों में नाटक की उत्पत्ति और विकास, नाट्यकला के आयाम और नियमन, नाटक के मनोवैज्ञानिक आधार का विवेचन है और अवशिष्ट १५६ पृष्ठों में आंगिक, वाचिक एवं आहार्य

लेखक : डॉ० रघुवंश
प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
मूल्य : ७·५० रु०

अभिनय तथा प्राचीन एवं अर्वाचीन रंगविधान तथा नाट्यशाला की प्रगति पर प्रकाश डाला गया है। सम्भवतः नाट्यशास्त्र की उस पद्धति पर, जिसमें अभिनय पक्ष को नाट्य-सृजन पक्ष की अपेक्षा अधिक विस्तार दिया गया है, इस ग्रन्थ की रचना की गई है। पर तथ्य तो यह है कि नाट्य-कृति और नाट्य-प्रयोग का आद्योपान्त ऐसा अविच्छिन्न सम्बन्ध रहता है कि एक को दूसरे से पृथक् किया ही नहीं जा सकता।

लेखक ने इस पुस्तक का सृजन एकमात्र स्वानुभूति के आधार पर किया है। डॉ० रघुवंश का मत है कि "नाट्यकला साहित्य और संगीत दोनों के निकट होने पर भी उनसे नितान्त स्वतन्त्र कला है। इसको नाट्य-कृतियों के कारण साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया गया है, पर यह बहुत बड़ा भ्रम है।" विद्वान् लेखक के इस उपस्थापन के सर्वथा अनाविल होने पर आपत्ति उठाई जा सकती है। नाट्यकृतियों को साहित्य की परिधि से बहिष्कृत करने के पक्ष में यदि तर्क उपलब्ध हैं तो उसे साहित्य की परिधि में समासीन करने वाले प्रमाणों का भी अभाव नहीं। यद्यपि नाट्यकृतियों की सफलता की कसौटी रंगमंच है तथापि वे ही नाट्यकृतियाँ स्थायित्व प्राप्त कर पाई हैं जिनमें साहित्यिक गुण विद्यमान हैं। उत्तर-रामचरित और हेमलेट का रसास्वादन कितने प्रेक्षकों ने किया होगा? पर इनके साहित्य-रस से प्रभावित होने वाले लक्ष-लक्ष सहृदय क्या सर्वथा उपेक्षणीय हैं? पर यह विषय इतना विवादास्पद है कि शताब्दियों से इस पर विचार-विमर्श होता रहा है और कदाचित् भविष्य में भी होता रहे।

इस ग्रन्थ में रस-बोध तथा सौन्दर्य-बोध के विविध सिद्धांतों को मनोवैज्ञानिक परिवेश में परखने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। विविध आचार्यों के मतों की समीक्षा करते हुए लेखक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "कलाकार का आत्मानुभव, आत्मभोग और उसकी काल्पनिक उद्भावना उसके कलात्मक सर्जन का विस्तृत क्षेत्र है; एक दृष्टि से कलाकार अपनी इन मानसिक प्रक्रियाओं में भी निर्वैयक्तिक तथा तटस्थ होता है और दूसरी दृष्टि से वह इनका स्वाभाविक भोक्ता है, भले ही कल्पना में हो। जब वह विभिन्न उपकरणों के माध्यम से इनको अभिव्यक्ति का रूप देने का प्रयत्न करता है, यह कलाकृति का रूप ग्रहण कर लेती है। जब द्रष्टा अथवा पाठक उससे पुनः अनुभूति प्राप्त करता है, यह कलाकृति का रूप ग्रहण कर लेती है। जब द्रष्टा अथवा पाठक उससे पुनः अनुभूति प्राप्त करता है, यह कला की रसात्मक अनुभूति है। इस रसानुभूति में भी दर्शक अथवा पाठक की मनःस्थिति को पहले आचार्य तटस्थ भावस्थिति मानते आये हैं, परन्तु आधुनिक दृष्टि से सहभोग की स्थिति मानी जाती है।"

विद्वान् लेखक ने नाट्यकृति और नाट्याभिनय दोनों पक्षों का विशद विवेचन इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है। नाट्यकला सम्बन्धी समीक्षा-साहित्य में इस पुस्तक

का विशेष स्थान रहेगा। डॉ० रघुवंश अपनी भूमिका में लिखते हैं कि इसमें 'चिन्तन भी संघटित रूप से विकसित नहीं हो सका है।' पर उनकी कई मान्यताओं के समान यह मान्यता भी निर्विवाद नहीं कही जा सकती। यह पुस्तक निश्चित रूप से नाट्य-कला सम्बन्धी सिद्धांतों की समीक्षा को एक नया आलोक देती है। पाश्चात्य विचारकों की विचारसरणी पर चढ़ने का मार्ग बताती है। प्राचीन आचार्यों के सिद्धांतों को मनोविज्ञान की परिधि में पदारूढ़ करने का संकेत देती है। पाश्चात्य अभिनय-कला और भारतीय अभिनय-कला का संगम कराती है।

साहित्य-पथ

कुँवर चन्द्रप्रकाशसिंह

विद्यावयोवृद्ध आचार्य श्री परशुराम चतुर्वेदी हिन्दी के एक गम्भीर चिन्तक और सन्त साहित्य के श्रेष्ठ अध्येता, अनुसंधानकर्ता और विवेचक हैं। साहित्य-पथ उन्हीं के तेईस लेखों का संग्रह है। इन तेईस लेखों में 'श्रीनन्दिनि' शीर्षक एक संस्मरण, भारतीय हिन्दी परिषद् के रायगढ़ अधिवेशन का सभापति-भाषण एवं बलिया हिन्दी प्रचारिणी सभा की ओर से दिया गया स्वागत भाषण भी है। इन लेखों के विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है कि "ये प्रधानतः साहित्य और विशेषकर हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध हैं, किन्तु जिनका एक दूसरे के साथ कोई प्रत्यक्ष लगाव भी नहीं है। इनमें से एकाध लगभग ३५-४० वर्ष तक पुराने भी कहे जा सकते हैं। ये प्रायः सभी कहीं न कहीं प्रकाशित भी हो चुके हैं और वहाँ से अधिकतर ज्यों के त्यों ले लिये गये हैं। इनमें से कुछ के अन्तर्गत विभिन्न साहित्यिक प्रश्नों पर किये गये मेरे अध्ययन का निष्कर्ष भी पाया जा सकता है।" एक वयोवृद्ध प्रमुख साहित्यकार के ३५-४० वर्ष की अवधि में भिन्न-भिन्न समयों पर लिखे गये लेखों का संग्रह उसके साहित्यिक व्यक्तित्व के विकास के अनुशीलन के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। किन्तु इस दृष्टि से इस संग्रह में एक बड़ी कमी यह रह गई है कि लेखों के साथ उनकी लेखन-तिथि या प्रथम प्रकाशन-तिथि सूचित नहीं की गई है। यदि ऐसा किया गया होता तो इन लेखों के तथा कुल मिलाकर संग्रह के मूल्यांकन करने में बड़ी सुविधा हो गई होती।

इस संग्रह के प्रथम निबन्ध का शीर्षक 'साहित्य पथ के चरणचिह्न' और उसी को प्रमुखता देते हुए इस संग्रह का नामकरण 'साहित्य-पथ' किया गया है। इस निबन्ध को हिन्दी साहित्य के इतिहास का विहंगावलोकन मात्र कहा जा सकता है। निबन्ध के उपसंहार में विद्वान् लेखक ने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के विषय में जो

लेखक : श्री परशुराम चतुर्वेदी
प्रकाशक : साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद
मूल्य : ४ रु०

कुछ कहा है, उसमें अस्पष्टता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रयोगवादियों के आतंक के कारण लेखक उनके विषय में जो कुछ कहना चाहता है, उसे ठीक-ठीक कह नहीं पा रहा है और अनिच्छापूर्वक उनके साथ समझौता कर रहा है। दूसरा निबन्ध 'साहित्य में नये मोड़' अधिक गम्भीर और सुलझे हुए चिन्तन का प्रमाण प्रस्तुत करता है। इसमें साहित्य में बहुप्रचलित परम्परा, प्रगति, प्रवृत्ति और प्रयोग आदि शब्दों की सुस्पष्ट व्याख्या की गई है, और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का भी अच्छा निरूपण किया गया है। किन्तु इस निबन्ध का अन्त भी जहाँ 'वर्तमान विज्ञान-प्रधान मानव-जीवन' तथा 'कला और साहित्य' के सम्बन्ध की चर्चा है, अनिश्चय और अस्पष्टता में ही होता है। इसीलिए यह निबन्ध भी शास्त्रीय महत्त्व के निबन्ध के स्तर तक नहीं पहुँच पाता। 'साहित्य में नैतिकता का प्रश्न' शीर्षक तीसरा निबन्ध मौलिक चिन्तन की दृष्टि से इस संग्रह की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके अन्तर्गत लेखक ने साहित्य में नैतिकता की समस्या का बड़ा युक्तियुक्त समाधान किया है। सबसे पहले विद्वान् लेखक ने अन्याधुनिकों के उस मत का खंडन किया है, जिसके अनुसार नैतिकता वैयक्तिक चीज़ मानी जाती है, सामाजिक नहीं। इस प्रकार उसने यह महत्त्वपूर्ण स्थापना की है कि "नैतिकता वास्तव में, किसी व्यक्ति के भीतर काम करने वाली उसकी सामाजिक चेतना का परिणाम है, और इसीलिए उसका सामाजिक गुण है।" लेखक का कहना है कि "नैतिकता को समाज से पृथक् रह कर उपार्जित नहीं किया जा सकता, वह मानव के समष्टि-जीवन की स्थिति-रक्षा के लिए अनिवार्य है। अतएव, साहित्य में भी नैतिकता का वही महत्त्व है, जो जीवन में है।" आचार्य चतुर्वेदी जी की स्थापना क्रोचे और उनके अनुयायी स्पिनगार्न जैसे अमेरिकन आलोचकों की उन मान्यताओं के सर्वथा प्रतिकूल पड़ती है, जिनके अनुसार नैतिक दृष्टि से कला की परीक्षा करना अंधपरम्परा का पालन मात्र है क्योंकि कला का एक ही लक्ष्य है—अभिव्यक्ति। इन लोगों का कहना है कि अभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। ब्रैडले का भी यही कहना है कि काव्य-कला स्वयं अपना साध्य है, उसे धर्म, संस्कृति, नैतिक, शिक्षा आदि का साधन नहीं बनाया जाना चाहिए। इसके विपरीत टाल्स्टाय और मैथ्यू आर्नल्ड जैसे विचारकों की मान्यतायें चतुर्वेदी जी की स्थापनाओं को पुष्ट करती हैं। टाल्स्टाय नीति और धर्म को ही कला की मुख्य कसौटी मानते हैं, और जीवन पर पड़ने वाले उसके अच्छे या बुरे प्रभाव से ही उसकी उच्चावचता का निर्णय करते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड तो यहाँ तक कहता है कि जो काव्य नैतिकता के प्रति विद्रोही या उदासीन है वह स्वयं जीवन के प्रति विद्रोही और उदासीन है। औरों को जाने दीजिए, हमारे देश के अत्याधुनिकों का परम गुरु टी. एस. इलियट भी मानता है कि कविता का नैतिकता, धर्मभावना और सम्भवतः राजनीति से भी कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य है। वह सम्बन्ध क्या है, यह वह ठीक-ठीक नहीं कह सकता—On the other hand Poetry has certainly some thing to do with morals, and with religion, and even with politics

perhaps, though we cannot say what. (The Sacred Wood)—आचार्य चतुर्वेदी जी ने भी साहित्य में नैतिकता के प्रश्न को विचारोत्तेजक शैली में प्रस्तुत करके एक वरिष्ठ साहित्यकार के उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है।

'काव्य में वातावरण और व्यक्तित्व' शीर्षक निबन्ध में चिंतन की विशेष गम्भीरता या मौलिकता तो नहीं है, पर उसमें सच्ची कविता की सार्वकालिकता और सार्वभौमता का अच्छा मंडन किया गया है। उन्होंने लिखा है—"सच्ची कविता का क्षेत्र, काल अथवा समाज परिमित नहीं हुआ करता, वह सबके लिए एक-सी होती है।" इसमें कोई संदेह नहीं कि काव्य और कला की सार्वभौमता कलाकार के अपने परिवेश से खंडित या सीमित नहीं होती। यदि ऐसा होता तो भारतीय सहृदय शेक्सपियर, गेटे आदि की रचनाओं में रस नहीं ले पाते और गेटे जैसे पाश्चात्य साहित्यिकों को कालिदास की कृतियों में कोई रस नहीं मिलता। बढ़ती हुई प्रान्तीयता और क्षेत्रीयता के इस युग में उपयोगितावादी दृष्टि से भी ऐसे उदार साहित्यिक मतों का आख्यान और पुनराख्यान होना चाहिए।

संग्रह का 'साहित्य का अध्ययन' शीर्षक निबन्ध बहुत पहले का लिखा हुआ प्रतीत होता है। इसमें जिन बातों की चर्चा है, उन पर हिन्दी में बहुत पहले पर्याप्त मौलिक और गम्भीर चिन्तन हो चुका है। 'साहित्य-शास्त्र की तुलनात्मक विवेचना' के अन्तर्गत डॉ० एस. पी. खत्री की आलोचना-शास्त्र पर लिखी गई पुस्तक की आलोचना है। इसमें उक्त ग्रंथ के सामान्य परिचय के साथ-साथ उसके दो-एक अभावों का भी निर्देश किया गया है। वस्तुतः डॉ० खत्री के ग्रंथ में चिन्तन की मौलिकता और स्पष्टता दोनों का ही अभाव है, इसीलिए वह हिन्दी में समादृत नहीं हो सका है।

'साहित्य शास्त्र की तुलनात्मक विवेचना' इस संग्रह का सबसे बड़ा निबन्ध है। जिस समय यह लिखा गया होगा, उस समय की दृष्टि से इसमें कही हुई कतिपय बातों का कुछ मूल्य हो सकता है, पर आज वे निरर्थक और अनावश्यक हो गई हैं। उदाहरण-स्वरूप, इसमें अनेक स्थानों पर ऐसी बातें लिखी गई हैं—"समालोचना का अध्ययन किया जाय, अपने साहित्य-ज्ञान की सीमा अधिकाधिक विस्तृत की जाय, आदर्श तथा उद्देश्य के विषय में अपने विचार स्थिर किये जायें—यहाँ न तो समालोचक प्रस्तुत विषय को भली-भाँति पढ़ लेने का ही कष्ट उठाता है और न महत्त्वपूर्ण अथवा आवश्यक बातें किसी नपी-तुली रीति से व्यक्त ही करता है। वास्तव में वह इस कार्य को एक गम्भीर और दायित्व का कर्त्तव्य समझ कर इसमें अपना हाथ नहीं डालता है।" पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व इस प्रकार के कथन क्षम्य माने जा सकते थे, पर आज की हिन्दी-समीक्षा और समीक्षक इस स्थिति को बहुत पीछे छोड़ चुके हैं,

जिसमें इस प्रकार के उपदेश-वाक्यों का लिखना सार्थक होता। हिन्दी के अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के इस युग में इस प्रकार के कथनों को पढ़ कर किसी अहिन्दी भाषी अथवा विदेशी को यह भ्रम हो सकता है कि हिन्दी-समीक्षा अभी शैशवावस्था में ही है। निवन्ध को संग्रह में संकलित करने के पूर्व ऐसे अंशों को निकाल देना आवश्यक था। उस स्थिति में यह निबन्ध साहित्य के आरम्भिक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी बन सकता था। यदि इस लम्बे निवन्ध में कलात्मक अनुभूति के मानदंडों का सुस्पष्ट निर्देश किया गया होता, तो इसकी उपयोगिता और गम्भीरता बढ़ जाती।

'आलोचना और अनुसंधान' इस संग्रह के अच्छे निवन्धों में माना जा सकता है। हिन्दी में अनुसंधान की बहुमुखी एवं अविश्रान्त प्रगति के इस युग में आलोचना और अनुसंधान के पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण और निरूपण एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। डॉ० नगेन्द्र जैसे अधिकारी विद्वानों ने इस विषय का गम्भीर विवेचन किया है। आचार्य चतुर्वेदी जी ने भी इस विषय पर बड़े सुलझे और संतुलित ढंग से विचार किया है। उन्होंने बताया है कि आधुनिक आलोचना-पद्धति में अनुसंधान का बहुत बड़ा हाथ है। उन्होंने आलोचना की वैज्ञानिक प्रणालियों का विवरण देते हुए एक बड़ी अच्छी बात कही है—"आलोचना में प्रयुक्त की गई उक्त प्रकार की वैज्ञानिक प्रणालियाँ किसी आलोचक को बहुधा आवश्यकता से अधिक निष्पक्ष एवं अनासक्त भी बना देती हैं जिसके कारण उनमें स्वभावत: सहृदयता उस मात्रा में नहीं आ पाती. जितनी अन्यथा अनिवार्य हो सकती है। प्रत्येक बात का विश्लेषण एवं वर्गीकरण करते जाना और इसे किसी रूखे-सूखे पदार्थ-सा ज्यों का त्यों रख छोड़ने का यत्न करना, केवल कोरे मस्तिष्क का व्यापार बन जाता है जो साहित्य जैसी सरस वस्तु के सम्बन्ध में कभी उचित और उपयोगी नहीं हो सकता।" नि:संदेह, हिन्दी में तुलसी, सूर, केशवदास जैसे कवियों पर लिखे गये अनेक शोध-प्रवन्धों में आलोचना की यही निर्जीव और नीरस प्रणाली ग्रहण की गई है। किसी श्रेष्ठ साहित्यिक कृति के अनुशीलन से जो तीव्र और गहरी रागात्मक प्रतिक्रिया होनी चाहिए उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति के बिना एतद्विषयक आलोचना और अनुसंधान दोनों ही अपूर्ण माने जायेंगे।

इस निबन्ध के आरम्भ में भारतीय काव्यशास्त्र और आधुनिक आलोचना पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए कुछ ऐसी बातें कही गई हैं जिनसे सहमत होना कठिन है। लेखक का मत है कि भारतीय काव्यशास्त्र को आधुनिक आलोचना की भाँति स्वतन्त्र रूप से विकसित होने का अवसर नहीं मिला, और विशेष रूप से उनमें पाश्चात्य देश की आलोचना में उपलब्ध साहित्यिक कृतियों के व्यावहारिक पक्ष को पूरा महत्त्व नहीं दिया गया। इस प्रकार के कथनों को अर्द्धसत्य भी कठिनाई से कहा जा सकता है। जिस देश में भरत, भट्टनायक और अभिनव गुप्त, कुंतक और धनञ्जय जैसे महनीय आचार्यों द्वारा अत्यन्त उन्नत और उदात्त लक्षण-ग्रन्थों की

लम्बी परम्परा मिलती हो, वहाँ काव्यशास्त्र का स्वतन्त्र विकास ही नहीं हुआ, यह किस आधार पर स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः भारतीय काव्यशास्त्र में "काव्यत्व के दार्शनिक अध्ययन एवं शास्त्रीय व्याख्या" का जो प्रयत्न किया गया है, उसके सम्यक् अनुशीलन और सुप्रयोग के द्वारा आज की पाश्चात्य आलोचना के अनेक वादों में पाये जाने वाले दोषों का परिहार किया जा सकता है। खेद है, भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित विविध संप्रदायों और वादों के व्यावहारिक पक्ष की अब तक अवहेलना ही होती रही है, अन्यथा ऐसे भ्रमों को स्थान न मिलता। वस्तुतः भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित ये सम्प्रदाय और वाद समीक्षा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही पक्षों को बड़े संतुलित रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके द्वारा रचना-शैलियों की परीक्षा का ही कार्य नहीं होता, वे सहृदय के लिए काव्यास्वाद के परिष्कार और प्रशिक्षण के अनेकानेक माध्यम प्रस्तुत करते हैं, और समीक्षक को किसी भी साहित्यिक कृति के बाह्य और आभ्यंतर सौंदर्य के उद्‌घाटन की दृष्टि और उपकरण भी प्रदान करते हैं। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि मैं आधुनिक आलोचना के विकासशील तत्त्वों की उपेक्षा करना चाहता हूँ। मेरा कहना केवल यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र के विषय में हमारी दृष्टि संतुलित रहनी चाहिए।

नवें निबन्ध में विद्वान् लेखक ने साहित्य के इतिहास की समस्याओं का विवेचन किया है। इसके अंतर्गत उन्होंने यह बताया है कि साहित्य के इतिहास में वर्गीकरण एवं नामकरण की समस्याएँ तो गौण होती हैं, उसकी मुख्य समस्या है उन विविध प्रवृत्तियों का उद्‌घाटन जो साहित्य के रचयिताओं के समसामयिक समाज की भावधाराओं के भीतर अंतःस्रोत बनकर प्रवाहित जान पड़ती हैं। साहित्य के इतिहास की समस्याओं पर अन्य विद्वानों ने भी विचार किया है और कर रहे हैं। पर किसी का ध्यान उस विशाल साहित्य की ओर नहीं गया है जो अहिन्दी प्रदेशों में लिखा गया है। अब समय आ गया है कि उसे भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्थान दिया जाना चाहिये। 'भुज (कच्छ) की ब्रजभाषा पाठशाला' जैसी हिन्दी की शिक्षण संस्थाओं ने तीन-तीन शताब्दियों तक हिन्दी के अध्यापन और श्रेष्ठ साहित्य के निर्माण में योगदान दिया है। ऐसी संस्थाओं का इतिहास भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में जुड़ना चाहिए। ऐसे इतिहास के द्वारा ही हिन्दी का सार्वदेशिक महत्त्व प्रकट किया जा सकता है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी जी ने भी अपने निबन्ध में इस महत्त्वपूर्ण समस्या का उल्लेख नहीं किया है।

'आधुनिक हिन्दी कविता पर एक दृष्टि' और 'आधुनिक हिन्दी का प्रथम अध्याय' शीर्षक दो निबन्धों में प्रायः एक ही विषय का प्रतिपादन किया गया है। ये लेख बहुत पुराने लिखे हुए लगते हैं, क्योंकि इनमें नवयुवक कवियों—सम्भवतः छायावादी कवियों—को शैली और कीट्स आदि की तरह भाव में तन्मय होने का उपदेश

दिया गया है, और कुछ लोग ऐसा कर रहे हैं, यह देखकर हर्ष प्रकट किया गया है। यदि ये लेख पुराने हैं, तो उस दृष्टि से इसमें अभिव्यक्त विचारों की उदारता प्रशंसनीय है। कारण, दो-तीन दशक पूर्व हिन्दी कविता का विरोध ही अधिक था। लेखक ने आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता की भावना के विकास के सम्बन्ध में बड़े सुलझे हुए विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने बताया है कि आधुनिक हिन्दी कविता के प्रथम चरण में राष्ट्रीयता का स्वर व्यथा-व्याकुल एवं आत्मग्लानि-व्यंजक था, क्रमशः वह विद्रोही हो उठा और आज वह मानव-मात्र के कल्याण की दृष्टि से सह-अस्तित्व और सहयोग की प्रेरणा दे रहा है। इसी प्रसंग के अन्तर्गत लेखक ने प्राचीन हिन्दी काव्य में उपलब्ध राष्ट्रीयता के भावों का भी अति संक्षिप्त मूल्यांकन किया है। लेखक का कहना है कि प्राचीन साहित्यिक कवियों में भी राष्ट्रीयता के भावों का सन्निवेश है, पर उसमें 'भारतीयता' के भावों का वह विस्तार और पूर्णता नहीं जो आज के साहित्य में मिलती है। लेखक का यह निष्कर्ष आंशिक सत्य ही कहा जा सकता है। हिन्दी के पुराने साहित्य में भारतीयता की सांस्कृतिक चेतना का जो अखण्ड और परिपूर्ण बोध पद-पद पर व्यंजित है, उसमें राजनीतिक दृष्टि का अभाव भले ही हो, पर उसे तुलना में हीन नहीं कहा जा सकता। समसामयिक परिपेक्ष्य में उसका अधिक सहानुभूतिपूर्ण मूल्यांकन होना चाहिए।

भारतेन्दु जी के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के सम्बन्ध में बहुत दिनों से यह विवाद चलता आ रहा है कि वह मौलिक है अथवा अनूदित। आचार्यप्रवर रामचन्द्र शुक्ल जी ने लिखा है कि " 'सत्य हरिश्चन्द्र' मौलिक समझा जाता है, पर हमने एक पुराना बंगला नाटक देखा है जिसका वह अनुवाद कहा जा सकता है।" संभवतः आचार्य श्यामसुन्दरदासजी ने पहले-पहल इसे क्षेमीश्वर द्वारा लिखे हुए 'चंडकौशिक' का छायानुवाद कहा था। ब्रजरत्नदासजी ने इस समस्या पर विचार करते हुए दूसरे संस्कृत-नाटक रामचन्द्र-कृत 'सत्यहरिश्चन्द्रनाटकम्' का भी उल्लेख किया है, और निर्णय दिया है कि भारतेन्दुजी की कृति को अनुवाद कहा ही नहीं जा सकता है। कुछ विद्वानों का मत है कि वह न तो पूरा मौलिक है और न पूरा-पूरा अनुवाद ही। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने भी अपने 'चंडकौशिक' और 'सत्य-हरिश्चन्द्र' निबन्ध में इस समस्या पर विचार किया है, और दोनों नाटकों के कुछ साम्यसूचक स्थल भी उद्धृत किये है। उनका निष्कर्ष यह है कि 'सत्यहरिश्चन्द्र,' 'मुद्राराक्षस' की तरह अनुवाद ग्रन्थ नहीं है, उसका अपना कुछ निजी महत्त्व है। उसका वह निजी महत्त्व क्या है, उसे यदि अधिक स्पष्ट कर दिया गया होता, तो निबन्ध की उपयोगिता बढ़ जाती। मुझे इस विषय में डॉ० दशरथ ओझा जी का यह मत सबसे उपयुक्त जँचता है कि जिन स्थलों के आधार पर 'सत्यहरिश्चन्द्र' को 'चंडकौशिक' का आधार माना गया है, वे ही स्थल भारतेन्दु की मौलिकता के प्रमाण कहे जा सकते हैं। डॉ० ओझा जी ने उस बंगला नाटक की भी चर्चा की है, संभवतः

जिसे देखकर आचार्य शुक्ल जी ने 'सत्यहरिश्चन्द्र' के अनुवाद होने का अपेक्षाकृत अनुमान किया था ।

'आधुनिक प्रान्तीय साहित्यों की मौलिकता का प्रश्न' एक चिन्तनपूर्ण और विचारोत्तेजक निबन्ध है । इसमें विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के कतिपय प्रमुख समसामयिक साहित्यकारों की समान प्रवृत्तियों का संक्षिप्त विश्लेषणात्मक परिचय दिया गया है, और बताया गया है कि विभिन्न कालों में सांस्कृतिक उत्कर्षापकर्ष के साथ घटित होने वाला समाज की बोधचेतना का विस्तार किस प्रकार विभिन्न प्रान्तीय साहित्यिकों को एक ही तरह से प्रेरित और प्रभावित करता रहा है ।

इस संग्रह के चौदहवें निबन्ध का शीर्षक "हिन्दी का प्रारम्भिक नाटक-साहित्य" कुछ भ्रामक है । कारण, इसमें भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग में लिखे गये नाटकों की ही सामान्य चर्चा की गई है । वस्तुतः, हिन्दी का प्रारम्भिक नाटक-साहित्य तो वह है, जिसकी परम्परा भारतेन्दु और उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र के समय समाप्त होती अथवा नया मोड़ लेती है । यह कई शताब्दियों तक चलती रही है, और इसमें प्रभूत नाटक-साहित्य लिखा भी गया है । विद्वान् लेखक ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि पन्द्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध में विद्यापति के समय में ही हिन्दी में नाटक लिखने की प्रथा का सूत्रपात हुआ था । ऐसी स्थिति में हिन्दी का प्रारम्भिक नाटक साहित्य वह है जो विद्यापति के समय से बाबू गोपालचन्द्र के समय तक लिखा गया था । सोलह-सत्रह पृष्ठ के इस निबन्ध में इस वास्तविक प्रारम्भिक नाटक-साहित्य की चर्चा कठिनाई से एक पृष्ठ में की गई है । इसलिए, इस निबन्ध का यह शीर्षक उपयुक्त नहीं है ।

अवशिष्ट निबन्धों में भारतीय हिन्दी परिषद् के रायगढ़ अधिवेशन का अध्यक्षीय भाषण सबसे महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है । बलिया की हिन्दी प्रचारिणी सभा की ओर से दिया गया स्वागत भाषण भी अच्छा है । इसमें बलिया जनपद की साहित्यिक परम्परा का प्रेरणादायक विवरण है । अन्य निबन्धों में 'पंतजी का संस्मरण' 'श्रीनन्दिनी', 'हमारे लोकगीत' और 'स्वांतः सुखाय' भी सुपाठ्य है ।

विद्यावयोवृद्ध आचार्य का यह संग्रह स्वागत-योग्य है । यदि इसके अगले संस्करण में लेखों के रचना-काल का निर्देश कर दिया जाय, तो इस संग्रह का महत्त्व बढ़ जायगा ।

साहित्य के स्वर

गोपालकृष्ण कौल

'साहित्य के स्वर' उदयशंकर भट्ट के निबन्धों और भाषणों का संकलन है। भट्टजी मुख्यतः विधायक साहित्यकार हैं। वह कविता, नाटक और उपन्यासों के रचनाकार हैं। ये निबन्ध और भाषण उनको आत्मप्रेरणा से नहीं, बल्कि दूसरों के आग्रह पर लिखने पड़े। इस बात को 'अपने सम्बन्ध में' लिखते हुए उन्होंने स्पष्ट भी कर दिया है—

"साहित्य के स्वर में मेरे प्रायः वही निबन्ध हैं जिन्हें सम्पादकों एवं विश्व-विद्यालयों के अध्यापकों के आग्रह पर मुझे लिखना पड़ा है। इसके अतिरिक्त एक-दो भाषण भी हैं जो विभिन्न साहित्य-परिषदों के अवसर के लिए मुझे लिखने पड़े है।"

दूसरों के आग्रह पर इस प्रकार लिखने की मजबूरी के बावजूद इस संकलन के निबन्धों और भाषणों का एक महत्त्व है, वह है साहित्य के सम्बन्ध में और अपनी जीवन-परिस्थितियों के सम्बन्ध में भट्टजी के अपने विचारों और अनुभवों की अभि-व्यक्ति। कवि जीवन का आलोचक होता है चाहे आलोचक कवि न हो सके। इसके अतिरिक्त साहित्यकार साहित्य की रचना-प्रक्रिया में से होकर गुजरता है। आलोचक से अधिक साहित्यकार को स्रष्टा की मानसिक अवस्था का ज्ञान होता है। इसलिए चाहे समीक्षाशास्त्र अथवा निबन्ध-रचना-कौशल की दृष्टि से कवि कलाकारों को अपने यदा-कदा लिखे गए आलोचनात्मक निबन्धों के कारण समीक्षक या निबन्धकार के रूप में विशेष स्थान न मिल सके लेकिन इस प्रकार वे अपने जो विचार और अनुभव व्यक्त करते हैं, वे अधिक अनुभूत और सच्चे होने के कारण उनके समीक्षकों एवं उनके साहित्य के अध्येताओं के लिए मार्गदर्शन का काम करते हैं और इसीलिए अधिक

लेखक : उदयशंकर भट्ट
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-६
मूल्य : ३ रु० ५० न० पै०

महत्त्वपूर्ण होते हैं। इस तरह की निबन्ध-रचना अनेक साहित्यकारों ने की है, जैसे ब्लेक-रोज़ैटी और वर्डस्वर्थ आदि ने; इधर हिन्दी में प्रसाद, पंत, निराला आदि ने।

किसी साहित्यकार के ऐसे यदा-कदा लिखित छुटपुट निबन्धों को निबन्ध-शिल्प या गद्य-शैली की उपलब्धि की दृष्टि से देखना इतना आवश्यक नहीं है जितना चिन्तन और विचारों की उपलब्धि की दृष्टि से देखना आवश्यक है। किन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि जो मूलतः निबन्धकार नहीं है, उसके निबन्धों में निबन्ध-शिल्प और गद्यशैली की नई उपलब्धियों की संभावना ही शेष न रहे।

इस संकलन में पच्चीस निबन्ध हैं, जो विषय की दृष्टि से मूलतः साहित्यिक समस्याओं से सम्बद्ध हैं। इनको तीन भागों में बाँटा जा सकता है। कुछ निबन्ध या भाषण साहित्य की सामान्य सामयिक समस्याओं पर हैं, कुछ साहित्य की नई विधाओं पर और कुछ अपनी रचनाओं पर तथा कुछ अपनी रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में हैं। साहित्यिक समस्या-सम्बन्धी निबन्धों में साहित्यकार की मर्यादा, उसका दायित्व, साहित्य की नई दिशा, नये प्रयोग, नवीन और प्राचीन मूल्य, सृजन की समस्या आदि प्रश्नों पर विहंगम दृष्टि से विचार किया गया है। इन निबन्धों में लेखक ने प्रयत्न किया है कि समसामयिक साहित्यिक प्रश्नों के प्रति उसकी जागरूकता से पाठक अधिक-से-अधिक परिचित हो सके। इसीलिए पुरानी पीढ़ी के लेखक होने के नाते जो समस्यायें और प्रश्न लेखक की दृष्टि की परिधि के बाहर के थे, उन पर भी उसने विचार किया है और यह चाहा है कि उसका उदात्त मानवीय दृष्टिकोण प्रत्येक प्रश्न पर स्पष्ट हो सके। एक विशेष बात और देखने को मिलती है। वह यह कि लेखक साहित्य और सौन्दर्य की गंभीर विवेचना करते समय भी अपने नैतिक आग्रह के स्वर को किसी न किसी रूप में विषय से सम्बद्ध मानकर चलता है। 'साहित्यकार की समस्या' शीर्षक निबन्ध में लिखा है—"प्रश्न उठता है कि साहित्यकार की मर्यादाएँ क्या हैं ? मेरे मत में जनसम्बद्ध, विवेकपुष्ट आत्माभिव्यक्ति ही उसकी मर्यादा है। जीवन की व्याख्या उसकी वाणी है और सत्य की पावन उपलब्धि उसका ध्येय।" इसी प्रकार 'साहित्य के स्वर' नामक निबंध में लेखक अनेक समस्याओं पर विचार करता हुआ इस परिणाम पर पहुँचता है कि "साहित्य की स्वच्छता मानव-जीवन का वरदान है। वह अपने में जितना स्वच्छ और निर्मल होगा उतना ही वह प्राणवान्—उतना ही स्थायी होगा।" 'साहित्य के प्रयोग और उनकी दृष्टि' शीर्षक भाषण के एक निबंध-रूप में लेखक प्रयोग पर विचार करते करते फिर वही सामाजिक नैतिकता की बात करने लगता है और कहता है—"वह दिन दूर नहीं जब साहित्य की प्रयोगशाला में हम मानवतावाद के रस-विज्ञान की खोज करेंगे।" और जब लेखक नाटककार के रूप में साहित्यकार के दायित्व पर विचार करता है तब वह लिखता है—

"नाटककार का भी अन्य साहित्यकारों की तरह कर्त्तव्य है कि वह अपनी

कृति द्वारा निराश मनुष्य में उसके भविष्य के तथा उसके महत्त्व के प्रति आस्था जाग्रत करे।" इस प्रकार लेखक साहित्यिक प्रश्नों पर विचार करते-करते प्रायः उनका नीति-शास्त्रीय और समाज-शास्त्रीय समाधान दे डालता है। लगता यह है कि या तो लेखक का सामाजिक दृष्टिकोण उसके साहित्यिक दृष्टिकोण से ज्यादा प्रबल है या उसका दृष्टिकोण ही नैतिकता और सौन्दर्य को मिलाकर देखने का आदी है। यह एक प्रकार का सर्वसंग्रहवादी मध्यमार्ग होता है जो साहित्यिक सौन्दर्य की गहराई तक असम्पृक्त भाव से नहीं जाना चाहता और 'यह भी सच है वह भी सच है' की शैली में विवेचना करता है। यह सब होते हुए भी लेखक की उदात्त मानववाद के प्रति जो अटूट आस्था है वह उसके व्यक्तित्व और दृष्टिकोण की विशेषता के नाते अवश्य महत्त्वपूर्ण है।

वैसे तो लेखक ने साहित्य की कई विधाओं पर विचार प्रकट किया है लेकिन नाटक-रचना से विशेष सम्बन्ध होने के कारण उसने नाटक के सम्बन्ध में आठ निबन्धों में विचार किया है। ये निबन्ध इस प्रकार हैं—१. साहित्यकार का दायित्व (नाटककार के रूप में), २. नाटक का विकास और वैविध्य, ३. नाटक के प्रति मेरा दृष्टिकोण, ४. हिन्दी का नाट्य-साहित्य, ५. रेडियो नाटक, ६. हिन्दी नाटक की नवीन धाराएँ, ७. रेडियो नाटक और उसकी उपलब्धि और ८. नाटक, नाट्यकार और रंगमंच। इन शीर्षकों से ही स्पष्ट है कि जहाँ लेखक ने नाटक-साहित्य के विविध रूपों और प्रश्नों पर विचार किया है, वहाँ उसने एक ही बात को कई बार दुहराया भी है। 'रेडियो-नाटक' और 'रेडियो नाटक और उसकी उपलब्धि' निबंधों में एक-सी ही कई मिलती-जुलती बातें कही गई हैं। नाटक-सम्बन्धी किसी एक निबंध में यदि कोई स्थापना की गई है तो दूसरे में उसका विरोध मिल जाता है। लेकिन इन निबंधों में लेखक ने वर्तमान हिन्दी नाटकों की कई कमियों को साहस के साथ स्वीकार किया है। एक स्थान पर वह लिखते हैं—

"रंगमंच के अभाव से हिन्दी का नाटक-साहित्य बहुत अधूरा रह गया है। पढ़ने में चाहे कोई नाटक कितना ही अच्छा लगे वस्तुतः नाटक के गुण-दोष रंगमंच पर ही प्रतीत होते हैं। इन दोषों का परिमार्जन तभी हो सकता है जब नाटक रंगमंच की उपयोगिता के आवरण में चमके। मैं जानता हूँ कि मेरे कुछ नाटक खेले गये और उनमें जो परिवर्तन और संशोधन हुए उससे नाटक का रूप बहुत कुछ बदल गया। वे परिवर्द्धित संस्करण ही नाटक कहला सकते हैं, अन्यथा हिन्दी में अधिकतर नाटक संवादमय कथा हैं।"

नाटककारों और नाटक के समीक्षकों के लिए लेखक का यह सुझाव बहुत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है कि—

"नाटककार अपना नाटक तब तक प्रकाशित न कराये, जब तक वह दो-चार जगह खेला न गया हो।"

एक निबंध—'उपन्यास साहित्य' भी है, लेकिन उसमें उपन्यास की आधुनिकतम उपलब्धियों और उसकी विकासशील शैलियों के रूपों का विवेचन नहीं है। उसमें केवल उपन्यास-साहित्य पर लेखक का सम्मति-परक वक्तव्य ही दिखाई देता है। एक लेख कालिदास के युग पर भी है जो लेखक के संस्कृत-साहित्य-सम्बन्धी स्वाध्याय का परिचायक है।

शेष निबंध लेखक ने अपनी रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में लिखे हैं जो इस संग्रह के सबसे महत्त्वपूर्ण निबंध हैं। एक तो इन निबंधों से लेखक के रचना-कौशल की व्यक्तिगत विशेषताओं का पता चलता है, दूसरे अपनी रचनाओं के प्रति उसकी निजी धारणाओं का। 'मेरे जीवन के मोड़' शीर्षक निबंध में लेखक ने अपने जीवन की महत्त्वपूर्ण झाँकी प्रस्तुत की है जो उसके साहित्यिक व्यक्तित्व को समझने में सहायता कर सकती है। लेखक ने अपनी रचनाओं, अपनी रचना-प्रक्रिया और अपनी पसन्द के बारे में जो विश्लेषण किया है—वह लेखक की व्यक्तिगत भावुकता से बहुत प्रभावित है। शायद अपनी वैयक्तिक सफलताओं और उपलब्धियों का निर्वैयक्तिक विश्लेषण कर पाना कठिन भी है। भावुकता के अतिरेक में लेखक कहीं-कहीं वैज्ञानिक विश्लेषण की बात को कविता की तरह लिखने लगता है। 'मेरी रचना के स्रोत' शीर्षक निबंध में वह लिखता है—

"रचना भूख की एक तृप्ति है, नशे का आनन्द, बेचैनी का एक प्रसव है जो खास तरह के मन में उमगती रहती है। उस समय मन अपने को भूल जाता है। एक तन्मयता की दशा उभरती है। वहाँ आँखें देखना बन्द कर देती हैं, कान सुनना। सारी इन्द्रियों के काम मूक होकर प्रेरणा के उन स्रोतों में डूब जाते हैं।"

फिर भी लेखक ने इन निबंधों में अपने जीवन अनुभवों का सार और साहित्य और जगत् के प्रति अपने विचार सीधी सरल भाषा में प्रस्तुत कर पाठकों को अपने साहित्यिक व्यक्तित्व को समझने का जो अवसर प्रदान किया है, वह महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है।

हिन्दी तद्भव-शास्त्र

डा० हरदेव बाहरी

'वार्षिकी' में समीक्षार्थ और विशेषतः पूरे प्रकरण के लिए प्रायः वही पुस्तकें चुनी जाती हैं जो वर्ष की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ कही जा सकती हैं। भाषाविज्ञान की पुस्तकों का इतना अभाव-सा है कि १९६१ के प्रकाशनों में 'हिन्दी तद्भव-शास्त्र' का नाम पढ़कर प्रसन्नता होती है। किन्तु इस पुस्तक को देखकर मुझे इतनी निराशा हुई कि इसकी कुछ विस्तृत व्याख्यात्मक आलोचना इसलिए आवश्यक समझता हूँ कि भाषा-शास्त्र पर कार्य करने वाले लेखक, अध्यापक और विद्यार्थी गम्भीरतापूर्वक एक समस्या पर विचार कर सकें।

पुस्तक के शीर्षक से यह नहीं जाना जा सकता कि यह 'हिन्दी तद्भवों' का शास्त्र है अथवा हिन्दी में 'तद्भव-शास्त्र'। भूमिका में कहा गया है कि इसमें 'तद्भव शब्दों का शास्त्रीय अनुशीलन' प्रस्तुत किया गया है जिससे मुझे लगा कि तद्भव शब्दों में सामान्य नियमों का विवेचन होगा जो सभी भाषाओं पर लागू हो सके। किन्तु देखा तो पाया कि इसमें हिन्दी शब्दों की ही चर्चा है, दूसरी भाषाओं के तद्भवों की बात नहीं दी गयी। नाम तो नया और आकर्षक है, किन्तु पढ़ा तो इसमें आदि से अन्त तक वही बातें मिलीं जिन्हें 'हिन्दी भाषा का इतिहास' या 'हिन्दी का उद्भव और विकास' आदि पुस्तकों में सुचारु ढंग से वर्णित किया गया है, वलिक कुछ पन्ने (जैसा संख्यावली शब्दों का प्रकरण) तो कहीं से उद्धृत मात्र किये गये हैं।

१२२ पृष्ठों की इस पुस्तिका में ३२ पृष्ठ की एक भूमिका सी है, अगले साठ-एक पृष्ठों में हिन्दी की स्वर और व्यंजन-ध्वनियों का इतिहास है और अन्त में दो परिशिष्ट हैं—हिन्दी के प्रत्ययों की सूची तथा तद्भव-कोश।

लेखक : श्री मुरलीधर श्रीवास्तव 'शेखर'
प्रकाशक : कलाकार प्रकाशन, पटना
मूल्य : ४·५० रुपये

भूमिका में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये गये हैं, जैसे भारत की प्राचीन प्राकृत भाषा क्या थी ? क्या वैदिक प्राकृतें भी कोई बोलियाँ थीं ? क्या वैदिक और संस्कृत दो भाषाएँ हैं ? क्या पाणिनि-काल में संस्कृत से भिन्न कोई भाषाएँ या बोलियाँ थीं ? प्राकृतों का काल कब से कब तक माना जाना चाहिए ? प्राकृतों के भेद क्या हैं और उनकी विशेषताएँ क्या हैं ? अपभ्रंश और हिन्दी में क्या सम्बन्ध है तथा 'देवभाषा' क्या है ? प्रश्न बहुत ही गम्भीर हैं, किन्तु छोटी सी भूमिका में लेखक के लिए गम्भीरतापूर्वक इन पर विचार करना सम्भव नहीं हुआ। इन प्रश्नों के उत्तर में लेखक की कुछ नवीन कल्पनाएँ हैं ; और जगह-जगह दूसरों का मत उद्धृत किये बिना अथवा दूसरों के मत का समर्थन-प्रत्याख्यान किये बिना अपने विचार बड़े दावे के साथ प्रस्तुत किये हैं।

उदाहरण-स्वरूप, आपका मत है कि वैदिक को स्वतन्त्र भाषा मानना उचित नहीं है। किन्तु यह नहीं जाना जा सका कि कौन है जो इसे उचित मानता है और वह क्या कहता है। प्रायः यही स्वीकार किया जाता है कि वैदिक और संस्कृत एक ही भाषा (प्राचीन भारतीय आर्यभाषा) के दो [कालगत] भेद हैं—वैदिक प्राचीन है, संस्कृत परवर्ती रूप है। मुझे आशा है कि लेखक इस से इन्कार नहीं कर सकते। उनका यह भी एक मत है कि वेदभाषा साहित्यिक भाषा है, इसमें जो रूपभेद अथवा शब्दभेद पाये जाते हैं वे किन्हीं भिन्न भाषाओं के नहीं हैं (पृ० १)। इस प्रकार के नकारात्मक मतों से यही आभास होता है कि लेखक के सामने किन्हीं विचारकों के कुछ ऐसे मत रहे हैं, किन्तु उन्होंने पाठक से उनका तो दुराव किया और अपने मत को निराधार कर दिया। विद्वान् वही मानते आये हैं जिसे लेखक भी मानते हैं किन्तु जब वे इस शैली में 'मेरा तो यह मत है', 'मेरे विचार में' बात करते हैं तो पाठक की इच्छा होती है कि दूसरों का मत भी जाने ? किन्तु यह इच्छा पूरी नहीं हो पाती।

कई जगह वे अपने नये-नये मत भी प्रस्तुत करते हैं किन्तु उनकी स्थापना और पुष्टि करने में असमर्थ रह जाते हैं। पृष्ठ १ पर उनका कहना है कि "ऋग्वेद की भाषा को सब से प्राचीन और अन्य वेदों की भाषा को परवर्ती काल की भाषा बताना, यह मत सब को स्वीकार्य नहीं।" इस कथन की पुष्टि में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिये। अगला वाक्य है "वेदमंत्रों के ऋषि अनेक हैं।" पाठक बेचारा उलझ कर रह जाता है।

पृष्ठ ८ पर आप वैदिक भाषा का काल निश्चित करते हुए लिखते हैं, "जब भी वेदों की रचना हुई उस से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व से तो अवश्य ही वह भाषा समृद्ध अवस्था में रही होगी।" ज़बरदस्ती इसी को कहते हैं।

उनका एक मत यह भी है कि "भाषा की दृष्टि से प्राकृत काल १००० ई० पू० से पहली शती तक और अपभ्रंश काल पहली से दसवीं शती तक है"। यहाँ दो प्रश्न उठते हैं, यदि आप जानते हैं कि १००० वर्ष में किसी भाषा का स्वरूप-परिवर्तन हो सकता है तो आप वेदभाषा को वेदों की रचना के १००० वर्ष पूर्व समृद्ध अवस्था में कैसे मानना चाहते हैं ? यदि पहली शती के बाद प्राकृत भाषा नहीं रही तो यह सारा भारतीय साहित्य क्या सदा से 'मृत' भाषा में रचा जाता रहा है ?

"पाणिनि ने संस्कृत से भिन्न किसी जनभाषा (प्राकृत नामधारी भाषा) के नियमों का उल्लेख नहीं किया, इस से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि उस काल तक प्राकृत भाषाओं का स्वतन्त्र रूप से उदय नहीं हुआ था" (पृ० ६)। यह भी विचित्र युक्ति है। कामताप्रसाद गुरु ने अपने हिन्दी व्याकरण में किन्हीं बोलियों के नियमों का उल्लेख नहीं किया, इसलिए क्या यह कहा जाये कि उनके समय तक हिन्दी प्रदेश में किन्हीं बोलियों का स्वतन्त्र रूप से उदय नही हुआ था ?

पृष्ठ ३२ पर आप कहते हैं कि प्राकृतें और अपभ्रंशें जनभाषा के रूप में नहीं थीं, साहित्यभाषाएँ थीं। "इसलिए उन्हें स्वाभाविक विकास मानना ठीक नहीं।" इन बातों से लगता है कि लेखक को एक शौक सा है निराली बात कहने का।

भूमिका में बहुत सी ऐसी बातें भी उठायी गयी हैं जिनका प्रस्तुत 'शास्त्र' के विषय से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, जैसे पाणिनि और यास्क का काल क्या था ? अथवा, हिन्दी के साहित्य के अन्तर्गत अपभ्रंश के साहित्य पर क्यों विचार किया गया है ?

काम की बातें पृष्ठ १६ से आरम्भ होती है। शीर्षक है 'संस्कृत से प्राकृत में भेद'। किन्तु संस्कृत की विशेषताएँ तो कहीं बतायी ही नहीं। प्राकृत की विशेषताएँ विस्तार से नहीं लिखी गयीं; अर्धमागधी की विशेषताएँ एक शीर्षक के नीचे दी हैं, किन्तु मागधी को पादटिप्पणी के रूप में जाने दिया है। शौरसेनी और महाराष्ट्री के लक्षण अलग नहीं किये। ये दो प्राकृतें तो विशेषत: उल्लेखनीय थीं। (माहाराष्ट्री को आप सर्वत्र महाराष्ट्री कहते हैं)। वैदिक और संस्कृत का भेद एक जगह (पृष्ठ ५) पर बताने जा रहे थे कि किसी अन्य विषय के उठ खड़े होने के कारण बात दब गयी और फिर नहीं उठी।

कहते हैं, कि प्राकृत में 'क ग प ज त द प य व का लोप हो जाता है' (पृ० १६)। दो बार प क्यों ? सम्भवत: एक प च की जगह है (इस तरह की अशुद्धियों से यह पुस्तिका भरी पड़ी है, इस पर भी इसका नाम 'शास्त्र' रखा गया है)। प का लोप भी नहीं होता, प का व हो जाता है।

आदि व्यंजन का लोप दो उदाहरणों में बताया गया है—स्थूल से थूल, स्फटिक से फटिक (पृ० १९) किन्तु यहाँ तो संयुक्त व्यंजन में समीकरण हुआ है। कोई उपयुक्त उदाहरण होना चाहिए था। इस पृष्ठ पर वाण का चिह्न भ्रामक है। यह चिह्न उलटा होना चाहिए।

पृष्ठ २० पर मध्यग त का लोप 'रसतल-रसातल' में बताया गया है, जो हमारी समझ में तो आया नहीं।

प्राकृतों के लक्षण देते हुए उदाहरण देने में इतनी कंजूसी की गई है कि विषय स्पष्ट नहीं हो पाता। कहीं-कहीं तो उदाहरण हैं ही नहीं, बात हवा में रह जाती है।

पृष्ठ ३३ से ७३ तक उद्भव शब्दों के विकास की कथा है। खेद तो यह है कि चालीस पृष्ठ के इस 'शास्त्र' में चालीसों अशास्त्रीय बातें हैं। हम इस समय कुछ-एक का उल्लेख कर पायेंगे—

१. पृष्ठ ३३ पर 'स्वरों की व्युत्पत्ति' के अन्तर्गत विषय का विवेचन उलटा हो गया है। चाहिए था कि हिन्दी के स्वरों को क्रम से लेते चलते और पीछे अपभ्रंश, प्राकृत और संस्कृत में उनका क्या स्वरूप था बताते जाते। किन्तु आप का विषय व्यवहार में यह हो गया है कि संस्कृत स्वरों का क्या-क्या हो गया।

२. आदि, मध्य और अन्त्य स्वरों का व्यवहार भिन्न होता है। आपने सब का एक वर्ग बना दिया जिससे आपका कथन झूठा हो जाता है। क्योंकि शब्द की सभी स्थितियों में स्वर की उक्त घटना घटित नहीं होती।

३. पृष्ठ ३४ पर लिखते हैं 'संध्या' के विकास में आ का अ हो गया, 'रात्रि' में इ का अ हो गया और 'भगिनि' में ई का अ हो गया। वास्तव में नियम यह है कि अन्त्य स्वर का लोप हो गया।

४. पृष्ठ ३५ पर बताया गया है कि घट से घड़ा और दूसरे ऐसे शब्दों में अ का आ हुआ है। बात यह है कि यह 'आ' अकः से अअ के द्वारा सभी पुल्लिग शब्दों में सादृश्य के नियम से चलता आया है।

५. पृष्ठ ३५ पर उ के आगे की दो पंक्तियाँ पढ़िये और बूझिए कि इन में उ की क्या बात है।

६. पृष्ठ ३५ पर कलिका में आ का ई होना बताया गया है, किन्तु यह ई

इया से आई है, कलिका से कलिआ और फिर कली। विकल्प रूप से हिन्दी बोलियों में बेटी बिटिया, पट्टी पट्टिया अब भी पाये जाते हैं।

७. व्यंजनों में भी आदि, मध्य, अंत्य का भेद नहीं रखा और नियमों को व्यापक कर दिया है, जबकि वे लगते नहीं हैं, जैसे कहा है कि ख का ह हो जाता है—जैसे, मुख से मुँह। किन्तु प्रश्न यह है कि खट्वा और खादति में तो ख का ह नहीं होता।

८. पृष्ठ ३७, ३९ पर दिया गया है कि अमुक व्यंजन का फारसी में यह हो जाता है अथवा अमुक शब्द फारसी से होकर आया है। 'तद्भव शास्त्र' से इसका क्या सम्बन्ध है ?

९. ट का ड और फिर ड़ होता है, किन्तु (पृष्ठ ३८) पर यह क्रम स्पष्ट नहीं किया गया, यद्यपि उदाहरण ठीक है।

१०. उसी पृष्ठ पर आप घात से घाव का विकास बताते हुए कहते हैं कि त का व हो गया। बात यह है कि त का अ ही रह गया था, और फिर व श्रुति जुड़ी है; त का व कभी नहीं हो सकता।

११. पृष्ठ ३९ पर आप भ से म्ह की व्युत्पत्ति निश्चित करते हैं। किन्तु, कुम्भकार में म्भ से म्ह हुआ है, भ से ह तो हो सकता था, म्ह कदापि नहीं।

१२. म से वँ होता है, वह नहीं जैसा कि लेखक ने समझा है।

१३. यष्टि में य का ल नहीं हुआ, न हो सकता है। लगुड और यष्टि के अभिचार से लट्ठि या लाठी सिद्ध होता है।

१४. पृष्ठ ४० पर ष से ह रूप बताया है किन्तु उदाहरण दिया है हर्षित से हरखित, जो हमारी समझ में नहीं आया।

१५. पृष्ठ ४० पर आप कहना चाहते थे संयुक्त व्यंजन, कहते हैं संयुक्ताक्षर।

कहाँ तक गिनायें। हमारा उद्देश्य इस पुस्तक का शुद्धिपत्र प्रस्तुत करना नहीं है। आठ पृष्ठों में जो उल्लेखनीय स्थल थे उन पर हमने अपनी टिप्पणी दे दी है। इस प्रकार के भ्रामक कथन पूरे 'शास्त्र' में भरे पड़े हैं।

पृष्ठ ५१ पर दो बातें कही हैं जिन्हें पढ़कर पुस्तक की शास्त्रीयता सन्दिग्ध होने लगती है।

अश्रु से आँसू बनने में अनुनासिका आ गई। क्यों? "क्रन्दन की क्रिया में जो ध्वनि उठती है उसे सूचित करने के लिए अनुनासिका लाना आवश्यक हो गया।" वाह! संस्कृत के 'रुद्', हिन्दी के 'रो' और अंग्रेजी के 'वीप' शब्द में तो क्रन्दन की अनुनासिकता दिखाई नहीं देती। यह भी कोई तुक है?

यह कथन तो बिलकुल समझ में नहीं आया—"प्रायः उपसर्ग रहित रूपों से ही तद्भव रूप विकसित हुए हैं। किन्तु तद्भव शब्दों का विकास सोपसर्ग रूपों से हुआ है।" क्या अर्थ?

पाद-टिप्पणियों के बारे में भी कुछ कहने की आवश्यकता है। इनका क्या उद्देश्य है, पहले यह समझ लेना चाहिए। सबसे बड़ा लाभ इनका यह होता है कि पुस्तक में जिन विद्वानों की कोई राय उद्धृत की गयी है, उसे विस्तार से जानने की इच्छा पाठक में जग सकती है। अतः ऐसे संदर्भ शुद्ध और सविस्तार होने चाहिएँ। लेखक का पूरा नाम, पुस्तक का नाम, संस्करण, प्रकाशक या प्रकाशन स्थान स्पष्ट हों।

कभी-कभी आलोच्य विषय की आनुषंगिक चर्चा इसलिए टिप्पणियों में देने की आवश्यकता होती है कि मूल चर्चा के प्रवाह में बाधा न पड़े।

कुछ लोग अपने निबन्ध को शोध-लेख का रूप देने के लिए पाद-टिप्पणियों की भरमार कर देना चाहते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठ १५ और १७ पर तारांक और टिप्पणी में कोई संगति दिखाई नहीं देती। पृष्ठ ४, ५, १३, १८, २८, ३० पर पादटिप्पणियों के संकेत ऊपर नहीं मिलते। पृष्ठ ३१ पर पिशल के विचार दिये गये हैं। उद्धरण का आरंभ 'साहित्यिक' शब्द से होता है, अंत न जाने कहाँ होता है। संदर्भ नहीं दिया गया, जिससे यह नहीं कहा जा सकता कि पिशल ने कहाँ पर अपभ्रंश का सम्बन्ध वैदिक भाषा से जोड़ा है।

पृष्ठ ५६-५७ पर प्रत्ययों की एक सूची दी गयी है। क्या इतने ही प्रत्यय हिन्दी में हैं? केवल गुरु के व्याकरण को देख लिया होता, तो इस से चार गुना प्रत्यय मिल जाते।

'हिन्दी शब्दावली में देशी शब्द' इस 'तद्भव शास्त्र' में अवांच्छित सा लगता है।

'तद्भव रचना के साधारण नियम' के अन्तर्गत फिर वही बातें दोहराई गयी हैं जिन्हें पहले उल्लिखित कर दिया गया है। जो नयी व्युत्पत्तियाँ अब सूझी हैं उन्हें भी वहीं दे देते तो अधिक लाभ होता।

परिशिष्ट १ में प्रत्ययों की गिनती पुनः उदाहरण-सहित दी गयी है। किन्तु किसी प्रत्यय की व्युत्पत्ति नहीं दी जिस से जान पड़ता कि ये प्रत्यय अपने तद्भव रूप में हैं।

परिशिष्ट २ में लेखक ने 'तद्भव कोश' जुटा देने में थोड़ा-बहुत परिश्रम अवश्य किया है। मैं तो समझता हूँ कि यदि कोई विद्वान् हिन्दी में उपलब्ध सभी तद्भव शब्दों का एक व्युत्पत्ति कोश ही तैयार कर दे और सिद्धांतों के झमेले में न पड़े तो भी हिन्दी भाषाविज्ञान को बड़ी देन मिल जाये। प्रस्तुत 'शास्त्र' के लेखक को सूझा तो सही है किन्तु १०००-१२०० शब्दों का उल्लेख कर इति कर दी है। यह बात नहीं है कि इतने ही शब्द इस पुस्तक में आये हैं, पृष्ठ-संदर्भ कहीं दिये नहीं हैं, वैसे कोश पुस्तक से स्वतन्त्र जान पड़ता है। १०-१२ हजार शब्द तो ऐसे कोश में होने ही चाहिएँ थे। प्रस्तुत शब्दसंग्रह में (लेखक को भारी भरकम नाम देना अच्छा लगता है), बड़े सामान्य और प्रसिद्ध शब्द लिए गये हैं। अनेक ऐसे शब्द भी सम्मिलित कर लिए गये हैं जो बोलियों में तो प्रयुक्त होते हैं, किन्तु सामान्य हिन्दी में नहीं मिलते, जैसे अकवन, अड़हुल, अनवासना, अवासना, उकठ, उकड़, उसिनना, ऊसठ, औरेब, इत्यादि। तद्भव-कोश में 'देशी' शब्दों...उड़िद, खाल, गुद्दा—और अनुकरणात्मक-शब्द भी अकारण आ गये हैं। हिन्दी शब्दों के संस्कृत रूप देने मात्र से उनका विकास निश्चित नहीं हो जाता। उनके बीच की कड़ियाँ अवश्य देनी चाहिये थीं, किन्तु यहाँ अपभ्रंश अथवा प्राकृत रूप प्रायः बताये ही नहीं गये जिस से लगा कि विद्वान् का परिश्रम अधूरा रह गया।

कुछ शब्द ऐसे भी मिले, जिनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध जान पड़ी, जैसे एंठन (आवेष्टन से), कुनकुना (कोष्ण से), चना (चुण्ण से), अदरख (अद्रक से), अनाज (अन्नाद से), उल्लू (उल्लूक से)

मेरा अन्तिम मत यह है कि शास्त्र पर कुछ लिखने से पहले हम लोगों को बड़े तप, अध्यवसाय और साहस की आवश्यकता है, नहीं तो मिथ्या ज्ञान के प्रसार से घोर अनर्थ हो जायगा। भाषाविज्ञान सम्बन्धी साहित्य की कमी के कारण अग्रणी महानुभावों का दायित्व और भी अधिक है।

———

कामायनी—एक पुनर्विचार

डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना

'कामायनी' आधुनिक युग का एक अनुपम महाकाव्य है। इस महाकाव्य की पर्याप्त आलोचना-प्रत्यालोचना हुई है, किन्तु इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसे जो आलोचक जिस दृष्टिकोण से देखता है उसे इसमें वैसे ही कुछ विचार अंकित दिखाई देने लगते हैं और उनकी पुष्टि के लिए उसे यत्र-तत्र इसमें ही कुछ प्रमाण भी मिल जाते हैं। इसका कारण यह है कि इस महाकाव्य की सांकेतिकता एवं प्रतीकात्मकता ही कुछ ऐसी है जिसके फलस्वरूप आज का पाठक एवं समालोचक अपनी जिस धारणा एवं जिन विचारों से प्रभावित होकर इसकी ओर दृष्टिपात करता है उसे वही धारणा एवं वे ही विचार इसमें दृष्टिगोचर होने लगते हैं। यही कारण है कि उक्त 'कामायनी—एक पुनर्विचार' पुस्तक के लेखक ने भी अपनी पूर्व धारणा एवं अपने पूर्व विचारों के अनुसार अपनी इस पुस्तक में 'कामायनी' को प्रसाद जी के जीवन एवं जगत् से सम्बद्ध करके प्रसादकालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक हलचलों से 'कामायनी' में वर्णित हलचलों का साम्य स्थापित किया है और अपने इस विद्वत्तापूर्ण विश्लेपण एवं विवेचन द्वारा 'कामायनी' को एक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महाकाव्य नहीं, अपितु एक फैंटेसी—कथाप्रधान आधुनिक युग का पूँजीवादी काव्य सिद्ध किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि विद्वान् लेखक का यह विवेचन एवं विश्लेपण सर्वथा नवीन होने के कारण कौतूहलवर्द्धक है और 'कामायनी' के अध्येताओं के लिए एक नई दृष्टि एवं नवीन विचारधारा भी प्रदान कर सकता है। किन्तु देखना यह है कि लेखक के इस विश्लेषण एवं विवेचन में कितना तथ्य है और कितना उसमें आरोपित एवं कल्पित अंश विद्यमान है।

प्रस्तुत पुस्तक 'प्रथमतः' से आरम्भ होकर आगामी तेरह अध्यायों में लिखी गई है तथा 'अंततः' रूप में लेखक ने अपने विचारों का उपसंहार किया है। आरम्भ

लेखक : श्री गजानन माधव मुक्तिबोध
प्रकाशक : हिमांशु प्रकाशन, गंजीपुरा, जबलपुर
मूल्य : ५.०० रुपये
पृष्ठ संख्या : १९२

में लेखक ने अपने अध्ययन एवं विश्लेषण की दिशा की ओर संकेत किया है तथा 'फैंटेसी' की विस्तृत व्याख्या करते हुए यह बताया है कि "कामायनी का जो विश्लेषण मैंने किया है, वह एक ओर प्रसाद जी का युग, तो दूसरी ओर उनका व्यक्तित्व—इन दोनों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के संघातित योग को ध्यान में रखकर ही। 'कामायनी' उस अर्थ में कथा-काव्य नहीं है कि जिस अर्थ में 'साकेत' है। 'कामायनी' की कथा केवल एक 'फैंटेसी' है। जिस प्रकार एक फैंटेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों का, अनुभूत जीवन-समस्याओं का, इच्छित विश्वासों और इच्छित जीवन स्थितियों का प्रक्षेप होता है, उसी प्रकार से 'कामायनी' में हुआ है।" लेखक के इस कथन में से इस बात से तो हम भी सहमत हैं कि 'कामायनी' की सम्पूर्ण कथा 'साकेत' के समान कोई बहुत प्रसिद्ध कथा नहीं है और इसीलिए 'कामायनी' साकेत जैसा कथा-काव्य नहीं है। किन्तु 'कामायनी' की कथा में प्रसाद जी के मन की निगूढ़ वृत्तियों का, उनके अनुभूत जीवन की समस्याओं का, अथवा उनके इच्छित विश्वासों और इच्छित जीवन-स्थितियों का प्रक्षेप होने के कारण वह एक 'फैंटेसी' है इस बात से हम सहमत नहीं हैं। यदि उक्त विचार के आधार पर 'रामचरितमानस' का विवेचन किया जाय, तो उस कथा पर भी तुलसी के मन की निगूढ़ वृत्तियों, अनुभूत जीवन-समस्याओं, इच्छित विश्वासों आदि का प्रक्षेप है, इसीलिए तो उसमें हमें वाल्मीकि रामायण से सर्वथा परे लोकमंगल, मर्यादावाद एवं समन्वयवाद का चित्रण दिखाई देता है। इस अर्थ में तो हमें 'रामचरितमानस' की कथा को भी एक 'फैंटेसी' मानना पड़ेगा। किन्तु उसकी कथा एक फैंटेसी नहीं है, अपितु वह एक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महाकाव्य है। उसी तरह 'कामायनी' की कथा भी फैंटेसी नहीं है, अपितु उसमें भी प्रसादजी की उक्त मनोवृत्तियों के अतिरिक्त ऐतिहासिकता एवं सांस्कृतिक परम्परा विद्यमान है, जिसका मूल ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, श्रीमद्भागवत आदि में विद्यमान है और जिसकी ओर प्रसादजी ने स्वयं भी 'कामायनी' के 'आमुख' में संकेत कर दिया है। इस प्रकार यदि केवल कवि की निगूढ़ वृत्तियों, अनुभूत जीवन-समस्याओं, विश्वासों आदि के प्रक्षेप मात्र से कोई काव्य 'फैंटेसी' हो जाता, तो कितने ही ऐतिहासिक महाकाव्य इस कोटि में आ जायेंगे और उनका ऐतिहासिक महत्त्व सदा के लिए लुप्त हो जाएगा।

लेखक ने 'कामायनी' की कथा को 'फैंटेसी' सिद्ध करते हुए यहाँ तक लिखा है कि इसमें वर्णित "वेदकालीन आख्यान भी एक फैंटेसी के रूप में ही खड़ा किया गया है," क्योंकि लेखक मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित होने के कारण जहाँ भी विलास-प्रियता, स्वार्थपरता आदि का वर्णन देखता है, उसे वहीं पर सामंतकालीन प्रवृत्तियों अथवा पूँजीवादी विलासवासना, वैभव सम्पन्नता आदि की गंध आने लगती है। इसीलिये तो लेखक ने बताया है कि "प्रसादजी की यह देव-सभ्यता निश्चित ही वह सामन्ती सभ्यता है जिसका अब जीर्णोद्धार नहीं हो सकता। वे सम्बन्ध गये। वह

प्राचुर्य गया। वह विलास गया। अब केवल उसकी स्मृतियाँ शेष हैं। वह ज़माना गुज़र गया। प्रसाद जी के मत में उस ज़माने का प्रमुख लक्षण है विलासिता। अवध की नवाबी, बड़े-बड़े तालुक्केदारों की रंगरेलियाँ तथा अपने खानदान का वह पूर्वकालीन वैभव, जिसमें विलासिता पलती थी, सब गये।" इस तरह लेखक के मतानुसार 'कामायनी' में वर्णित देवों की प्रलय-गाथा के रूप में प्रसादजी ने अपने खानदान की अथवा उत्तरप्रदेश के सामंती ध्वंसावशेषों की घनीभूत सांस्कृतिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन-छाया की स्मृति को अंकित किया है। इसे पढ़कर यह जान पड़ता है कि लेखक वैदिकयुग से पूर्णतया अपरिचित है और उसे यह ज्ञात नहीं है कि ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक देवों के विलास-प्रिय जीवन की कैसी-कैसी मनोरम झाँकियाँ अंकित हैं? ऋग्वेद में ही देव एवं देवांगनाओं को अपने-अपने शरीरों को सुसज्जित करने, गंधपूर्ण अंगराग लगाने, शोभन आभूषण पहनने, सोम एवं सुरा का पान करने, रथ में बैठकर बिहार करने आदि के वर्णन मिलते हैं।[1] पुराणों में तो उनके स्वच्छंद विलास एवं वैभवपूर्ण जीवन को और भी बढ़ाचढ़ा कर अंकित किया गया है।[2] प्रसादजी ने उक्त ग्रंथों के आधार पर ही देवों की विलासप्रियता का चित्रण किया है। अब उसमें आधुनिक सामन्तकालीन जीवन की अथवा प्रसाद के खानदान की विलासिता का दर्शन करना और उसकी वास्तविक ऐतिहासिकता से मुँह मोड़ना एक बड़ी भारी भूल है। इसके अतिरिक्त प्रलय के बारे में लेखक का यह दावा करना कि "देव-सभ्यता वह ह्रासकालीन सामन्ती सभ्यता है जो ब्रिटिश साम्राज्यवादी पूँजीवाद के धक्कों से, विश्व पूँजीवाद के भूकम्पों से धराशायी हो गई। निश्चय ही इस सामंती सभ्यता के लिए यह प्रलय ही था" अर्थात् प्रलय के रूप में यहाँ सामन्ती सभ्यता के विनाश का वर्णन किया गया है, इसके अतिरिक्त यह कुछ नहीं है। लेखक का यह आग्रह कितना तर्कहीन है। यह तो इस बात से सिद्ध है कि प्रलय की कथा एक विश्वविश्रुत गाथा है। शतपथ ब्राह्मण में 'मनुमत्स्यकथा' के अंतर्गत इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। बाइबिल तथा कुरानशरीफ में भी यह गाथा आरम्भ में ही आई है।[3] विश्व के अन्य ऐतिहासिक एवं धार्मिक ग्रंथों में भी इसके संकेत विद्यमान हैं। ऐसी विश्व-विश्रुत घटना को भी 'फैंटेसी' की झोंक में आधुनिक सामन्ती सभ्यता के विनाश की कथा बताना लेखक का पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह नहीं तो और क्या है?

'कामायनी' में इसके अनंतर श्रद्धा और मनु के मिलन की कथा आती है, जिसमें श्रद्धा ने अपनी ओजमयी प्रेरणा से निराश एवं अकर्मण्य मनु को कर्मण्य बनाने

---

१. ऋग्वेद १।१६६।६, १।१६६।७, १।२२।१२, ८।७८।३ आदि
२. मत्स्यपुराण १२०।३०-३१।
३. बाइबिल, उत्पत्तिखंड, अध्याय ६, ७, ८ तथा कुरानशरीफ ११।३।२५-४७

की चेष्टा की है और मनु की पत्नी के रूप में अपना सर्वस्व मनु के चरणों में अर्पित करती हुई वह मनु को पशु-पालन, कृषि, कुटीर-उद्योग आदि की ओर प्रवृत्त करती है। परन्तु दंभी, विलासी एव अहंवादी मनु को वे सब कार्य अच्छे नहीं लगते और वह वन के एकान्त से ऊबकर तथा श्रद्धा जैसी आदर्श पत्नी को वहीं छोड़कर सारस्वत नगर की ओर बढ़ जाता है। कामायनी की यह कथा मानव के क्रमिक विकास की द्योतक है। किन्तु लेखक की दृष्टि में इस कथा-भाग के अन्तर्गत आई हुई पर्णकुटीर, वन्य जीवन, एकांत कृषि कर्म आदि की चर्चा भी पूँजीवादी मनोवृत्ति की परिचायक है, क्योंकि लेखक का मत है कि "पूँजीवादी सभ्यता के नगर-जीवन की वास्तविकताओं से ऊबकर वनोन्मुख होने की इच्छा प्रसाद में ही नहीं, पूँजीवादी सभ्यता के एक विशेष काल में अनेक साहित्यिकों में जाग्रत हुई। यह एक तरह से अपनी साक्षात् वास्तविकताओं से पल्ला छुड़ाने का भाववादी तरीका रहा है और प्रसाद जी में यह कम नहीं है। फलतः वन तथा ग्राम के आत्मसंतुष्ट आत्मपूर्ण जीवन के प्रति उनमें भी मोह है।" इस प्रकार कामायनी के इस कथा-भाग में भी लेखक को पूँजीवादी अथवा सामन्तकालीन मनोवृत्ति का ही चित्रण दिखाई दिया है, उसने कथा के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया है और न यही विचार किया है कि किस तरह गुफा से निकलकर पशुवत् जीवन व्यतीत करने वाले मानव ने पहले ग्राम्य जीवन में प्रवेश किया और फिर ग्राम्य जीवन से ऊबकर कैसे वह नगर के विकास की ओर उन्मुख हुआ अथवा कैसे ग्रामीण सभ्यता से आगे बढ़कर नगर की भौतिक सभ्यता विकसित हुई। प्रसादजी ने तो 'कामायनी' के इस कथा-भाग में उसी क्रमिक विकास की ओर संकेत किया है, किन्तु लेखक को 'फैंटेसी' के चक्कर में पड़कर यहाँ भी वही पूँजीवादी एवं सामंती छाया दृष्टिगोचर हुई है।

इसके उपरान्त 'कामायनी' के तीसरे कथा-भाग में प्रसादजी ने मनु-इड़ा-मिलन तथा इड़ा की प्रेरणा से मनु द्वारा स्थापित नगर की भौतिक सभ्यता के विकास एवं ह्रास का चित्रण किया है। 'कामायनी' के इस कथा-भाग के बारे में लेखक का विचार है कि यहाँ "पूँजीवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया की गई है वह आधुनिक युग को पूँजीवादी व्यवस्था का युग न कहकर केवल 'यंत्रयुग' मानकर ही प्रस्तुत की गई है। यंत्रयुग कहकर वे लोग ऐसे अयंत्रयुग की कल्पना करते हैं, जिसमें मनुष्य सरल-स्वाभाविक स्वावलम्बी जीवन बिताता है। लेखक की दृष्टि से ऐसा सरल जीवन अत्यन्त पिछड़ा हुआ जीवन है, "वह सामन्ती अथवा उससे पूर्वकालीन सभ्यताओं की ग्राम-संस्कृतियों का जीवन है, जिसमें उनकी कल्पनानुसार व्यक्ति सहज-सरल श्रम-सिक्त उल्लासपूर्ण जीवन बिताता था।" इस तरह लेखक ने 'कामायनी' में वर्णित इस भौतिक सभ्यता के विकास एवं ह्रास की कथा को भी सामन्ती एवं पूँजीवादी सभ्यता की ही कथा सिद्ध किया है और बताया है कि इसमें प्रसाद ने सभ्यता-सम्बन्धी आलोचना के लिए मार्क्स की प्रवृत्ति को नहीं अपनाया है, जिसने आगे चलकर रूस

में समाजवाद की स्थापना की है, अपितु उस आदर्शवादी प्रवृत्ति को अपनाया है जिसके प्रवर्त्तक स्पैंग्लर हैं और जिन्होंने भाववादी रीति से पश्चिमी योरोपीय पूँजीवादी सभ्यता की आलोचना की है। इसी कारण यहाँ "पूँजीवाद के अंतर्गत शोषकों के विरुद्ध जनता के संघर्ष के बारे में प्रसादजी का विश्लेषण अवैज्ञानिक है।" इस तथ्य में तो इतना ही सत्यांश है कि प्रसादजी मार्क्सवाद के समर्थक न थे, किन्तु वे मार्क्सवाद द्वारा प्रचारित शोषण-विहीन समतापूर्ण समाज-व्यवस्था को अच्छा समझते थे। किन्तु इतना अवश्य है कि प्रसादजी ऐसी समाज-व्यवस्था को भारतीय समता-पद्धति द्वारा अथवा समरसता या समन्वय के सिद्धान्त द्वारा ही करना चाहते थे, जिसमें शासक एवं शासित दोनों मिलकर अपने अभ्युदय के लिए नियम बनाएं, सामग्री जुटाएं तथा उन नियमों का सभी समान रूप से पालन करें और समान रूप से सभी जीवन के लिए आवश्यक सामग्री का उपभोग करें। इसी कारण प्रसादजी ने वर्ग-संघर्ष को दिखाकर कोरा मार्क्सवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया है, अपितु उसकी ओर संकेत करके मानवता के उच्चतम विकास के लिए पूँजीपति एवं मज़दूर, शोषक एवं शोषित, शासक एवं शासित आदि में सामरस्य स्थापित करने की सलाह दी है और इसीलिए श्रद्धा के मुख से 'सबकी समरसता का प्रचार' कहलवाकर इड़ा और मानव द्वारा नई व्यवस्था करने की ओर संकेत किया है। इतने पर भी जब प्रसादजी ने पूर्णतया मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष को यहाँ चित्रित ही नहीं किया है, तब इस कथा-भाग का सम्बन्ध व्यर्थ ही उससे जोड़कर उसे 'अवैज्ञानिक' सिद्ध करना कहाँ का न्याय है ? इस कथा-भाग का निर्माण तो शतपथ ब्राह्मण एवं ऐतरेय ब्राह्मण के आधार पर हुआ है, जहाँ पर प्रजापति द्वारा अपनी दुहिता के साथ अनैतिक आचरण करने, देवों द्वारा रुष्ट होने एवं क्रान्ति मचाने तथा रुद्र द्वारा प्रजापति के शरीर को वाण-विद्ध करने का उल्लेख मिलता है।[1] प्रसादजी ने इस कथा में अपनी उर्वर-कल्पना द्वारा केवल इतना और जोड़ दिया है कि जो भी शासक भौतिकता के आधार पर अपने राष्ट्र की उन्नति करता है और आध्यात्मिकता से पराङ्मुख रहता है, उसका कितना ही बाह्य विकास हो जाय, किन्तु आन्तरिक विकास नहीं होता। इसीलिए ऐसे राष्ट्र में अस्त्र-शस्त्र, धन-सम्पत्ति, उच्च भवन एवं प्रासाद आदि की उन्नति तो हो जाती है, किन्तु वहाँ आत्मीयता, सहनशीलता, उदारता, करुणा, दया, संयमशीलता आदि अंतःकरण की मनोवृत्तियों का विकास नहीं होता। इसीलिए ऐसा राष्ट्र उन्नति करके भी पतन की ओर उन्मुख हो जाता है। प्रसादजी ने अपनी इसी विचारधारा के आधार पर सारस्वतनगर के वर्ग-संघर्ष, भौतिक विकास एवं ह्रास को अंकित किया है। इससे सिद्ध है कि प्रसादजी मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित होकर केवल भौतिक समृद्धि नहीं चाहते, अपितु भारतीय विचारधारा के अनुसार भौतिकता के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति भी चाहते हैं अथवा भौतिक अभ्युदय के साथ-साथ निःश्रेयस् भी

---

१. शतपथ ब्राह्मण १।७।४।१-३ तथा ऐतरेय ब्राह्मण ३।३।३३

चाहते हैं। इसीलिए प्रसादजी ने सारस्वत नगर के शासक मनु तक को अनाचारी सिद्ध किया है और अंत में उसकी पराजय दिखाई है, जबकि आगे चलकर श्रद्धा-पुत्र मानव द्वारा उसी सारस्वत प्रदेश में भौतिक एवं आध्यात्मिक समृद्धियों का समन्वय कराया है, जिससे वहाँ एक कुटुम्ब-सा स्थापित हो जाता है, शासक-शासित में कोई भेदभाव नहीं रहता एवं आत्मीयता स्थापित हो जाती है और सभी शासक एवं प्रजाजन एक कुटुम्ब बनाकर कैलाश-यात्रा करते हैं।[1] अतः प्रसादजी की उक्त विचारधारा को न समझकर तथा मार्क्सवादी विचारधारा का यहाँ ज़बर्दस्ती आरोप करके लेखक का यह कहना उचित नहीं जान पड़ता कि "प्रसादजी जनता को उसके सीमित असंस्कृत जीवन की चहारदीवारी में बन्द रखना चाहते है" अथवा "प्रसादजी तो उन्हें पुराने आत्मसंतुष्ट, अज्ञानग्रस्त, अराजनैतिक जीवन की चहारदीवारी में कैद करना चाहते हैं।" यदि ऐसा ही होता तो श्रद्धा अपने पुत्र मानव को, सारस्वत प्रदेश में क्यों छोड़ती, क्यों इड़ा को उसकी भूल बताकर राष्ट्रनीति समझाती और क्यों इड़ा और मानव को समरसता का उपदेश देती ? उसे तो अपने पुत्र को पुनः हिमालय के प्रांगण में लेजाकर कुटीर उद्योग, पशुपालन, कृषि आदि में ही प्रवृत्त करना चाहिए था। किन्तु प्रसादजी ने ऐसा नहीं दिखाया है। अतः लेखक का प्रसादजी पर 'अवैज्ञानिकता' का आरोप लगाना तथा उन्हें 'प्रतिक्रियावादी विचारों से अपरिचित' कहना तर्कसंगत एवं समीचीन ज्ञात नहीं होता।

इस तरह लेखक ने 'कामायनी' की कथा को तो 'फैंटैसी' बताया ही है। इसके अतिरिक्त 'कामायनी' के प्रमुख पात्रों को भी 'फैंटैसी' के चश्मे से देखा है। इसी कारण लेखक को मनु, श्रद्धा तथा इड़ा तीनों पात्र पूँजीवाद व्यक्तिवाद के प्रतिनिधि दिखाई दिये हैं। लेखक का कथन है कि "मनु अपने 'टाइप' रूप में जिन अन्तःप्रवृत्ति-मंडलों का प्रतिनिधि है, वे मंडल साधारण से साधारण शोषक शासक-वर्ग के लोगों में भी खूब पाये जाते हैं—चाहे वह गाँव का छोटा सब-इन्स्पैक्टर हो या एक छोटा ज़मींदार।" इतना ही नहीं लेखक का तो यहाँ तक कथन है कि "वेद-कालीन मनु 'कामायनी' का मनु नहीं है। प्रसाद का मनु उसी वर्ग का मनु है, जिस वर्ग के स्वयं प्रसाद जी हैं। उसे मनन-मात्र का, मन-मात्र का, मानव-मात्र का प्रतिनिधि कहना सरासर गलत है।" हम लेखक के इस पूर्वाग्रह के बारे में तो क्या कहें, किन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि 'कामायनी' का मनु वैदिककालीन वैवस्वत मनु ही है। इसके अतिरिक्त उनमें मानवीय दुर्बलताओं का जो चित्रण हुआ है उसके कारण वह विषमताओं से त्रस्त आधुनिक मानव भी है तथा मननशील मन का भी प्रतीक है, अन्यथा उसमें इतने संकल्प-विकल्प दिखाई न देते। परन्तु उसे केवल शोषक वर्ग

---

१. हम एक कुटुम्ब बनाकर यात्रा करते हैं आये।
—कामायनी, आनंदसर्ग, पृ० २८७

का प्रतिनिधि मानना दुराग्रह मात्र ही है। यदि वह पूँजीपति या शोषक शासक होता तो सारस्वत प्रदेश के राज्य को छोड़कर क्यों भागता ? वहीं रहकर उसे प्राप्त करने का कोई प्रयत्न करता अथवा अन्य किसी प्रदेश में जाकर अपनी शासन-व्यवस्था द्वारा नवीन राज्य स्थापित करता। किन्तु प्रसाद जी ने तो उसे आगे चलकर सम्पूर्ण संसृति की सेवा में लीन संतोष एवं सुख देने वाला अंकित किया है।[१] और सबकी सेवा को पराई न कहकर उसमें सुख प्राप्त करने वाला तथा अणु-अणु एवं कण-कण को अपना ही समझ कर द्वयता अथवा भेद-भाव को विस्मृति बताने वाला सिद्ध किया है।[२] हाँ, इतना अवश्य है कि मनु को प्रसादजी ने यहाँ "शासन-सूत्र पुनः अपने हाथ में लेकर इड़ा और श्रद्धा की सहायता से अपनी भूल सुधारते, काम करते, जन-कल्याण का कार्य अग्रसर करते अथवा समता या साम्यावस्थापूर्ण समाज की स्थापना करते हुए अंकित नहीं किया है।" केवल यहाँ उसके परिवर्तित विचारों का संकेत भर कर दिया गया है। इसी से आलोचकों में यह भ्रम फैला हुआ है कि मनु आगे बढ़कर जनता में कोई सेवा-कार्य तो करते ही नहीं, फिर उन्हें संसृति की सेवा करने वाला कैसे मान लें ? परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि 'कामायनी' एक ध्वनि-काव्य है। यहाँ सभी बातें ध्वनित एवं व्यंजित हैं और संकेत द्वारा ही प्रसादजी ने यहाँ अधिक कहा है, उसे घटित होता हुआ कम दिखाया है। अतएव मनु के क्रमिक चारित्रिक विकास को न बताकर मनु को आदि से अन्त तक केवल पूँजीवादी शासक या शोषक सिद्ध करना तथा उसे प्रसाद की मनोवृत्ति का प्रतिनिधि बताना मनु के साथ ही नहीं प्रसाद जी के साथ भी लेखक का घोर अन्याय है।

लेखक ने इसी प्रकार 'श्रद्धा' पात्र में भी कितनी ही असंगतियों, दोषों एवं हीनताओं की चर्चा की है और उसे 'कामायनी' का अत्यन्त तुच्छ, अबुद्धिवादी, संकीर्ण मनोवृत्ति-सम्पन्न, अशिक्षित, अवैज्ञानिक तथा अमंगलकारी पात्र सिद्ध किया है। इतना ही नहीं लेखक ने श्रद्धा को एक ऐसी ग्रामीण अशिक्षित नारी कहा है, जो बिना सोचे-समझे पति का अंधानुसरण करती रहती है। इसी कारण लेखक ने बताया है कि "कम से कम 'कामायनी' में श्रद्धा के चरित्र के अंतर्गत तो ऐसी कोई घटना अथवा प्रवृत्ति के विस्तृत चित्र प्रस्तुत नहीं किये गये हैं, जिनसे हम यह कह सकें कि श्रद्धा वस्तुतः सेवा तथा त्याग के द्वारा जनता का उद्धार कर रही है।" कामायनी

---

१. **वे युगल वहीं पर बैठे संसृति की सेवा करते।**
संतोष और सुख देकर सबकी दुखज्वाला हरते।
—कामायनी, आनन्द सर्ग, पृ० २८२

२. **सबकी सेवा न पराई वह अपनी सुख संसृति है।**
अपना ही अणु-अणु कण-कण द्वयता ही तो विस्मृति है।
—कामायनी, आनन्द सर्ग, पृ० २८९

में वर्णित श्रद्धा का स्वावलम्बी बनने का कार्य करना तथा मनु को भी स्वावलम्बी बनाने की प्रेरणा देना, स्वयं पशुपालन, कृषि, कुटीर उद्योग द्वारा मनु के सम्मुख कर्मण्यता का आदर्श प्रस्तुत करना, मानव एवं इड़ा को भौतिकता के साथ-साथ आध्यात्मिकता एवं समरसता को अपनाकर शासन करने की सलाह देना, मनु को जीवन की विडम्बनाओं से अवगत कराकर लोकसेवा एवं विश्वबंधुत्व की ओर उन्मुख करना आदि क्या श्रद्धा के लोकसेवा के कार्य नहीं हैं ? अपने प्राणप्रिय पुत्र को जनता की सेवा के लिए इड़ा को सौंपना तथा स्वयं को मनु की सहचरी के रूप में अर्पित करना क्या श्रद्धा का त्याग नहीं है ? परन्तु आश्चर्य है कि श्रद्धा के ऐसे बड़े-बड़े कार्य भी लेखक की आँखों से ओझल हो गये हैं और उसे श्रद्धा भी सेवा एवं त्याग द्वारा जनता का उद्धार करती हुई नहीं दिखाई देती। इसके अतिरिक्त लेखक का कथन है कि "अपनी अहंग्रस्त इच्छाओं से संचालित मनु के अपराध तो ऐसे भयानक अपराध हैं जिनके बारे में श्रद्धा को कोई कदम उठाना चाहिए था।" किन्तु श्रद्धा ने मनु को क्षमा कर दिया है। इसलिए लेखक की बौखलाहट है कि "नारी का धर्षण कीजिये, जनता पर गोली चलाइये। हमारे आदर्शवादी श्रद्धावादी साधु, सन्त फकीर और उनके चेले-चपाटी सब क्षमा कर देंगे।···यह है कामायनीकार का श्रद्धा-वाद, जिसने हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र में प्रतिक्रियावाद के हाथ मजबूत किये हैं।" लेखक श्रद्धा से मनु के अपराध पर कोई कदम उठवाना चाहता है। यदि श्रद्धा मनु को दण्ड देती, गाली-गलौज करती अथवा भला-बुरा कहती या उससे अपना सम्बन्ध-विच्छेद (divorce) कर देती, तो शायद लेखक को श्रद्धा महान् एवं उच्च नारी दिखाई देती। परन्तु श्रद्धा ने ऐसा न करके अपने पति को क्षमा कर दिया है, इसमें लेखक को श्रद्धा का ओछापन दिखाई देता है। किन्तु लेखक महोदय को यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रसादजी भारतीय संस्कृति के अनन्य पोषक थे। अतः वे ऐसा कदम कभी श्रद्धा से नहीं उठवा सकते थे। फिर दण्ड देने या बुरा भला कहने की अपेक्षा क्षमा में कितना बल है यह 'कामायनी' में स्पष्ट वर्णित है। इसीलिये तो मनु अपनी भूल सुधार कर एक लोकसेवी एवं अभेदवादी बन जाते हैं। मनु को तो सारस्वत प्रदेश में ही अपनी करनी का फल मिल चुका था। अब यदि श्रद्धा भी कोई ऐसी ही व्यवस्था करती, तो मनु का सुधार सर्वथा असम्भव था। अतः लेखक का श्रद्धा एवं श्रद्धावाद पर ऐसी कीचड़ उछालना किसी प्रकार न्यायपूर्ण एवं तर्कसंगत नहीं दिखाई देता।

'कामायनी' के तीसरे प्रमुख पात्र इड़ा को भी लेखक ने पूँजीवादी समाज की मूल विचारधारा का प्रतीक सिद्ध किया है। उसे 'बुद्धि-प्रधान' अवश्य कहा है और उसे 'ज्ञानोन्नति एवं वर्ग-विभाजन के आधार पर नवीन सभ्यता खड़ी करने वाली' तथा 'ह्रासग्रस्त सभ्यता की उन्नायिका' बताया है। परन्तु लेखक की दृष्टि में वह भी रहस्यवादिनी है, 'पूँजीवादी नियम-विधान के विरुद्ध जाने के लिए उसके

मन में कोई सहानुभूति नहीं है और वह मनु के विरुद्ध सन्नद्ध होकर आंतकवादी नीति का विरोध करने वाली जनता से नाराज़ दिखाई गई है। लेखक की इन बातों से तो हम भी सहमत हैं, किन्तु आगे चलकर लेखक ने यहाँ तक कहा है कि "प्रसाद जी ने इड़ा को बुद्धिवाद का प्रतीक मानकर पर्याप्त भ्रम विस्तार किया है। इड़ा बुद्धिवाद का प्रतीक नहीं है।" लेखक के इस मत से हम सहमत नहीं, क्योंकि प्रसाद जी ने श्रद्धा को जहाँ हृदय की उदार वृत्तियों से सम्पन्न चित्रित किया है, वहाँ इड़ा को 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल' आदि कहकर तर्कशीला बुद्धि का प्रतीक बनाया है। इड़ा आगे चलकर मनु को बौद्धिक प्रेरणा प्रदान करने का कार्य भी करती है और उसकी उस प्रेरणा में भौतिकता एवं वैज्ञानिक समृद्धि की ही अधिकता है। इसीलिए 'कामायनी' में वह तर्कशीला बुद्धि की प्रतीक जान पड़ती है। फिर लेखक स्वयं उसे बुद्धि-प्रधान मानता है, फिर भी उसे तर्कशीला बुद्धि या बुद्धिवाद का प्रतीक न मानना केवल दुराग्रह ही मात्र जान पड़ता है।

इस प्रकार लेखक ने अपनी उक्त पुस्तक में 'कामायनी' को 'फैंटसी' सिद्ध करते हुए उसके अन्तर्गत सर्वत्र पूँजीवादी व्यक्तिवाद अथवा सामन्तवादी विलास-प्रियता, वैयक्तिकता आदि के ही दर्शन किये हैं। इसी कारण लेखक को इसमें सर्वत्र 'ब्रिटिश, फ्रेंच, अमरीकी, जर्मन, जापानी साम्राज्यवाद, प्रथम विश्व युद्ध के भयंकर अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र, भारतीय राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, भूख, गरीबी आदि के चित्र अंकित दिखाई दिये हैं। इसी कारण लेखक को 'कामायनी' पूँजीवादी समाज के विकास का छोटा सा इतिहास प्रतीत हुई है और इसीलिए लेखक को 'कामायनी' में आदि मानव की कथा नहीं, अपितु आधुनिक पूँजीवादी मानव की कथा दृष्टिगोचर हुई है। इसमें कोई संदेह नहीं कि लेखक ने 'कामायनी' की कथा-फैंटैसी से युक्त आधुनिक पूँजीवादी समस्या-प्रधान काव्य सिद्ध करने में अत्यधिक प्रयत्न किया है और मनु के जीवन को भी प्रसाद के सामन्ती जीवन से युक्त करके चित्रित करने की पर्याप्त चेष्टा की है। परन्तु लेखक के इस सम्पूर्ण प्रयास में खींचतान के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई देता। हाँ, इतना अवश्य है कि 'कामायनी' में आधुनिक जीवन की समस्याएं हैं और उनका बौद्धिक समाधान भी किया गया है। परन्तु लेखक ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से ही 'कामायनी' का जो विश्लेषण एवं विवेचन किया है, उसमें तथ्य के स्थान पर पूर्वाग्रह अधिक है। ऐसा करने में लेखक को 'कामायनी' में कितनी ही असंगतियाँ दिखाई दी हैं, जो कि स्वाभाविक भी हैं, क्योंकि जब कामायनी मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर लिखी ही नहीं गई है, तो उसमें उस विचारधारा को जबर्दस्ती देखना नितान्त हास्यास्पद है। यह तो विशुद्ध भारतीय संस्कृति पर आधारित महाकाव्य है। अतः लेखक का यह विश्लेषण एवं वर्गीकरण 'कामायनी' के पाठकों को नवीन दृष्टि भले ही प्रदान करे, किन्तु इसके द्वारा 'कामायनी' की मूल आत्मा को समझना सर्वथा असम्भव है।

साकेत में काव्य, संस्कृति और दर्शन

श्री नगीनचन्द सहगल

विगत कुछ वर्षों में मर्मज्ञ साहित्य-समीक्षकों का ध्यान हिन्दी के गौरव-ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है। फलतः हिन्दी साहित्य को ऐसे अनेक उत्कृष्ट समीक्षात्मक ग्रन्थों की प्राप्ति हुई है, जिनमें शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक पद्धति का अवलम्बन करके विचाराधीन कृतियों का गुण-दोष-विवेचन एवं मूल्यांकन किया गया है। डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना कृत 'साकेत में काव्य, संस्कृति और दर्शन' इसी प्रकार का एक ग्रन्थ है।

वसे तो 'साकेत' के चिन्तनशील अध्येता उसके प्रकाशन-काल से ही उसके सम्बन्ध में अपने अभिमत, स्वतन्त्र सम्मतियों, लेखों तथा आलोचनात्मक अध्ययनों आदि रूप में प्रकट करते रहे हैं, किन्तु साकेतविषयक ऐसे स्वतन्त्र आलोचनात्मक ग्रंथ के अभाव का बराबर अनुभव किया जा रहा था जिसमें 'साकेत' के विविध पक्षों पर विस्तृत रूप से विचार करके राम-काव्य-परम्परा में 'साकेत' का स्थान निर्धारित किया गया हो। डॉ० सक्सेना ने प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा इसी अभाव की पूर्ति का प्रयास किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ ६ प्रकरणों में विभक्त है। प्रथम में गुप्त जी के जीवन एवं उनकी कृतियों के संक्षिप्त परिचय के अतिरिक्त कवि के व्यक्तित्व, काव्य-प्रतिभा तथा कवि को प्रेरित-प्रभावित करने वाली विभिन्न परिस्थितियों का सविस्तार विवेचन है। द्वितीय में 'साकेत' की कथावस्तु का विवेचन-विश्लेषण करते हुए शास्त्रीय मानदंडों के आधार पर उसका अध्ययन करने की चेष्टा की गई है और कथागत नव उद्भावनाओं पर भी प्रकाश डाला गया है। तृतीय में भाव-पक्ष के अन्तर्गत 'साकेत' की प्रबन्धात्मकता, उसके महाकाव्यत्व, उसमें वर्णित पात्रों के चरित्रांकन, प्रकृति-चित्रण, रस-निरूपण एवं सौन्दर्यांकन के साथ-साथ उन समस्त विचारधाराओं एवं

कृतिकार : डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना
प्रकाशक : विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
मूल्य : १० रुपये

सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन है जिनका आज के मानव-जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिनसे 'साकेत' का कवि मुख्यतः प्रभावित है तथा जिनका निरूपण करने के लिए उसने इस विश्वविश्रुत पुरातन कथा को युगानुकूल रूप-रंग में पुनः प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है। चौथे प्रकरण में 'साकेत' के कला-पक्ष का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है और पाँचवें में 'साकेत' के सांस्कृतिक पक्ष का निरूपण है। छठे प्रकरण में 'साकेत' में निहित भक्ति तथा दर्शनविषयक विचारों का प्रतिपादन है और 'उपसंहार' में राम-कथा सम्बन्धी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी महाकाव्यों की सुदीर्घ परम्परा का परिचय देते हुए उसमें साकेत का स्थान-निर्धारण किया गया है।

उपर्युक्त विवरण से प्रस्तुत ग्रन्थ का परिधि-विस्तार स्पष्ट हो जाता है। डॉ० सक्सेना ने इन विषयों का प्रतिपादन भी एक निश्चित ढंग से किया है। प्रायः सर्वत्र ही आरम्भ में विषयविशेष की परिभाषा तथा उसके अंग-उपांगों का वर्गीकरण-विश्लेषण करने के उपरान्त लेखक ने उन्हीं मानदंडों के आधार पर 'साकेत' का परीक्षण किया है। उदाहरणार्थ, 'साकेत' के भावपक्ष का विवेचन करते समय डा० सक्सेना ने सर्वप्रथम उसकी प्रबन्धात्मकता पर विचार किया है। यहाँ आरम्भ में प्रबन्ध-काव्य की परिभाषा करते हुए उसकी अनिवार्यताओं—सानुबंध कथा, अवातर कथा तथा घटनाएं, भावात्मक स्थलों सहित वस्तु वर्णन, सम्बन्ध-निर्वाह, कार्य की दृष्टि से एकरूपता आदि का उल्लेख है और फिर उन सभी की कसौटी पर 'साकेत' को कसा गया है। इसी प्रकार 'साकेत' के महाकाव्यत्व का अध्ययन अनेक अंगों—कथानक, नायकत्व, चरित्रचित्रण, प्रकृतिचित्रण, युगचित्रण, भाव तथा रस-निरूपण, सौंदर्य-निरूपण आदि, के अन्तर्गत किया गया है। अध्ययन की सुविधा और विषयप्रतिपादन की वैज्ञानिक एवं युक्तियुक्तता के विचार से सम्बन्धित विषय के प्रधान अंगों को आवश्यकतानुसार अनेक उपांगों में भी विभक्त कर लिया गया है। उदाहरणार्थ, प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत 'साकेत' में प्रकृति के आलम्बन रूप, उद्दीपन रूप, संवेदनात्मक रूप, वातावरण सृजनात्मक रूप, प्रतीकात्मक रूप, अलंकार रूप, लोक-शिक्षा रूप, मानवीकरण रूप, दूत या दूती रूप आदि का अंकन है। विस्तृत वर्गीकरण-विश्लेषण पर आधृत इस परीक्षण-पद्धति ने इस ग्रन्थ में क्रमबद्धता, युक्तियुक्तता एवं प्रभावोत्पादकता की सृष्टि भी कर दी है और पुनरुक्ति जैसे दोषों से इसकी रक्षा भी कर ली है।

निष्पक्षता 'साकेत में काव्य, संस्कृति और दर्शन' की अन्य विशेषता है। डॉ० सक्सेना ने इसमें जितने मनोयोगपूर्वक 'साकेत' की उत्कृष्टताओं का बखान किया है, उतनी ही निर्भयता के साथ उसकी काव्यगत न्यूनताओं पर भी प्रकाश डाला है। साकेतकार के प्रति उनका हृदय श्रद्धानत है। सम्भवतः इसीलिए वह 'साकेत' के वास्तविक सौन्दर्य का दर्शन इतने मुक्त भाव से कर सके हैं। किन्तु 'गुण' के इस उपासक ने न तो 'दोष' की ओर से आँख मूँदने का ही प्रयास किया है और न उसके परि-

माजन अथवा औचि य-स्थापन का। स्तुति के समय अतिशयोक्ति से बच कर और दोष ज्ञापन के समय कालुष्य से मुक्त रह कर लेखक ने प्राय सवत्र ही अपनी नीर क्षीर-विवेकिनी प्रतिभा का परिचय पूरा सयम तथा आत्मविश्वासपूवक कराया है। इसी लिए यहा गुणगान मे विश्वास तथा आत्मानुभूतिज य साधुवाद है और दोष-परिगणन मे निभयताज य शख निनाद

"इसमे कोई सदेह नही कि 'साकेत' का निर्माण हि दी साहित्य की अनुपम टना है और इसके निर्माण से न केवल खडी बोली के राम कथा सम्ब धी महाकाव्य की पूर्ति हुई अपितु 'कामायनी' जैसे विश्वविश्रुत महाकाव्य को पूरा करने के लिए कविवर प्रसाद को भी प्रेरणा प्रा त हुई। इस प्रकार गुप्त जी के जीवन की व्यापक अनुभूतियो राष्टव्यापी हलचलो, गाहस्थ्य जीवन की आधुनिक समस्याओ, भारतीय सस्कृति की परम्पराओ, युग को परिवर्तित विचारधाराओ, काव्य की नवीनतम शैलियो आदि को साकार रूप देने के लिए साकेत की अवतारणा हुई।" (पष्ठ ५१)

"वशिष्ठजी की योगशक्ति की उदभावना है तो सवथा नवीन एव मौलिक, कि तु हास्यापद ही है। इसमे अस्वाभाविकता एव असम्बद्धता भी पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है क्योकि साकेत मे खडे खड नर नारी कब तक मेघनाद वध, रावण वध, सीता उद्धार आदि की घटनाओ को देखते रह होगे इमसे राम कथा मे नया मोड अवश्य उत्पन्न हुआ है कि तु यह उदभावना 'साकेत' की कथा मे चारुता एव सजीवता लाने मे सवथा असमथ दिखाई दती है।" (पृष्ठ ८०)

गुप्तजी ने उर्मिला के विरह का वणन अत्य त गहन अनुभूति के साथ किया है जिसमे विरह भावना साकार हो उठी है और उर्मिला क आसुओ का योग पाकर अत्यन्त हृदयद्रावक हो गई है। इस वणन मे विरह की अतर्बाह्य सभी स्थितियो का यथातथ्य निरूपण भी हो गया है और सरसता एव स्वाभाविकता के साथ-साथ पर्याप्त मनोवैज्ञानिकता भी विद्यमान है। पर तु कवि इस वियोग वणन मे इतना उलझ गया है कि उसका नवम सग विरह भावनाओ के विभिन्न चित्रो का अजायबघर सा बन गया है। इन चित्रो मे रस के छीट और रगीन भावनाएँ तो अवश्य है परन्तु इनमे अ वति का अभाव है। स्थिति चित्रण मे कही भी एकरूपता नही है और सभी वणन अनगल प्रलाप से जान पडते है। इतना ही नही, इस क्रमहीन एव विश्रृ खलित भावो के चित्रण मे विरह की गुरुता एव गम्भीरता भी नष्ट हो गई है और सम्पूण वियोग वणन हास्यास्पद हो गया है। तभी तो इस विरह वणन मे कलात्मकता तो है पर तु आकषण नही है, चमत्कार तो है पर तु मनोमोहकता नही है, सरसता तो है पर तु गम्भीरता नही है, मनोवैज्ञानिकता तो है परन्तु सामूहिक प्रभाव डालने की शक्ति नही है।" (पृष्ठ ११४)

यहा स्वय 'साकेत मे काव्य, सस्कृति और दशन' की न्यूनताओ का उल्लेख

कर देना भी आवश्यक है। इस ग्रन्थ में सबसे अधिक खटकने वाली बात है अन्य रामकथा-काव्यों के साथ 'साकेत' की और गुप्तजी की अन्य कृतियों के संगत अंशों के साथ 'साकेत' के विविध अंशों-प्रसंगों की सोदाहरण तुलना का अभाव। यह ठीक है कि प्रथम प्रकरण में गुप्तजी की सभी कृतियों का और उपसंहार में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रमुख रामकथाकाव्यों का वर्णन है और अन्यत्र भी उनकी ओर संकेत किया गया है किन्तु वे वर्णन प्रायः तुलनात्मक न होकर परिचयात्मक ही हैं। इसीलिए 'साकेत' के साथ न तो उनका सहज सम्बन्ध ही स्थापित हो पाया है और न उन कृतियों की तुलना में 'साकेत' की समता-विषमताओं का ही सजीव चित्र प्रस्तुत हो सका है। प्रसंगानुकूल उद्धरणों के समावेश एवं उनके तुलनात्मक अध्ययन से पुस्तक का आकार बढ़ जाने का भय तो अवश्य हो सकता था किन्तु उसी अनुपात में उसकी उपादेयता में वृद्धि हो जाना भी असंदिग्ध था।

पुस्तक के अंतिम प्रकरणों में लेखक का दृष्टिकोण शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक की अपेक्षा रूढ़िवादी ही अधिक दृष्टिगत होता है। "साकेत में सांस्कृतिक निरूपण" के अंतर्गत भारतीय संस्कृति क्या है यह प्रश्न उठा कर और इसका कोई संतोषप्रद उत्तर दिए बिना ही डॉ० सक्सेना साकेतकार को भारतीय संस्कृति के आख्याता के रूप में प्रतिष्ठित करने में दत्तचित्त हो गए हैं। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि पिछली कुछ शताब्दियों में इस देश की संस्कृति पर अन्यदेशीय संस्कृतियों का प्रभाव अत्यन्त व्यापक तथा स्थायी रूप से पड़ा है और इस देश में धर्मनिरपेक्ष तथा सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना हो जाने के उपरांत तो "भारतीय संस्कृति" और "आर्य अथवा हिन्दू संस्कृति" को पर्यायवाची शब्द मानना लगभग असंभव ही हो गया है। हमारे राष्ट्र की परिवर्तित परिस्थितियों ने यह अनिवार्य कर दिया है कि "भारतीय" संस्कृति की समयानुकूल परिभाषा करके उसका ऐसा सर्वमान्य स्वरूप निर्धारित किया जाए जो देश की भावात्मक एकता का मूलाधार हो सके। किन्तु, जहाँ तक 'साकेत' के सम्यक् अध्ययन अथवा रसास्वादन का सम्बन्ध है, इस विवादास्पद प्रश्न में उलझना ही अनावश्यक है। 'साकेत' चाहे किसी भी सीमा तक साकेतकार के युग का प्रतिनिधि क्यों न हो (निःसन्देह 'साकेत' गुप्तजी की भारतीयता का भव्यतम आलोक-स्तम्भ और उनके भारत का आदर्श काव्य-चित्र है), किन्तु 'साकेत' में प्रतिपादित संस्कृति को "भारतीय" (वस्तुतः किसी भी देश-विदेश की) संस्कृति घोषित न करके उसे वही नाम—आर्य सस्कृति—देना उचित है जिसे स्वयं कवि का भी समर्थन प्राप्त है और कवि के आराध्य का भी :—

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया।

और

बहुजन वन में हैं बने ऋक्ष-वानर से,
मैं दूँगा अब आर्यत्व उन्हें निज कर से।

अतः

आर्य सभ्यता हुई प्रतिष्ठित, आर्य धर्म आश्वस्त हुआ।

"साकेत के दर्शन-पक्ष" का विवेचन करते समय भी लेखक वस्तुस्थिति से दूर हट गया है। यह निर्विवाद है और स्वयं डॉ० सक्सेना ने भी यह स्वीकार किया है कि "इस काव्य का मुख्य कार्य है लक्ष्मण और उर्मिला का मिलन। अतएव उर्मिला-लक्ष्मण सम्बन्धी कथा इस काव्य की आधिकारिक कथावस्तु है।" (पृष्ठ २२) इस दृष्टि से 'साकेत' मूलतः शृंगारप्रधान काव्य ही ठहरता है, भक्ति अथवा दर्शन-ग्रंथ नहीं। अतः 'भेद में अभेद की स्थापना,' 'मानवत्व में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा,' 'आत्मा के साक्षात्कार की प्रेरणा' 'लोकसापेक्ष दृष्टि,' 'निष्काम कर्म के महत्त्व,' और 'आस्तिकता के प्राधान्य' आदि को "साकेत की भक्ति एवं दर्शनविषयक देन" अथवा "साकेत का संदेश" घोषित करना उचित नहीं जान पड़ता। 'साकेत' में इस प्रकार के संकेतों की उपस्थिति का कारण तो यही है कि दर्शन अथवा भक्ति-पद्धति के उपर्युक्त तत्त्व वास्तव में 'साकेत' के उन पात्रों के जीवन तथा स्वभाव के सहज अंग हैं जिनका सजीव एवं पूर्ण चरित्रांकन साकेतकार का लक्ष्य है।

किन्तु, इन न्यूनताओं की उपस्थिति मे भी, 'साकेत में काव्य, संस्कृति और दर्शन' एक महत्त्वपूर्ण तथा श्लाघ्य कृति है। यह ग्रंथ लेखक के अध्ययन का प्रमाण भी है और अध्यवसाय का भी। गहन चिन्तन, विस्तृत विवेचन, निर्भ्रान्त विश्लेषण और प्रवाह-प्रभावपूर्ण भावप्रकाशन की दृष्टि से 'साकेत' के समीक्षात्मक अध्ययन का यह प्रयास नवीनतम भी है और अन्यतम भी।

साहित्य, शोध, समीक्षा

डा० विजयेन्द्र स्नातक

साहित्य की व्यापक परिधि मे समीक्षा और शोध का उसी प्रकार अ तर्भाव हो जाता है जिस प्रकार कविता, निब ध या कहानी आदि का। कि तु लेखक ने पुस्तक का नामकरण अपने निब धो की विषय-वस्तु को स्पष्ट करने के उद्देश्य से किया है। बत्तीस लघु लेखो का यह सकलन साहित्य की मूलभूत समस्याओ के साथ समीक्षा और शोध की सामग्री भी रखता है। अत उसके नामकरण मे तीनो का परिगणन लेखक को अभीप्ट हुआ। यह तो हुई नामकरण की बात। अब हमे इस निबध-सग्रह की विषय वस्तु पर विचार करना है।

'साहित्य' शीषक खण्ड मे सकलित निब धो से लेखक की विचार विषयक एकसूत्रता का पता नही चलता। साहित्य को लक्ष्य करके ये निब ध नही लिखे गये है वरन् समय समय लिखे गये लेखो को साहित्य खड मे सकलित कर दिया गया है। अत साहित्य की मौलिक समस्याओ से इनका सीधा लगाव नही है। 'साहित्य' शीषक खड मे साहित्य का स्वरूप स्पष्ट करने वाला एक भी निबध न पाकर शीषक के सम्ब ध मे पाठक को कुछ शका हो तो वह स्वाभाविक है। 'साहित्य क्या, कैसा और क्यो' शीपक निब ध को पढने से भी शका का पूरा समाधान नही होता क्योकि लेखक ने जिन समस्याओ को इस लेख मे उठाया है वे आधुनिक साहित्य के सदभ मे ही आती हैं। वास्तववाद और वास्तववाद का विमश अधुनातम प्रवृत्ति से जुडा हुआ है और वह साहित्य का सवागपूर्ण विवेचन प्रस्तुत नही करता।

हि दी की आधुनिक राष्ट्रीय, कविता, हि दी गद्य शैली का विकास, हिन्दी गद्य काव्य का विकास, हि दी रगमच और नाटक, हिन्दी की सामयिक समस्याएँ, उपन्यास और नारी समस्या, इस खड के ऐसे लेख है जिनका सीधा सम्ब ध हिन्दी साहित्य से है, साहित्य सामान्य से उनका कोई लगाव दृष्टिगत नही होता। ऐसी दशा मे यदि

लेखक डा० विनयमोहन शर्मा,
प्रकाशक भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली
मूल्य ५ ५० रुपये

लेखक 'हिन्दी साहित्य' शीर्षक देते तो विषय की दृष्टि से न्यायपूर्ण होता। 'सुनीता के उद्गार' एक काल्पनिक ललित निबन्ध है जिसमें लेखक ने सुनीता के बोल पाने पर उसके उद्गारों की कल्पना की है। यह सर्वथा मौलिक चिन्तन पर आधृत उपन्यास की परिणति को स्पष्ट करने वाला लेख है। इस प्रकार के लेख कम लिखे गये हैं और हम कह सकते हैं कि लेखक को इसमें कल्पना का जो अवकाश मिला है उसका उपयोग बड़ी समीचीन पद्धति से किया गया है। 'वन वगड़ाना वणजारा थारो मारग तारक बीभत्से, तथा 'दक्षिण भारत की एक झलक' यात्रा-संस्मरण हैं। साहित्य शीर्षक के भीतर यदि यात्रा-संस्मरण न रखे जाते तो ठीक रहता। वैसे ये दोनों संस्मरण बड़े रोचक और ज्ञानप्रद हैं। दक्षिण भारत की यात्रा करने से पूर्व इन्हें पढ़ने वाला अनेक ज्ञातव्य बातों से परिचित हो सकता है। दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार और प्रसार की स्थिति का भी इनके द्वारा अच्छा परिचय प्राप्त होता है। 'महाराष्ट्र संत तुकाराम' शीर्षक लेख को यदि अधिक गम्भीर रूप में प्रस्तुत किया जाता तो हिन्दी-पाठक को उसमें जानकारी के अतिरिक्त समीक्षात्मक पैठ का भी अवसर मिलता। बारह पृष्ठ के स्थान पर यदि २०-३० पृष्ठ भी लिखे जाते तो हिन्दी पाठक की दृष्टि से वे उपादेय होते। फिर भी सूचना की दृष्टि से यह लेख पठनीय है।

'समीक्षा' खंड में आठ लघु निबन्ध हैं। पहला निबन्ध 'समालोचना का मूल्यांकन' समीक्षा का यथावत् मूल्यांकन प्रस्तुत न करके समीक्षा-प्रकारों का तथा समीक्षा की श्रेष्ठता के स्वरूप का आभास मात्र देता है। इस निबन्ध में समीक्षा के मानदंडों की जैसी कल्पना पाठक के मन में होती है, वैसी प्रतिपादन शैली न पाकर निराशा का सामना करना होता है। अफलातून (प्लेटो) की साहित्यिक मान्यताओं का परिचय देने वाला चार पृष्ठ का एक लघु लेख है। प्लेटो का विचार-दर्शन ही मूलतः साहित्य-दर्शन से सम्पृक्त है। दोनों का पार्थक्य बौद्धिक धरातल पर करना कठिन है। लेखक ने संक्षेप में प्लेटो के मन्तव्यों की ओर इंगित मात्र ही किया है। यदि इस विषय को विवेचना के धरातल पर खड़ा किया जाता तो पाठक को प्रामाणिक सामग्री के साथ स्वमन्तव्य निर्धारण में सहायता मिलती। शेष निबन्ध व्यावहारिक समालोचना के अन्तर्गत आते हैं जिनमें किसी कृति की समीक्षा की गई है। समीक्षाओं का स्तर सुबोधता की दृष्टि से श्लाघ्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से अधिकांश समीक्षाएँ आकाशवाणी से प्रसारित की जाने के लिए लिखी गई हैं। उनकी भाषा और अभिव्यंजना को सरल रखने का प्रयास इसका प्रमाण है। 'सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला—विदेशी समीक्षकों की दृष्टि में' लेख रूसी लेखक केलीरोव के सोविएट लिटरेचर में प्रकाशित लेख का उद्धरण मात्र है। यह लेख पाठक के मन में जितना औत्सुक्य जाग्रत करता है उतनी सामग्री इसमें नहीं है। इसे संकलन में समाविष्ट न किया जाता तो अच्छा रहता। आचार्य विनयमोहन शर्मा की समीक्षा-दृष्टि बहुत

स्वच्छ और संयत रही है। उनके सभी लेख सुबोध और परिमार्जित होते हैं। अच्छा होता कि 'समीक्षा' खंड में कुछ चुने हुए गम्भीर लेखों को भी वे रखते ताकि उनकी शैली का प्रतिनिधित्व सही तौर पर हो सकता। आकाशवाणी के लिए लिखे गये लघु लेखों से उनके समीक्षक रूप का ठीक-ठीक पता नहीं चलता।

'शोध' खंड में बारह लेख हैं। इन बारह लेखों को शोध-निबन्ध कहने की मन स्वीकृति नहीं देता। प्रारम्भ के दो लेख तो शोध-समस्या से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं और नवीन शोधार्थी के लिए बड़े उपयोगी हैं किन्तु सभी निबन्धों के विषय में यह बात इतने बलपूर्वक नहीं कही जा सकती। शोध-कार्य कैसे प्रारम्भ करें, एक पथ-प्रदर्शक लेख है जो प्रत्येक अनुसंधित्सु को अवश्य पढ़ना चाहिये। हिन्दी जगत् में शोध की जैसी बाढ़ आ रही है उसे संयमित करने और सुपथ पर चलाने में इस लेख से अवश्य ही लाभ होगा।

तीन लेख इसी खंड में भाषा-विषयक हैं। उन्हें शोध-निबन्ध कहना सर्वतो-भावेन उचित नहीं है। हाँ, शोध-दृष्टि से लिखे जाने के कारण उन्हें कदाचित् लेखक ने इस खंड में रखा है। नागपुरी हिन्दी, हलबी, तथा देशभाषा और क्षेत्र-भाषा का क्षेत्र भाषा ही है। 'हिन्दी की सामान्य भूलें' भी व्याकरण-विषयक सामान्य लेख है जिसे हम शोध का अंश मानने का आग्रह नहीं करेंगे। समर्थ गुरु रामदास की अप्रकाशित रचना वाला लेख एक व्यावहारिक शोध है और हिन्दी के पाठक को उससे लाभ होगा ही। 'गुजरात का नारायण स्वामी सम्प्रदाय' एक परिचयात्मक लेख है किन्तु इसे शोध के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जा सकता था। नारायण स्वामी सम्प्रदाय की स्थापना जिन परिस्थितियों में हुई उसका उल्लेख इस लेख में नहीं हुआ है। नारायण स्वामी सम्प्रदाय के सन्त-भक्तों की रचनाएँ गुजराती में ही हैं किन्तु कुछ भक्तों ने हिन्दी को भी माध्यम बनाया है। इस सम्प्रदाय का हिन्दी साहित्य अभी तक अप्रकाशित ही है। अच्छा हो कोई शोधार्थी इसे अनुसंधान द्वारा प्रकाश में लाकर हिन्दी-साहित्य की भी वृद्धि में योग दे।

संक्षेप में लेखक ने इस संकलन के लेखों में बहुत गहरे पैठने का प्रयास न कर सरल और सुबोध शैली से साहित्य की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला है। इस संकलन के कई लेख विशेष उद्देश्य को सामने रखकर लिखे गये हैं। अतः अभिव्यक्ति उसी कोटि की रही है। आचार्य विनयमोहन हिन्दी के गम्भीर विचारकों में हैं। उनकी अपनी शैली है और स्पष्टता में उनका विश्वास है। इन निबन्धों को पढ़कर भी हम उनका स्वच्छता और सुबोधता वाला पक्ष तो पाते ही हैं। हिन्दी की सामयिक समस्याओं से सम्बन्ध रखने वाले पाठकों के लिए यह निबन्ध-संग्रह बहुत सी पठनीय सामग्री प्रस्तुत करेगा, ऐसी आशा है।

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में हिन्दी साहित्य की इतनी तीव्र गति से प्रगति हुई है कि सामान्य पाठक के लिए उसकी विविध विधाओं की नवीनतम दिशाओं और नवीन साहित्य-बोध की उपलब्धि कठिन एवं दुस्साध्य प्रतीत हो रही थी। उच्च स्तर के सर्जनात्मक और आलोचनात्मक तथा शोध-साहित्य के सम्बन्ध में तो यह बात और भी अधिक लागू होती है। क्योंकि, साधारण कोटि के लोक-प्रचलित साहित्य के तो प्रकाशक भी बहुत मिल जाते हैं और उनके पास प्रचार तथा विज्ञापन के साधनों का भी अभाव नहीं होता। आर्थिक दृष्टि से साधारण कोटि का साहित्य ही उन्हें अधिक लाभदायक सिद्ध होता है। उच्च कोटि के गम्भीर एवं विचारपरक साहित्य की खपत कम होने के कारण उसके रचयिताओं को अनेक कठिनाइयों और बाधाओं का सामना करना पड़ता है। मानी हुई बात है कि साहित्य की समृद्धि के साथ-साथ पाठकों की संख्या में भी वृद्धि होती है। अनेक पाठकों को सत्साहित्य में रुचि होते हुए भी उनके पास चयन के साधन का अभाव रहता है। अस्तु, दिन दूने रात चौगुने बढ़ने वाले हिन्दी साहित्य के नियमित परिचय की अत्यन्त आवश्यकता थी। 'हिन्दी-वार्षिकी १९६०' के प्रकाशन द्वारा इस दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति होती दिखाई देती है। न केवल हिन्दी के सामान्य पाठकों को ही इस प्रकाशन से सहायता प्राप्त होगी, वरन् विश्वविद्यालयीय उच्च ज्ञान के जिज्ञासुओं विद्यार्थियों, अध्यापकों अनुसंधाताओं और अनुसंधान-निदेशकों, सभी के लिए 'हिन्दी-वार्षिकी' वरदान-स्वरूप सिद्ध होगी, इसमें कोई संदेह नहीं। प्रकाशित साहित्य का परिचय देने वाली कुछ पत्रिकाएँ अवश्य प्रकाशित होती हैं, किन्तु उनका स्तर साधारण कोटि का रहता है और उनमें सर्वत्र व्यवसायात्मिका बुद्धि का परिचय प्राप्त होता है। 'हिन्दी-वार्षिकी' इस दोष से नितान्त मुक्त है। उसमें न केवल वर्ष भर (१९६०) में प्रकाशित उच्च

प्रधान सम्पादक : डॉ० नगेन्द्र
प्रकाशक : भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा—दिल्ली
मूल्य : ६.५० रु०

कोटि के सजनात्मक, ग्रालोचनात्मक, शोध परक ग्रौर अ य प्रकार के विविध साहित्य का ही विवेचनात्मक परीक्षण एव विश्लेषण है, वरन साथ ही उसमे एक प्रकार का बौद्धिक वातावरण व्याप्त हे। वास्तव मे 'वार्षिकी' के प्रधान सम्पादक, डा० नगे द्र, उनकी परामश समिति ग्रौर सम्पादक मण्डल ने 'वार्षिकी' द्वारा एक ऐसा 'फोरम' प्रस्तुत किया हे जहा उच्चस्तरीय साहित्य के सम्ब ध मे निष्पक्ष तक प्रणाली द्वारा विचार विनिमय हो सकता है ग्रौर पाठको के सामने नवीनतम साहित्य का मूल्याकन प्रस्तुत किया जा सकता है।

'वार्षिकी' के उद्देश्य इस प्रकार है

१ इस पत्रिका का स्वरूप एका त ग्रालोचनात्मक है।

२ हि दी वाड मय की वार्षिक प्रगति का ग्रालोचनात्मक सर्वेक्षण एव मूल्या कन इसका उद्दश्य है।

३ सजनात्मक साहित्य के साथ साथ शोध साहित्य की गति विधि का ग्राक लन इसका विशेष दायित्व हे।

हष का विषय है कि 'वार्षिकी' के इस प्रथम ग्रक मे इन तीनो उद्देश्यो की पूर्ति हुई है। इस ग्रक मे १ जनवरी, १९६० से लेकर ३१ दिसम्बर, १९६० तक प्रकाशित हि दी साहित्य का मूल्याकन किया गया है। इस सम्ब ध मे डा० नगे द्र का यह कथन ग्रत्य त महत्त्वपूण ग्रौर सारगर्भित है ग्रौर उससे सभवत किसी का मत वैभि य नही हो सकता। उनका कहना हे यह ठीक है कि हि दी जैसी समृद्ध ग्रौर व्यापक भाषा के साहित्य की प्रगति को एक वष की सीमा मे बाधकर देखने की योजना साहित्यिक या एतिहासिक—किसी भी दष्टि से परिपूण नही मानी जा सकती, कि तु वष ही तो मिलकर युग का निर्माण करते है ग्रौर खण्ड का परिप्रेक्षण भी पूण का समझने मे सहायक हो सकता है यदि परिप्रेक्ष्य स्पष्ट एव ग्रविकल है। इस दृष्टि से हमारा विश्वास है कि वार्षिकी का महत्त्व सामयिक रहकर भी स्थायी हो सकेगा।' डा० नगे द्र के इस कथन के प्रकाश मे 'वार्षिकी' ग्राधुनिकतम हि दी साहित्य का ऐतिहासिक एव ग्रालोचनात्मक ज्ञान प्राप्त करने मे निस्सदेह सहायक सिद्ध होगी—विशेषत जबकि उ होने पत्रिका के वैज्ञानिक सपादन की ग्रोर भी विशेष ध्यान रखा है।

'वार्षिकी' के इस ग्रक की सामग्री १ 'हि दा साहित्य की प्रगति' (कविता, नाटक, उप यास, कहानी, ग्रालोचना ग्रौर विविध साहित्य—१९६०), २ श्रेष्ठ प्रकाशन ('कला ग्रौर बूढा चाद,' 'सप्तपर्णा,' 'वेणु लो गूँजे धरा,' 'द्रौपदी,' 'झूठा सच,' 'ग्रनुसधान की प्रक्रिया,' 'स देशरासक,' 'हि दी ग्रभिनवभारती,' 'भारतीय साहित्य शास्त्र' ग्रादि), ३ शोध काय 'हि दो काव्य मे ग्र योक्ति,' 'डिंगल-साहित्य'

'श्री गुरुग्रन्थदर्शन', 'हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति-काव्य,' 'अवध के प्रमुख कवि,' 'निमाड़ी और उसका साहित्य : एक मूल्यांकन,' 'आन्ध्र हिन्दी-रूपक' आदि शोध-प्रबन्ध) और ४. सन् १९६० का हिन्दीतर भारतीय साहित्य, इन चार शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये शीर्षक काफ़ी व्यापक और हिन्दी तथा अन्य भारतीय साहित्यों के विविध प्रमुख पक्षों का परिचय प्रदान करने वाले हैं। इन चारों शीर्षकों में वर्ष भर के हिन्दी साहित्य का सारा अंश आ जाता है और उनके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रधान संपादक तथा उनके सहायक सम्पादकों ने अत्यन्त सुन्दर चयन किया है। 'वार्षिकी' के इस अंक से १९६० के हिन्दी जगत् की बुद्धि और मन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यह वर्ष हिन्दी साहित्य की प्रगति में कहाँ तक सहायक सिद्ध हुआ, कहाँ तक नहीं हुआ, इसका निर्णय तो भविष्य ही कर सकेगा। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसके योग-दान का मूल्य किसी भी प्रकार से कम नहीं। यह भी आवश्यक नहीं कि साहित्य के इतिहास में प्रत्येक वर्ष समृद्ध हो और हर प्रकार से समृद्ध हो। किसी भी जाति या राष्ट्र और उसके साहित्य के इतिहास में ऐसा कभी नहीं होता। फिर भी प्रत्येक मास और वर्ष का अपना महत्त्व है। 'वार्षिकी' से १९६० का साहित्यिक महत्त्व सहज ही लगाया जा सकता है।

विषय-चयन और संपादन की दृष्टि से ही 'वार्षिकी' अपना नाम सार्थक नहीं करती, वरन् समीक्षक-मण्डल और उनकी अपनी-अपनी आलोचनात्मक पद्धतियों की दृष्टि से भी यह एक आदर्श प्रस्तुत करती है। संपादक ने समीक्षक-मण्डल के चुनने में किसी पूर्वाग्रह से काम नहीं लिया। उन्होंने 'जागरूक विचारकों और आलोचकों को सादर आमन्त्रित किया है।' पहले शीर्षक के अन्तर्गत श्री भारतभूषण अग्रवाल (कविता), डॉ० सुरेश अवस्थी (नाटक), श्री नेमिचन्द्र जैन (उपन्यास), श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार (हिन्दी कहानी), डॉ० भगीरथ मिश्र (हिन्दी आलोचना); द्वितीय शीर्षक के अन्तर्गत श्री भवानीप्रसाद मिश्र ('कला और बूढ़ा चाँद'), श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ('सप्तपर्णा'), डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ('कथासरित्सागर') श्री नरेन्द्र शर्मा ('साठ वर्ष—एक रेखांकन'), डॉ० आर्येन्द्र शर्मा ('हिन्दी अभिनव भारती'), डॉ० सूर्यकान्त ('काव्यप्रकाश'), डॉ० सत्येन्द्र ('हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास'), डॉ० राजबली पाण्डेय ('वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति') आदि; तृतीय शीर्षक के अन्तर्गत डॉ० ओम्प्रकाश ('हिन्दी काव्य में अन्योक्ति'), डॉ० दशरथ शर्मा ('डिंगल साहित्य'), डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ('मतिराम : कवि और आचार्य') डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' ('निमाड़ी और उसका साहित्य : एक मूल्यांकन') आदि अधिकारी विद्वान् समीक्षक के रूप में चुने गए हैं। यहाँ इस नामावली के उल्लेख का उद्देश्य पाठकों को केवल इतना बताना है कि सम्पादक ने समीक्षक-मण्डल के चुनने में उदारता और व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। सभी समीक्षक उपयुक्त हैं

और अपने-अपने आलोच्य ग्रंथों और विषयों के विशेषज्ञ हैं। इतने सुन्दर चयन के लिए सम्पादक निस्संदेह बधाई के पात्र हैं।

इतना ही नहीं, उन्होंने प्रत्येक समीक्षक को पूर्ण विचार-स्वातन्त्र्य प्रदान किया है। मत-वैभिन्न्य के बीच पनपना शक्ति का चिह्न है। साथ ही इस स्वातन्त्र्य से हिन्दी आलोचना-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दु सामने आते हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी शोध की गति किस ओर है, कौन-सा समीक्षक उसे कौन-सा मोड़ देना चाहता है, यह भी इस विचार-स्वातन्त्र्य के फलस्वरूप ज्ञात होता है। इन सभी प्रकार के विविध दृष्टिकोणों में से कोई प्रशस्त मार्ग निकलेगा, इस बात की आशा की जाती है—क्योंकि हिन्दी की आलोचना और शोध पद्धतियों की अभी अपनी-अपनी ख़ामियाँ हैं। उन ख़ामियों को पूरा करने के लिए अपना-अपना मत प्रकट करने की पूर्ण स्वत्रन्ता देना पहली आवश्यकता है। इससे समूहगत आत्म-मंथन और आत्म-विश्लेषण का सुअवसर प्राप्त होता है। रचनात्मक दृष्टिकोण से प्रेरित होकर व्यक्त किया गया मत-वैभिन्न्य सामूहिक जीवन को स्वस्थ बनाता हुआ उसे क्षमता और गरिमा प्रदान करता है। इसीलिए डॉ० नगेन्द्र के इस कथन का स्वागत करने में किसी को संकोच नहीं हो सकता : 'साहित्य के विषय में हमारी अपनी मान्यताएँ हैं जो पिछले पच्चीस वर्षों के चिंतन-अभ्यास से बहुत-कुछ स्थिर एवं बद्धमूल हो चुकी हैं। परन्तु वार्षिकी के सम्पादन में हमने अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं का, कम-से-कम प्रत्यक्ष रूप में, आरोपण नहीं होने दिया। हमारे सहयोगियों का वृत्त व्यापक है।······' अथवा 'रागतत्त्व और ज्ञान के साहित्य में बुद्धितत्त्व के विकास द्वारा चेतना का परिष्कार किसी-न-किसी रूप में, किसी-न-किसी प्रकार से, साहित्य को करना पड़ता है—इसे चाहे रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना कहिये, या कल्पना का रंजन, या चेतना का उन्नयन। आलोचना विविध मार्गों से इसी तत्त्व के अनुसन्धान में प्रवृत्त होती है और इसी के आधार पर सदसत् का निर्णय करती है। आलोच्य ग्रन्थों के चयन में वार्षिकी के सामने यही आदर्श रहा है, यद्यपि समीक्षा में हमने अपने समीक्षक-मण्डल को मताभिव्यक्ति के लिए पूरी स्वतन्त्रता दी है। सम्पादन-समिति ने वहीं हस्तक्षेप किया है जहाँ उसे समीक्षा में निर्माण के स्थान पर संहार की प्रवृत्ति उभरती दिखाई दी है। एक वाक्य में वार्षिकी का दृष्टिकोण मूलतः साहित्यिक एवं रचनात्मक रहा है और रहेगा।'

आशा है इस शुभ आयोजन का विद्वज्जन हृदय से स्वागत करेंगे। इस प्रकार के सहयोग में उनका हित भी सन्निहित है। भविष्य में हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों को 'वार्षिकी' के अंक सहायक सिद्ध होंगे।

रीति-काव्य-संग्रह

डा० महेन्द्रप्रताप सिंह

हिन्दी-आलोचना के इतिहास में 'रीति काव्य' को एक युग उपेक्षा और तिरस्कार का भी देखना पड़ा है। किन्तु जब समर्थ आलोचना द्वारा उसका सौंदर्य-वैभव और रस-गौरव नये दृष्टिकोण से प्रकाश में लाया गया तो स्थिति बदलने लगी। लोग जिसे 'गर्हित' तक कह देते थे वह निकट से देखने पर सुन्दर लगने लगा। इस सुन्दरता के कारण रीति-काव्य का सम्मान बढ़ गया और आलोचकों में उसके अध्ययन, अवगाहन और मूल्यांकन के प्रयत्नों में उत्साह संचरित हुआ।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में रीति-काव्य का सम्पोषण कम से कम दो शताब्दियों ने तो किया ही है। हिन्दी-भारती ने इस दीर्घ अवधि में कई श्रेष्ठ प्रतिभाओं और अनेक सामान्य साधकों को जन्म दिया है। इन सबका रीति-काव्य के कलेवर-निर्माण में निष्ठापूर्ण योग-दान है। इस युग के मुक्तकों की भाव-व्यंजना और उनका निसर्ग शिल्प एक विशिष्ट साहित्य-पद प्राप्त करता है। ये मुक्तक हिन्दी में ही मूर्धन्य नहीं, वरन् संस्कृत, अपभ्रंश और प्राकृतों के मुक्तक साहित्य से होड़ लेते हैं और कभी-कभी उनसे भी कई बातों में बढ़ कर सिद्ध होते हैं। परन्तु एक सुधी की आलोचना-दृष्टि इससे भी गहरे मर्म को समझने पर ही विश्राम पा सकती है। किसी युग के काव्य-परिशीलन में 'क्यों', 'कैसे' और 'कहाँ से' जैसे प्रश्नों के तात्त्विक उत्तर ही अभीष्ट होते हैं। इस प्रकार की चैतन्य आलोचना द्वारा किया गया मूल्यांकन अपनी सम्पूर्ण चेतना के साथ सजीव होजाता है। हम एक परम्परा में स्थित और विकसित किसी भाव-धारा और शिल्प-साधना के सचेतन रूप को तभी स्पष्टता से हृदयंगम कर पाते हैं। तब हम केवल इतना ही नहीं जानते कि रीति-काल के मुक्तकों को 'हाल' और 'गोवर्धन' की सतसइयों ने किस प्रकार और कितना प्रभावित किया है, बल्कि यह भी जान जाते हैं कि किस जाति और किस प्रकार की सामाजिक मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप दोनों का अस्तित्व सम्भव हुआ। इसके निर्माण में किस

लेखक एवं संकलनकर्ता : डा० जगदीश गुप्त।
प्रकाशक : साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद
मूल्य : दस रुपए

वर्ग के लोगों का और क्यों आग्रह था ? किन परिस्थितियों की समानता में रीति-कवि का ध्यान उधर गया तथा समय की गति के साथ पहले वाले साहित्य के कौन से तत्त्व आत्मसात् होकर प्रवाहित हुए—क्यों और कैसे आत्मसात् हुए ? फिर दोनों स्थितियों के समाज का भविष्य इतिहास ने किस प्रकार लिखा ? आदि-आदि प्रश्न हमारे सामने शीशे की तरह स्पष्ट होंगे ।

किसी भी भाव-शक्ति का अभ्युदय परिस्थिति-जन्य प्रेरणा का अपरिहार्य फल होता है । साथ ही इतिहास और जातियों के स्वभाव भी आनुषंगिक रूप से पृष्ठ-भूमि में कार्य करते हैं । इन शक्तियों का निराकरण भी हमारे लिए सुलभ हो जाएगा और तब रीति-काव्य हमारी पृथुल सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक चेतना-धारा से संपृक्त होकर वर्त्तमान की ठोस नींव बन जाएगा । एक सजग और विवेक-शील मनीषा उसकी उपादेयता के विधान के साथ ही अवांछित तत्त्वों से सावधान करेगी । रीति-काव्य एक सुदीर्घ परम्परा और अनेक ऐतिहासिक-सामाजिक घात-प्रतिघातों का परिणाम है । वह सजीव है और अपनी परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में स्वाभाविक भी । परन्तु उसका तात्त्विक मूल्यांकन सर्वथा पूर्ण नहीं है जो हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक बहुत बड़ी आवश्यकता है ।

डॉ० जगदीश गुप्त का 'रीति-काव्य-संग्रह' रीति-काव्य में रुचि उत्पन्न करने और उसकी समस्याओं पर विचार करने की प्रेरणा-भूमि निर्मित करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है । यह ग्रन्थ भूमिका और काव्य-संकलन, दो भागों में विभक्त है । भूमिका के १३३ पृष्ठों में लेखक ने विद्वत्तापूर्ण और तटस्थ विवेचन करते हुए रीति-काव्य की पूर्व परम्परा तथा आधार-भूमि, रीति-कवि के व्यक्तित्व की रूप-रेखा, रीति-काव्य का काव्य-पक्ष और सौन्दर्य-बोध, रस-अलंकार-शास्त्र और नायिका-भेद तथा रीति-काव्य की भाषा और रीतिकालीन छन्द—विषयों को लेकर उनके मूल उत्सों और ऐतिहासिक परम्पराओं की शोध की है । इस विवेचन में लेखक की तीन विशेषताएँ लक्ष्य करने योग्य हैं :

(क) हिन्दी साहित्य में हुए रीति-काव्य के अब तक के मूल्यांकनों का विवेक-पूर्ण अध्ययन और इस प्रसंग की अनेक भ्रान्तियों को दूर करने एवं उनको ध्यान में लाने का प्रयास । इस विवेचन से रीति-काव्य का महत्त्व बढ़ जाता है और संक्षेप में रीति-काव्य पर अब तक हुए कार्यों के ज्ञान के साथ पाठक में स्पष्ट दिशाबोध और श्रद्धा-भाव की स्वीकृति भी उत्पन्न होती है ।

(ख) विद्वान् लेखक ने अपनी अध्ययन-सीमाओं को स्वीकार करने में संकोच नहीं किया और इस प्रसंग में आने वाले प्रश्न-चिन्हों और समस्याओं को स्वयं

ही स्पष्ट कर भावी विद्वानों के अध्ययन के लिए अनेक द्वार खोल दिए हैं। वास्तव में यह उसकी सीमा का नहीं, शक्ति का द्योतक है।

(ग) लेखक ने रीति कवि की मनःस्थिति को स्पष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया है। उसमें मध्य देश के राजतन्त्र और राजदरबार से कवि के सम्बद्ध होने की ऐतिहासिक परम्परा और रीति युग की विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में विकसित हुई कवि की जीवन-दृष्टि एवं उसके व्यक्तित्व के उतार-चढ़ाव की वैज्ञानिक पकड़ है।

प्रस्तुत ग्रंथ के काव्य-संकलन भाग में २७८ पृष्ठ हैं, जिनमें कवि-परिचय और उनकी रचनाओं का चयन है। डा० गुप्त ने 'रीति-ग्रन्थों' के निर्माता कवियों में कृपाराम से लेकर हरिऔध तक कुल १४ कवियों को स्थान दिया है। रीति-परम्परा के अनुसरणकर्ता कवियों में बिहारी, सेनापति और रत्नाकर तथा रीति-प्रेमी कवियों में रसखान, आलम, घनानन्द, ठाकुर बोधा और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को सम्मिलित किया गया है। इनके अतिरिक्त 'चयनिका' भाग में ५१ कवियों के पद्य हैं। कुछ छन्द ऐसे कवियों के भी हैं जिनके नाम ज्ञात नहीं।

संकलन-भाग को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि डाक्टर गुप्त रीति को व्यापक अर्थों में ग्रहण करते हैं। उन्होंने स्पष्ट भी कर दिया है कि उनकी दृष्टि में रीति एक प्रवृत्ति है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ में रीति-साहित्य अधिक विशाल और अधिक विशिष्ट होकर प्रकाश में आया है। 'रीति युक्त' कहे जाने वाले घनानन्द आदि प्रेमी कवियों को उन्होंने 'रीति-प्रेमी' कह कर रीतिकाव्य की सीमा में ही समेट लिया है। रीति कवियों के शैली-संस्कार और छन्द-बन्ध की विशिष्टता से ये लोग पूर्णतया प्रभावित हैं; अपने पक्ष में डॉ० गुप्त का यही तर्क है। अपनी इस धारणा की पुष्टि के लिए 'रीति-शैली' का प्रभाव भक्ति काल की रचनाओं में लक्षित कर उसकी शक्ति की स्थापना और 'रीति' शब्द की व्यापक अर्थों में स्वीकृति पर विचार करते हुए अपनी मान्यता की स्वाभाविकता पर बल दिया है। इस प्रकार रीतिकाल का लगभग सारा-का-सारा शृंगार प्रधान, सुन्दर, मार्मिक और कलापूर्ण साहित्य रीति-काव्य के अन्तर्गत समाहित हो जाता है। इतना ही नहीं, उसकी सीमा आधुनिक काल तक प्रसरित है। जो लोग 'रीति-काल' के लिए इतिहास में दूसरे नामों का प्रस्ताव करते हैं, उन्हें इससे पर्याप्त निराशा होगी। परन्तु डा० गुप्त का पक्ष निर्बल है—सहसा यह नहीं कहा जा सकता। इसका निर्भ्रान्त निर्णय करना तो भविष्य का दायित्व है।

भारतेन्दु और रत्नाकर तक इस काव्य की सीधी पटरियाँ बिछा देने से हिन्दी के आधुनिक-काल के कवियों की रचनाओं में रीति-काव्य से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष

सम्बन्ध तथा उसके तात्त्विक प्रभाव के शोध की आवश्यकता अनुभव होने लगती है। कुछ संकेत इस दिशा में गुप्त जी ने कर भी दिए हैं। और फिर हमारे देश की चिन्ता का गहरी आध्यात्मिकता की ओर झुके हुए होने के उपरान्त भी साहित्य, चित्रकला और मूर्तिकलाओं में शृंगार का ही प्राधान्य लक्षित होना एक जटिल समस्या है जिसके रहस्य का जानना-समझना आज की प्रबल जिज्ञासा है। ऐसे गहरे प्रश्नों की ओर जहाँ लेखक ने भूमिका-भाग में संकेत किये हैं वहाँ उसका संकलन भाग उस अध्ययन के लिए ठोस सामग्री प्रदान करता है।

विद्वत्ता के साथ-साथ उनके कवि की सहृदयता और उनके चित्रकार की पकड़ ने रीतिकाव्य में उनकी गति को सहज कर दिया है और तभी इस संग्रह में कलापूर्ण मार्मिक रचनाओं की दृष्टि से कोई शिकायत नहीं की जा सकती। हाँ, भूमिका में रीतिकालीन कवि की हीन रुचि की चर्चा तो की, पर संकलन में उस प्रकार की कुछ प्रतिनिधि रचनाओं को स्थान नहीं दिया गया। अतः एक प्रौढ़ पाठक, जो रीति-काव्य का सम्पूर्ण स्वरूप देखना चाहता है, निराश होगा। हमारी समझ में उसका भी किन्हीं अंशों में समावेश होने से इस ग्रंथ का महत्त्व घटने की अपेक्षा बढ़ ही जाता।

यद्यपि डा० गुप्त ने पूर्ण सजगता से इस ग्रंथ की भूमिका का आलेखन किया है फिर भी एक आध स्थानों में अन्तर्विरोध-से जान पड़ते हैं। पृष्ठ ३८ में 'रीति-कवियों की जीवन-दृष्टि' का विवेचन करते समय भूषण के सम्बन्ध में उनके कथन से जो ध्वनि निकलती है वह पृष्ठ १८२ पर भूषण का जीवन-परिचय लिखते समय की ध्वनि से मेल नहीं खाती! जैसा लेखक ने स्वयं भी कहा है कि भूषण ने शिवाजी में अपनी 'नैतिकता' तथा 'राजनीतिक चेतना' का आदर्श प्रत्यक्ष किया था—यह स्वीकार कर लेने के बाद भी कहना कि "शिवाजी की भी जो प्रशंसा उन्होंने की है वह तत्कालीन अन्य रीति कवियों से चाटुकारिता-प्रदर्शन में बहुत अधिक भिन्न नहीं है" मन को खटक जाता है। वास्तव में भूषण की दृष्टि में शिवाजी के चरित्र का वैसा ही कुछ महत्त्व था जैसा तुलसी के लिए राम का। उनके "औरंग जाहुँ कि जाहुँ......" प्रतीक वाले कवित्त से स्पष्ट हो जाता है कि भूषण अन्य राजे-रजवाड़ों के यहाँ जाने और उनकी प्रशंसा करने में एक आदर्श-भावना से प्रेरित थे। उसकी पूर्ति न होने पर वे उधर से पराङ्मुख भी हो गए। इस तरह की उलझनपूर्ण उक्ति इसलिए भी स्वाभाविक है कि अभी रीतिकालीन काव्य और कवि का सम्यक् और निर्मल मूल्यांकन होना शेष है।

यह ग्रंथ उस शेष की पूर्ति-दिशा में होने वाला एक श्लाघनीय प्रयास है, इसमें सन्देह नहीं।

शोध-कार्य

कृषकजीवन-सम्बन्धी ब्रजभाषा-शब्दावली

(द्वितीय खण्ड)

डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' की 'कृषकजीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा-शब्दावली' ब्रज-जीवन की अनोखी झाँकी उपस्थित करती है। यह, एक प्रकार से, ब्रज के जनपदीय जीवन का विश्वकोश है। क्या सांस्कृतिक, क्या सामाजिक, क्या औद्योगिक जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रयुक्त शब्द-समूह का हिन्दी में इससे सुन्दर एवं सर्वांगपूर्ण संकलन एवं संपादन नहीं हुआ है। ब्रज-प्रदेश भारतीय साहित्य एवं संस्कृति दोनों का ही मुख्य केन्द्र रहा है। इसीलिए वहाँ का जनजीवन भी बड़ा सम्पन्न रहा है। ब्रजभाषा की जो जनपदीय शब्दावली 'सुमन' जी के ग्रंथों के माध्यम से सुरक्षित हो सकी है उसके लिए भारतीय साहित्य उनका सदा ऋणी रहेगा—भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन, विभिन्न जनपदों के सांस्कृतिक अध्ययन एवं कृषकजीवन के सर्वांगपूर्ण अध्ययन का सुमनजी ने द्वार ही खोल दिया है। वैदिककाल से हमारी भाषा-संस्कृति की जो अटूट धारा प्रवाहित हो रही है उसकी झाँकी ब्रज-जीवन के माध्यम से—ब्रज शब्दावली के माध्यम से—डॉ० 'सुमन' ने हमें करायी है। समाज की विचार-धारा, उसके चिन्तन की प्रवृत्ति एवं उसके मनोभावों की दिशा का ज्ञान उस समाज की बोली एवं उसकी शब्दावली से ही होता है। भाषा के अर्थतत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व के अध्ययन के माध्यम से हम उस भाषा के बोलने वाले की रुचि, मनोदशा, विचारधारा का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। यह शब्द-भण्डार इस दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। क्या ध्वनिविकास, क्या पदविकास, क्या अर्थविकास, भाषाविज्ञान के सभी अंगों-उपांगों के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए—विशेषतः ब्रजभाषा के लिए—यह शोधकार्य अद्वितीय कोष है और रहेगा। सन् १८७६ में श्री विलियम कूक ने 'ए डाइजेस्ट ऑफ

लेखक : डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन
प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद

रूरल ऐंड एग्रिकल्चरल टर्म्स' (ग्रामजीवन और कृषि के शब्दों की सार सूची) नामक पुस्तक प्रकाशित कर जनपदीय शब्दावली के संग्रह का जो कार्य आरम्भ किया था और डॉ० ग्रियर्सन ने जिसका अनुसरण करते हुए 'बिहार पेज़ेन्ट लाइफ़' तैयार किया उसी परम्परा में डॉ० सुमन का यह ग्रंथ है और उन ग्रन्थों से कहीं अधिक वैज्ञानिक है।'

ग्रंथ के द्वितीय खण्ड में चार प्रकरण हैं—(१) जनपदीय व्यवसाय, (२) जनपदीय शिल्पकार, (३) यात्रा के साधन तथा (४) कृषक का धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन। परिशिष्ट रूप में 'अलीगढ़ क्षेत्र की बोली के व्याकरण-संकेत', शब्दानुक्रमणी तथा कुछ फुटकल चीजें तथा ब्रजभाषा और अवधी की कुछ लोकोक्तियाँ, भाषाविज्ञान-सम्बन्धी कुछ पारिभाषिक शब्दों के अर्थ, भाषाविज्ञान की पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी आदि हैं। परिशिष्ट का यह अंश व्याकरण प्रधान है—यह एक प्रकार से अलीगढ़ की बोली का संक्षिप्त व्याकरण कहा जा सकता है। ग्रंथ के मुख्य भाग से इसका कोई सम्बन्ध नहीं जुटता है; इसलिए लेखक ने इसे परिशिष्ट रूप में दिया है पर यह स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में ही शोभा देता, ऐसा मेरा ध्यान है। इसी प्रकार 'ब्रजभाषा और अवधीभाषा की कुछ लोकोक्तियाँ' केवल एक पृष्ठ में ही समा गई हैं—जो विषय के साथ किसी भी रूप में न्याय नहीं कहा जा सकता है। लेखक कदाचित् इस द्वितीयखंड में शब्दावली के अतिरिक्त जन-जीवन से सम्बन्धित सभी सामग्री को कुछ-न-कुछ देने का मोह नहीं छोड़ सका। भाषाविज्ञान की पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी एवं भाषाविज्ञान सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों के अर्थ भी इस ग्रंथ से सम्बन्धित नहीं हैं—ये तो भाषाविज्ञान की पाठ्य पुस्तक में अपेक्षित हो सकते हैं। एक आश्चर्य है कि शोधकर्ता ने प्रमाणग्रंथों की सूची में मेरे उपर्युक्त शोधग्रंथ 'ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली' का निर्देश भी नहीं किया है, यद्यपि आजमगढ़ जिले की शब्दावली के उद्धरण या उदाहरण कदाचित् मेरे ही ग्रंथ से लिए गए हैं। यह भूल ही होगी—ऐसा मैं मानता हूँ।

पृष्ठ ३ पर शहद की मक्खियों के लिए 'मौहार' या 'मौहारि' शब्द दिया गया है। मौहारों के छत्तों को तोड़कर शहद निकालना 'मौहार मारना' कहा जाता है और मारनेवाला 'मौहारमारा' कहलाता है। अथर्ववेद में मक्षाः (९।१।१७) तथा मधुकृतः (९।१।१६) ये शब्द भी मक्खुमक्खी के लिए आये हैं (दे० 'भारतीय साहित्य में मधु'—लेखक द्वारा 'सरस्वती' फरवरी ६०)। अतः मधुकृत से मौहारि सम्बन्धित हो सकता है। कोशों में 'मधुक़ार' तथा 'मधुकारिन' भी एतदर्थ मिलते हैं।

इसी पृष्ठ पर मौहार की जातियाँ बताते हुए उसके तीन भेद बताए गए हैं (१) देसी ,(२) डंगारा या पहाड़ू, (३) पीरिया या पीरौंदी। डंगारा शब्द बड़ा

रोचक है। गीतावली में गोस्वामी जी ने डोंगर और डांग दो शब्दों का प्रयोग एक ही पंक्ति में किया है, 'चित्र विचित्र विविध मृग डोलत डोगर डांग'—गी० २।४७। 'तुलसी शब्दसागर', प्रका० हिन्दुस्तानी एकडेमी, इलाहाबाद में डोंगर की व्युत्पत्ति सं० तंग से दिखलाई गई है और डांग को सं० टंक से। संस्कृत में 'टंक' पहाड़ के ढाल को कहते हैं। कश्मीरी में भी डोंग-गु पर्वत श्रेणी के लिए आता है। मराठी में डांग और डोंगर दोनों ही पर्वतीय एवं जंगली रास्ते के लिए आते हैं। गुजराती में डुंगर प्रचलित है। सिंधी में डोंगरु है। 'मराठी व्युत्पत्ति कोश'—कुलकर्णी, में डांग की व्युत्पत्ति सं० फङ्ग से बतलाई गई है—नासिक के समीप पर्वतीय स्थान को डांग या डोंगर कहा जाता है।

पीरिया या पीरौंदी मक्खी कदाचित् 'पुत्रिका' नामक मक्खी है जो पिंगलवर्ण की होती है (पुत्रिका से संग्रहीत शहद की पौत्रिक संज्ञा है; दे० मेरा उक्त निबंध)।

पृष्ठ ४२ पर 'कहार' शब्द का परिचय देते हुए बतलाया गया है—'हिन्दुओं में एक जाति जो पानी भरती है, बहँगी उठाती है और डोली-पालकी उठाने का भी काम करती है।' कश्मीरी में भी 'कहर' शब्द पालकी या डोली ढोने वाले के लिए आता है। 'देशीनाममाला' में 'काहारो'—जलादिवाही कर्मकर के अर्थ में दिया गया है। ऐसा लगता है कि कहार नामक पेशेवर जाति बहुत प्राचीनकाल से है। इस जाति के सांस्कृतिक जीवन पर सामग्री संग्रहीत की जाने की आवश्यकता है।

पृ० ४२ पर ही लेजू=रस्सी शब्द आया है। यह वै० सं० रज्जु (यजु० ३०।७।) से सम्बन्धित है। अवधी में भी कुएँ से पानी निकालने के काम में आनेवाली रस्सी को 'लेजुरी' कहते हैं। कश्मीरी में 'रज़ह' शब्द भी इसी अर्थ में आता है—जिस रस्सी में, पानी निकालने के लिए, बालटी लगी रहती है वह 'तोल रज़' कहलाता है। गाय बाँधने की रस्सी 'रज़ह कुर' कहलाती है।

पृ० ४३ पर आया हुआ 'जोत' भी एक रस्सी के लिए आता है। यह सं० योक्त्रं से सम्बन्धित है। तराजू के पल्लों को बाँधने वाली रस्सी 'जोती' कहलाती है और वह 'योक्त्रिका' से विकसित है, गाड़ी वाले बैल के गले के नीचे लगाई जाने वाली रस्सी 'जोता' कहलाती है (दे० ग्रामोद्योग और उनकी शब्दा०, पृ० २०१)।

पृ० ७१ पर मोची के औज़ारों में एक छेद करने का औज़ार आया है जिसे 'आर' कहा गया है। यह शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मराठी में यही उपकरण 'अरी' कहलाता है। संस्कृत में एतदर्थ 'आरा' शब्द है। कश्मीरी में सूजे को 'आर' ही कहते हैं।

पृष्ठ १०६-१०७ पर पेड़-पौधों का नाम गिनाते समय लेखक अंगूर,

अंजीर, आड़, नाग या नख, सेब के पेड़ों का भी वर्णन करता है, पर लगता है यहाँ जायसी की वर्णनात्मक प्रवृत्ति का प्रभाव है। ये फल पहाड़ी स्थानों के हैं—ब्रज में कहीं बाग की शोभा के लिए भले ही लगाए जा सकते हैं। पाठक इन्हें कहीं यह न समझ बैठें कि ब्रज के ये साधारण वृक्ष हैं। इस प्रकार के विवरण देने में सावधानी की अपेक्षा होती है।

पृ० १२५ पर 'जून' शब्द नरई को ऐंठकर बनाई गई मोटी रस्सी के लिए दिया गया है। लेखक ने इसकी व्युत्पत्ति वै० सं० यून से ठीक ही बतलाई है। रामपुर (उत्तरप्रदेश) में यह जूनी कहलाता है। बुन्देलखण्ड में भी जूना ही है। आजमगढ़ में सन, पुआल या सरपत की ऐंठी हुई रस्सी 'जोइना' कहलाती है (ग्रा० और उनकी शब्दा०पृ०१७)। रामपुर में बरतन माँजने के घास आदि उपकरण को भी जूना कहते हैं। इस शब्द पर मनीषी डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल जी ने एक बार मुझे अपने पत्र दिनांक २६।६।४५ में एक टिप्पणी भेजी थी—उसे ज्यों का त्यों देना ही पाठकों के हित में ठीक होगा—"आपके ग्रंथ 'ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली' के पृष्ठ १७ पर 'जोइना' है। इसे मेरठ की बोली में 'जूना' कहते हैं। इसका संस्कृत रूप 'यून' है। मोनियर विलियम्स के कोष में अर्थ है Band, Cord, String और कात्यायन श्रौत सूत्र का उल्लेख किया है। काष्ठक गृह्यसूत्र में यह शब्द आया है यथा निलयार्थी यूनबद्धं न प्रविशेत् (४।४) जिसपर देवपाल की टीका है—शीतातपवद्धो निलयार्थी भूत्वा यूनवद्धं मिश्रवेणुवीरणकाण्डादिभिर्बद्धं कुटीशाला पाटादिकवास विशेषं न प्रविशेत्।' अर्थात् तप करता हुआ व्यक्ति ठंड और धूप से बचने के लिए जूने से बाँधे हुए सरपत आदि की कुटिया या छप्पर में न जावे।" कश्मीरी में जनेऊ को यूयँ तथा चरखे के माल्ह को योनि कहा जाता है—ये शब्द भी यून से ही सम्बन्धित होंगे। इस प्रकार यह एक शब्द ही हमारे भारतीय इतिहास पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त है।

भुने हुए अनाजों के नाम देते हुए लेखक पृ० २१९ पर 'गुड़धानी' का अर्थ इस प्रकार बतलाता है—भुने हुए जौ या गेहुँओं में जब गुड़ मिला दिया जाता है तो वह मिश्रण गुड़धानी कहलाता है। लेखक ने ठीक ही इसका मूल यजुर्वेद में ढूँढ़ा है। यजुर्वेद के एक मंत्र १९।२१ में निम्न भोज्य पदार्थों के नाम आए हैं—"धाना करम्भः सक्तवः परीवापः पयोदधि।" यही 'धाना' सक्तु और करम्भ के काम में भी आता था। "मन्थः क्षीर संयुतो धानः सक्तुः।"—कात्यायन श्रौतसूत्र ५।८।१२। सक्तु भुने हुए जौ या अनाज से बनता था और है। करम्भ भी भुने हुए जौ के आटे तथा घी से बनता था। सुश्रुत धान की विशेषता इस प्रकार बतलाते हैं "धाना लुंबास्तुलघवः= धान (भुना जौ) और लुंबा (भुने छोले या होले) हलके होते हैं (सु० सूत्र०, भक्ष्य वर्ग ४६।१९)। ३१९ पृष्ठ पर ही भुने हुए जौ को 'बौरी' बतलाया गया है; सुश्रुत के उपर्युक्त प्रकरण में एतदर्थ 'वाप्य' शब्द आया है।

पृ० २२१ पर 'पस' को एक परिमाण के रूप में बतलाया गया है और इसकी व्युत्पत्ति सं० प्रसृति से ठीक ही बतलाई गई है। प्रसृति चरक के अनुसार ८ तोला या २ पल के बराबर मानी जाती थी और १ अंजलि=२ प्रसृति।

पृष्ठ २९६—गाड़ी के पहिए की नाइ—(नाभि) में ठुकी हुई चौड़ी और मोटी लकड़ी 'अरा' कहलाती है। आजमगढ़ में यही 'आरागज' कहलाता है (दे० ग्रा० उनकी शब्दावली, पृ० १६८)। 'आर' शब्द, लेखक ने ठीक ही लिखा है, वैदिक 'अरा' से सम्बन्धित है। अरघट्ट: (रहँट) में भी यही 'अरा' है। मराठी में भी 'आर' का प्रचलन इसी अर्थ में है। गुजराती में 'आरो' है। बिहार में 'आरा' है। कश्मीरी में यह 'आर' है।

पृष्ठ ४१४ पर लगुन आदि की रस्म पर आने वाले द्रव्य को 'व्यौहार' बतलाया गया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में 'व्यवहार स्थापना' के अन्तर्गत विवाह, वास्तुविक्रय, ऋणादान आदि आते हैं। व्यापार में व्यौहार, खाने-पीने में व्यौहार, लेनदेन में व्यौहार, बात-व्यौहार ये सभी प्रयोग कौटिल्य की 'व्यौहार' परम्परा से सम्बन्धित हैं।

पृ० ४२० पर 'भात' की परिभाषा देते हुए लेखक लिखता है कि जूता-कपड़ा आदि जो मामा के यहाँ से विवाह के अवसर पर आता है, 'भात' कहलाता है। 'भात' को 'भृत' से विकसित होने का अनुमान किया गया है। संस्कृत में भक्त शब्द सुसज्जित तथा भक्तं शृंगार के लिए आया है; यहाँ पर भात भक्त से ही विकसित समझना चाहिए। यही भक्त है जिससे खाने वाला भात भी सम्बन्धित है।

कुछ जनपदीय शब्दों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए पृ० ५९२ पर 'पैर' शब्द दिया गया है। मराठी में 'पैर' शब्द का ठीक वही अर्थ है जो आजमगढ़ में 'पइरि' का है अर्थात् दवाँई के लिए फैलाया गया अनाज (दे० ग्रा० उनकी शब्दावली पृ० २१७)। यह सं० प्रदर (प्रदृ=टुकड़े-टुकड़े करना) से सम्बन्धित है। रामपुर उत्तरप्रदेश में व्रज के अनुसार 'पैर' खलिहान के अर्थ में ही आता है। हेमचंद्र ने 'पएरो' शब्द (६।१४) दिया है।

इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि व्रजभाषा की यह कृषक शब्दावली समस्त भारतीय साहित्य तथा भाषाओं के अध्ययन में सहायक होगी और शब्दों के इतिहास के खोजने में इससे बड़ी सहायता मिलेगी। वैदिककालीन कितने ही शब्द हमारी भारतीय भाषाओं में प्रचलित हैं, पर इनकी जानकारी तभी संभव है जबकि 'सुमन' जी की ही भाँति प्रत्येक जनपद का कोई निवासी चरक या पृथ्वीपुत्र बनकर एक-एक शब्द का संग्रह करके उसे वैज्ञानिक ढंग से संपादित करे। डा० सुमन जनपदीय शब्दावली पर काम करने वालों के लिए प्रेरणा के स्रोत हैं और उनकी सचित्र कृति इस दिशा में आदर्श है।

राजस्थानी भाषा और साहित्य

(विक्रम संवत् १५००-१६५०)

प्रो० ओमानन्द रू० सारस्वत

कलकत्ता विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए स्वीकृत 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' (विक्रम संवत् १५००-१६५०) शीर्षक शोध-प्रबन्ध डा० हीरालाल माहेश्वरी के श्रेष्ठ श्रम का परिणाम है। राजस्थानी को लेकर शोध करने वाले विद्वानों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है क्योंकि हस्तलिखित सामग्री नये युग के नवीन प्रकाश में प्रतिदिन उपलब्ध होती जा रही है। सामग्री की प्राप्ति होने पर भी श्रम और मौलिकता का अभाव कतिपय नये राजस्थानी ग्रन्थों में दिखलाई पड़ता है, किन्तु प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध इसका अपवाद है।

यह ग्रंथ दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड राजस्थानी भाषा और द्वितीय खण्ड राजस्थानी साहित्य से सम्बन्धित है। सम्पूर्ण ग्रंथ को पन्द्रह अध्यायों में विभाजित किया गया है, जिसमें से अध्याय १ से १४ तक मुद्रित रूप में ही विश्व-विद्यालय में उपाधि के लिए प्रस्तुत किये गये थे।

लेखक ने प्रथम अध्याय (१-३१) में राजस्थानी भाषा का सामान्य परिचय देते हुए राजस्थानी की चार शैलियों—जैन शैली, चारण शैली, संत शैली और लौकिक शैली—का विश्लेपण किया है। साथ ही डिंगल की उत्पत्ति, पूर्वरूप, स्वरूप आदि पर विचार करते हुए डा० टैसीटोरी की 'अइ' और 'अउ' वाली धारणाओं का बड़े ही सचोट प्रमाणों के आधार पर खण्डन किया है। इससे डिंगल के स्वरूप-निर्धारण को नई दिशा प्राप्त होगी। दूसरे अध्याय (३२-६०) में राजस्थानी की बोलियाँ, विशेषताएँ, ध्वनि-परिवर्तन, व्याकरण आदि पर विस्तृत विचार किया गया

लेखक : डा० हीरालाल माहेश्वरी
प्रकाशक : आधुनिक पुस्तक भवन. ३०/३१, कलाकार स्ट्रीट कलकत्ता-७
मूल्य : पन्द्रह रुपये
प्रकाशन वर्ष : १९६०

है। निश्चय ही इस अध्याय का ध्वनिपरिवर्तन और व्याकरण बड़ा महत्त्वपूर्ण अंश है, जिसमें लेखक अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप निश्चित तथ्यों पर पहुँच सका है, जिनका उपयोग भाषा शास्त्र के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। तीसरे अध्याय (६१-७४) में चारणी-साहित्य की पृष्ठभूमि एवं सामान्य परिचय है। चौथे अध्याय (७४-११६) में ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्यों का ऐतिहासिक अध्ययन है। इसमें बादर ढाढी, गाडण सिवदास, पसाइत, पद्मनाभ, भांडउव्यास[1] आदि ग्यारह कवियों की [कृ]तियों पर विचार प्रस्तुत किये गये हैं। पाँचवें अध्याय (११६-१३६) में चारण-[सा]हित्य के अन्तर्गत ऐतिहासिक मुक्तक काव्यों का परिचय है। कितने ही ज्ञात-[अज्ञा]त कवियों के मुक्तकों का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने का श्रेय लेखक को है। छठे अध्याय (१३७-१५०) में राष्ट्रीय काव्य धारा के कवि, स्त्री कवि एवं अन्य फुटकर कवियों का उल्लेख है। सातवें अध्याय (१५१-१९४) में पौराणिक और धार्मिक रचनाओं के प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों रूपों का इतिहास है, जिनमें पृथ्वीराज राठौड़, माधौदास दधवाड़िया, सायांजी झूला, ईसरदास आदि की रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। आठवें अध्याय (१९५-२१७) में लोक-साहित्य के प्रबन्ध काव्यों और नवें अध्याय (२१७-२३०) में लोक साहित्य-मुक्तक काव्यों का इतिहास दिया गया है। दसवें अध्याय (२३०-२४८) में जैन साहित्य का सामान्य परिचय, वर्ण्य-विषय एवं काव्यरूप आदि पर विचार किया गया है और ग्यारहवें अध्याय (२४९-२७१) में जैन-साहित्य के कुछ प्रमुख कवि और उनकी रचनाओं का विवेचनात्मक विवरण है। बारहवें अध्याय (२७२-२९४) में संत-साहित्य का सामान्य परिचय देने के बाद कुछ प्रमुख संतों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर विचार किया गया है। तेरहवें अध्याय (२९५-३३३) में मीराँबाई पर विस्तारपूर्वक अद्यतन प्राप्य सामग्री का उपयोग करते हुए विद्वत्तापूर्ण बहुमुखी विवेचन किया गया है। चौदहवें अध्याय (३३४-३४८) में राजस्थानी गद्य साहित्य की प्राचीनता प्रस्तुत करते हुए आलोच्य-काल के गद्य का बड़ा व्यवस्थित विवेचन-विवरण है। पन्द्रहवें अध्याय (३४९-३७२) में उपसंहार है, जिसमें लेखक ने नवीनतम सामग्री का उपयोग किया है तथा हिन्दी-राजस्थानी के सम्बन्ध को लेकर कई मौलिक प्रश्न प्रस्तुत किये हैं। अंत में (३७३-४१७) प्रकाशित सहायक ग्रंथों की अकारादि सूची एवं नामानुक्रमणिका है। प्रकाशित सहायक ग्रंथों में ४१५ ग्रंथों की सूची है तथा हस्तलिखित ग्रंथों का प्रबन्ध में यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है।

इस प्रकार यह प्रबन्ध ४१७ पृष्ठों में राजस्थानी भाषा और साहित्य के डेढ़ सौ वर्षों की सामग्री का संदर्भग्रन्थ है। यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि इस प्रबन्ध

---

१. पृ० ९५ पर भांउड व्यास छप गया है, जो संभवतः प्रेस की भूल है। भांडउ व्यास होना चाहिए था।

द्वारा राजस्थानी भाषा और साहित्य के एक काल पर आधिकारिक रूप से इतनी विशाल सामग्री एक साथ पहली बार प्रस्तुत हुई है। राजस्थानी से सम्बन्धित असंख्य हस्तलिखित प्रतियाँ अभी तक अनदेखी पड़ी हैं; संतोष है कि डा० माहेश्वरी ने उनमें से अनेकों को देखने का श्रम लिया है और यही कारण है कि उनके तथ्य पुष्ट प्रमाणों पर आधारित हैं।

इस प्रबन्ध में लेखक की मौलिकता के चार स्थूल बिन्दु निर्धारित किये जा सकते हैं। एक तो लेखक का नये ढंग से काल-विभाजन करके नवीन ढंग से तथ्यों का प्रस्तुतीकरण है। उदाहरण के लिए सवत् १५०० से १६५० तक के काल को 'विकसित काल' नामकरण देना उपयुक्त है। दूसरे, लेखक ने प्रकाशित पुस्तकों के अतिरिक्त हस्तलिखित ग्रंथों से प्रमाण एवं चित्र प्रस्तुत किये हैं। इससे अनेक प्राचीन धारणाओं का स्पष्टीकरण हुआ है। उदाहरणार्थ, पृथ्वीराज राठौड़ की 'बेलि क्रिसन रुकमणि री' को डिंगल की सबसे प्राचीन बेलि मानने के तथ्य को निराधार सिद्ध किया गया है क्योंकि सांखला करमसी रूणेचा रचित 'क्रिसनजी री बेलि' की हस्तलिखित प्रति प्राचीन है तथा पृथ्वीराज पर उसका स्पष्ट प्रभाव लक्षित है।[१] तीसरे, लेखक ने ऐतिहासिकता के साथ-साथ तुलनात्मक अध्ययन को भी महत्त्व दिया है। उदाहरण के लिए 'ढोला मारु रा दूहा' की मूल कथा और कुशललाभ रचित 'ढोला मारव री चौपाई' ले सकते हैं।[२] चौथे, लेखक प्रथम बार राजस्थानी साहित्य के इतिहास में अनेक अज्ञात एवं अनजान कवियों या कृतियों को प्रकाश में लाया है। दूदा आसिया, सांखला करमसी, सुपियारदे गीत आदि इसके उदाहरण हैं।

इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ में खण्डन की सायास प्रवृत्ति नहीं है। जहाँ-जहाँ लेखक को अप्रामाणिकता का संदेह हुआ है, उसने वहाँ-वहाँ विनम्र खण्डन करने में संकोच नहीं किया है। उदाहरण के लिए डा० टैसीटोरी द्वारा संपादित 'छन्द राव जैतसी रो' से इसी ग्रंथ की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति से अन्तर स्पष्ट निर्देशित है। इसी प्रकार 'करमसी की वेलि' के सम्बन्ध में किसी थीसिस में प्रस्तुत किये गये भ्रामक मत का भी परिष्कार किया गया है।[३]

प्रस्तुत प्रबन्ध का ऐतिहासिक मूल्य स्थापित करते हुए भी मुझे कुछ संकेत अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने पड़ रहे हैं:—

१. लेखक ने जिस प्रकार जैन-साहित्य के वर्ण्यविषय और काव्यरूपों (रास, पवाड़ा आदि) पर विस्तार से विचार किया है, उसी प्रकार यदि चारणों के दोहों

---

१. पृ० १६२-१६६
२. पृ० २६०-२६२
३. पृ० १६६

और गीतों नामक काव्यरूपों पर भी विचार किया होता तो इन दो काव्यप्रकारों पर अधिक प्रकाश पड़ सकता था।

२. लेखक ने जिस प्रकार से बीकानेर और कलकत्ता की हस्तलिखित सामग्री का सदुपयोग किया है, उसी प्रकार यदि जोधपुर, जयपुर, उदयपुर, जैसलमेर आदि की हस्तलिखित सामग्री का भी उपयोग किया होता तो संभवतः कुछ और नवीन तथ्य साहित्य-जगत् के सम्मुख प्रस्तुत हो पाते।

३. ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्यों आदि के विवरण में लेखक ने कथानक को अधिक महत्त्व दे दिया है, जबकि कथा-विस्तार की अपेक्षा उस कृति का विवेचनात्मक अध्ययन भी अभीष्ट था। कथानक देते समय भी उद्धरणों की बहुलता हो गई है। जहाँ तक अप्रकाशित रचनाओं से उद्धरण देने का प्रश्न है, वहाँ तो संतोष किया जा सकता है; किन्तु प्रकाशित रचनाओं के उद्धरणों का विस्तार खटकता है।

४. जेठवा-ऊजली, नागजी-नागमती, शेणी-वीजाणन्द आदि के प्रचलित दोहों को लोकसाहित्य के अन्तर्गत गृहीत किया गया है, किन्तु इनका रचनाकाल सं० १५००-१६५० के मध्य मानने के कोई पुष्ट प्रमाण लेखक द्वारा प्रस्तुत नहीं किये गये। फिर इसी प्रकार के अन्य दोहों को क्यों छोड़ दिया गया, जैसे 'ईलिया' सम्बोधन के दोहे लाखणसी चारण द्वारा सं० १५३० के लगभग रचित माने जाते हैं, उसका उल्लेख नहीं है।

५. वीठू मेहा के कूंपा मेहराजोत पर लिखे गये दोहों का संकेत करके भी[१] लेखक ने मुक्तककाव्यों में उन पर कुछ नहीं लिखा। इसी प्रकार राजस्थानी के बड़े सशक्त दोहाकार ऊदो या उदैराज (सं० १६३१) का भी उल्लेख नहीं है।

६. 'ढोला मारू रा दूहा' का रचयिता कल्लोल कह कर लेखक ने प्रचलित मत का पिष्टपेषण मात्र ही किया है।[२] कल्लोल नामक कवि इन दोहों का रचनाकार नहीं माना जा सकता। इस रचना को सं० १५०० की रचना मानना भी रचना के साथ न्याय नहीं है, यह सं० १३०० के आस-पास रची गई कृति माननी चाहिये।[३]

उपर्युक्त दिये गये संकेत मेरी स्वयं की धारणाएं हैं, अतः यह आवश्यक नहीं है कि वे मान्य ही समझी जाएं, फिर भी विद्वानों के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत हैं।

---

१. प्रबन्ध का पृ० ११२।

२. प्रबन्ध का पृ० २०१।

३. परम्परा (जोधपुर), राजस्थानी साहित्य का आदिकाल अंक, पृ० १४४।

अंत में, लेखक ने उपसंहार में जिन प्रश्नों को प्रस्तुत किया है, उनमें से दो का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। एक तो राजस्थानी को हिन्दी परिवार की भाषा न मानना है[1], और दूसरा हिन्दी के आदिकाल का ढाँचा हिन्दी परिवार की किसी भाषा द्वारा खड़ा नहीं किया जाने से सम्बन्धित है।[2] ये दोनों ही प्रश्न हिन्दी संसार के सामने चुनौती हैं। यदि वस्तुतः राजस्थानी-साहित्य हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत माना जाए तो केवल बीसलदेव रासो का ही आदिकाल में उल्लेख क्यों होता है? शेष राजस्थानी पद्य एवं गद्य की कृतियों का मूल्यांकन करना हिन्दी इतिहासकार क्यों भूल जाता है? अथवा राजस्थानी भाषा को स्वतन्त्र मान्यता देकर राजस्थानी-साहित्य की सुदीर्घ परम्परा का समुचित मूल्यांकन क्यों न हो?

---

१. प्रबन्ध का पृ० ३३६।

२. प्रबन्ध का पृ० ३७२।

आगरा जिले की बोली

डा० कैलाशचन्द्र भाटिया

'आगरा जिले की बोली' शीर्षक ग्रन्थ ,डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा प्रस्तुत प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। इस भारी-भरकम थीसिसों के युग में वैज्ञानिक विवेचन करने के उपरान्त अनुगमनात्मक पद्धति से प्राप्त बहुमूल्य निष्कर्ष सीमित पृष्ठों में भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं इसका ज्वलन्त उदाहरण यह थीसिस है। इस ग्रन्थ में डॉ० चतुर्वेदी ने आगरे जिले की प्रमुख भाषा ब्रज और उसके विभिन्न रूपों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

लेखक ने अपने वक्तव्य में लिखा है "वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की दृष्टि से हिन्दी की किसी बोली के एक सीमित प्रदेश का कदाचित् यह प्रथम वैज्ञानिक विवेचन है।" वस्तुतः वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की दृष्टि से विवरणात्मक पद्धति से किये गये एक साथ चार कार्य सन् १९५८ मे प्रस्तुत किये गये :

१. आगरा जिले की बोली	=रामस्वरूप चतुर्वेदी	—प्रयाग वि० वि०, डि० फिल्०, सन् १९५८
२. आगरे की खड़ी बोली	=मुरारी लाल उप्रेतिः	—आगरा वि० वि०, एम० लिट्०, सन् १९५८
३. आगरे की बोलियाँ (नगर)	=मोहन लाल	—आगरा वि० वि०, एम० लिट्०, सन् १९५८
४. मथुरा जिले की बोलियाँ	=चन्द्रभान रावत	—आगरा वि०वि०, पी-एच० डी०, १९५९

लेखक : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी
प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
मूल्य : ६ रुपये

हाँ, निस्सन्देह मुद्रित रूप में प्रस्तुत यह प्रथम शोध प्रबन्ध है। उपर्युक्त चार प्रबन्धों में से तीन (शोध प्रबन्ध सं० २, ३, ४) प्रत्यक्ष रूप से डॉ० विश्वनाथ प्रसाद[1] के निर्देशन में सम्पन्न हुए हैं। चतुर्वेदी जी का यह प्रबन्ध व्रजभाषा का प्रथम वैज्ञानिक विवेचन करने वाले भाषाशास्त्री डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में प्रस्तुत हुआ है जिसमें डॉ० प्रसाद के बहुमूल्य सुझाव सम्मिलित हैं। लेखक ने ही वक्तव्य में कुछ कठिनाइयों को भी रक्खा है जिनमें से उल्लेखनीय है "हिन्दी से सम्बन्धित किसी विशुद्ध वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के ग्रन्थ का अभाव। किसी आदर्श के न होने के कारण ही कार्यपद्धति को निश्चित करने में भी कुछ असुविधाएँ हुईं।" यह कठिनाई वास्तविक है जिससे इस प्रस्तुत ग्रंथ का रूप इसका निजी रूप है; आवश्यकता इस बात की थी कि यह ग्रन्थ आगे प्रस्तुत किये जाने वाले ग्रंथों का 'आदर्श' बन जाता। लेखक को इस प्रकार के 'आदर्श' बोलीविज्ञान के क्षेत्र में विदेशों में किये गये कार्य मिल सकते थे जिनमें 'न्यू इंगलैंड' से सम्बन्धित कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। आधुनातन उपकरणों का उपयोग भी नहीं किया गया है जिसको लेखक ने स्वयं अपने वक्तव्य में स्वीकार किया है—"इस अध्ययन में वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के समस्त नवीनतम उपकरणों का उपयोग नहीं किया जा सका है।"

विद्वान् लेखक को लिपिचिह्नों की विशेष कठिनाई का भी अनुभव करना पड़ा, अनेक नये विशेष लिपि-चिह्न बनाने पड़े जिसकी प्रारम्भ में सूची दे दी गयी है। प्रारम्भ में ही आगरा जिले का मान-चित्र है जिसमें 'बोली के क्षेत्रीय उपरूप' भी प्रदर्शित किये गये हैं। तीसरे अध्याय में 'जन-जीवन तथा बोली' के अन्तर्गत भौगोलिक परिस्थिति, सामान्य जनजीवन, जनसंख्या, ऐतिहासिक पीठिका, सामाजिक-आर्थिक स्थिति, आगरे जिले की बोली, पूर्वी आगरे जिले की बोली तथा भदौरी व्रजभाषा तथा ग्वालियरी; चौथे में ध्वनि-समूह के अन्तर्गत मूल स्वर, व्यंजन, विदेशी शब्दों की ध्वनियाँ, उच्चारण-सम्बन्धी अन्य विशेषताएँ, ध्वनिक्रम तथा अक्षर; पाँचवें में संज्ञा, लिंग, वचन, रूप-रचना; छठे में सर्वनाम; सातवें में विशेषण; आठवें में परसर्ग; नवें में क्रिया; दसवें में अव्यय; ११वें में वाक्य--रचना; १२वें में शब्द-समूह तथा १३वें में आगरा जिले की बोली—प्रभाव, साम्य तथा स्तरों का अध्ययन—आगरा जिले की बोली तथा स्टैंडर्ड व्रज, निकटवर्ती बोलियों से तुलना, स्टैंडर्ड हिन्दी के प्रभाव और मिश्रण तथा उनके कारण शिक्षित तथा संस्कृत वर्ग की बोली, आगरे जिले की बोली के क्षेत्रीय उपरूप, बोली-वैभिन्न्य के अन्य आधार—जाति, अवस्था-वर्ग, औद्योगिक वर्ग, बाह तहसील की मिश्रित बोली आदि समस्याओं पर सारगर्भित एवं गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्त में परिशिष्ट में विभिन्न क्षेत्रों तथा वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले बोली के २९ नमूने हैं तथा

---

१. इनका उल्लेख डाक्टर प्रसाद ने 'आगरे की खड़ी बोली' शीर्षक लेख में भी किया है, भारतीय साहित्य, जुलाई १९५७, पृष्ठ ५१-६४।

शब्दानुक्रमणी के अन्तर्गत लगभग ३००० (११००+१८००) शब्दों को सम्मिलित किया गया है।

"आगरा जिले की बोली प्रायः विशुद्ध व्रजभाषा का सीमांतीय रूप है। वैसे पूर्वी तथा दक्षिणी-पश्चिमी भाग को छोड़कर शेष जिले की बोली को स्टैण्डर्ड तथा केन्द्रीय व्रज के अन्तर्गत माना जा सकता है।" इसका निष्कर्ष यह हुआ कि आगरा विशुद्धतः व्रजभाषा का ही क्षेत्र है, पर वास्तव में 'आगरा की बोली' के मुख्यतः निम्न-लिखित रूप हो सकते हैं :

१. विशुद्ध व्रजभाषा — जिले का उत्तरी-पश्चिमी भाग
२. खड़ीबोली से प्रभावित व्रज — आगरा नगर के समीपवर्ती गाँवों की पेटी
३. व्रजरंजित खड़ीबोली — समीपवर्ती गाँवों से लगी हुई आगरा नगर की पेटी
४. विशुद्ध खड़ी बोली — नगर की भाषा
५. मिश्रित बोली :
(क) व्रज-कन्नौजी — पूर्वी क्षेत्र
(ख) व्रज-बुंदेली — दक्षिणी क्षेत्र

उक्त रूपों में से डॉ० चतुर्वेदी ने §३० में प्रथम तथा अन्तिम रूप ही सम्मिलित किये हैं, वैसे बड़े स्पष्ट शब्दों में आपने इससे पूर्व §२७ तथा बाद में §२८६ में कहा है, "नागरिकता के इन सभी उपायों से गाँवों में भी अब स्टैंडर्ड हिन्दी का प्रभाव तेजी से बढ़ रहा है।"

भूमिका-भाग में लेखक ने बड़े स्पष्ट शब्दों में साथ ही तर्कपूर्ण शैली से कुछ भ्रान्त धारणाओं का खण्डन किया है। पहली भ्राँति है "ग्रियर्सन ने पूर्वी आगरा की बोली को भी स्टैंडर्ड माना है।' (लि०स० जिल्द ६, भाग १, ७०) लेखक के मत से यह मत भ्रामक है। अनुच्छेद §३०, ३०४ से ३०८ तक में इन क्षेत्रीय उपरूपों का भेद स्पष्ट किया गया है। दूसरी भ्रान्ति है आगरा गजेटियर (सन् १६०५) में उल्लिखित "बाह तहसील की बोली बुंदेली का एक उपरूप है......जो भदावरी कही जाती है।" लेखक (डॉ० चतुर्वेदी) बाह तहसील का मूल निवासी है, समस्त थीसिस ही एक प्रकार से बाह तहसील पर केन्द्रित है। §३६ में इस भ्रान्ति का उन्मूलन कर स्पष्टतः घोषित किया गया है कि "वस्तुतः बाह की बोली प्रधानतः व्रज तथा कन्नौजी का मिश्रण है, तथा बुंदेली शब्दसमूह का एक बड़ा भाग उसमें घुलमिल गया है।" आगे चलकर इस मिश्रित बोली का विशद विवेचन§३१८ से §३२२ तक किया गया है। तीसरी भ्रान्ति व्रजभाषा तथा ग्वालियरी के नामकरण तथा क्षेत्र से सम्बन्धित है, जिस पर §३८ से §४६ तक प्रकाश डाला गया है।

आगरा की बोली के "ध्वनि-समूह" से सम्बन्धित विवेचन में १७ स्वर ध्वनियों का विवरण है जिसमें वर्णनात्मक पद्धति अपनायी गई है, पर इस यान्त्रिक युग में काइमोग्राफ़, पैलेटोग्राफ़ तथा आसिलोग्राफ़ सम्बन्धी रेखाचित्र तो दूर ध्वनियों के उच्चारण-स्थल-सम्बन्धी स्वरों के साधारण रेखाचित्रों का भी अभाव विशेष खटकता है। संभवतः लेखक ने ध्वनिग्रामीय विवेचन की ओर तो ध्यान नहीं दिया। "आगरा की बोली में संध्यक्षर स्वर नहीं (लेखक ने इसको संयुक्त स्वर कहा है)" वस्तुतः विचारणीय है। 'गइआ' में 'अइ' का संध्यक्षर रूप ही है जिसको अनुच्छेद ५१ में स्वर संयोग में सम्मिलित किया गया है। 'स्वर संयोगों' में केवल सात स्वर संयोग माने हैं (चार उदाहरण दो स्वरों के संयोग के, और तीन उदाहरण ३ स्वरों के संयोग के हैं)। मेरा विश्वास है कि ढूँढ़ने पर अनेक अन्य स्वर-संयोग भी मिल सकते हैं।

व्यंजन ध्वनियों में १६ स्पर्श, ४ स्पर्श-संघर्षी, ६ अनुनासिक, २ पार्श्विक, २ लघ्वाघातीय, २ उत्क्षिप्त, २ संघर्षी तथा २ अर्द्धस्वर आदि ३६ व्यंजनों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अच्छा होता कि व्यंजनों का स्वनिमात्मक विवेचन भी किया जाता। अनुच्छेद ५४ में 'न्' को दंत्य ही माना है जबकि अब इसका अधिकतर उच्चारण वर्त्स्य हो गया है, कुछ स्थितियों में दन्त्य 'न्' को न् का संस्वन ही माना जा सकता है। अनुच्छेद ५८ में 'स्' को संघर्षी सघोष ध्वनि कहा गया है जबकि यह संघर्षी अघोष ध्वनि है। अनुच्छेद ६० से ६८ तक फ़ारसी तथा अँग्रेज़ी ध्वनियों का काफ़ी विशद विवेचन किया गया है। अनुच्छेद ६९ से ९२ तक विशिष्ट ध्वनि-परिवर्तनों का विवेचन है। आगरा की बोली में प्रायः व्यंजन-गुच्छ (Cluster) का प्रयोग नहीं होता। अनुच्छेद ९३ में न्यारे, ग्यारा आदि में 'न्य', 'ग्य' का व्यंजन-गुच्छ है, व्यंजन-संयोग नहीं। अनुच्छेद ९४ में अति संक्षिप्त आक्षरिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। संधि की प्रवृत्ति इस बोली की मुख्य विशेषता है—जगह (जघेँऊ), मार लेता (माल्लेतोँ), घर से (घस्सेँ), सुन्तु है (सुन्त्वेँ) जिसका विवेचन अनुच्छेद ७० में किया है।

अनुच्छेद १२६ से २१० तक आगरा की बोली का व्याकरण प्रस्तुत किया गया है, जिसमें स्थान-स्थान पर स्टैंडर्ड हिन्दी से प्रभावित रूपों की भी चर्चा की गई है। जैसे 'तुम', 'कोई', 'जिन्हें' आदि सर्वनामों का प्रयोग स्टैंडर्ड हिन्दी के कारण बढ़ता जा रहा है। 'हकार' का लोप इस बोली की मुख्य प्रवृत्ति है, जैसे महाराज-मराज, पहुँची-पोँची, वहीं-मॅई, कहाँ-काँ। यही प्रवृत्ति है जिसके कारण निश्चयार्थक 'ही' बलार्थक अव्यय 'भी' तथा भूतकालिक क्रिया 'थी' इस बोली में सभी 'ई' मात्र रह जाते हैं। पड़ौसी बोलियों के प्रभाव पर भी यत्र-तत्र विचार किया गया है, जैसे किरावली में प्रयुक्त 'याइ' संभवतः निकटवर्ती मथुरा की बोली के प्रभाव के कारण है (पृष्ठ ४५), 'रहे' रूप प्रस्तुत बोली में कन्नौजी के माध्यम से संभवतः अवधी से

आया प्रतीत होता है (पृष्ठ ५७)। अनुच्छेद २११ से २३२ तक वाक्य-रचना, मुहावरों, कहावतों आदि का विवेचन है।

यह थीसिस बोलीविज्ञान के अन्तर्गत रक्खी जा सकती है जिसमें लेखक ने आगरा जिले में बोली जाने वाली बोलियों की ध्वनि, रूप, वाक्य-गठन तथा शब्द समूह आदि की दृष्टि से स्थानपरक तथा जातिपरक विशेषताओं का अध्ययन किया है। कहीं-कहीं उपरूपों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया है। बोली-विज्ञान के व्यापक क्षेत्र में शब्द-भूगोल का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसके अन्तर्गत किसी क्षेत्र में एक शब्द के एक से अधिक रूपों का अलग-अलग स्थानों में प्रचलन तथा एक भाव या विचार के लिए कई शब्दों या अनेक विचारों के लिए एक शब्द का विभिन्न स्थानों में प्रयोग आदि का अध्ययन आता है। लेखक ने इस दिशा में विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अनुच्छेद २३३ से २६६ तक उससे सम्बन्धित अध्ययन है। अगर इस अध्ययन के आधार पर उपर्युक्त प्रकार से कुछ मानचित्रों को प्रस्तुत किया जाता जिनमें आइसोग्लास (शब्द-रेखा) दिखाई जातीं तो पूर्णता आ जाती, फिर भी इस अध्याय में सांख्यिकी की दृष्टि से शब्द-समूह का अध्ययन विशेष महत्त्वपूर्ण है जिसमें प्रस्तुत आँकड़े विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके लिए डॉ० चतुर्वेदी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। इस प्रकार की चार तालिकाएँ प्रस्तुत की गई हैं। पहली तालिका इस प्रकार है :

तत्सम	५ प्रतिशत
अर्द्ध तत्सम	५-६ प्रतिशत
तद्भव	४१ प्रतिशत
देशज	१४ प्रतिशत
विदेशी :	१९ प्रतिशत
(क) फ़ारसी	१५-१/२ प्रतिशत
(ख) अंग्रेजी	३-१/२ प्रतिशत
स्थानीय	२० प्रतिशत

इस तालिका की शिक्षित वर्ग की बोली से अनुच्छेद २९९ में तुलना की गई है जिसमें उल्लेखनीय अन्तर है, विदेशी शब्दों का प्रतिशत १९ से ३१ बढ़ जाता है और स्थानीय शब्दों का प्रतिशत २० से घटकर १, १/२ रह जाता है। तद्भव शब्दों तथा उनसे सम्बन्धित शब्दों का प्रतिशत ४१ ही बना रहता है। यह इस बात का सूचक है कि हमें अपनी शब्दावली में तद्भव शब्दों तथा उससे निर्मित शब्दों को ही बढ़ाना चाहिए। तत्समता तथा विदेशी शब्दावली को गृहीत करने की प्रवृत्ति एक ओर भाषा को दुरूह बनाती है, दूसरी ओर जन-जीवन से दूर ले जाती है। इसी के अंतर्गत लगभग १६० स्थानीय शब्दों और ११ विशिष्ट शब्दरूपों (स्लांग) पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ दी गई हैं, यह कार्य यद्यपि सीमित क्षेत्र में है पर महत्त्वपूर्ण है। इन शब्दों में उढ़नाँ, उछीर, उजीतोँ, ओँड़ोँ, कटोँरा, खट्का, कौँडुँआ, खन्, खोद आदि अनेक

शब्द मथुरा में भी बोले जाते हैं। 'टपका' अलीगढ़ में भी विशेष प्रचलित है आगरा, मथुरा की ब्रजभाषा का अध्ययन होने के उपरान्त अब आवश्यकता इस बात की है कि मथुरा, आगरा, अलीगढ़ की ब्रजभाषा और उसकी शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। नगरों की बोली खड़ीबोली ही है जिसको कुछ अंश में ब्रज-मिश्रित कहा जा सकता है। नागरिक जीवन तेजी से गाँवों में बढ़ता जा रहा है जिससे ब्रजबोली का भी नितान्त शुद्ध रूप केवल वृद्धों के मुख से ही सुना जा सकता है। स्थानीय शब्दावली जो बोली का विशिष्ट अंश होती है, वृद्धों में २२-१/२ प्रतिशत प्रयुक्त होती तो नवयुवकों में केवल ८-१/४ प्रतिशत, यह उल्लेखनीय तथ्य है जिससे खड़ीबोली के विकसित रूप का आभास मात्र हो सकता है।

अन्त में आगरा जिले की बोली तथा स्टैंडर्ड ब्रज, परिनिष्ठित हिन्दी का प्रभाव और उसके मिश्रण का अध्ययन है। स्थानीय बोलियों के स्थान पर खड़ीबोली के शब्द बढ़ते जा रहे हैं, 'मौँड़ा' के स्थान पर 'लड़िका' का अधिक प्रयोग तथा 'उढ़नोँ' के स्थान पर 'कपड़ा' का अधिक प्रयोग इसी प्रवृत्ति का परिचायक है।" आवश्यकता इस बात की भी थी कि स्पष्टतया यह भी बतलाया जाता कि डॉ० वर्मा के २५ वर्ष पूर्व किये गये अध्ययन से आज की जीवित बोली में कितना अन्तर हो गया है जिसका लेखक ने प्रारम्भ में ही निर्देश भी किया है, "समस्त ब्रजभाषा का सर्वांगीण अध्ययन प्रो० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा आज से प्रायः पच्चीस वर्ष पूर्व सम्पन्न हो चुका था। पर इन वर्षों के व्यवधान के फलस्वरूप एक **जीवित बोली** में जो अन्तर आ सकते हैं उनका ब्रजभाषा के एक सीमित क्षेत्र में गहरा अध्ययन करना इस कार्य की एक प्रमुख दृष्टि रही है।"

सामग्री-संकलन, उसका विश्लेषणात्मक अध्ययन कर निष्कर्षों को बड़े स्पष्ट तथा साफ शब्दों में प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया है जिससे लेखक की विवेचनात्मक गम्भीरता, सूक्ष्म अन्वेषण-शक्ति का उद्घाटन होता है। जहाँ इस परिश्रम-साध्य शोध-प्रबन्ध के लिए डॉ० चतुर्वेदी बधाई के पात्र हैं जिनको नवीन दिशा, नवीन पारिभाषिक शब्दावली, तथा नवीन लिपि-चिह्नों को ढूँढ़ना पड़ा, वहाँ दूसरी ओर थीसिस को प्रकाश में लाने वाली संस्था हिन्दुस्तानी एकेडेमी का भी योगदान कम नहीं जिसके द्वारा नये लिपि-चिह्नों के प्रयोग के साथ आकार-प्रकार, रूप-मुद्रण और इतने सुन्दर आकर्षक एवं सर्वथा नवीन गेटअप के साथ यह शोध-प्रबन्ध प्रकाशित किया गया।

अर्थतत्त्व की भूमिका

भोलानाथ तिवारी

हमारे सामने डॉ० शिवनाथ का शोध-प्रबन्ध 'अर्थतत्त्व की भूमिका' है। भाषाविज्ञान की अर्थतत्त्व या अर्थविज्ञान (Semantics) शाखा, यद्यपि अपेक्षाकृत आधुनिक कही जाती है, किन्तु वस्तुतः इसका अध्ययन बहुत पहले आरम्भ हो गया था। यास्क के निरुक्त (८ वीं सदी ई० पू०) का चिंतन कदाचित् इस अध्ययन का अथ न होकर कुछ विकसित रूप है। एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में इसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय फ्रांसीसी विद्वान् ब्रील को है। किन्तु इनकी पृष्ठभूमि में भी पॉल आदि कई प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियों का हाथ है।

हिन्दी में भाषाविज्ञान की प्रायः सभी पुस्तकों में संक्षेप में इस विषय को उठाया गया है। स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में इस दिशा में डॉ० हरदेव बाहरी का Hindi Semantics, डॉ० कपिल द्विवेदी का 'अर्थ विज्ञान और व्याकरणदर्शन' तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना का 'अर्थविज्ञान' उल्लेख्य हैं। आलोच्य पुस्तक में डॉ० शिवनाथ ने इस अध्ययन को वास्तविक अर्थों में और आगे बढ़ाया है।

पुस्तक 'पूर्व मीमांसा' तथा 'उत्तर मीमांसा' इन दो खंडों में विभक्त है। पूर्व मीमांसा में नाम, रूप, अर्थतत्त्व और भाषा शास्त्र की अन्य शाखाएँ, शब्द और अर्थ, अर्थबोध का साधन, अर्थबोध का चरमावयव, अर्थबोध की प्रक्रिया, अर्थ और स्फोट, इन नौ अध्यायों में 'अर्थ' का अर्थ, उसकी प्रकृति तथा उसके बोध की प्रक्रिया तथा इस विषय का भारतीय सिद्धान्त स्फोट पर संक्षेप में किन्तु सुन्दर एवं गम्भीर ढंग से विचार किया गया है। उत्तर मीमांसा का सम्बन्ध अर्थपरिवर्तन से है। इसमें अर्थपरिवर्तन, अर्थपरिवर्तन की प्रक्रिया, अर्थपरिवर्तन के कारण, अर्थ-परिवर्तन के व्याकरणिक कारण, अर्थपरिवर्तन के प्रकार, तथा अर्थपरिवर्तन के अन्य

लेखक : डॉ० शिवनाथ
प्रकाशक : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
मूल्य : ६.०० रुपये

प्रकार, इन छः अध्यायों के अन्तर्गत भारतीय तथा पाश्चात्य मतों के प्रकाश में अर्थ-परिवर्तन की सर्वांगीण पर्यालोचना प्रस्तुत की गई है। इसी खंड के अन्त में 'नाम' शीर्षक अध्याय भी है जिसमें नामकरण की समस्याओं पर विचार किया गया है, यह अध्याय यदि प्रथम खंड में रक्खा गया होता तो शायद अधिक उचित होता।

पहले अध्याय में इस शाखा के नाम पर विचार किया गया है। इस प्रसंग में लेखक ने Sementics, Semantology, Sematology, Semasiology आदि पर प्रकाश डाला है। इन नामों के अतिरिक्त यूरोप में Rhematology, Glossology, Sensifics, Significs, Semiotics, Orthology आदि और भी नाम समय-समय पर प्रचलित रहे हैं। पूर्णता की दृष्टि से इन पर भी विचार कर लिया गया होता तो अच्छा होता।

'अर्थतत्त्व और भाषाशास्त्र की अन्य शाखाएँ' शीर्षक अध्याय में लेखक के सामने भाषाविज्ञान का कदाचित् १९३० तक का ही रूप है। १९३० के बाद भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध चार स्कूलों—अमेरिकन, लंदन, प्राग, कोपेनहैगेन—में अनेक अन्य शाखाएँ-प्रशाखाएँ विकसित हुई हैं। उनको भी ध्यान में रक्खा गया होता तो यह अध्याय और भी उपयोगी बन पड़ा होता। विशेषत: भाषिक भूगोल (Linguistic Geography) का उल्लेख तो यहाँ अवश्य ही होना चाहिए था। भाषिक भूगोल की एक शाखा अर्थ भूगोल (Semantic Geography) है जो अर्थ-तत्त्व से ही सम्बद्ध है। इसमें शब्दार्थ के किसी भाषा-क्षेत्र में स्थानीय परिवर्तनों पर विचार किया जाता है। उदाहरणार्थ 'जुराब' शब्द का पूरे हिन्दी क्षेत्र में एक अर्थ नहीं है। बनारस के आसपास यह 'मोज़े' और 'जूते' के बीच का कपड़े का जूता है तो दिल्ली के आसपास 'मोज़े' का समानार्थी है। इस रूप में विभिन्न शब्दों को लेकर क्षेत्रीय या स्थानीय स्तर पर उनके अर्थ-परिवर्तन का विचार अर्थभूगोल में किया जाता है। इसी प्रकार की कुछ कमियाँ अन्य अध्यायों में भी हैं। उदाहरणार्थ अर्थपरिवर्तन के कारणों पर जो विचार किया गया है, उसे कुछ और व्यवस्थित किया जा सकता था। 'अर्थ-परिवर्तन के व्याकरणिक कारण' अध्याय के प्रारम्भिक तीन पैरे यहाँ अनपेक्षित-से हैं। इन अर्थपरिवर्तनों की पृष्ठभूमि में व्याकरणिक कारण कार्य करते नहीं दीखते।

अर्थविज्ञान के प्रसंग में ब्रील तथा अन्य भी बहुत से विद्वानों ने बौद्धिक नियमों पर विचार किया है। प्रस्तुत पुस्तक में इस पर भी सविस्तर विचार अपेक्षित था। यों प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक बौद्धिक नियम का पक्षधर नहीं है।[1]

अर्थसम्बन्धी पुस्तक में पर्यायवाची शब्दों, उनके यथार्थ अर्थों, उनके अर्थों की एकता या समानता आदि पर भी सोदाहरण विचार अपेक्षित था।

---

१. दे० भाषाविज्ञान, चौथा संस्करण, अर्थविज्ञान शीर्षक अध्याय में बौद्धिक नियम।

अब भाषाविज्ञानवेत्ता, प्रमुखतः अमेरिका आदि के, अर्थविज्ञान या अर्थतत्त्व को भाषाविज्ञान की एक शाखा न मानकर उसे दर्शन के अन्तर्गत मानते हैं। पुस्तक के आरम्भ में यह प्रश्न भी उठाया जा सकता था।

दो-एक स्थलों पर शब्द-प्रयोग खटकते हैं। उदाहरणार्थ पृष्ठ २२ पर चौथी-पाँचवीं पंक्ति में 'वह तो हमारे मुख में नहीं, टेबुल पर, पुस्तकालय में अथवा अन्यत्र कहीं है' में 'मेज़' का प्रयोग न करके 'टेबुल' का क्यों किया गया समझ में नहीं आता। उपन्यास, कहानी या नाटक आदि में ऐसे प्रयोग नहीं खटकते, किन्तु शोध-प्रबन्ध में या आलोचना में ऐसे प्रयोगों को बहुत अच्छा नहीं कहा जा सकता।

इन छोटी-मोटी कमियों के बावजूद प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध छोटा होते हुए भी पर्याप्त सुन्दर बन पड़ा है और शिवनाथ जी, इसके लिए बधाई के पात्र हैं। निश्चय ही इस पुस्तक द्वारा हिन्दी में अर्थतत्त्व का अध्ययन आगे बढ़ा है।

करुण-रस—मध्ययुगीन राम-काव्य के परिवेश में

डा० रामसागर त्रिपाठी

यदि हृदय-संवाद और संवेदना की जाग्रति को ही रसानुभूति के तारतम्य का मानदण्ड माना जाय—यदि यह स्वीकार किया जाय कि "स्थायी भाव की अनुभूति की व्यापकता और तीव्रता में यदि कोई रस खड़ा हो सकता है तो वह करुण रस है। वह कविता का आदि स्रोत है। × × × × × × × कविवर भवभूति ने तो एक ही करुण रस को रस माना है × × × और सब रसों को उसके आवर्त, बुद्बुद और तरंग का रूप दिया है। × × × × रसानुभूति का मर्म व्यापक सहानुभूति और हृदय की आर्द्रता में है। जितनी सहानुभूति और आर्द्रता करुण रस में है उतनी और किसी में नहीं है। शोक में जो भावों का परिष्कार होता है वह और किसी में नहीं है।" यदि इस तथ्य की ओर ध्यान दिया जाय कि "इसके सहारे रस का असली रूप प्रकट होता है।" तथा "जहाँ तक चरित्र-निर्माण तथा सदाचार की प्राप्ति का प्रश्न है करुण रस के विशेष अध्ययन से इस कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हो सकती है" तो आदरणीय डॉ० गुलाबराय के इस कथन से सहमत होना ही पड़ेगा कि "डॉ० ब्रजवासीलाल ने अपने शोध-प्रबन्ध का विषय करुण रस लेकर बड़ी साहित्य मर्मज्ञता और मनोवैज्ञानिक सूझबूझ का परिचय दिया है।" साथ ही जिस अनुसन्धाता ने करुण रस को अपने अनुसन्धान के विषय के रूप में चुना है उसने अपनी सहृदयता भी असन्दिग्ध रूप में प्रमाणित कर दी है। सम्भवत: अपने विषय की महत्ता और व्यापकता को समझते हुए ही लेखक ने अपने विषय को अधिक-से-अधिक सीमित करने की चेष्टा की है। करुण रस सभी दृष्टियों से नहीं; कविता के व्यापक परिवेश में भी नहीं; समस्त रामकाव्य में भी नहीं; समस्त मध्यकाल में भी नहीं, अपितु मध्यकालीन रामकाव्य के परिवेश में करुण रस का अध्ययन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के विषय के रूप में स्वीकृत किया गया

लेखक : डॉ० ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली

मूल्य : १२.५० रु०

है। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मध्यकाल भक्तिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है और अभी तक सम्भवत: किसी भी आलोचक ने इसके इस नामकरण पर प्रश्नसूचक चिह्न लगाया भी नहीं है। रामकाव्य स्वत: भक्ति-साहित्य का एक प्रेरक तत्त्व रहा है। ऐसी दशा में उस साहित्य में करुण रस का अध्ययन विषय को और भी संकुचित बना देता है।

सम्भवत: अपने विषय की संकुचित सीमाओं के कारण ही डॉ० श्रीवास्तव को अपने मूल विषय की अपेक्षा पृष्ठभूमि को अधिक विस्तार देना पड़ा है। यदि न्याय्य दृष्टि से देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि भक्तिकाल के हिन्दी कवियों की कविता में करुण रस का अध्ययन ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का मूल विषय है। इन कवियों में मुख्य हैं तुलसी, सूर, और केशव। साथ ही स्वामी अग्रदास, नाभादास, हृदयराम इत्यादि दूसरे रामभक्त कवियों की कविता में करुण रस का अध्ययन भी विषय की सीमा में आता है। किन्तु लेखक ने इन कवियों की ओर ध्यान नहीं दिया है, केवल उक्त तीन कवियों की कविताओं में ही करुण रस का विवेचन किया गया है। करुण रस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, शास्त्रीय विवेचन, रामकाव्य की पूर्व-पीठिका में करुणरस जिसमें बाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, उत्तर रामचरित और अपभ्रंश साहित्यगत रामकाव्य पर विचार किया गया है, विषय की पृष्टभूमि के रूप में ही आते हैं। ज्ञात नहीं होता कि लेखक ने लोकगीतों को मध्यकाल के रामकाव्य से किस प्रकार सम्बद्ध किया है? क्या ये लोकगीत मध्यकाल की रचना हैं? यदि नहीं तो क्या करुण रस की व्यापकता सिद्ध करने के लिये इनका समावेश प्रस्तुत प्रबन्ध में किया गया है? ऐसी दशा में एक ओर तो समस्त रामेतर साहित्य पृष्ठ-भूमि के रूप में आ सकता है और दूसरी ओर लोकगीतों में ही अन्य रसों की अपेक्षा करुण रस का विस्तार सिद्ध करने के लिए अन्य रसों से उसका तारतम्य दिखलाना अपेक्षणीय हो जाता है। कुछ भी हो, लोकगीतों का विवेचन पृष्ठभूमि के रूप में उपात्त ही कहा जावेगा। इस प्रकार मूल विषय की अपेक्षा पृष्ठभूमि का विस्तार कहीं अधिक हो गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध 'क' और 'ख' इन दो खण्डों में विभाजित किया गया है। 'क' खण्ड में करुण रस की मनोवैज्ञानिक तथा शास्त्रीय समीक्षा प्रस्तुत की गई है और 'ख' खण्ड में रामकाव्य में करुण रस के प्रतिफलन पर विचार किया गया है। 'क' खण्ड के दो उपविभाग किये गये हैं—विषयप्रवेश और करुण रस की मनो-विज्ञानाश्रित शास्त्रीय समीक्षा। विषय-प्रवेश में मानव-जीवन की सार्थकता का प्रश्न उठाकर दु:खवाद की व्याख्या की गई है और मनोभावों को तीन रूपों में विभाजित किया गया है—ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक। अन्त में निष्कर्ष निकाला गया है कि 'प्रत्येक कार्य में इनकी द्वन्द्वात्मक स्थिति ही प्रकट होती है।' इसके बाद मनोभावों में करुण भावना का विकास दिखलाते हुए उसके बाह्याभिव्यंजकों और

प्रकाशन की रीतियों पर विशेष प्रकाश डाला गया है। अन्त में भाग्यवाद का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। किन्तु लेखक ने यह नहीं स्पष्ट किया है कि भाग्यवाद का यह विश्लेषण करुण रस से किस प्रकार सम्बद्ध है। 'क' खण्ड के द्वितीय उपविभाग में करुण रस की मनोविज्ञानाश्रित शास्त्रीय समीक्षा प्रस्तुत की गई है। लेखक ने पूरी सावधानी से विवादग्रस्त विषयों के बचाने की चेष्टा की है। शास्त्रीय समीक्षा में करुण रस विषयक विभिन्न अभिमतों का उल्लेख किया गया है। किन्तु यह स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं की गई है कि विभिन्न मत कहाँ तक समंजस हैं और कहाँ पर उनमें मतभेद उपस्थित होता है? यह भी दिखलाने की चेष्टा नहीं की गई है कि किस आचार्य की मौलिकता कितने अंश में स्वीकृत की जा सकती है? आचार्य शुक्ल के मत का कुछ विस्तार से उल्लेख हुआ है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि रस शास्त्र की दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अभिनवभारती की उपेक्षा की गई है। इस दिशा में आनन्दवर्धन और कुन्तक का भी उल्लेख नहीं किया गया है। लेखक ने करुण रस के देवता यम और उसके कपोत वर्ण पर मौलिक विचार प्रस्तुत किया है। करुण रस की उत्पत्ति का भी विवेचन अच्छा है। इसके बाद रस सामग्री तथा दोषों का परिचय दिया गया है। अन्त में करुण रस का दूसरे रसों से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि डा० श्रीवास्तव के विवेचन में शास्त्रीयता की अपेक्षा मनोवैज्ञानिकता अधिक है। प्रथम खण्ड के अन्त में दो परिशिष्ट दिये गये हैं—एक में करुण रस की सुखात्मकता या दुःखात्मकता पर विचार करते हुए करुण तथा करुण विप्रलम्भ का अन्तर स्पष्ट किया गया है और दूसरे में करुण रस की परिभाषा का विकास दिखलाया गया है। दूसरा खण्ड रामकथा में करुण रस के प्रतिफलन के विषय में है। सर्वप्रथम पृष्ठभूमि के रूप में वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, उत्तर रामचरित और अपभ्रंश साहित्य में रामकाव्य में करुण रस का प्रतिफलन दिखलाया गया है; उसके बाद मध्ययुगीन रामकाव्य के जीवन-दर्शन का विवेचन कर लोकगीतों में करुण रस की अभिव्यक्ति दिखलाई गई है। इसके बाद सूर, तुलसी और केशव की रामकथाओं में करुण रस के प्रसंगों का विश्लेषण कर अन्त में रामकथा के करुण रसात्मक प्रसंगों का सिंहावलोकनात्मक विवेचन किया गया है। ग्रंथ का यही संक्षिप्त विषय-विभाजन है।

जहाँ तक प्रबन्ध-काव्यों और नाटकों में रस की अभिव्यक्ति का प्रश्न है एक तथ्य अवश्य ध्यान में रखना चाहिए—आनन्दवर्धन ने लिखा है कि जितने रसों का उपादान प्रबन्धों में किया जाता है उनमें एक रस को अंगी रस अवश्य बना देना चाहिए। जिस रस का उपादान मुख तथा निर्वहण सन्धियों में होता है अर्थात् बीज और फल दोनों से जिसका सम्बन्ध होता है; मध्य में भी यत्रतत्र किसी न किसी रूप में जो रस प्रस्तुत रहता है; जिसका सम्बन्ध आधिकारिक कथावस्तु से होता है—आनन्दवर्धन के अनुसार वही रस अंगी माना जाता है। अन्य रस केवल प्रादेशिक

होते हैं और उनका कार्य केवल अंगी रस को पुष्ट करना ही होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार इन अंग रसों का प्रयोजन वही होता है जो किसी एक रस के परिपोष में सञ्चारी भावों का हुआ करता है। वस्तुतः ये रस संचारी की स्थिति से भिन्न स्थिति नहीं रखते। जिस प्रकार कभी-कभी संचारी भाव प्रमुखता को प्राप्त कर आस्वाद-गोचर हो जाता है और इस प्रकार भावध्वनि की संज्ञा धारण कर लेता है, उसी प्रकार ये संचारी रस भी प्रदेश मात्र पर विचार करने से कभी-कभी मुख्य रस के रूप में दृष्टिगत होने लगते हैं; किन्तु इनका सबसे बड़ा प्रयोजन मुख्य रस को पुष्ट करना ही होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि संस्कृत के काव्यों और नाटकों से हिन्दी के मध्यकालीन काव्यों में उद्देश्य-विषयक एक मौलिक अन्तर है। वाल्मीकि रामायण का तो अंगी रस करुण ही है। क्रौञ्चवध की घटना से रामायण प्रवृत्त हुई है और सीता के अत्यन्त वियोग से उसकी समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार में उभयत्र करुण रस विद्यमान है। मध्य में भी दशरथमरण इत्यादि के प्रसंगों में उसके दर्शन हो जाते हैं। उत्तर रामचरित में तो अन्य रसों को करुण रस का विवर्त बतलाया गया है। कवि वहाँ पर अन्य रसों को विकार मानने तक को उद्यत नहीं है। भवभूति की राय में तो—'दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमर्पितम्' की बात दिखलाई देती है। भवभूति ने तो राम की करुण दशा से पत्थरों को भी रुला दिया है :

जनस्थाने शून्ये विकलकरणैरार्यचरितैः।
अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्॥

किन्तु मध्यकालीन हिन्दी-काव्यों की ऐसी स्थिति नहीं है। वस्तुतः मध्यकालीन समाज की स्थिति ही करुण भावना के अनुकूल नहीं थी। डा० श्रीवास्तव के इस कथन से सहमत होना कठिन है कि—"मध्ययुगीन राजनीतिक परिस्थितियों के अन्तर्गत जीवन का आनन्दवादी दृष्टिकोण दुःखवाद की ओर उन्मुख हो उठा था। उठकर संभलने के स्थान में कलपने और कोसने की प्रवृत्ति प्रतिलक्षित हो उठी थी।" वस्तुतः वह समय औदासीन्य और शान्त भावना के अनुकूल था। वर्णाश्रम व्यवस्था के विकृत हो जाने पर यद्यपि क्षोभ भी यत्र-तत्र परिलक्षित होता है तथापि वह स्वर इतना दबा हुआ था कि उसे समय की सामान्य विचारधारा कहना ही संगत प्रतीत नहीं होता। मुक्तक काव्यों में तो शान्त रस का स्वर सुनाई ही पड़ता है; प्रबन्ध काव्यों में भी अन्य रसों के प्राकरणिक उल्लेख के होते हुए भी प्रमुखता शान्त रस को ही प्राप्त थी। तुलसी का उपक्रम—

'भाव कुभाव अनख आलसहू। राम जपत मंगल दिसि दसहू।'

× × ×

'इहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुराण श्रुति सारा॥'

के रूप में प्रवृत्त हुआ है और विषय तथा उद्देश्य का कथन इन शब्दों में किया गया है—'बरणौं रघुवर विशद यश, सुनि कलि कलुष नसाहिं।' उपसंहार में भी काकभुशुंडि-गरुड़ संवाद में—

> यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानै कोइ।
> जानें तें रघुपति कृपा, सपनेहु मोह न होइ।।

इत्यादि वचनों द्वारा शान्त रस में ही पर्यवसान किया गया है। मध्य में भीस्थान-स्थान पर शान्त रस परक वचन अधिगत होते हैं जिनमें राम की महत्ता का परिचय दिया गया है। जैसे—

> श्रीरघुबीर प्रताप ते सिन्धु तरे पाषान।
> ते मतिमन्द जे राम तजि भजहिं जाय प्रभु आन।

सूर का काव्य भी विनय के पदों से प्रवृत्त हुआ है और गोपी प्रेम इत्यादि का पर्यवसान शान्त रस में ही होता है। रामकथा प्रासंगिक मात्र है। इस प्रकार हिन्दी काव्यों का अंगी रस शान्त ही है। करुण इत्यादि जितने भी रस यत्रतत्र आए हैं वे सब शान्त पर्यवसायी ही है। लेखक ने केशव का उद्देश्य भी यही बतलाया है। डॉ० श्रीवास्तव की सबसे बड़ी कठिनाई यही है। इसीलिए उन्हें अंगभूत रसों का ही यत्रतत्र चयन करना पड़ा है। अच्छा होता यदि उनकी अंगरूपता और संचारिरूपता भी तत्तत्प्रकरणों में परिलक्षित कर दी गई होती।

करुण रस के प्रसंग में यह सर्वथा ध्यान रखना चाहिए कि आचार्यों ने निरपेक्ष भाव से उद्भूत शोक को करुण रस का स्थायी भाव माना है। सापेक्षभाव में होने वाला शोक या तो विप्रलम्भ शृंगार के क्षेत्र में आता है या शोक की भावव्यंजना में पर्यवसित हो जाता है; उसे हम करुण रस की व्यंजना नहीं कह सकते। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में भी इसी मान्यता का समर्थन किया गया है। ऐसी दशा में दशरथमरण, बालिवध पर तारा-विलाप, पुत्रवध पर रावण का शोक, रावणवध पर मन्दोदरी का शोक इत्यादि गिने-चुने प्रकरण ही शोक की सीमा में आते हैं। जब तक पुनःसम्मिलन की आशा बनी रहती है शोक कभी करुण रस का रूप धारण नहीं कर सकता। अतएव जिन अनेक शोकानुभूतियों को करुणरस की संज्ञा दी गई है वे वस्तुतः करुण-रस की सीमा में नहीं आतीं, अपितु विप्रलम्भ शृंगार या शोकभावध्वनि का ही उदाहरण बन जाती हैं। एक बात और है। रसानुभूति पर सहृदय के दृष्टिकोण से विचार किया जाता है। जहाँ शोक के अभिनय से पाठकों में भी तदनुकूल भावना ही उद्बुद्ध होती है वही शोक करुण रस कहा जा सकता है। प्रश्न यह है कि क्या रावण के पुत्रवधजन्य-विलाप से पाठकों में तदनुरूप ही भावना उद्भूत होती है? क्या रावण के प्रति द्वेष प्रतिबन्धक होकर नहीं आता? इस प्रकार उसे हम करुण-रसानुभूति के

अन्तर्गत किस प्रकार रख सकते हैं ? अधिक-से-अधिक उसे हम करुण रसाभास ही कह सकते हैं। क्योंकि शोक वहाँ पर विपक्षगत है। काकभुशुण्डि के लिए शिवशाप, लोमश-शाप, तुलसी की आर्तप्रार्थना इत्यादि प्रकरणों में शोक की अन्यपरता तो स्वयंसिद्ध है। अन्य प्रकरणों में सूक्ष्म विवेचन से उनकी अन्यपरता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार अंगी के रूप में तो करुण रस मध्यकाल के रामसाहित्य में है ही नहीं, अंगरूप में भी उसकी स्थिति बहुत ही विरल है।

ऊपर प्रबन्ध के मूल विषय 'मध्यकालीन रामकाव्य के परिवेश में करुणरस' के प्रतिफलन पर संक्षिप्त विचार किया गया है। पृष्ठभूमि के रूप में करुण-रस का शास्त्रीय पक्ष और मनोवैज्ञानिक पक्ष प्रस्तुत ग्रन्थ की विषय-वस्तु का एक भाग बन गये हैं। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि करुणरस की स्थिति अन्य रसों की अपेक्षा कुछ भिन्न है। इसके सम्बन्ध में सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि लोक में किसी की करुण दशा सहृदयों में शोक और समवेदना की ही तदनुरूप भावना को जाग्रत किया करती है; किन्तु काव्य में शोक की दशा आनन्दानुभूति का संचार क्यों करती है ? क्या कुछ आचार्य करुण रस को आनन्दरूप और दूसरे आचार्य तद्विपरीत मानते हैं ? यदि हाँ, तो दोनों के दृष्टिकोण के भेदक तत्त्व क्या हैं तथा दोनों में समीचीन पक्ष कौन है ? सारांश यह है कि करुण रस की निष्पत्ति पर प्रकाश डालना और यह बतलाना कि शोक की भावना आनन्दमयी कैसे बन जाती है, इस ग्रन्थ में नितान्त अपेक्षित था। किन्तु लेखक ने करुणरस निष्पत्ति की तो उपेक्षा की ही है 'करुणरस की अनुभूति सुखात्मक अथवा दुःखात्मक' इस विषय पर एक परिशिष्ट लिखकर एतद्विषयक कतिपय मतों का संकलनमात्र कर दिया है, न तो इस विषय में यथेष्ट विवेचन ही किया गया है और न अपनी सम्मति का ही स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार सामान्यतया रसानुभूति के और विशेष रूप में करुण रस के सम्बन्ध में यह भी प्रश्न उठता है कि आचार्यों ने स्थायी-भाव की रसरूपता का ही प्रायः प्रतिपादन किया है। स्थायी-दशा और रस-दशा में क्या अन्तर है ? क्या शोक की भावना को सहज प्रवृत्ति (Instinct) के अन्दर सन्निविष्ट किया जा सकता है या उसे हम स्थिर वृत्ति (Sentiment) में अन्तर्भूत कर सकते हैं अथवा सामान्य मनोविकार (Emotion) ही मान सकते हैं ? इस दिशा में डॉ० नगेन्द्र, डॉ० गुलाबराय प्रभृति विद्वानों ने जो व्याख्याएँ की हैं और मनोवैज्ञानिक स्तर पर रसशास्त्र का जो पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया है वह कहाँ तक समंजस है, यह भी शोकभावना के परिवेश में विचारणीय प्रश्न है। इसी प्रकार जो भाव स्थायी दशा को परिपुष्ट कर रसरूपता प्रदान करते हैं उन भावों की अवस्थिति कहाँ और किस प्रकार की मानी जा सकती है ? क्या विभाव इत्यादि को भी हम भावशब्द-वाच्य कह सकते हैं ? संचारी भावों में शारीरिक क्रियाओं के सन्निवेश का क्या आशय है ? इन सब रस-सम्बन्धी प्रश्नों पर यथेष्ट प्रकाश नहीं डाला गया है और न यह विचार किया गया है कि करुण रस

की ध्वनिरूपता कहाँ पर होती है और उसकी अलंकाररूपता, रसाभास-रूपता इत्यादि का क्या आशय है ? यदि करुण रस के रामकाव्यगत अभिव्यंजकों पर भी विचार किया गया होता तो अधिक अच्छा होता।

उक्त समस्त सीमाओं के होते हुए भी डॉ० श्रीवास्तव ने जो महत्त्वपूर्ण सामग्री करुण रस के विभिन्न स्थलों के संकलन के रूप में प्रस्तुत की है, करुण रस की परिभाषा का जैसा विकास दिखलाया है और मनोवैज्ञानिक तथा शरीरविज्ञान पर आधारित करुण रस का जैसा प्रशस्त विवेचन किया है, इसके लिए वे निःसन्देह बधाई के पात्र हैं। यद्यपि समग्र दृष्टियों से करुण रस के विषय में पाठक की जिज्ञासा शान्त नहीं होती तथापि इस ग्रन्थ में उसे नवीन चिन्तन का यत्किञ्चित् दर्शन होता अवश्य है। इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा महत्त्व इसी में है कि अनुसन्धान की एक दिशा उन्मीलित हो जाती है जो कि किसी अन्य अनुसन्धाता की अपेक्षा करती है और इस बात की पूरी सम्भावना है कि प्रस्तुत निबन्ध को पृष्ठभूमि बनाकर इस विषय में महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा सकेगा। तथास्तु।

हिन्दी की निर्गुण-काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि

पं० कृष्णशंकर शुक्ल

डॉ० त्रिगुणायत अनेक वर्षों से संत-साहित्य का अध्ययन कर रहे हैं। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'कबीर की विचारधारा' से साहित्यिक पहले परिचित हो चुके हैं। इन्होंने अपने संत-साहित्य के स्वाध्याय को चालू रखा और पाँच वर्ष के घोर परिश्रम के फलस्वरूप उपर्युक्त ग्रंथ साहित्य को भेंट किया। श्री त्रिगुणायतजी हिन्दी और संस्कृत के पण्डित हैं। परिश्रम और लगन आपकी विशेषताएँ हैं। निर्गुण सन्त-साहित्य के प्रति इनकी रुचि और श्रद्धा भी है। इस ग्रंथ के अवलोकन से पता लगता है कि कम-से-कम दो सहस्र ग्रंथों का पारायण आपको अवश्य करना पड़ा होगा। पाँच वर्ष के अल्प समय में आपने यह आश्चर्यजनक अनुष्ठान सम्पन्न कर डाला। स्थान-स्थान पर ऐसे संकेत मिलते हैं जो यह बताते हैं कि आपने लिखने में संयम न किया होता तो यह महाग्रंथ कम-से-कम दो सहस्र पृष्ठों का अवश्य हो गया होता। इस प्रकार के विनयपूर्ण वाक्य ग्रंथ में अनेक बार आये हैं—

"मेरी समझ में तो संत लोग शंकराचार्य से सर्वाधिक प्रभावित थे। यदि समस्त प्रभावों की विवेचना की जाय तो एक नई थीसिस लिख जायेगी" पृ० १५०।

"यदि इस विषय का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो एक नई थीसिस तैयार हो सकती है"। पृ० ११२।

उपर्युक्त वाक्यों से संकेत मिलता है कि लेखक व्यर्थ के विस्तार से बचने की चेष्टा कर रहे थे। पर ग्रंथ इसकी पुष्टि नहीं करता। अनेक प्रकरणों से लगता है कि ग्रंथकार ने संयम से काम नहीं लिया। उदाहरण के लिये योग का वर्णन उनहत्तर पृष्ठों में किया गया है। इस वर्णन में बहुत सी ऐसी बातें भी दे दी गई हैं जिनका

लेखक : डा० गोविन्द त्रिगुणायत
प्रकाशक : साहित्य निकेतन, कानपुर
मूल्य : २५·०० रु०

संतों में प्राप्त योग से कोई सम्बन्ध नहीं है। नास्तिक मत पर व्यर्थ ही पाँच पृष्ठ लिखे गये हैं जबकि उसका संत मत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। वृथा-विस्तार के कुछ और उदाहरण निम्नलिखित हैं—

बौद्धधर्म—२५ पृष्ठ (पृ० १५३ से १७८ तक)
तन्त्र—४० पृष्ठ (पृ० १६४ से २३४ तक)
बौद्धतन्त्र—२६ पृष्ठ (पृ० २३६ से २६५ तक)

कुछ ऐसी साधनाओं का वर्णन किया गया है जिनका संत मत पर लेखक स्वयं कोई प्रभाव स्वीकृत नहीं करते। उदाहरण के लिये वीर शैवमत तथा जैन तन्त्र।

ग्रंथ नौ अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में विषय-प्रवेश किया गया है। द्वितीय अध्याय में दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में विचारणीय प्राचीन दर्शन-पद्धतियों, सम्प्रदाय और विचारधाराओं का परिचय दिया गया है। इस अध्याय के उपशीर्षक हैं—श्रौतदर्शन, योगवासिष्ठ, श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, गौडपाद का अजातिवाद, शंकराचार्य का मायावाद, जैन दर्शन तथा बौद्ध दर्शन। तीसरे अध्याय में आध्यात्मिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है। इसमें पाशुपत दर्शन, वीरशैव मत, प्रत्यभिज्ञादर्शन, रसेश्वर दर्शन तथा शैव-शाक्त तन्त्रों के सिद्धान्तों का परिचय तथा उन सबके सन्त-साहित्य पर पड़े प्रभाव का वर्णन है। इसी अध्याय में नाथपंथ, इस्लाम तथा सूफीमत का भी वर्णन है। चौथे अध्याय में साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है। पाँचवें अध्याय में अध्यात्म-निरूपण है। इसमें संतों की ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में जो धारणाएँ हैं उनका वर्णन है। छठे अध्याय में संतों की आध्यात्मिक साधनाओं का वर्णन है। सातवें अध्याय में रहस्यवाद और सहज साधनाओं का वर्णन है। आठवें अध्याय में संतों की बानियों की साहित्यिकता और अभिव्यक्ति पर विचार किया गया है। नवाँ अध्याय उपसंहार है। अन्त में परिशिष्ट में संतों के कुछ प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्दों पर विचार किया गया है। सबसे अन्त में सहायक ग्रंथों की, चौदह पृष्ठों की एक सूची लगी हुई है। ग्रंथकार ने ग्रंथ का उपसंहार इन शब्दों में किया है—

"संत मत की इतनी विवेचना करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह मध्ययुग की एक ऐसी विभूति है जिसने तत्कालीन धर्मक्षेत्र, अध्यात्मक्षेत्र, साधनाक्षेत्र, उपासनाक्षेत्र तथा आचरण आदि सभी क्षेत्रों में फैले हुए कृत्रिमता, जटिलता, अव्यावहारिकता, रूढ़िवादिता और पाखण्ड आदि के भयावह तिमिर में सहज का दीपक जलाकर सबको परिवर्तित और प्रकाशित करने का सफल प्रयास किया था। वह प्रकाश आज के युग का भी पथ-प्रदर्शन कर रहा है और भविष्य में युग-युग तक करता रहेगा ऐसा हमारा विश्वास है।"

ग्रंथ के नामकरण में 'पृष्ठभूमि' शब्द प्राप्त है। 'पृष्ठभूमि' से लेखक का तात्पर्य उन शास्त्रों और साधनाओं से है जिनसे निर्गुण मत के संत 'प्रभावित' हुए हैं। 'पृष्ठभूमि' को स्पष्ट करते हुए लेखक ने ऋग्वेद से प्रारम्भ कर उपनिषदों तक का उल्लेख किया है। आस्तिक और नास्तिक मत, हिन्दू, जैन तथा बौद्ध तन्त्र सबसे संतों को प्रभावित बताया गया है। प्रायः यह सुना गया है कि ये सब संत अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। इनमें से कुछ तो साक्षर भी नहीं थे। कबीर के विषय में ही उनके अनुयायी तक कहते हैं कि वे प्रातिभज्ञान से तत्त्व दर्शन करते थे, अक्षर-ज्ञान से नहीं। सुन्दरदासजी एक स्पष्ट अपवाद हैं। ऐसी स्थिति में यह बताना प्रस्तुत लेखक का उत्तरदायित्व था कि यह प्रभाव कैसे तथा किस माध्यम से पड़ा। इन संतों में अनेक योगी और साधक थे। ऐसी स्थिति में यह मानने में क्या आपत्ति थी कि इन संतों ने भी सत्य का साक्षात्कार किया। अनेक सत्य-द्रष्टाओं की बहुत सी बातें मिल जाती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने एक दूसरे के सिद्धान्तों का अपहरण किया है। भारत की साधनाओं का इतिहास बताता है कि एक साधना दूसरी के सम्पर्क में सदा आती रही है। अच्छे सिद्धान्त जड़ होकर स्थिर और अचल नहीं हो जाते। शैवों और बौद्धों के सिद्धान्तों में परस्पर का आदान-प्रदान हुआ है। वैष्णवों ने बौद्धों से बहुत कुछ लिया है। शैव तन्त्रों के सिद्धान्त, बौद्ध तन्त्रों के सिद्धान्त, वैष्णव तन्त्रों के सिद्धान्त एक-दूसरे पर प्रभाव डालते रहे हैं। गोरक्ष सम्प्रदाय की साधना और सिद्धान्त शैवों और बौद्धों की साधनाओं और सिद्धान्तों का सम्मिश्रण हैं। लेखक के कथन पारस्परिक प्रभाव और आदान-प्रदान के तथ्य को स्वीकृत नहीं करते; तथा न तो लेखक कहीं भी संतों को स्वतन्त्र चिन्तक होने का कुछ भी श्रेय देने को प्रस्तुत प्रतीत होता है। यह बात मानने के लिये भारतवर्ष कभी प्रस्तुत नहीं हो सकता। क्या सत्य के साक्षात्कार की दृष्टि गौणपाद को ही मिल सकती थी, नानक, तुकाराम और कबीर को नहीं। लेखक के ऐसे वाक्य संतों के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर देते है—

"इस प्रकार हम देखते हैं निर्गुण काव्यधारा के संतों के लिए साधना-मार्ग बहुत प्राचीनकाल से ही चिह्नित किया जाने लगा था।"

कुछ स्थानों पर लेखक ने कुछ बातें बड़ी दृढ़ता से कही हैं, पर अपनी बात की पुष्टि में कोई प्रमाण या तर्क नहीं दिया है। एक कथन देखिए—

"यहाँ पर हम इस बात का स्पष्ट संकेत कर देना चाहते हैं कि गौणपाद का दार्शनिक सिद्धान्त जिस प्रकार बौद्धों के शून्यवाद से प्रभावित था, उसी प्रकार यह प्रणववाद, शब्दवाद या व्याकरणदर्शन से भी अनुप्राणित था।"

यहाँ स्वभावतः यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त सिद्धान्त त्रिगुणायतजी

की देन हैं अथवा किसी अन्य प्रामाणिक व्यक्ति ने भी ये बातें कहीं हैं। यदि त्रिगुणायतजी की अपनी देन हैं तो प्रमाण और तर्क उपस्थित करना चाहिए था। यदि किसी अन्य ने ये बातें कही हैं तो उनके नामों और ग्रंथों का उल्लेख अत्यावश्यक था। गौणपाद को भी यह संदेह अवश्य हुआ था कि उनके सिद्धान्तों को बौद्ध सिद्धान्त घोषित करने वाले अवश्य होंगे, इसलिये अलात-शान्ति प्रकरण की अन्तिम कारिका में "नैतद्बुद्धेन भाषितम्" उन्हें कहना पड़ा। पर इसी प्रकरण के प्रारम्भ में जब उन्होंने निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग कर ही दिया तो उन्हें बौद्ध क्यों न घोषित किया जाय— "संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्।"

प्रस्तुत लेखक संतों को शंकराचार्य से सर्वाधिक प्रभावित मानते हैं—

"मेरी समझ में संत लोग शंकराचार्य से सर्वाधिक प्रभावित हुए थे"। पृ० १५०

किन्तु शास्त्र चर्चा के प्रसंग में किसी व्यक्ति-विशेष की समझ का कोई महत्त्व नहीं। शंकराचार्य के अद्वैत, माया तथा अध्यास सिद्धान्त संतों में कहाँ पर हैं यह दिखाना आवश्यक था। संतों की माया प्रपंच-प्रसार में मिथ्या उपादानत्व का ही काम नहीं करती है, बाजार लूटने भी निकलती है, आखेट भी खेलती है, बाघिन का रूप धारण करती है तथा डाइन के समान क्रूर भी है। ऐसी माया शंकर में नहीं ढूँढ़नी चाहिए। यह माया कुछ-कुछ विष्णु पुराण (तृतीय अंश, अठारहवाँ अध्याय) में मिल सकती है। इतना ही नहीं संतों की माया का पूरा-पूरा रूप समझने के लिये कुछ इधर-उधर भी झाँकना पड़ेगा। मुसलमान धर्म का शैतान भी माया का रूप धारण कर संतों के यहाँ प्रकट हुआ था। इस माया का समीकरण (equation) इस प्रकार है: संतों की माया=पौराणिक माया+इस्लाम का शैतान।

संतों में सर्ववाद की झलक देखकर उन्हें शारीरिक भाषा में निष्णात नहीं मान लेना चाहिए। सूफी साधना में भी एक समय अद्वैतवाद से मिलती-जुलती झलक आ गई थी। बारहवीं शताब्दी में 'इबनुल' अरबी ने इस्लाम के तौहीद सिद्धान्त की जो व्याख्या की वह अद्वैतवाद के निकट है, पर अद्वैतवाद नहीं है। 'वहदतुलवुजूद' का सिद्धान्त शांकर अद्वैतवाद नहीं है। इसी से मिलती-जुलती संतों की धारणाएँ हैं। पर आचार्य शंकर के सिद्धान्तों से संतों के सिद्धान्तों का मेल किसी प्रकार नहीं बैठाया जा सकता है। कहीं-कहीं प्राप्त उड़ती झलक के आधार पर व्यापक सिद्धान्त नहीं बनाये जा सकते। ऐसे स्थानों पर लेखक ने सूक्ष्म चिन्तन और स्पष्ट कथन का ध्यान नहीं रखा है। एक स्थान पर लिखा गया है "कहीं-कहीं तो संतों ने उपनिषदों के शब्दों का अनुवाद तक करके रख दिया है। जैसे श्रुतिवाक्य **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** का अनुवाद करते हुए दादू ने लिखा है—**दादू जाणे ब्रह्म को ब्रह्म सरीखा होय**"। क्या एव और सरीखा शब्द पर्याय हैं। मूल में और दादू की

पंक्ति में बहुत अन्तर है। पृष्ठ ११३ पर लिखा गया है "संतों ने जहाँ संहिताओं के एकेश्वरी अद्वैतवाद को स्वीकृत किया है, वहीं उपनिषदों के आध्यात्मिक अद्वैतवाद का प्रतिपादन भी किया है।" यहाँ लेखक ने यह स्पष्ट नहीं किया कि 'एकेश्वरी अद्वैतवाद' और 'आध्यात्मिक अद्वैतवाद' में क्या अन्तर है, तथा आचार्य शंकर का मत इन दोनों में से कौन है ? लेखक ने प्रायः 'अद्वैतवाद' पद का प्रयोग किया है पर कहीं भी इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। फल यह हुआ है कि पाठक स्थान-स्थान पर संशय में पड़ जाता है।

पृष्ठ ३५४ से ३५७ तक लेखक ने निरंजन मत के सम्बन्ध में लिखा है तथा अन्त में अपना निष्कर्ष दिया है "अतएव हमारा यह निष्कर्ष कि निर्गुणियाँ कवि निरंजन मत से बहुत अधिक प्रभावित थे, अनौचित्यपूर्ण नहीं है।" निरंजन मत के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किये बिना ही लेखक ने अपना निष्कर्ष दे दिया है। इस मत के विषय में लेखक ने जो कुछ लिखा है भ्रान्त है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी पर आक्षेप भी किया गया है जो असंगत है। द्विवेदीजी भली भाँति जानते हैं कि ठाकुरमत और राजस्थान का निरंजन मत भिन्न हैं। लेखक के अनुसार केवल उड़ीसा में इस मत के "दो चार अनुयायी मिलते हैं।" उड़ीसा में मिलने वाले ठाकुरमत के अनुयायी हैं। और निर्गुण सन्त-परम्परा के अनुयायी निरंजनी राजस्थान में सैकड़ों की संख्या में मिलते हैं। अब उनमें से अधिकांश मूर्त्तिपूजक हो गये हैं तथा मन्दिरों में पुजारी का काम भी करने लगे हैं। दादू महाविद्यालय के अध्यक्ष श्री मंगलदास स्वामी स्वयं निरंजन मत के अनुयायी हैं जिनसे इस मत के सम्बन्ध में बहुत कुछ जाना जा सकता है।

संतों ने 'नाद बिन्दु' शब्दों का कहीं-कहीं प्रयोग किया है। अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इन दोनों के विषय में संतों की धारणा स्पष्ट नहीं है। इन शब्दों का प्रयोग शाक्ततन्त्रों, बौद्धतन्त्रों, सिद्धों, गोरखपंथियों तथा संतों में मिलता है। संभव है और भी साधनाओं में ये शब्द आये हों। योग उपनिषदों में तो इन शब्दों का प्रयोग प्रायः हुआ है। लेखक ने सम्मति दी है कि शैव सिद्धान्तों और बौद्ध तान्त्रिकों से संतों ने ये शब्द लिये हैं। परन्तु शैवों और बौद्ध तान्त्रिकों ने इन शब्दों का प्रयोग भिन्न अर्थों में किया है। बौद्ध सिद्धों (सहजिया) ने इन शब्दों का क्रमशः प्रयोग एक-आध स्थान पर प्रज्ञा और करुणा के लिये किया है। लेखक ने कहीं भी यह स्पष्ट नहीं किया कि संतों की इस विषय में क्या धारणा थी तथा उस धारणा का मूल पूर्ववर्तिनी साधनाओं में कहाँ-कहाँ मिलता है।

रसेश्वर दर्शन का लेखक ने संतों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं माना है। संतों ने रामरसायन तथा रामरस शब्दों का प्रायः प्रयोग किया है। यह रसायन शब्द निश्चय रसेश्वर दर्शन की देन है।

पृष्ठ २३६ पर लेखक ने लिखा है कि तान्त्रिकों के अनुकरण पर संतों ने भी वर्णव्यवस्था का विरोध किया है । तान्त्रिक वर्णव्यवस्था नहीं मानते यह प्रचार करना तन्त्रमत को बहुत ही भ्रान्त रूप में उपस्थित करना है ।

पृष्ठ २८५ पर लिखा गया है "इस्लाम धर्म की सत्यनिष्ठा ने भी संत कवियों को कोई प्रेरणा प्रदान की हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।" सत्यनिष्ठा की प्रेरणा प्रदान करने के लिये भारतीय साधनाओं में पर्याप्त शक्ति थी ।

संतों पर गौणपाद का सिद्धान्त लेखक ने चार रूपों में स्वीकृत किया है—

(१) तुरीय का सिद्धान्त (२) कल्पनावाद
(३) अवच्छेदवाद (४) अद्वैतवाद ।

ये चारों बातें योगवासिष्ठ में मिलती हैं । ऐसी स्थिति में यह कैसे स्वीकृत किया जाय कि संतों ने आग्रहपूर्वक इन बातों को गौणपाद से लिया। योगवासिष्ठ और माण्डूक्य कारिका का पौर्वापर्य जब तक निश्चित नहीं हो जाता तब तक कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता । तुरीय का सिद्धान्त गौणपाद की देन है यह कोई भी विचारशील स्वीकृत नहीं कर सकता । चारों अवस्थाओं को प्रणव में स्थापित करना तथा ब्रह्म के चारों रूपों के साथ उनका क्रम स्थापित करना गौणपाद की देन है, बस ।

स्वर्गीय बड़थ्वालजी के सम्बन्ध में लेखक ने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनसे कोई विचारशील कभी सहमत न हो सकेगा । वे विचार ये हैं—

"डा० बड़थ्वाल ने निर्गुणियाँ कवियों का सांग और व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया है । किन्तु वे सन्तों की विचारधारा के प्राण को नहीं पकड़ सके । यही कारण है कि उन्होंने संतों की स्वतन्त्र आत्मा को विविध वादों के कठघरे में बन्द करने की चेष्टा की है । ऐसा करके उन्होंने संतों के साथ बड़ा अन्याय किया है । इससे उनका अध्ययन अनुसंधानपूर्ण और पाण्डित्यपूर्ण होते हुए भी दूषित हो गया है ।"

मुद्रण की अशुद्धियों से पुस्तक भरी हुई है । ऐसी अशुद्धियाँ प्रायः प्रत्येक पृष्ठ में मिल जाती हैं ।

इतने बड़े ग्रंथ में कुछ ऐसे स्थल रह जाना जिनसे कुछ लोग सहमत न हो सकें, आश्चर्य की बात नहीं है । यह ग्रंथ, त्रिगुणायतजी की हिन्दी संसार को अभिनन्दनीय देन है । मैं व्यक्तिगत रूप से लेखक का अभिनन्दन करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि अगले संस्करण में मुद्रण की अशुद्धियाँ अवश्य ठीक हो जायेंगी । सिद्धान्तों के विषय में तो मतैक्य न होना साधारण बात है ।

मध्ययुगीन प्रेमाख्यान

डा० सरला शुक्ल

'मध्ययुगीन प्रेमाख्यान' प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल० उपाधि के लिये शोधप्रबन्ध है। मध्ययुगीन सूफ़ी एवं असूफी प्रेमाख्यानों पर पृथक्-पृथक् कार्य लखनऊ विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में किया जा चुका था, किन्तु प्रेमाख्यानों की इस अविरल परम्परा का तुलनात्मक अध्ययन शेष था, जिसकी पूर्ति प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध कुछ सीमा तक करता है। लेखक तुलनात्मक अध्ययन पर विशेष प्रकाश डालता है, इस कारण पुस्तक में मध्ययुगीन प्रेमाख्यानों की उन्हीं प्रवृत्तियों की चर्चा आई है, जिनका तुलनात्मक दृष्टिकोण से महत्त्व है। ग्रन्थ का विभाजन नौ अध्यायों में किया गया है। प्रथम अध्याय में सूफ़ी मत, साहित्य तथा फ़ारसी के प्रेमाख्यान साहित्य का विवेचन है। सूफ़ीमत एवं साहित्य के विवेचन में कोई मौलिकता नहीं है जैसा लेखक स्वयं पृष्ठ संख्या ४ पर स्वीकार करता है। फिर भी फ़ारसी मसनवियों का तुलनात्मक अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। भारतीय प्रेमाख्यानों में अमीर खुसरो और फैज़ी की मसनवियों की चर्चा आती है। आलोच्य काल के अन्य फ़ारसी प्रेमाख्यान रचयिताओं का नवीन परिचय यदि हिन्दी जगत् को प्राप्त होता तो वह ग्रन्थ की अमूल्य देन होती क्योंकि खुसरो और फ़ैज़ी का कवि रूप अपरिचित नहीं है। फ़ारसी के राजभाषा होने के कारण १४००-१७०० ई० की दीर्घ अवधि में अन्य फ़ारसी मसनवी रचयिताओं की भी सम्भावना हो सकती है, जिनकी खोज की जानी चाहिए।

द्वितीय अध्याय "भारतीय साहित्य में प्रेमाख्यान" के अन्तर्गत संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के प्रेमाख्यानों का कथावस्तु, प्रेमनिरूपण की शैली एवं मध्ययुगीन प्रेमाख्यानों पर उसके प्रभाव को लेकर अध्ययन किया गया है। इस अध्याय में जिन प्रेमाख्यानों की चर्चा की गई है, उन पर इतिहास ग्रन्थों तथा अन्य शोध-प्रबन्धों द्वारा चर्चा हो चुकी है, किन्तु उपलब्ध सामग्री का तुलनात्मक दृष्टिकोण से

लेखक : डॉ० श्यामनारायण पाण्डेय
प्रकाशक : मित्र प्रकाशन प्रा० लि०, इलाहाबाद
मूल्य : दस रुपये

अध्ययन करते समय लेखक पिष्टपेषण को बचा ले गया है जो उसकी शैली की विशेषता है।

'सूफ़ी प्रेमाख्यान साहित्य' और 'असूफ़ी प्रेमाख्यान साहित्य' नामक अध्यायों की सामग्री में कोई शोध दृष्टिकोण लक्षित नहीं होता। कथाओं के कथानक, रचनाकाल, एवं गुरुपरम्परा पर यथेष्ट कार्य अन्यत्र हो चुका है। अन्य अध्यायों की भाँति इस विवेचन में तुलनात्मक अध्ययन भी नहीं किया गया है। वस्तुतः ये दोनों अध्ययन आगे के तीन अध्याय 'प्रेम-निरूपण—तुलनात्मक अध्ययन", "सूफ़ी तथा असूफ़ी कथानकों का संगठन—तुलनात्मक अध्ययन", "प्रेमाख्यानों का शील निरूपण—तुलनात्मक अध्ययन" की पृष्ठभूमि स्वरूप हैं और चर्चित सामग्री को बड़ी सरलता से इन अध्यायों में समाहित किया जा सकता था।

सूफ़ी एवं असूफ़ी प्रेमाख्यानों की प्रेमनिरूपण की परम्पराओं की समानताओं एवं विभिन्नताओं पर लेखक ने अच्छा प्रकाश डाला है। इसी प्रकार प्रेम की स्थिति, प्रेम और सौन्दर्य का सम्बन्ध, सूफ़ी प्रेम की परिणति, प्रेम साधना की मंजिलें आदि पर विस्तार से विचार किया गया है। मूलतः हिन्दी के सूफ़ी कवियों एवं फ़ारसी के सूफ़ी कवियों का प्रेम-संदेश एक होने पर भी भारतीय प्रभाव के कारण उसके निर्वाह में कितना अन्तर आ गया है, इस तथ्य का उद्घाटन करके लेखक ने अपनी सूझ का अच्छा परिचय दिया है।

प्रेमाख्यानों के कथा-संगठन में किस प्रकार विभिन्न तत्त्व एकाकार होकर नयी सृष्टि करते हैं, इस तथ्य का अध्ययन भी लेखक ने बड़ा सुरुचिपूर्ण किया है। भारतीय एवं फ़ारसी परम्पराओं का लोक-जीवन से संगम इन कथानकों की विशेषता है। हिन्दी प्रेमाख्यानों के नायकों की तुलना फ़ारसी प्रेमाख्यानों के नायकों से की गयी है। किन्तु लेखक ने इनमें नायिकाओं के तुलनात्मक अध्ययन को भुला दिया है। नायकों की तुलना करते समय एवं भारतीय प्रेमाख्यानों के शीलनिरूपण की विशेषताओं को बताते समय लेखक इस तथ्य के कारण की उद्भावना करना भी छोड़ जाता है कि सूफ़ी एवं अधिकांश असूफ़ी प्रेमाख्यानों के नायक, नायिका से मिलने के पूर्व विवाहित होते हैं। यदि अपनी प्रेम यात्रा पर अग्रसर होने के पूर्व नायक विवाहित नहीं है तो मार्ग में अवश्य ही ऐसा घटनाक्रम उपस्थित होता है कि नायक का पाणिग्रहण किसी अन्य राजकन्या से ही हो जाता है। इस क्षेत्र में 'मधुमालती' ऐसे एकाध अपवाद प्राप्त होते हैं। यहाँ सम्भावना होते हुए भी कवि पति-पत्नी सम्बन्ध की स्थापना न कर नायक को भाई-बहन के पवित्र बन्धन का स्मरण दिलाता है। कुछ नायिकाएं तथा नायक ऐसे हैं जिनका शील, सूफ़ी एवं असूफ़ी दोनों प्रकार के प्रेमाख्यानों में हुआ है। ऐसे चरित्रों का शील-निरूपण भी अपेक्षित था। लेखक ने इस अध्याय में एक नवीन कल्पना की है कि सूफ़ी प्रेमा-

ख्यानों का कोई नायक प्रारम्भ में गार्हस्थ्य जीवन में रुचि नहीं लेता। सूफ़ी कवियों ने नायकों को अपनी पत्नी में रुचि दिखाते नहीं चित्रित किया, वरन अपनी विवाहिताओं की उपेक्षा करते ही प्रदर्शित किया है। इस तथ्य की स्थापना इतनी सहजता से नहीं की जा सकती। पूर्व-पत्नियों की उपेक्षा नायक उसी समय आरम्भ करता है जब उसे परमेश्वर-रूप नायिका का रूप-संकेत मिल जाता है, उसके पहले के दाम्पत्य जीवन का या तो विस्तृत वर्णन नहीं है, अथवा जो कुछ भी सूक्ष्म संकेत मिलते हैं, उनसे उपेक्षा नहीं लक्षित होती। सूफ़ी तथा असूफ़ी प्रेमाख्यानों के शीलनिरूपण का तुलनात्मक अध्ययन नवीन उद्भावनाओं एवं स्थापनाओं के कारण महत्त्वपूर्ण है।

'प्रेमाख्यानों की प्रतीक-योजना' अध्याय में लेखक का असूफ़ी प्रेमाख्यानों की प्रतीक-योजना पर विचार सर्वथा नवीन है। सूफ़ी प्रतीकों की चर्चा करते समय लेखक ने सूफ़ी प्रेमाख्यानों में प्रस्तुत अन्योक्ति पर ही विशेष दृष्टि रखी है और इसीलिये साधना की मंजिलों, ईश्वर की प्रतीक नायिका तथा साधक के प्रतीक नायक की विस्तृत विवेचना है। संत कवियों के प्रेमाख्यानों पर सूफ़ी विचार-पद्धति का कितना प्रभाव है, इस ओर भी लेखक ने संकेत किया है। वस्तुतः साधक कवियों की प्रतीक योजना पर स्वतन्त्र रूप से कार्य करना शेष है। लेखक अपने तुलनात्मक दृष्टिकोण को प्रधान रखते हुए यहाँ भी सूफ़ी तथा असूफ़ी प्रेमाख्यानों की प्रतीक योजना का तुलनात्मक अध्ययन करता है।

'भाषा तथा शैली' अध्याय कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। मसनवी के सम्बन्ध में व्याप्त धारणाओं का विवेचन करके उसके संक्षिप्त इतिहास एवं सही ढाँचे को पाठक वर्ग के सम्मुख रखने का सम्भवतः यह प्रथम प्रयास है। सूफ़ी कवि जिस क्षेत्र में रहे हैं, वहीं की भाषा में काव्य लिखते रहे हैं—इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी लेखक ने एक नई सम्भावना भी उपस्थित की है कि "ऐसा हो सकता है कि एक बार जब मुल्लादाऊद ने अवधी भाषा को ग्रहण कर लिया तो फिर अवधी तथा पूर्वी हिन्दी क्षेत्र के सूफ़ियों के लिये यह काव्य की साम्प्रदायिक भाषा बन गयी।" इस स्थापना को स्वीकार करने के लिये जिन पूर्वप्रमाणों का होना आवश्यक है, प्रबन्ध में उनका निरूपण नहीं किया गया है। अवधी यदि साम्प्रदायिक भाषा बन गयी थी तो सूफ़ी प्रेमाख्यानों में इसका संकेत अवश्य मिलता, सूफ़ी कवि अपनी कृति एवं सम्प्रदाय परम्परा के सम्बन्ध में मौन नहीं रहे हैं, उन्होंने प्रेमाख्यानों की परम्परा का भी उल्लेख किया है। कहीं-कहीं अन्य कृतियों से इस विशेष कवि की कृति किस प्रकार भिन्न है या एक विशेष कथानक को ही लेखक ने क्यों उठाया—आदि की चर्चा भी है। अतः इस बात की भी पूरी सम्भावना थी कि ये कवि अवधी एवं उसके महत्त्व पर भी प्रकाश डालते। इसके अतिरिक्त जब तक अवधी-क्षेत्र से पृथक् क्षेत्र के निवासी कवि प्रचुर मात्रा में अवधी में ही प्रेमाख्यानों की रचना करते हुए

न मिल जायँ, तब तक यह स्वीकार करना कठिन होगा कि सूफ़ी प्रेमाख्यानों के लिये अवधी ही स्वीकृत साम्प्रदायिक माध्यम थी ।

हिन्दी प्रेमाख्यानों के लगभग ३०० वर्ष प्रस्तुत प्रबन्ध में आलोचित हैं। प्रेमाख्यानों के तुलनात्मक अध्ययन पर यह प्रथम प्रबन्ध है । लेखक ने पूर्ववर्ती सामग्री का भली प्रकार आलोड़न किया है, किन्तु व्याख्याएँ एवं स्थापनाएँ करते समय उसका स्वतन्त्र दृष्टिकोण रहा है । शोध-प्रबन्ध के दो मुख्य कार्यों—अप्राप्त तथ्यों या ग्रंथों की खोज, दूसरे अप्राप्त तथ्यों या ग्रन्थों के आधार पर निष्कर्षों की उपलब्धि में से निष्कर्षों की उपलब्धि के दृष्टिकोण से प्रस्तुत प्रबन्ध महत्त्वपूर्ण है ।

———

ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प

डा० सत्येंद्र

यह ग्रन्थ लखनऊ विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए लिखा गया शोध-प्रबन्ध है।

शोध का कार्य किसी समस्या को लेकर किया जाता है। यह समस्या किसी भी प्रकार की हो सकती है। वैसे किसी सामान्य धारणा की पुष्टि-अपुष्टि के लिए, किसी नई व्याख्या के लिए, किसी नयी सामग्री को जानने के लिए।

यह शोध जिस समस्या को लेकर चला है, उसका संकेत हमें प्राक्कथन के सबसे आरम्भ के वाक्यों से मिलता है :—

'साधारण विश्वास है कि कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प का स्थान बहुत गौण है। उनके गीत भावों के चरम उद्रेक के क्षणों में निःसृत हुए हैं, अतएव उनकी उक्ति स्वयं कलात्मक बन गई है, उस क्षेत्र में जागरूक प्रयोग नहीं किए गए हैं परन्तु यह विचार भ्रामक है।'

तो लेखिका ने समस्या ली कि क्या "कृष्ण-भक्त कवि अभिव्यंजना-शिल्प के प्रति जागरूक थे ?" इस समस्या के अनुसंधान में लेखिका ने जो प्रणाली अपनायी वह उसी के शब्दों में यों है :

"लेखिका के मन में कोई पूर्व-निर्णीत धारणाएँ नहीं थीं। उपलब्ध सामग्री के वस्तु-परक शोध द्वारा जो निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं, वे ही स्वीकार किए गए हैं।" निस्सन्देह यही मनोवृत्ति वैज्ञानिक मनोवृत्ति है, और वह इसी निष्कर्ष पर पहुँची है कि कृष्ण-भक्त कवि अभिव्यंजना-शिल्प के प्रति जागरुक थे।

लेखिका : डा० सावित्री सिन्हा
प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
मूल्य : २० रुपये

यह प्रबन्ध 'भूमिका' तथा उपसंहार सहित नौ अध्यायों में (भूमिका + सात अध्याय + उपसंहार) है। भूमिका में अभिव्यंजना-शिल्प के सैद्धान्तिक पक्ष को तो स्पष्ट किया ही गया है, उसके साथ ही सूर-पूर्व ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य पर संक्षेप में अपना अभिमत भी यहीं दे दिया गया है, तथा ब्रज के कृष्ण-भक्ति काव्य का एक संक्षिप्त सर्वेक्षण भी दे दिया गया है।

प्रथम अध्याय में कृष्ण-भक्त कवियों के प्रतिपाद्य को स्पष्ट किया गया है। द्वितीय अध्याय में कृष्ण-भक्त कवियों की भाषा के शब्द-समूह में अभिव्यंजना-शिल्प का अनुसंधान किया गया है। तृतीय में भाषा के वर्ण-योजना तथा शब्दालंकार पक्ष को लिया गया है। चतुर्थ अध्याय कृष्णभक्त कवियों की लक्षित चित्र-योजना से सम्बन्धित है। पंचम अध्याय में अप्रस्तुत-योजना का कौशल दिखाया गया है, अर्थात् अलंकारों (अर्थालंकारों) का निरूपण है। छठे अध्याय में संगीत तथा छन्द पर प्रकाश डाला गया है। सातवाँ अध्याय है काव्यरूप विषयक। उपसंहार में सिद्धि का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

प्रबन्ध का यह विधान इसमें सन्देह नहीं रहने देता कि लेखिका ने अभि-व्यंजना के सभी पक्षों को अनुसंधान का विषय बनाया है।

प्रतिपाद्य है 'कृष्णभक्ति काव्य में अभिव्यंजना शिल्प'। लेखिका ने लिखा है कि 'काव्य के अभिव्यंजना-पक्ष के लिए हिन्दी में मुख्य रूप से तीन शब्द स्वीकार किए गए हैं : अभिव्यंजना, शिल्प और कला। प्रथम शब्द अंग्रेजी के एक्सप्रेशन, द्वितीय क्राफ़्ट और तृतीय आर्ट का समानार्थी है। प्रस्तुत प्रबन्ध का शीर्षक है ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प अर्थात् काव्य में व्यक्तीकरण की कला। अपने इस अभिप्राय को लेखिका ने आगे और अनुसंधान-पूर्वक प्रकट किया है। अभिव्यंजना अंग्रेजी के 'एक्सप्रेशन' के पर्याय के रूप में प्रयोग में आता है। इसके विविध अर्थों का परिश्रमपूर्वक विवेचन कर यह निष्कर्ष निकाला गया है : 'अभि-व्यंजना शब्द के विभिन्न अंगों का विश्लेषण करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि अभिव्यंजना व्यक्तीकरण की चेतन प्रक्रिया है।' यहाँ हम देखते हैं ऊपर जो परिभाषा दी गयी थी, उसका 'व्यक्तीकरण' शब्द तो ज्यों-का-त्यों है, कला को 'चेतन प्रक्रिया' में रूपान्तरित किया गया है। अतः शिल्प-कला—'चेतन प्रक्रिया' वस्तुतः चेतन प्रक्रिया-युक्त कला ही शिल्प है या क्राफ्ट है।

इस प्रकार यहाँ अभिव्यंजना-शिल्प का अर्थ पूर्णतः सिद्ध होता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या अभिव्यंजना का पृथक् अस्तित्व है ?

इस प्रश्न पर विचार करने के लिए प्रस्तुत होते ही क्रोचे का नाम सामने आ

जाता है। सभी जानते हैं कि 'अभिव्यंजना' को एक प्रमुख वाद के रूप में प्रस्तुत करने का प्रधान श्रेय क्रोचे को ही है। इधर भारतीय साहित्यशास्त्र में 'वक्रोक्ति' संप्रदाय के प्रवर्त्तक कुन्तक भी सामने आ जाते हैं। इन दोनों के साथ हिन्दी के भी दो मूर्धन्य विद्वानों को इस प्रसंग में स्मरण करना अनिवार्य होता है—ये हैं स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० नगेन्द्र। लेखिका ने इन चारों की स्थिति पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। इस विचारणा में उसकी दृष्टि उच्च विवेक से युक्त रही है। अन्ततः उसका निष्कर्ष यही है कि—

"काव्य की आलोचना तथा उसके विश्लेषण के लिए अभिव्यंजना के तत्त्वों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना अनिवार्य है।"

मूल प्रश्न के दार्शनिक पहलू पर विचार करने का अवकाश ऐसे प्रबन्ध में नहीं हो सकता। लेखिका ने, अतः, यह उचित ही किया है कि समस्या के पक्षों को इंगित करके अपने उद्देश्य को प्रतिपादन करने वाले निष्कर्ष को प्रेषित कर दिया है। उक्त विचार-विमर्श में अभिव्यंजना की प्रक्रिया को भी स्पष्ट कर दिया गया है।

अब जब अभिव्यंजना और उसके तत्त्वों को हमने जान लिया है तो कृष्ण-भक्ति काव्य में उनके अनुसंधान के लिए प्रवृत्त हुआ जा सकता है।

'कृष्ण-भक्ति काव्य' का महत्त्वपूर्ण प्रवर्त्तन सूरदास से माना जा सकता है। 'सूर' से ही एक प्रकार से ब्रजभाषा का और कृष्णकाव्य का आरम्भ इतिहास में माना जाता रहा है। लेखिका ने बताया है कि—

"कृष्णकाव्य परम्परा के विकास का प्रमुख श्रेय आचार्य वल्लभ और उनके पुत्र विट्ठलदास जी को है।"

सूर के काव्य को और उनकी भाषागत तथा अभिव्यंजनागत सम्पन्न उपलब्धि को देखकर आचार्य शुक्ल को भी आश्चर्य हुआ था कि बिना पूर्व परम्परा के भी ऐसा काव्य सूर कैसे प्रस्तुत कर सके ? इधर शुक्ल जी के इतिहास के उपरांत हिन्दी में अनुसंधान की प्रवृत्ति और क्षेत्र बहुत विस्तृत हुआ है। इसी के परिणामस्वरूप सूर-पूर्व के ब्रजभाषा के कितने ही ग्रन्थों का पता चला, उनके आधार पर पी-एच.डी. के लिए एक प्रबन्ध भी प्रस्तुत हो चुका है। लेखिका ने उसी प्रबन्ध के आधार पर संक्षेप में सूर-पूर्व के कृष्णभक्ति काव्य पर अपने विचार दिए हैं। उन्होंने यह बताया है कि—

"कृष्णभक्ति-सम्बन्धी अप्रकाशित ग्रन्थों को लेखक ने जिस रूप में हमारे सामने रखा है, उसे उसी रूप में स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है।"

और कोई चारा नहीं है पर कोई आपत्ति कर सकता है कि क्यों ? लेखिका को क्या यह उचित नहीं था कि वह भी उन ग्रन्थों को स्वयं देखती और तब अपना अभिमत देतीं। किन्तु यह वस्तुतः अनुसन्धान की सीमाओं से सम्बन्धित है। लेखिका ने आदि से अन्त तक प्रकाशित और उपलब्ध साहित्य-सामग्री तक ही अपने अनुसंधान को सीमित रखा है। अतः अप्रकाशित और अनुपलब्ध साहित्य को भी आधार बनाने का प्रश्न उठाना समीचीन नहीं प्रतीत होता। फलतः लेखिका ने पुष्टिमार्ग से ही इस परम्परा का विकास माना है। लेखिका ने पूर्व मध्यकाल से ८ कवि, उत्तर मध्यकाल से ६ और आधुनिक काल से २ कवि चुने हैं, और उन्हीं में अभिव्यंजना-शिल्प दिखाया है।

यहीं के बाद मुख्य प्रतिपाद्य आरम्भ होता है। पहले कृष्णकाव्य के मूल स्रोत भागवत का संकेत कर यह बताया गया है कि आलम्बन परम्परा-प्राप्त था, यह परम्परा पौराणिक थी।

लेखिका ने भक्त-कवियों के प्रतिपाद्य को चार भागों में विभाजित करके तब उनका निरूपण किया है। चार भाग ये हैं :—

१— अनुभूत्यात्मक (अ) राग-प्रधान (आ) अनुभूति-प्रेरित कल्पना-प्रधान

२— दार्शनिक (व्याख्यात्मक)

३— विवरणात्मक

४— चमत्कारवादी तथा रीतिबद्ध

लेखिका ने गहरे पैठकर इन चारों का स्वरूप स्पष्ट किया है। यद्यपि कहीं-कहीं विविध कवियों के वर्ण्य विषयों की सूची ही देखकर कुछ असन्तोष-सा होता है, पर उससे प्रतिपाद्य को ग्रहण करने में बाधा नहीं पड़ती।

तब आता है 'कृष्ण-भक्त कवियों की भाषा' में अभिव्यंजना का निरूपण। इसमें पहले शब्द और काव्य के सम्बन्ध में सामान्य भूमिका देकर कृष्ण-भक्त कवियों की शब्द-योजना में तत्सम, अर्द्धतत्सम, तद्भव, विदेशी शब्द, उपभाषाओं के शब्द, अनुकरणात्मक शब्द, शब्द-निर्माण का अनुसन्धान किया गया है। तत्सम शब्दों के प्रयोग, प्रकार तथा सौन्दर्य पर अच्छा लिखा है। यह यों हमें पहले ही बतला दिया गया है :

"उदाहरण रूप में प्रत्येक कवि की रचनाओं में से कुछ ही शब्दों का संकलन यहाँ किया जाता है।"

यह बात कही तो गयी है अर्द्धतत्समों के लिए, पर सभी प्रकार के शब्दों के सम्बन्ध में इसी विधि का उपयोग किया गया है।

इससे कृष्णभक्त कवियों की शब्द-सम्पत्ति के सभी प्रकारों पर तो प्रकाश पड़ता ही है, उनके उपयोग की क्षमता और प्रणाली का भी उद्घाटन हो जाता है। यह सब अत्यन्त परिश्रमपूर्वक और विद्वत्तापूर्वक किया गया है किन्तु यदि इसके उपयोग में कवियों के शिल्प-कौशल पर भी और प्रकाश डाला गया होता तो उनका लक्ष्य और भी अधिक सिद्ध होता। उनके प्रयुक्त विविध प्रकार के शब्दों की सम्पत्ति और उनके रूपों की चर्चा से ही हमारा संतोष नहीं होता। हम यह भी जानना चाहते हैं कि उनसे किस प्रकार के काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि हुई है। इस सौन्दर्य को जहाँ-तहाँ तो लेखिका ने स्पष्ट किया है या इंगित किया है, पर इसी पर कुछ और बल देना अपेक्षित था। कहीं-कहीं लेखिका के मन से सहसा सहमत होना कठिन प्रतीत होता है। शब्दों के निर्माण की चर्चा में विशेष सावधानी अपेक्षित थी। कहीं ऐसा तो नहीं कि जिस शब्द को लेखिका ने निर्माण माना है वह ब्रजभाषा के क्षेत्र का सामान्य प्रचलित शब्द ही हो। यही बात लोकोक्तियों और मुहावरों के सम्बन्ध में है। लेखिका ने लिखा है : "मुहावरों और लोकोक्तियों की तालिका यहाँ प्रस्तुत की जा रही है। वास्तव में ये ही वे मीठे शस्त्र हैं जिनके प्रहारों की बौछार के आगे कृष्ण के निर्गुण रूप तथा उद्धव के योग को शस्त्र डाल देना पड़ा था।" इससे यह तो प्रकट होता है कि ये शस्त्र हैं, चोट करते हैं और मीठे भी हैं, पर लेखिका ने यह निष्कर्ष किस प्रकार प्राप्त किया यह विदित नहीं होता है।

वर्ण-योजना तथा शब्दालंकार में भी लेखिका की पैनी दृष्टि ने कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में से उन स्थलों को चुनकर स्पष्ट किया है जो अभिव्यंजना-शिल्प को प्रकट करते हैं। हमें इस विवेचन से प्रत्येक कवि में इस शिल्प का अलग अलग महत्त्व भी प्रतीत होने लगता है। इस अध्याय में लेखिका ने अत्यन्त मनोयोग से अभिव्यंजना-शिल्प की सामर्थ्य को स्पष्ट किया है। चतुर्थ और पंचम अध्याय अत्यन्त परिश्रम और सुन्दरतापूर्वक लिखे गये हैं। शिल्प-चित्र अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे समक्ष उभर आते हैं और कवियों की यथार्थ शक्ति का यथार्थ ज्ञान हमें हो जाता है।

आगे के अध्यायों में संगीत और छन्द तथा काव्यरूपों का भी भली प्रकार उद्घाटन किया गया है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से यह अभिव्यंजना-शिल्प-विषयक अध्ययन परिपूर्ण प्रतीत होता है।

और हम लेखिका के साथ यह कह सकते हैं कि :

"राधा-कृष्ण के रूप और गुण की अमूर्त कल्पना तथा अपनी संवेदनात्मक

अनुभूति के चरम क्षणों की अखंडता की रक्षा करते हुए उन्हें जो रूपात्मक आवरण इन कवियों ने प्रदान किया है, उसका स्थायित्व उसमें निहित कला के शाश्वत रूप का ही प्रमाण और प्रतीक है।"

और लेखिका के सम्बन्ध में इससे आगे बढ़कर हम यह कह सकते हैं कि उसका यह प्रबन्ध उस सबके मूल्यांकन के सफल प्रयत्न का प्रमाण और प्रतीक है।

तुलसी-दर्शन-मीमांसा

डा० चन्द्रधर शर्मा

प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ डा० उदयभानु सिंह का लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है । गोस्वामी तुलसीदास के काव्य-रूप, कथा-तन्त्र, शिल्प-विधि तथा व्यावहारिक एवं सामाजिक दर्शन को स्पष्ट करने वाली समीक्षायें तो बहुत हैं, किन्तु उनके अध्यात्म और तत्त्व-दर्शन की विवेचना करने वाला जो भी कार्य अद्यावधि हुआ है वह, परिमाण और गुण दोनों दृष्टियों से, न्यून ही है । डा० जे० एन० कारपेन्टर की पुस्तक 'दि थियॉलॉजी ऑफ तुलसीदास' में ईसाई मिशनरी दृष्टिकोण स्पष्ट है । डा० बलदेव प्रसाद मिश्र का शोध-प्रबन्ध 'तुलसी-दर्शन' अधिकांशत: तुलसी के व्यावहारिक और सामाजिक दर्शनालोचन की सामग्री से आपूर है; तत्त्व-दर्शन की चर्चा सूत्ररूप में उपनिबद्ध है । डा० माताप्रसाद गुप्त के 'तुलसीदास' में विवेचन की अपेक्षा विवरण की प्रधानता है । डा० रामदत्त भारद्वाज का आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध 'दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ तुलसीदास' और डा० राजाराम रस्तोगी का पटना विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध 'तुलसीदास : जीवनी और विचारधारा' अभी अप्रकाशित हैं । इस दृष्टि से डॉ० उदयभानु सिंह का प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ तुलसी-दर्शन समीक्षा की दिशा में प्रशंसनीय प्रयास है । तुलसी-साहित्य का मन्थन करके गोस्वामीजी के दार्शनिक विचारों का शास्त्रीय दृष्टि से वर्गीकरण, विश्लेषण और विवेचन करने एवं उनके वैशिष्टय का आकलन करने के लिये डॉ० सिंह बधाई के पात्र हैं । उन्होंने इस ग्रन्थ में प्राचीन आधारों और नवीनतम निर्देशों का सम्यक् उपयोग किया है एव अपने विस्तृत अध्ययन तथा अन्वेषण-रुचि का पर्याप्त परिचय दिया है ।

लेखक : डा० उदयभानु सिंह

प्रकाशक : लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

पृष्ठ संख्या : ४०६+५५

मूल्य : १८ रुपये

डॉ० सिंह ने तुलसी-साहित्य में 'बहुधा उल्लिखित काल-कर्म-स्वभाव-गुण एवं सृष्टि, त्रिविध शरीर, पञ्चकोश, अन्तःकरण-चतुष्टय, धर्मदर्शन, भक्ति रस आदि अव्याख्यात अथवा अल्प-व्याख्यात विषयों का व्यवस्थित व्याख्यान' (पृ० ९) किया है, फिर भी, तुलसी की आध्यात्मिक दृष्टि और दार्शनिक विचारधारा को उद्घाटित करने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण विचार-बिन्दु छूट गये हैं जिनका व्याख्यान आवश्यक था; यथा—ब्रह्म का वेदान्तवेद्यत्व, आत्मा का स्वप्रकाशत्व, अविद्या का जगत्कारणत्व, ख्याति का अनिर्वचनीयत्व, आत्म और अनात्म का इतरेतराध्यास, परिणामवाद और विवर्तवाद का भेदनिरूपण, प्रमातृ चैतन्य का स्वरूप निर्देश, कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि की व्यवहारिकता का उपपादन आदि-आदि। तुलसी-साहित्य में उक्त विषयों से सम्बन्धित प्रभूत और पुष्कल सामग्री है।

डॉ० सिंह की प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ में मूलभूत मान्यता यह रही है कि तुलसी का दर्शन 'समन्वयवादी' और उनकी विचारधारा 'पौराणिक' है (पृ० ३६५)। लेखक के अनुसार 'तुलसी को किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध करना न्याय्य नहीं है। उनकी प्रतिभा सारग्राहिणी है। उनका साहित्य मधुकोश है' (पृ० ३३५)। लेखक के अनुसार तुलसी ने वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण आदि आप्त ग्रन्थों से और शंकर, रामानुज, वल्लभ आदि आचार्यों के दार्शनिक विचारों से 'ग्राह्य विचारों का ग्रहण किया है' और 'अग्राह्य विचारों के विरुद्ध अपनी मान्यता उपस्थापित की है' (पृ० ३३५)। 'तुलसीदास की रचनाएँ पुराणों की धार्मिकता, समन्वय-भावना, अवतार-वादिता और भक्ति-निष्ठा से आद्योपान्त अनुप्राणित हैं' (पृ० ३६५)। डॉ० सिंह के इन विचारों में सत्य का पर्याप्त अंश विद्यमान है और उनकी ये मान्यताएँ सामान्य दृष्टि से उचित ही हैं, किन्तु जिस रूप में उन्होंने इनका प्रतिपादन किया है उसमें अनेक दोष और असंगतियाँ आ गई हैं। मेरे विचार से डॉ० सिंह न तो शांकर दर्शन का मर्म समझ पाये हैं और न उन्होंने पुराण-दर्शन का उचित मूल्यांकन किया है। पुराण-दर्शन वेद-उपनिषद्-दर्शन से विलक्षण है; तुलसी ने भेद-निरूपण को प्रधानता दी है; तुलसी के अनुसार तत्त्व तीन हैं और जीव तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर से भिन्न एवं स्वरूपतः नित्य है; माया ईश्वर की सत्य शक्ति है; भक्ति मुख्य और ज्ञान मोघ है; दास भाव से वैकुण्ठधाम में निवास ही आदर्श मुक्ति है; ब्रह्म स्वरूपतः निर्गुण और सगुण दोनों है और सगुण-सविशेष राम ही परब्रह्म है आदि अनेक मान्यताएँ जो डॉ० सिंह ने उपस्थापित की हैं निःसन्देह मिथ्या हैं और तुलसी पर इन विचारों का आरोप करना लेखक के अपने पूर्वाग्रह और भ्रान्त धारणाओं का परिणाम है।

भले ही तुलसी-दर्शन को किसी दार्शनिक समुदाय से सम्बद्ध करना अथवा तुलसी को किसी सम्प्रदाय-विशेष की परिधि में खींचना उचित न हो, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि तुलसी-दर्शन की वृत्ति मात्र 'मधुकरी' है या तुलसी का अपना

कोई दर्शन नहीं है या उनके दर्शन को किसी मूलभूत दार्शनिक दृष्टि के अन्तर्गत नहीं रक्खा जा सकता। वस्तुतः पुराणों में व्यावहारिक पद्धति से वेदोपनिषद्-दर्शन का ही उपबृंहण हुआ है—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।' स्वयं आचार्य शंकर की महत्ता इसमें निहित है कि उन्होंने पारमार्थिक अद्वैत का प्रतिपादन करते हुए भी जगत्-प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता और उपयोगिता को अक्षुण्ण रक्खा। यह विचार कि अद्वैत में कर्म, भक्ति और उपासना को उचित स्थान नहीं दिया गया, सर्वथा भ्रान्त है। अद्वैत के कर्म और भक्ति पक्ष का परिचय शंकराचार्य के कर्मठ जीवन और प्रेरक स्तोत्रों से तथा मुनिवर मधुसूदन सरस्वती रचित 'भक्ति-रसायन' से प्राप्त किया जा सकता है। भागवत-पुराण में अद्वैत-दर्शन की प्रधानता और उसकी व्यावहारिक उपयोगिता का अत्यन्त सुन्दर और विशद वर्णन उपलब्ध है। मेरे विचार से 'मानस' पर सबसे अधिक प्रभाव 'भागवत' का है। दोनों में मंगलश्लोक अद्वैत सिद्धान्त की और प्रतिज्ञा-वचन निगम-सम्मतता की स्पष्ट घोषणा करते हैं और दोनों की प्रतिपाद्य वस्तु, वर्णन और शैली में समानता है। निःसन्देह गोस्वामी तुलसीदास की मूल दार्शनिक दृष्टि अद्वैत की है और अद्वैत के व्यवहार पक्ष का जन-जीवन में सर्वाङ्गीण शिव-सुन्दर विनियोग एवं उन्नायक उपयोग किस प्रकार सम्भव हो सकता है, उसे सिद्ध करने के लिये हिन्दी में 'रामचरित मानस' से बढ़कर और कोई ग्रन्थ नहीं है। आश्चर्य है कि डॉ० उदयभानु सिंह जैसे प्रौढ़ अनु-सन्धाता की दृष्टि से यह ज्वलन्त सत्य किस प्रकार तिरोहित हो गया और तुलसी-दर्शन को किसी दार्शनिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध करना न्याय्य न मानते हुए भी उन्होंने तुलसी-दर्शन को भेद-परक एवं सगुण-मूलक मानकर उसे विशिष्टाद्वैत और द्वैत दर्शन से सम्बद्ध करना उचित समझा!

डॉ० सिंह का कथन है कि 'तुलसी ने अपनी मधुकरी वृत्ति के अनुसार भारतीय वाङ्मय से जो कुछ भी आदेय प्रतीत हुआ, उसे बिना किसी संकोच के ग्रहण किया, परन्तु उनके प्रधान उत्तमर्ण पुराण ही हैं' (पृ० ३६२-६३)। यद्यपि पुराण-दर्शन तथा श्रुति-स्मृति-दर्शन में कोई मौलिक भेद नहीं है, तथापि यह मानने का कोई कारण नहीं है कि तुलसी साक्षात् श्रुतियों और स्मृतियों से प्रभावित न होकर पुराणों की मध्यस्थता से प्रभावित हुए जब कि उपनिषदों की विचारधारा का ही नहीं, अपितु उनकी पदावली का भी मांसल प्रभाव 'मानस' पर पदे-पदे परिलक्षित होता है। इस सन्दर्भ मे म० म० प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का लेख 'गोस्वामीजी के दार्शनिक विचार' (तुलसी ग्रन्थावली, तीसरा खण्ड) मननीय है और इस प्रकार के अनेकशः उदाहरण-उद्धरण श्री श्रीश कुमार की पुस्तक 'मानस : बालाकाण्ड के स्रोत' में उपलब्ध हैं।

'मानस' के मंगलश्लोक में ही अद्वैत का उपन्यास हुआ है (यत्सत्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः) और अद्वैत की पारमार्थिकता तथा पारमार्थिक

द्वैत की निन्दा और खण्डन प्रबल एवं सुस्पष्ट शब्दों में स्थान-स्थान पर उपलब्ध हैं। रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत, वारि-वीचि, स्वप्न-पदार्थ, मरु-मरीचिका आदि विवर्तवाद के प्रसिद्ध दृष्टान्तों का भी 'मानस' में प्राचुर्य है। दर्शन का इतिहास साक्षी है कि अद्वैतवाद के अनुसार तो व्यावहारिक द्वैत के महत्त्व और उपयोगिता की सिद्धि हो जाती है, किन्तु द्वैतवाद के अनुसार पारमार्थिक अद्वैत की संगति कथमपि नहीं होती। द्वैतवादी विवर्तवाद के रज्जुसर्पादिक दृष्टान्तों से उसी प्रकार भड़कते हैं जिस प्रकार लाल कपडे से साँड। अतः जब अद्वैत और द्वैत के वाक्यों का एकत्र समावेश हो तो विरोध-परिहार के लिये पारमार्थिक अद्वैत और व्यावहारिक द्वैत मानना अपरिहार्य है। 'समन्वय' व्यावहारिक दृष्टि से ही संभव है और परमार्थ तथा व्यवहार की पुष्टि अद्वैतवाद में ही हो सकती है। पारमार्थिक दृष्टि से निगुण और सगुण में, ब्रह्म और ईश्वर में, ब्रह्म और जीव में, ईश्वर और जीव में, जीव और जीव में, ब्रह्म और जगत् में, परम ज्ञान और परा भक्ति में कोई भेद नहीं रह जाता क्योंकि भक्ति का ज्ञान में, जीव का ब्रह्म में और सगुण का निर्गुण में विलय हो जाता है। अतः 'स्वरूपतः निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है' इस वाक्य से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता (जो डॉ० सिंह ने निकाला है) कि 'तुलसी के राम स्वरूपतः सगुण हैं।' तुलसी के अनुसार राम औपनिषद पुरुष हैं, पर ब्रह्म हैं और समस्त भेद व्यावहारिक हैं, पारमार्थिक नहीं; अन्यथा तुलसी-साहित्य में पदे-पदे प्राप्त अद्वैत-वाक्यों की संगति कदापि सिद्ध नहीं होगी। फिर, 'एक अनीह अरूप अनामा', 'सकल विकाररहित गतभेदा', 'द्वैत कि बिनु अज्ञान', 'सेवत साधु द्वैत भय भागे', 'दसरथ भेद-भगति उर लावा। तातें उमा मोक्ष नहिं पावा', 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजग बिनु रजु पहिचाने', 'जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई', रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानुकर वारि। जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि', 'सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा। वारिबीचि इव गावहिं वेदा', 'मुधा भेद जदपि कृत माया' आदि आदि अनेक वचनों का क्या होगा? डॉ० सिंह यह कह कर मुक्त नहीं हो सकते कि 'तुलसी दर्शन के अनेक सिद्धान्त शांकर मत के अनुकूल हैं' (पृ० ३४३) परन्तु 'उक्त समानताओं के आधार पर तुलसीदास को केवलाद्वैतवादी मान बैठना तर्कसंगत नहीं है' (पृ० ३४४)। डॉ० सिंह ने तुलसी-दर्शन का शांकर-दर्शन से जो वैषम्य बताने का प्रयास किया है (पृ० ३४५) वह नितान्त भ्रामक है। उदाहरणार्थ, 'अद्वैतवाद निर्गुण और सगुण ब्रह्म में भेद मानता है, तुलसी की दृष्टि में ब्रह्म स्वरूपतः निर्गुण और सगुण दोनों है' और 'अद्वैत वेदान्त ज्ञानमार्गी है। तुलसी के अनुसार भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र अमोघ साधन है' इन उक्तियों में विरोध और एकांगिता स्पष्ट है। 'तुलसी का प्राप्य भेद भक्ति है' (पृ० ३४५) यह वाक्य लिखते समय डॉ० सिंह तुलसी की यह चौपाई भूल गये— 'दसरथ भेद-भगति उर लावा। तातें उमा मोक्ष नहिं पावा'। यदि डॉ० सिंह का यह कथन विश्वस्त माना जाय कि 'तुलसी की दृष्टि में दासभाव से भगवान् के समीप उनके वैकुंठधाम में निवास ही आदर्श मुक्ति है' (पृ० ३४५) तो 'सरिता जल जलनिधि

महुँ जाई । होइ अचल जिमि जिव हरि पाई' और 'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई' आदि अनेक पंक्तियों की व्यवस्था किस प्रकार होगी ? जहाँ तक भक्ति और ज्ञान में मोक्ष-साधनता की बात है, तुलसी ने ज्ञान-दीप और भक्ति-चिन्तामणि के तुलनात्मक दृष्टान्त में अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है—'ज्ञानहिं भक्तिहि नहिं कछु भेदा । उभय हरहिं भवसंभव खेदा' । परा भक्ति और परम ज्ञान में कोई तात्त्विक भेद नहीं है क्योंकि दोनों का पर्यवसान 'निर्विकल्प स्वानुभूति' में होता है । भक्ति के दार्शनिक प्रतिष्ठापक आचार्य रामानुज तक को प्रकारान्तर से इसे स्वीकार करना पड़ा है ।

यह निश्चित है कि तुलसी के राम औपनिषद परब्रह्म हैं । उनका सगुण-रूप भी तुलसी को उतना ही ग्राह्य है क्योंकि वाणी और बुद्धि की पहुँच सगुण तक ही है । निर्विशेष ब्रह्म के अग्राह्य, अचिन्त्य और अव्यवहार्य होने के कारण तुलसी को व्यावहारिक प्रयोजन की संसिद्धि के लिये सगुण-स्वरूप और उसकी अवतारी लीला का आश्रय लेना अभीष्ट रहा है । अद्वैतपथ क्षुरधारा के समान निशित और दुर्गम है (क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत् कवयो वदन्ति) और ग़लत पाँव उठाने पर गिरते देर नहीं लगती ('ज्ञान कै पंथ कृपाण कै धारा । परत खगेस लाग नहिं बारा') । बिना स्वानुभूति के 'निर्गुण निर्गुण' चिल्लाने से कुछ हाथ नहीं आता, वरन् भ्रंश की संभावना रहती है और बुद्धि के लिये तो सगुण ही सर्वस्व है श्रुति-सिद्धान्त-भूत अद्वैत का मिथ्याचारियों और पाखण्डियों द्वारा जो दुरुपयोग हुआ उससे क्षुब्ध होकर तुलसी अद्वैत के व्यावहारिक पक्ष की निर्दुष्ट व्याख्या में प्रवृत्त हुए हैं और उन जैसे रस-सिद्ध तथा समर्थ शास्त्रकाव्योभयकवि से संसार को 'मानस'-रत्न मिला है । तुलसी के सगुण-व्याख्यान से निर्गुण की हानि नहीं, प्रतिष्ठा हुई है। गोस्वामीजी को उस भक्ति को पुनर्यौवन देना था जो 'भागवत' में वृद्धा से युवती बनी थी और कालान्तर में पुनः वार्द्धक्य को प्राप्त होकर गोरख के योग से भगा दी गई थी । योगियों और सूफ़ियों के मेल से जो मत चल पड़ा था, उसमें बाद में अनेक दोष घुस आये थे । नाना मत-मतान्तरों के प्रचलन से भक्ति का चिरकाल से भारतीय जीवन में प्रवहमान स्रोत सूखने लगा था । अतः तुलसी ने श्रुति-सम्मत सगुण-मत की प्रतिष्ठा की । तुलसी की मूल अद्वैत-दृष्टि को न मानने पर उन विरोधों और असंगतियों का आना अनिवार्य है जो इस शोध-ग्रन्थ में आ गये हैं । उदाहरणार्थ, डॉ० सिंह को तुलसी-साहित्य में ईश्वर के परस्पर-विरोधी गुणों का परिहार करने में असमर्थता प्रतीत हुई है और उन्होने यह कह कर सन्तोष कर लिया है कि 'राम के विरोधी गुणों के अनेकधा उल्लेख का प्रयोजन' है 'परम्परागत मान्यता के अनुसार······भगवान् की दुरूह महिमा' का प्रतिपादन करना (पृ० ५६) । भगवान् की 'महिमा और अनिर्वचनीयता का प्रभावशाली प्रतिपादन' (पृ० ५६) विरोधों द्वारा ही सम्भव हो यह युक्ति-युक्त नहीं है । वेदान्त में विरोधों द्वारा जिस अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन होता है वह अनिर्वचनीयता उस वस्तु के मिथ्यात्व को सिद्ध करती है, यथा माया का 'सदसदनिर्वचनीय' होने के कारण मिथ्या होना । इस

तक से भगवान की विरोध ज य अनिवचनीयता उनके मिथ्यात्व को सिद्ध करेगी। भगवान की अनिवचनीयता उनके 'विरोधी गुणो' के कारण नही है, अपितु उनके वाणी और बुद्धि के ऊपर होने के कारण है।

उक्त सीमाओ और त्रुटियो के होने पर भी तुलसी के दाशनिक विचारो और वचनो का विभि न शीषको और उपशीषको मे विभाजन एव वर्गीकरण, तुलसी साहित्य के कई अव्यारयात और अल्प-व्याख्यात विषयो का व्यवस्थित व्यारयान, तुलसी के काव्य दशन और भक्तिरस-सिद्धा त का विवेचन, पाद टिप्पणियो मे प्रदत्त प्रभूत सामग्री और तुलसी दशन की मीमासा का प्रयास इस शोध ग्रन्थ की उपयोगिता बढाते है और इसे आगामी शोध-कर्ताओ के लिये विशेष उपादेय बनाते है। 'अनुब ध' मे दी गई 'चयनिका' मे तुलसी के प्रमुख दाशनिक वचनो का सग्रह है। ग्रथ की छपाई, कागज और कलेवर सु दर हे। विश्वास है कि डा० उदयभानुसिह के इस शोध ग्र थ का हि दी जगत मे हार्दिक स्वागत होगा।

केशव और उनका साहित्य

डा० गणपतिचन्द्र गुप्त

आचार्य एवं कवि केशवदास पर अब तक अनेक शोध-प्रबन्ध एवं समीक्षात्मक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनमें डा० विजयपाल सिंह का प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध नवीनतम प्रयास है। जबसे आचार्य केशव की प्रतिभा एवं काव्य-शक्ति पर श्रद्धेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचक दृष्टि का ग्रहण लगा है तब से हिन्दी-गगन में केशव सर्वथा निस्तेज एवं आभाहीन से दृष्टिगोचर होने लगे हैं। यद्यपि आचार्य शुक्ल के अनन्तर अनेक लेखकों ने केशव की कला को पुनः प्रकाशित करने का प्रयास किया किन्तु उनमें से कोई भी उन्हें आचार्य शुक्ल की छाया से मुक्त करवाने में सफल न हो सका। डा० विजयपाल सिंह ने मूलतः इसी लक्ष्य से प्रेरित होकर अपने शोध-प्रबन्ध की रचना की है—स्वयं उन्हीं के शब्दों में—"एक शंका मेरे हृदय में सदा उठती रही है कि केशव के परवर्ती दो सौ वर्षों में केशव का जैसा सम्मान रहा, आधुनिक युग में आकर वह समाप्त क्यों हो गया? यह आश्चर्यजनक बात हुई कैसे?" इतना ही नहीं, आगे चलकर उन्होंने और भी स्पष्ट रूप में कहा है—"केशव के युग को, उसकी परम्परा को तथा उस युग एवं परम्परा के मान-दण्डों को अपना कर सहानुभूति के साथ यदि फिर से उनके साहित्य की परख की जाय तो निश्चय ही निर्णय केशव के पक्ष में निकलेगा। बस यही मेरा पूर्वाग्रह था और शोध करते-करते भी मैं इसे नहीं छोड़ पाया।" इससे स्पष्ट है कि डा० सिंह का प्रेरणा-स्रोत एवं लक्ष्य आचार्य शुक्ल की केशव सम्बन्धी मान्यताओं का खंडन करना ही रहा है।

उपर्युक्त लक्ष्य की पूर्ति में डॉ० सिंह को कितनी सफलता मिली है—इस पर विचार करने से पूर्व एक अन्य मूलभूत प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है।

लेखक : डा० विजयपाल सिंह
प्रकाशक : राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
मूल्य : १२'०० रुपये

डॉ० सिंह ने ऊपर स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि उनका इस कार्य में बराबर पूर्वाग्रह रहा है, जबकि दूसरी ओर विद्वानों की यह मान्यता है कि शोध-कार्य में किसी पूर्वाग्रह को स्थान नहीं मिलना चाहिए। ऐसी स्थिति में, इनमें से कौन सा पक्ष ठीक है—इसका निर्णय करके ही आगे बढ़ा जा सकता है। हिन्दी साहित्य—अपितु कहना चाहिए कि विश्व साहित्य में भी अभी आलोचना और अनुसंधान की कोई सर्वमान्य पद्धति निश्चित नहीं हो पाई, जिससे साहित्यानुसंधान के क्षेत्र में बहुत सी बातें बिना सोचे-समझे या वैज्ञानिकों की उक्तियों को अनूदित करके ही कह दी जाती हैं, जो कई बार सत्य से दूर होती हैं। पूर्वाग्रह वाली बात भी कदाचित् इसी कोटि की हो। यदि शोध कार्य को हम परंपरागत न्याय दर्शन के आधार पर परखें तो स्पष्टतः ही वहाँ पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष होते हैं—प्रत्येक पक्ष अपनी पूर्व पोषित धारणा का समर्थन एवं विरोधी पक्ष के तर्कों का खण्डन करता है। आधुनिक न्याय प्रणाली में वादी और प्रतिवादी भी ऐसा ही करते हैं। स्पष्ट है कि जहाँ दर्शन और न्याय में प्रत्येक पक्ष को अपने पूर्वाग्रहों की पुष्टि एवं विरोधी के खण्डन की पूरी छूट दी जाती है, वहाँ शोध में आकर इसे त्याज्य बताया जाता है। ऐसा क्यों? सम्भवतः इसलिए कि शोध में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग होता है। किन्तु स्वयं वैज्ञानिक पद्धति में भी पूर्वाभास (Hypothesis) का स्थान है जो पूर्वाग्रह का ही दूसरा नाम है। न्यूटन सेब को गिरते देखकर यह पूर्व धारणा बना लेता है कि सेब अपने आप गिरता नहीं, उसे पृथ्वी की कोई शक्ति आकर्षित करती है—अपनी इसी पूर्व धारणा के अनुकूल प्रमाणों का मंडन एवं प्रतिकूल प्रमाणों का खंडन करता हुआ वह अपना गुरुत्वाकर्षण नियम प्रस्तुत कर देता है। वस्तुतः शोध की प्रत्येक पद्धति में चाहे वह दार्शनिकों द्वारा प्रचलित हो या कानून व विज्ञान के क्षेत्र से सम्बन्धित हो, पूर्वाग्रह का स्थान उसमें किसी न किसी रूप में व किसी न किसी मात्रा में अवश्य रहेगा—जो यह कहते हैं कि उनका कोई पूर्वाग्रह नहीं रहा, समझना चाहिए कि उनके पास अपना कोई दृष्टिकोण नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि पूर्वाग्रह उस स्थिति में घातक सिद्ध होता है जब कि उसकी मात्रा अति की सीमा तक पहुँच जाती है अर्थात् जब वह केवल अपने ही पक्ष को देखता हुआ विरोधी के प्रमाणों एवं तर्कों की उपेक्षा कर देता है। अतः हमारे विचार से साहित्यानुसंधान में भी पूर्वाग्रह दोष नहीं है, यदि अनुसंधाता ने विपक्ष एवं पक्ष का खंडन-मंडन उचित रूप में कर दिया हो।

(२)

डॉ० सिंह ने अपने शोध-प्रबन्ध को आठ परिच्छेदों में विभाजित करते हुए क्रमशः कवि के जीवन-वृत्त, उसकी प्रामाणिक रचनाओं, परिस्थितियों, उसके जीवन-दर्शन, आचार्यत्व, कवित्व, पूर्ववर्ती एवं परवर्ती कवियों से प्रभाव का आदान-प्रदान एवं हिन्दी साहित्य में उसके स्थान पर विचार किया है। सामान्यतः सभी

परिच्छेदों में लेखक का गहन अध्ययन, गम्भीर विवेचन एवं सूक्ष्म विश्लेषण दृष्टि-गोचर होता है, जिसे दिग्दर्शित करना यहाँ न तो सम्भव ही है और न ही अपेक्षित। यहाँ हम अनुसंधाता के रूप में लेखक की कुछ विशिष्ट उपलब्धियों एवं महत्त्वपूर्ण न्यूनताओं की ही थोड़ी चर्चा करेंगे। केशव के जीवन-चरित के अध्ययन में विभिन्न रचनाओं के साक्ष्य एवं अन्य व्यक्तियों के उल्लेखों के आधार पर कवि के जीवन की अनेक घटनाओं पर समुचित रूप से प्रकाश डाला गया है—उससे न केवल केशव के ही जीवन पर अपितु उनके पुत्र प्रसिद्ध कवि बिहारी के भी जीवन पर प्रकाश पड़ता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक भी अपने बिहारी सम्बन्धी शोध-प्रबन्ध में विभिन्न प्रमाणों के आधार पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचा था कि बिहारी इन्हीं केशव के पुत्र थे तो दूसरी ओर डॉ० सिंह ने केशव सम्बन्धी सामग्री के आधार पर बिहारी को उनका पुत्र प्रमाणित किया है। इतना अवश्य है कि इन दोनों के आधार-भूत प्रमाण एवं साक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं। डॉ० सिंह का मूल विषय केशव का अध्ययन था अतः वे बिहारी-सम्बन्धी उन बहुत से साक्ष्यों तक नहीं पहुँच सके जो उपर्युक्त तथ्य का समर्थन करते हैं। एक स्थान पर डॉ० सिंह को थोड़ी उलझन भी हुई है—केशव एव बिहारी दोनों का ग्वालियर से सम्बन्ध रहा है, संभवतः इसी तथ्य को देख कर डॉ० सिंह ने ग्वालियर को केशव की ससुराल मान लिया है जबकि 'कवि-प्रिया' में केशव ने अपने पूर्वजों के ग्वालियर निवास एवं वहाँ के तोमरपति के आश्रय का विस्तार से वर्णन किया है—"गोपाचलगढ दुर्गपति तिनके पूजे पाय···।" सम्भवतः डॉ० सिंह को यह ध्यान नहीं रहा कि गोपाचलगढ ग्वालियर का ही पुराना नाम है तथा तोमरपति मानसिंह यहीं के शासक थे—इसी से उन्हें ग्वालियर को केशव की ससुराल मानने की आवश्यकता पड़ी; अन्यथा ग्वालियर तो केशव और बिहारी दोनों की पितृ-भूमि है इसमें कोई संदेह नहीं।

केशव के आचार्यत्व पर विचार करते हुए डॉ० सिंह ने केशव की अनेक स्थापनाओं पर नवीन रूप से प्रकाश डाला है। उदाहरण के लिए, केशव ने 'रसिक-प्रिया' में प्रकृति के वैभव एवं कलाओं के सौन्दर्य को भी आलम्बन रूप में स्वीकार किया है जबकि परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार ये सब उपकरण 'उद्दीपन' के अन्तर्गत रक्खे जाते हैं। ऐसी स्थिति में इसे हम केशव की मौलिकता कहें या भ्रान्ति? डॉ० सिंह ने इसका उत्तर दिया है—"केशव तो डिंडिम घोष के साथ इन सबको आलम्बन बना रहे हैं। यह दूसरी बात है कि साहित्य-शास्त्र की परम्परा को केशव का मत मान्य न हो, किन्तु निःसन्देह केशव अपने दृष्टिकोण में मौलिक हैं" (पृ० १७३)। अवश्य ही केशव ने अपनी बात डिंडिम घोष के साथ कही है और उसी डिंडिम घोष के साथ डॉ० सिंह ने उसका समर्थन भी किया है किन्तु जब तक कोई बात उचित तर्कों से सिद्ध न हो जाय तब तक वह स्वीकार्य नहीं हो जाती। डॉ० सिंह ने इस प्रकार के स्वतन्त्र-वर्णन को 'शृंगार के आलम्बन की व्यापक कल्पना' बताकर इस प्रश्न के समाधान का प्रयास किया है, किन्तु हमारे विचार में प्रकृति,

राजश्री या किसी अन्य पदार्थ के स्वतन्त्र वर्णन को या सौन्दर्य की सामान्य अनुभूति को शान्त रस में स्थान देना उचित है। जब हृदय राग-द्वेष को भूलकर शान्ति का अनुभव करता है तो यही अनुभूति साहित्य के माध्यम से व्यक्त होकर शान्त रस का पोषण करती है। संस्कृत के आचार्यों में शान्तरस के स्थायी भाव के बारे में विवाद है—विभिन्न विद्वानों ने शम, निर्वेद, तत्त्व-चिन्तन आदि को स्थायी भाव माना है किन्तु वस्तुतः हिन्दी का 'शान्ति' शब्द उस अनुभूति का प्रतीक है जो शान्तरस के स्थायी भाव के लिए अपेक्षित है। यह शान्ति सांसारिक निर्वेद, तत्त्व-चिन्तन, भक्ति आदि में से किसी साधन से उपलब्ध हो सकती है, अतः ये सब 'शान्त रस' के निकट पड़ते हैं। प्रकृति की गोद में जाकर, या खिले हुए प्रसूनों को देखकर या वैभवश्री का अवलोकन करने पर भी हमें उसी शान्ति का अनुभव होता है जो शान्त-रस के लिए अपेक्षित है। हाँ, ईर्ष्या, राग-द्वेप से युक्त होकर देखने पर उपर्युक्त साधन भी शान्तरस के आलम्बन न रहकर अन्य रसों के उद्दीपक बन जाते हैं। अतः हम निःसंकोच यह निवेदित कर देना चाहते हैं कि प्रकृति के स्वतन्त्र वर्णन को शृंगार का आलम्बन मानना उचित नहीं।

केशव के आचार्यत्व में एक बड़ी असंगति यह मिलती है कि एक ओर वे 'रसिकप्रिया' में रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं तो दूसरी ओर 'कविप्रिया' में दण्डी आदि अलंकारवादियों का अनुसरण करते हुए रस को 'रसवत्' अलंकार मात्र मान लेते हैं—"रसमय होइ सुजानियै रसवत् केशवदास!" ऐसी स्थिति में केशव को रसवादी माना जाय या अलंकारवादी? यह समस्या है। डॉ० सिंह ने इसका समाधान कुशलतापूर्वक करते हुए अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। उनके विचार से केशव ने 'रसिकप्रिया' की रचना मूलतः काव्यत्व एवं आचार्यत्व की प्रेरणा से की थी जबकि 'कविप्रिया' की रचना प्रवीणराय पातुर की शिक्षा के निमित्त हुई थी। एक शिक्षक को बहुत कुछ ऐसा भी पढ़ाना पड़ता है जो उसकी अपनी रुचि एवं अपने मत का न हो। इसलिए केशव को भी 'कविप्रिया' में अलंकार-शिक्षा के लिए दण्डी-भामह के मत का उल्था करना पड़ा। डॉ० सिंह का यह समाधान इस मान्यता का खंडन कर देता है कि केशव कोरे अलंकारवादी थे, रस-सिद्धान्त को नहीं मानते थे। हमें उनका यह निष्कर्ष अत्यन्त समीचीन एवं स्वीकार्य प्रतीत होता है।

केशव की काव्य-कला का अध्ययन करते हुए डॉ० सिंह ने कवि के काव्य-सौन्दर्य के अनेक ऐसे आधारों को स्पष्ट किया है जो सहानुभूति के अभाव में अब तक उपेक्षित रहे हैं। केशव के काव्य में सर्वत्र ही काव्य-प्रतिभा का उन्मेष भले ही न हो, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उनके काव्य में अनेक स्थल ऐसे भी मिलते हैं जो अनुभूति की तरलता, अभिव्यक्ति की स्वच्छता एवं प्रभाव की तीव्रता से युक्त हैं। साथ ही संवादों के आयोजन में तो केशव को जो सफलता प्राप्त हुई है वह हिन्दी-महाकाव्यों में अनुकरणीय है। पर इसी प्रकार केशव पर आरोपित सभी

आक्षेप केशव की सभी काव्य-रचनाओं पर लागू नहीं होते। डॉ० सिंह ने उनके निराकरण का सबल प्रयास किया है, जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है।

'आदान-प्रदान' शीर्षक अध्याय में कवि की उन उक्तियों का दिग्दर्शन करवाया गया है जो या तो पूर्व कवियों एवं आचार्यों के आधार पर रचित हैं या जिनको परवर्ती कवियों ने आधार बनाया है। इससे एक ओर तो यह प्रमाणित होता है कि केशव का अध्ययन-क्षेत्र कितना व्यापक था तो दूसरी ओर यह भी सिद्ध होता है कि उन्होंने परवर्ती कवियों को कितना प्रभावित किया। यद्यपि इस कार्य में डॉ० सिंह को अत्यन्त परिश्रम करना पड़ा है, फिर भी उन्होंने किया है, यह स्तुत्य है। किन्तु प्रभाव के आदान-प्रदान के निर्णय के लिए केवल उक्तियों को ही आधार बनाना पर्याप्त नहीं है। किसी कवि का प्रभाव केवल यहीं तक सीमित नहीं है कि उसकी किन-किन उक्तियों को परवर्ती कवियों ने अपनाया, अपितु इससे भी अधिक इस तथ्य में निहित है कि उसके द्वारा प्रवर्तित किन-किन साहित्यिक प्रवृत्तियों को परवर्ती कवियों ने अपनाया है। यदि इस दृष्टि से केशव पर विचार किया जाता तो इससे न केवल केशव के महत्त्व का उद्घाटन सम्यक् रूप से होता, अपितु इससे इस समस्या का भी समाधान हो सकता था कि रीतिकाल के प्रवर्तन में केशव का कितना योग है। यहाँ यह ध्यान रहे कि काव्यत्व एवं आचार्यत्व की क्षमता ही युग-प्रवर्त्तक के लिए पर्याप्त नहीं है—कई बार इनके अभाव में भी व्यक्ति युग-प्रवर्त्तन कर सकता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी में काव्य की क्षमता निश्चित ही हरिऔधजी एवं मैथिलीशरणजी जितनी नहीं थी, केवल इसी आधार पर आ० द्विवेदी को युग-प्रवर्त्तक के गौरव से वंचित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार काव्यत्व या आचार्यत्व में परवर्ती कवियों—चिन्तामणि, देव, मतिराम, भिखारीदास आदि से पीछे होते हुए भी केशव युग-प्रवर्त्तक सिद्ध हो सकते हैं, यदि रीतिकाल की नई प्रवृत्तियों के प्रेरक वे सिद्ध हो जायें। अतः कवियों के प्रभाव के आदान-प्रदान में हमारी दृष्टि से स्थूल उक्तियों की अपेक्षा सूक्ष्म प्रवृत्तियों का अधिक महत्त्व है, जिनकी विवेचना प्रस्तुत प्रबन्ध में भी अपेक्षित थी।

(३)

अन्त में डॉ० विजयपाल के केशव-सम्बन्धी अनुशीलन का परिणाम उस निष्कर्ष के रूप में प्रकट होता है कि आचार्यत्व एवं कवित्व—दोनों के क्षेत्र में केशव की देन महत्त्वपूर्ण है; उन पर लगाये गये आक्षेप एक ओर पूर्व-परम्परा को भली-भाँति न समझने के परिणाम हैं तो दूसरी ओर दृष्टि के उस संकोच का प्रभाव है, जहाँ किसी एक कवि के आदर्शों को ही सामान्य आदर्श मान लिया जाता है। उदाहरण के लिए तुलसी तपोवन के कवि थे, तो केशव राजदरबार के—अतः दोनों के आदर्श एक नहीं हो सकते। जो विद्वान् इस सत्य को भूलकर आलोचना करते हैं वे इस तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि "ओरछा के रजत आसनों पर बैठकर सम्मान के

भारों से बोझिल मस्तिष्क सदा रामचन्द्रिकाएँ ही लिखते आये हैं और सुर-सरिता के पावन तट पर रामानन्दी तिलक एवं लंगोटी लगाकर 'रामचरित मानस । न ओरछा में तुलसी 'मानस' लिख पाते, न काशी में केशव की कलम चन्द्रिका।" डॉ० सिंह के इस निष्कर्ष को कौन अस्वीकार कर सकता है।

वस्तुतः डॉ० विजयपाल सिंह ने इस शोध-प्रबन्ध में मौलिक चिन्तन की प्रतिभा, गम्भीर अध्ययनशीलता एवं सुविकसित निर्णय-क्षमता का परिचय समुचित रूप में दिया है। साथ ही उनकी शैली की सरलता, स्पष्टता एवं प्राँजलता के कारण शोध-प्रबन्ध और भी उत्कृष्ट बन गया है। जिन विद्वानों को यह वहम हो गया है कि सभी नव प्रस्तुत शोध प्रबन्धों का स्तर नीचे गिर गया है, वे अवश्य ही इस प्रकार के शोध-प्रबन्धों को पढ़कर अपने उक्त वहम से मुक्ति पा सकेंगे। निश्चित ही डॉ० सिंह का शोध-प्रबन्ध अत्यन्त उच्चकोटि का है, जिसके लिए वे हिन्दी-जगत् की ओर से बधाई के पात्र हैं।

———

केशवदास : जीवनी, कला और कृतित्व

डॉ० महेन्द्रकुमार

व्रजभाषा के रीतिकवियों में आचार्य केशव का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। काल-क्रम की दृष्टि से यद्यपि ये भक्तिकाल में आते हैं तथापि रीतिकाल के अन्तर्गत इन्हें जितना सम्मान प्राप्त रहा सम्भवत: उतना किसी और को प्राप्त करने का सौभाग्य न हो सका। वस्तुत: इस युग में इनके आचार्यत्व और पाण्डित्य का कुछ ऐसा आतंक छाया हुआ था जैसा कि आधुनिककाल में हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का छाया रहा है तथा अब भी है। इसमें सन्देह नहीं कि आज का व्यक्ति आचार्य शुक्ल के जिस तर्क-कौशल, ग्रहण-शक्ति और मौलिक-चिन्तन-पद्धति से प्रभावित होता है, वह केशव में न थी किन्तु उन्हें आदर इनसे अधिक ही प्राप्त रहा। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि इनके परवर्ती कवि और आचार्यों में से अनेक ऐसे हैं जिन्होंने भले ही इनसे कुछ ग्रहण नहीं किया हो पर अपनी ग्रंथ-रचना आरम्भ करने से पूर्व इन्हें प्रणाम कर इनके परम्परागत आदर को अक्षुण्ण बनाये रखा है। इनमें दास आदि तो ऐसे हैं जिन्हें उच्चकोटि के रीतिनिरूपक आचार्यों में स्थान दिया जाता है। कहना न होगा कि यह सब कुछ होने पर भी आधुनिक काल के प्रथम चरण में केशव का कुछ ऐसा दुर्भाग्य रहा कि इनका यह परम्परागत सम्मान एक प्रकार से समाप्तप्राय हो गया। परन्तु इसका दोष सबसे अधिक शुक्लजी को ही दिया जा सकता है जिन्होंने केशव के काव्य पर कवि की हृदयहीनता, दुरूहता तथा विकृति के आरोप द्वारा व्रजभाषा-रीतिकाव्य के अध्येता के हृदय में इनके प्रति अनादर की भावना उत्पन्न कर उसे इनके काव्य के अध्ययन से ऐसा निरुत्साहित किया कि इन पर शोध-कार्य भी पर्याप्त समय तक अवरुद्ध रहा। यह सत्य है कि केशव शुक्लजी के आदर्श कवि—तुलसी की कोटि के नहीं हैं और न इनका काव्य अत्यन्त सरस ही है, पर उन्होंने इनकी विशेषताओं की उपेक्षा कर केवल इनके दोषों की ही जो छानबीन की है वह व्रजभाषा को अर्थवहन करने की शक्ति देने वाले इस कवि के प्रति अन्याय ही नहीं अपितु इससे आगे अतिवाद कहा जाना चाहिये। किन्तु

लेखक : डॉ० किरणचन्द्र शर्मा
प्रकाशक : भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली
मूल्य : १५.०० रु०

इस दुर्भाग्यपूर्ण अतिवाद का शुभ परिणाम यह भी हुआ कि आधुनिक युग का विद्यार्थी जिज्ञासावश केशव के काव्य में झाँकने के लिए उत्कंठित हुआ और धीरे-धीरे उसमें प्रवेश करने लगा। फलतः इनके विषय में लेख लिखे जाने लगे और इस प्रकार उनके काव्य के अध्ययन में जो अवरोध आ गया वह समाप्त होने लगा। इतना ही नहीं स्थिति में कुछ ऐसा परिवर्तन आया कि विद्वान् इनके काव्य पर अधिकार प्राप्त करने में गौरव का अनुभव करने लगे और परिणाम यह हुआ कि ला० भगवानदीन ने जहाँ इनके प्रसिद्ध ग्रंथों—रसिक-प्रिया, कविप्रिया और रामचन्द्रिका की पाण्डित्यपूर्ण टीकाएँ कीं, वहाँ पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने 'केशव की काव्य-कला' तथा पंडित चन्द्रबली पाण्डेय ने 'महाकवि केशव' जैसे आलोचनात्मक ग्रन्थ भी लिखे। इन ग्रंथों से प्रेरणा प्राप्त करके ही कदाचित् आज का शोधार्थी केशव पर शोध करने के लिए प्रोत्साहित हुआ और कुछ ही वर्षों में डॉ० हीरालाल दीक्षित तथा डॉ० विजयपालसिंह के क्रमशः 'आचार्य केशवदास' तथा 'केशव और उनका साहित्य' विषयों पर शोध-प्रबन्ध प्रकाश में आये। इनके अतिरिक्त डॉ० सत्यदेव चौधरी ने "रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य" नामक शोध-प्रबन्ध में केशव के रीति-निरूपण का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया। डॉ० किरणचन्द्र शर्मा का यह ग्रंथ भी केशव विषयक शोध-शृंखला में चतुर्थ प्रयास है जिस पर उन्हें पंजाब विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त हुई है। अस्तु!

प्रस्तुत ग्रन्थ दस अध्यायों में विभक्त है। इनमें प्रथम अध्याय के अन्तर्गत केशव के युग की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों का वर्णन तथा इनका उन पर प्रभाव दर्शाया गया है। द्वितीय अध्याय में केशव नामधारी अनेक कवियों का उल्लेख करने के पश्चात् आलोच्य केशव का वंश परिचय, उनका वंश-वृक्ष, उनके पूर्वजों का निवास-स्थान तथा स्वदेश-प्रेम, उनका विवाह और उनकी संतति, उनके और बिहारी के पिता-पुत्र-सम्बन्ध विषयक विवाद, उनकी कवयित्री पुत्रवधू सम्बन्धी उल्लेख, उनकी वृत्ति, उनके आश्रयदाता, परिचित व्यक्तियों तथा भ्रमण के परिचय के साथ-साथ उनसे सम्बद्ध किंवदन्तियाँ तथा उनका मृत्यु-संवत्—इन सभी बातों पर विस्तार से विचार किया गया है। इसी अध्याय में केशव के व्यक्तित्व और उनकी जानकारी पर भी प्रकाश डाला गया है। व्यक्तित्त्व के प्रसंग में प्रकृति और स्वभाव, व्यवहार-कुशलता, स्वाभिमान और विशाल-हृदयता, निर्भीकता एवं स्पष्टवादिता, नीति-निपुणता, भाग्यवादिता और आस्तिकता—इन उपशीर्षकों द्वारा उनके व्यक्तित्व का चित्र अंकित किया गया है जबकि उनकी जानकारी का क्षेत्र धर्म, योग, दर्शन और संगीत, इतिहास, पुराण, ज्योतिष और वैद्यक से लेकर अस्त्र-शस्त्र और हय-गज-ज्ञान तक दर्शाया गया है। तृतीय अध्याय केशव के ग्रंथों के सम्बन्ध में है। इसमें लेखक ने विभिन्न विद्वानों तथा नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज-रिपोर्टों में निर्दिष्ट केशव के ग्रंथों का उल्लेख करने के उपरान्त छन्दमाला नामक नवीन ग्रंथ का परिचय दिया है। परिशिष्ट में इस ग्रंथ को अविकल रूप

सेप्रस्तुत भी कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में केशव के नाम से उपलब्ध समस्त ग्रंथों की प्रामाणिकता और उनके रचना-काल पर भी संक्षेप में विचार किया गया है।

इन तीन अध्यायों के पश्चात् चतुर्थ और पंचम अध्यायों में केशव के काव्य का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत इनके प्रबन्ध-काव्यों—रामचन्द्रिका, वीरसिंहदेव चरित, विज्ञान-गीता, जहाँगीरजसचन्द्रिका और रतनबावनी के प्रबन्ध-सौष्ठव, अलंकार-योजना, छन्द-प्रयोग तथा भाषा पर प्रकाश डाला गया है। पंचम अध्याय के दो उपविभाग हैं—विचार-धारा और इतिहास-ज्ञान। इनमें विचार-धारा के प्रसंग में जहाँ केशव के दार्शनिक सिद्धान्तों, उनकी भक्ति, नीति, धर्म, नारी, गुरु-महिमा और ब्रह्म-भक्ति का परिचय दिया गया है, वहाँ उनके इतिहास-ज्ञान की चर्चा में उनके विभिन्न ग्रंथों से उपलब्ध ऐतिहासिक चरित्रों सम्बन्धी सामग्री पर ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाश में विचार किया गया है। इसके आगे षष्ठ और सप्तम अध्यायों में केशव के रीतिकाव्य का अध्ययन है। षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत उनके रीति-ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय देने के उपरान्त इन ग्रंथों की कवित्व की दृष्टि से परीक्षा की गई है। सप्तम अध्याय में कविप्रियागत दोष और अलंकार तथा रसिक-प्रियागत रस तथा नायक-नायिका-भेद-निरूपण की परीक्षा विवेच्य-विषय के आधार को दृष्टि में रखकर की गई है। प्रबन्ध के अन्तिम तीन अध्यायों में रीतिकाल के कतिपय रीतिनिरूपक आचार्यों के अलंकार, रस और नायक-नायिका-भेद-विवेचन की केशव के रीतिनिरूपण के साथ तुलना की गई है जबकि नवम अध्याय में गिने-चुने परवर्ती शृंगारी कवियों पर इनका प्रभाव दर्शाने का प्रयत्न किया गया है। दशम अध्याय में आचार्यत्व और कवित्व की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में केशव का स्थान निर्धारित किया गया है।

इस प्रकार डॉ० किरणचन्द्र शर्मा के इस ग्रंथ की योजना को विषय-वस्तु की दृष्टि से चार भागों मे रखा जा सकता है—(१) पृष्ठभूमि और परिचय, जिसमें केशव की विभिन्न परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए उनके जीवन-वृत्त और ग्रंथों का परिचय आता है; (२) कवित्व का अध्ययन; (३) रीति निरूपण की परीक्षा; और (४) हिन्दी साहित्य में उनका कवि और आचार्य के रूप में स्थान-निर्धारण। इनमें पृष्ठभूमि और परिचय विषयक भाग की यदि परीक्षा की जाय तो सबसे पहले "विभिन्न परिस्थितियों का केशव पर प्रभाव" नामक प्रथम अध्याय के औचित्य का प्रश्न सहज ही उठ खड़ा होगा, कारण इस विषय पर अब तक अनेक विद्वानों ने प्रकाश डाला है; शर्माजी के पूर्ववर्ती शोधार्थी—डॉ० दीक्षित और डॉ० विजयपालसिंह भी अपने शोध-प्रबन्धों में ऐसे ही अध्यायों के अन्तर्गत लगभग व इसी प्रकार के तथ्य प्रस्तुत कर चुके हैं जिनकी पुनरावृत्ति शोध के क्षेत्र में बहुत स्वस्थ प्रणाली नहीं कही जा सकती। इसी प्रकार केशव के जीवन-चरित और व्यक्तित्व विषयक द्वितीय

अध्याय का मौलिकता की दृष्टि से विशेष योगदान नहीं, कारण लेखक ने पूर्ववर्ती शोध-सामग्री का संकलन मात्र करने के सिवाय न तो कोई नवीन तथ्य ही प्रस्तुत किये हैं और न पुराने तथ्यों का नवीन ढंग से व्याख्यान करने का प्रयास ही किया है। दूसरे, अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने जिन ग्रन्थों को आधार बनाया है, उनकी प्रामाणिकता पर भी विचार नहीं किया। उदाहरण के लिए शिवसिंह सेंगर के 'शिवसिंह सरोज' को ही लिया जा सकता है। इस ग्रन्थ में ठाकुर साहब ने जिन सन् संवतों की प्रामाणिकता का दावा किया है, उनमें से अधिकांश आज असत्य—यहाँ तक कि हास्यास्पद सिद्ध किये जा चुके हैं। आश्चर्य है कि शर्माजी ने केशव सम्बन्धी सन्-संवतों के लिए इस ग्रंथ को आधार कैसे बना लिया है। सर ग्रियर्सन द्वारा दिये गये सन्-संवत भी प्रायः 'सरोज' से गृहीत हैं, अतः इस सम्बन्ध में इनके ग्रंथ—"मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान" के जो हवाले दिये गये हैं उन्हें भी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। इधर केशव और विहारी के पिता-पुत्र-सम्बन्ध के विषय में यद्यपि लेखक ने यह दावा किया है कि इस दिशा में उनका प्रयत्न सर्वथा मौलिक है, किन्तु परीक्षा करने पर स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि इसमें भी पिष्टपेषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं—प्रायः पूर्ववर्ती विद्वानों की मान्यताओं को उद्धृत कर दिया गया है; उनकी भली-भाँति परीक्षा नहीं की गई। हाँ, जो वंश-वृक्ष दिया गया है वह इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न अवश्य है; किन्तु प्रमाणों के अभाव में इसकी प्रामाणिकता पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगाया जा सकता है। तृतीय अध्याय आवश्यकता से अधिक संक्षिप्त है, यही कारण है कि इसमें केशव के ग्रंथों की प्रामाणिकता और उनके परिचय के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह अत्यन्त सामान्य रह गया है। आश्चर्य की बात यह है कि 'रतनबावनी' की प्रामाणिकता में लेखक महोदय को सन्देह है, किन्तु फिर भी वे इसे प्रामाणिक मानते हैं! क्यों, ज्ञात नहीं! वस्तुतः इस अध्याय में डॉ० शर्मा का योगदान छन्दमाला का परिचय ही कहा जा सकता है। कुल मिलाकर यह भाग मौलिकता और योजना की दृष्टि से शोध की सीमाओं का स्पर्श नहीं करता। इस सम्बन्ध में हमारा विनम्र निवेदन है कि प्रथम अध्याय के स्थान पर यदि केशव विषयक उपलब्ध सामग्री की परीक्षा प्रस्तुत की गई होती तो यह केशव-विषयक अनुसंधान की शृंखला में नवीन कड़ी का कार्य करती। दूसरे, लेखक महोदय ने द्वितीय और तृतीय अध्यायों में तथ्य-निरूपण के लिए जिन ग्रंथों को आधार बनाया है, उनकी प्रामाणिकता पर विचार न करने के दोष से ही नहीं वे बच जाते अपितु तर्कसंगत निष्कर्षों तक भी पहुँच सकते थे। केशव के ग्रंथों की प्रामाणिकता तथा उनके सामान्य परिचय पर अब भी बहुत कुछ शोध अपेक्षित है। आशा है डॉ० शर्मा आगामी संस्करण में इन रिक्तियों की पूर्ति द्वारा इस भाग को शोध की दृष्टि से और अधिक वैज्ञानिक बना सकेंगे।

जहाँ तक द्वितीय और तृतीय भागों का प्रश्न है, उनकी वस्तु-योजना भी चिन्त्य है, कवित्व के अध्ययन से यह तो किसी सीमा तक समझ में आ सकता है कि

आलोच्य कवि के प्रत्येक प्रबन्ध-काव्य के रचना-विधान पर पृथक् से विचार किया जाये, यद्यपि यह भी कोई अच्छी परिपाटी नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से रचयिता का एतत्-सम्बन्धी निश्चित दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं हो पाता—और दूसरे यह कार्य अपने आप में असहत्त्वपूर्ण भी है; किन्तु इससे आगे उसके प्रबन्ध-काव्यों तथा रीति-ग्रन्थों के काव्य-सौष्ठव पर पृथक्-पृथक् अध्यायों में विचार किया जाना पुनरावृत्ति हो जाने के कारण दोषपूर्ण ही नहीं, हास्यास्पद भी है, कारण मूलतः रीतिकवि होने के कारण केशव के काव्य-शिल्प में किसी भी प्रकार का मौलिक अन्तर नहीं स्वीकार किया जा सकता। (संभवतः इस भाग को उन्होंने दो अध्यायों में इसलिए विभाजित किया है जिससे प्रबन्ध के अध्यायों की संख्या अधिक हो जाय)। हमारा सुझाव यह है कि लेखक महोदय यदि एक अध्याय प्रबन्ध-विधान पर रखते और दूसरा काव्य-कला पर तो उनकी योजना का कलेवर भी अविकल रहता और कवि के काव्य का सही मूल्यांकन भी हो जाता। इसके अतिरिक्त यदि केशव की भाषा पर विस्तार से विचार किया गया होता तो सोने पर सुहागे का काम करता। आश्चर्य की बात है कि जिस भाषा के कारण विद्वान् अब तक केशव पर दोषारोपण करते आये हैं, वही शोधार्थियों की शोध का विषय नहीं बन सकी। शर्मा जी ही नहीं इनके पूर्ववर्ती डॉ० दीक्षित और डॉ० विजयपालसिंह ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया।

केशव के रीति-विवेचन विषयक तृतीय भाग के विषय में भी बहुत-कुछ ऐसा ही कहा जा सकता है। इसको भी दो अध्यायों में विभाजित किया गया है। पर चूँकि विवेच्य-विषय पृथक्-पृथक् हैं, इसलिए दो अध्यायों का होना किसी सीमा तक चल सकता है; किन्तु यदि समग्ररूप में इस पर विचार किया गया होता तो अच्छा रहता। वैसे विवेचन की दृष्टि से एतत्सम्बन्धी दोनों अध्याय बहुत अधिक वैज्ञानिक नहीं हैं। संस्कृत-ग्रन्थो के लक्षण-उदाहरणों के साथ केशव के कतिपय लक्षणों-उदाहरणों को प्रस्तुत कर देने मात्र से शोध-कार्य का अन्त नहीं हो जाता—इससे आगे यह भी दर्शाया जाना चाहिये कि इस दिशा में केशव कहाँ तक सफल हुए हैं। केशव के छन्द-विवेचन को २४ अध्यायों में स्थान ही नहीं मिला है, जिसका कारण लेखक के सिवाय और कोई नहीं बता सकता। यह कह देना अनुचित न होगा कि केशव के रीति-निरूपण पर यदि अधिक मनोयोग से काम लिया जाता तो सम्भवतः नवीन तथ्य प्रकाश में आते, किन्तु अब यह पंडित कृष्णशंकर शुक्ल के केशव के आचार्यत्व विषयक सूत्र वाक्यों का भाष्य मात्र रह गया है।

रही बात चतुर्थ भाग—अर्थात् केशव के स्थान-निर्धारण सम्बन्धी अंश की, सो उसकी योजना के औचित्य के विषय में यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि केशव के आचार्यत्व और कवित्व पर पृथक् रूप से विचार होना कोई गलती की बात नहीं किन्तु इन प्रसंगों में रीतिकाल के गिने-चुने आचार्यों और कवियों के साथ तुलना किया जाना कुछ संगत प्रतीत नहीं होता। उचित तो यह होता कि लेखक महोदय

पहले तुलना के आधार और उसकी सीमाओं का निर्देश कर देते, क्योंकि ऐसा करने से विवेचन का क्षेत्र सीमित रहता हुआ भी स्वत: पूर्ण बन जाता। वैसे यदि थोड़ा-सा भी प्रयत्न किया गया होता तो रीतिकाल के ऐसे अनेक कवि मिल सकते थे जिन पर केशव का बहुत गहरा प्रभाव रहा है। उदाहरण के लिए केशव ने वर्ण्य और वर्ण्य-अलंकारों का जो वर्णन किया है उसी की अगली कड़ी गोकुल प्रसाद 'बृज' कृत '[illegible]' में मिल जाती है। जो हो, अन्त में केशव का स्थान निर्धारित करते समय लेखक महोदय ने कुछ बातें ऐसी और कह दी हैं जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है कि ऐसे भ्रामक एवं अन्तर्विरोधी निष्कर्ष वे कैसे निकाल बैठे हैं। उदाहरणार्थ—

(क) " 'ललितललाम' में मतिराम ने अलंकारों के लक्षण बड़े ही चलताऊ ढंग से दिये हैं।" (पृ० ५२६)

(ख) "देव ने 'भावविलास' ग्रंथ में ३९ अलंकार मुख्य बताये हैं जो प्राय: दण्डी के अनुसार ही हैं। दण्डी से केशव ने और केशव से देव ने उन्हें लिया है।" ......"भावविलास में वर्णित रसालंकार तथा शब्द रसायन में वर्णित 'अन्योक्ति' का आधार भी केशव ही है।" (पृ० ५२७)

(केशव से देव ने यदि ग्रहण किये तो उसका प्रमाण ? क्या देव दण्डी से सीधे ग्रहण नहीं कर सकते थे ?)

(ग) "देव के अलंकारों का आधार संस्कृत के ग्रन्थ हैं और उनमें कोई विशेष नवीनता नहीं है।" (पृ० ५२७)

(एक स्थान पर 'देव ने संस्कृत ग्रंथों का आश्रय लिया' और दूसरे पर 'वे केशव के ऋणी हैं' इन दोनों वक्तव्यों का अन्तर्विरोध स्वत: स्पष्ट है।)

इस प्रकार कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि डॉ० किरणचन्द्र शर्मा का यह शोध-प्रबन्ध मौलिकता और विवेचन-व्यवस्था की दृष्टि से सामान्य कोटि का ही है। न तो इसमें नवीन तथ्य ही दिये जा सके हैं और न पुराने तथ्यों का नवीन ढंग से आख्यान ही हो सका है, जो शोध के लिए अनिवार्य है। विषय का विवेचन भी व्यवस्थित नहीं—अनुपात का सर्वथा अभाव है; तर्क और व्याख्या-पद्धति स्थूल है। इसके अनेक तथ्य प्रामाणिकता की अपेक्षा रखते हैं जबकि निष्कर्ष अपने आप में भ्रामक और अन्तर्विरोधी हैं। किन्तु इतना होते हुए भी एक बात निश्चित है और वह यह कि स्वच्छ भाषा तथा पूर्ववर्ती शोध-सामग्री का इसमें संकलन होने के कारण यह विद्यार्थियों के लिए उपयोगी अवश्य है।

हरिऔध : जीवन और कृतित्व

डा० उमाकांत

'हरिऔध : जीवन और कृतित्व' गोरखपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग का प्रथम शोध-प्रबन्ध है। लेखक हैं डॉ० मुकुन्ददेव शर्मा। अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार थे। कवि, गद्यकार, आचार्य तथा अध्यापक के रूप में उन्होंने पर्याप्त ख्याति पाई। 'कवि-सम्राट्' की उपाधि से विभूषित कर हिन्दी-जगत् ने उनके महत्त्व को स्वीकार किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ से पहले भी हरिऔध जी विषयक कुछ आलोचनात्मक पुस्तकें निकल चुकी हैं। परन्तु अब तक का समीक्षात्मक साहित्य कवि-सम्राट् के गौरव के अनुकूल नहीं था। अतः इस दिशा में डॉ० मुकुन्ददेव शर्मा का यह प्रयास एक बड़े अभाव की पूर्ति में सहायक है। विद्वान् लेखक ने हरिऔध के जीवन-वृत्त तथा साहित्य के विविध पक्षों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में पाँच खंड हैं। प्रथम खंड में कवि का जीवन-वृत्त है। हरिऔधजी के वंश का परिचय, पारिवारिक वातावरण तथा उन परिस्थितियों का वर्णन है जिनमें रहकर उनके व्यक्तित्व का निर्माण और विकास हुआ है। डॉ० मुकुन्ददेव हरिऔधजी के पौत्र हैं। उनसे अधिक अधिकारी विद्वान् कवि के वृत्त और व्यक्तित्व-लेखन के लिए नहीं मिल सकता। जितने निकट से कवि-सम्राट् को देखने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ उतना अन्य किसी को नहीं हो सकता। द्वितीय खंड में हरिऔध-कालीन तथा उनसे कुछ पहले की सामाजिक, राजनैतिक तथा साहित्यिक गतिविधि का पृष्ठभूमि के रूप में आलेखन करते हुए डॉ० शर्मा ने विभिन्न विषयों के संबंध में आलोच्य कवि के विचारों का प्रतिपादन किया है। साहित्य की परिभाषा, साहित्य का उद्देश्य, साहित्य और समाज-हित, कवि और कविकर्म का मानदण्ड, कवि की परिभाषा,

---

लेखक : डॉ मुकुन्ददेव शर्मा

प्रकाशक : नन्द किशोर एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी

मूल्य : १० रुपये

कवि के गुण, कवि और लोक-मंगल तथा कवि-कर्म-कौशल आदि पर कवि के विचार तथा उनके भाषा-सिद्धांत का निरूपण हरिऔधजी के विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर किया गया है जो निश्चय ही हरिऔध-साहित्य को हृदयंगम करने में सहायक होगा। तृतीय खंड में आलोच्य कवि के कृतित्व की आलोचना है। कवि-सम्राट् विरचित महाकाव्य, मुक्तक, गीति-काव्य, नाटक, उपन्यास, अनुवाद ग्रंथ तथा गद्य की समीक्षा की गई है। उनके आचार्यत्व पर भी इसी खंड के अन्तर्गत विचार हुआ है। हरिऔध-कृत नायिका-भेद सम्बन्धी नूतन उद्भावनाओं तथा रति स्थायीभाव के उत्तम, मध्यम तथा अधम भेदों का भी उल्लेख किया है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या कवि द्वारा किये गये ये भेद और उद्भावनाएँ ग्राह्य हैं? शास्त्रीय दृष्टि से इनके औचित्य पर भी विचार होना चाहिए। 'रस कलश' की रचना के इतने वर्ष बाद भी जो रति के ये भेद तथा नायिकाओं के हरिऔधजी द्वारा उद्भावित प्रकार प्रचलित नहीं हो सके इसका क्या कारण है?

शिल्प-विधान नामक चतुर्थ खंड में महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय के काव्य-शिल्प की समीक्षा है। हरिऔधजी द्वारा प्रयुक्त भाषा के विविध रूपों के उल्लेख के साथ उसकी व्याकरण-शुद्धता, भावानुकूलता तथा सौष्ठव पर विचार हुआ है। कवि-कृत विचित्र तथा खटकने वाले प्रयोगों का भी सोदाहरण निरूपण किया गया है। ग्रन्थ के इसी खंड में कवि-सम्राट् के छंद-विधान तथा अलंकार-योजना का विवेचन है। हरिऔधजी द्वारा सफलतापूर्वक प्रयुक्त कतिपय छंदों के उदाहरणों के साथ-साथ उनके रचे हुए नवीन छदों का भी उल्लेख है। छंदों की प्रसंगानुकूलता तथा कवि की तुक-योजना पर विचार किए बिना इस प्रकरण में कुछ अपूर्णता रह गई है। अलंकारों के प्रसंग में लेखक ने हरिऔधजी के काव्य से विभिन्न शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों के श्रेष्ठ उदाहरण तो दिए ही हैं। साथ ही उनके अप्रस्तुत विधान की विविधता एवं उपयुक्तता पर भी प्रकाश डाला है। पचम खंड में हरिऔध-साहित्य में प्रकृति-चित्रण तथा उसके सांस्कृतिक पृष्ठाधार का विवेचन विश्लेषण हुआ है। उपसंहार में समग्रतः कवि का मूल्याँकन किया गया है। इस प्रकार डॉ० मुकुन्ददेव शर्मा ने हरिऔधजी की सर्वपक्षीय समीक्षा प्रस्तुत की है। परिशिष्ट १ के रूप में कवि का 'आत्म-चरित' तथा परिशिष्ट २ में सहायक ग्रन्थ-सूची दी गई है। इस से प्रबन्ध की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

डॉ० शर्मा की कुछ स्थापनाओं से मतभेद भी हो सकता है। उदाहरण के लिए लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि हरिऔधजी आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से अप्रभावित थे। किन्तु द्विवेदीजी के युगव्यापी प्रभाव से आलोच्य कवि सर्वथा मुक्त था, यह नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य है कि उन्हें उस समय के अन्य अनेक कवियों के समान द्विवेदीजी का शिष्य नहीं कहा जा सकता। इसी

प्रकार लेखक का मन्तव्य कि हरिऔधजी ने 'उस खड़ी बोली को जो आदर्शों के लिए प्रयोग कर रही थी, आदर्श प्रदान किया'—भी विचारणीय है ।

सब मिलाकर डॉ० मुकुन्ददेव शर्मा का यह शोध-कार्य सराहनीय है । निश्चय ही अपने पूर्वज की आलोचना जैसा कठिन कार्य भी लेखक ने अद्भुत तटस्थता से किया है ।

———

खड़ीबोली-काव्य में अभिव्यंजना

डॉ देवीशंकर अवस्थी

समीक्ष्य ग्रंथ है डॉ० आशा गुप्ता (गुप्त ?) का पंजाब विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध। इस ग्रन्थ में मुख्यतः मध्यकाल से लेकर सन् १६२० तक के खड़ीबोली-काव्य के अभिव्यंजना पक्ष का विश्लेषण उपस्थित किया गया है। प्रसंगतः 'खड़ीबोली' के जन्म, नामकरण, सामान्य परिचय के साथ ही १६२० तक के खड़ीबोली साहित्य का इतिहास भी प्रस्तुत किया गया है।

ग्रंथ का सामान्य परिचय एवं क्रमनियोजना इस प्रकार है : ग्रन्थ में सात अध्याय और दो परिशिष्ट हैं। प्रथम अध्याय में खड़ीबोली की व्युत्पत्ति, क्षेत्र तथा रूप की चर्चा हुई है। इस सम्बन्ध में लेखिका ने बहुत विस्तार से विभिन्न विद्वानों के मतों को उपस्थित किया है और इस भ्रम का निराकरण करते हुए कि खड़ीबोली शब्द 'ब्रजभाषा सापेक्ष्य' है, यह प्रतिपादित किया है कि यद्यपि खड़ीबोली शब्द नया है किन्तु 'स्थान तथा स्वरूप भेद से हिन्दवी, हिन्दई, रेख़्ता, हिन्दुस्तानी' आदि अनेक नामों से प्रचलित थी।......इसका मिश्रित रूप उर्दू काव्य की तरह हिन्द-काव्य में भी प्रयुक्त होता था और दोनों शैलियों में यह 'रेख़्ता' नाम से ही जानी जाती थी। इस रेख़्ता नाम का एक तो हिन्दी में पर्याप्त प्रचार न था, दूसरे फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष और विद्यार्थी इसे उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी के पर्याय में प्रयुक्त करते थे, इसलिए लल्लू जी लाल ने उसी रेख़्ता शब्द के गिरी-पड़ी वज़न पर अरबी-फारसी मुक्त इस बोली को खड़ी नाम दे दिया (पृ०-३१)। इस [illegible] की स्थापना को तर्कसम्मत बनाने की चेष्टा बराबर रही है।

दूसरे अध्याय में 'खड़ीबोली कविता का संक्षिप्त इतिहास' प्रस्तुत है। हिन्दी-साहित्य के विभिन्न युगों के शीर्षक देकर उनके कवियों की खड़ी बोली में

लेखिका : डॉ० आशा गुप्ता
प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
मूल्य : १६ रुपये

रचित रचनाओं के उद्धरण दिये गये हैं। इस अंश में लेखिका का सामग्री-शोध-सम्बन्धी अध्यवसाय स्पष्ट हुआ है। यह अध्याय अपने आप में एक 'शोध-खण्ड' है।

तीसरे अध्याय में अभिव्यंजना के तत्त्वों की मीमांसा करने की चेष्टा है। हमें लगता है कि प्रस्तुत अंश इस ग्रन्थ के सबसे कमज़ोर अंशों में से है। यद्यपि मत-उद्धरणी की राशि जुटायी गयी है परन्तु न तो किसी मौलिक स्थापना के दर्शन होते हैं न ही अभिव्यंजना के वास्तविक रूप का स्पष्टीकरण होता है। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसी बातें कही गयी हैं जिनके आगे दृढ़ प्रश्न चिह्न लगाये जा सकते हैं। जैसे कि वाल्मीकि, तुलसी, मैथिलीशरण आदि के राम से सम्बन्धित महाकाव्यों की विषय-वस्तु को एक ही बताया गया है। वस्तुतः विषयवस्तु एवं मात्र कथा में बड़ा अन्तर होता है और अभिव्यंजना-शिल्प की परीक्षा करने वाले के लिए इस तथ्य को याद रखना अनिवार्य है। एक ओर लेखिका अभिव्यंजना और काव्य (काव्य से शायद विषयवस्तु से अभिप्राय है।) के अविच्छेद्य सम्बन्ध को स्वीकार करती है और दूसरी ओर उपर्युक्त प्रबन्धकाव्यों में विषयवस्तु को एक ही मानते हुए भी मात्र अभिव्यक्ति को ही अन्तर करने वाला तत्त्व स्वीकार करना (पृ० ७८) क्या अपने आप में स्वतोव्याघात नहीं है? इसी प्रकार एक ओर शब्द के अन्तर्गत गुण, धर्म, शक्ति आदि को स्वीकार करना एवं दूसरी तरफ अभिव्यंजना के उपादानों के अन्तर्गत शब्द-कोश एवं वाक्य-विन्यास से पृथक् शब्द-शक्ति, गुण, रीति, वृत्ति आदि को रखना भी विचार-सम्बन्धी एकरूपता के अभाव का सूचक है। पर तमाम ऐसे निष्कर्षों पर ध्यान न भी दिया जाय तब भी सबसे अधिक चौंकाने वाली बात है—अभिव्यंजना के अन्तर्गत छन्द एवं काव्यरूप की चर्चा का एकान्त अभाव; जब कि काव्यरचना में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों (अलंकरण से कहीं अधिक) में से ये हैं। काव्यरूप का तो कहीं नाम भी नहीं लिया जाता एवं एक नितान्त भ्रमपूर्ण मत की स्थापना भूमिका में ही की गयी है कि 'छन्द' काव्य के शब्द-अर्थ का बाह्य अथवा आन्तरिक गुण न होकर वाक्यविचार का बन्ध मात्र माना जा सकता है?'

चतुर्थ अध्याय में सं० १३०० से १९०० तक के खड़ीबोली काव्य में अभि-व्यंजना का विवेचन हुआ है। इसमें अभिव्यंजना के लेखिका द्वारा विवेचित उपादानों का नितान्त शास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण-वर्गीकरण हुआ है। इस सम्बन्ध में लेखिका ने इस विशेषता का पूर्ण परिचय दिया है कि पुराने काव्य का उसने धैर्य के साथ पर्याप्त अध्ययन किया है।

पाँचवाँ अध्याय 'भारतेन्दुयुग' के काव्य के विमर्श में प्रयुक्त हुआ है। चौथे अध्याय से पाँचवें अध्याय के संक्रमण में एक शून्य (Vacuum) है कि सं० १९०० के पूर्व और पश्चात् के काव्य के मध्य में परम्परा की कड़ियाँ कौन सी हैं? पाँचवाँ अध्याय शुरू तो इस वाक्य से होता है कि, 'भारतेन्दु युग से पूर्व खड़ीबोली का अपना स्वतन्त्र स्थान है और उसके पीछे कई शताब्दियों की लम्बी काव्य-परम्परा

है।' पर लेखिका तनिक भी इस बात को दिखाने की चेष्टा नहीं करती कि पूर्ववर्ती काव्य से इस परवर्ती काव्य की अभिव्यंजना का किस रूप में सम्बन्ध है ? आखिर परम्परा की कड़ियाँ टूटी तो न होनी चाहिएँ और यदि कोई सम्बन्ध नहीं है तो पूर्वपरम्परा का इतिहास या विश्लेषण कोई अर्थ नहीं रखता। परम्परा के ऐतिहासिक परिदृश्य के ज्ञान के अभाव में ही लेखिका ने ऐसे मत भी व्यक्त किए हैं, 'आश्चर्य यह है कि फिर भी इस युग में सर्वतोभावेन खड़ीबोली को समर्थ काव्य-भाषा का पद प्राप्त न हो सका।' माध्यम के विकास की अपनी गति होती है और उसे अनुकूलित करने वाले तथ्य होते हैं, उनकी पहिचान और स्थापना आवश्यक है। भाषा-सम्बन्धी नीति के परिवर्तन के सामाजिक, साहित्यिक कारण थे उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया गया।

छठा अध्याय भारतेन्दु एवं द्विवेदी युगों के सन्धिकाल (संवत १९४०-१९६०) के अभिव्यंजनागत विवरण को उपस्थित करता है। इसे हम लेखिका की सूझ-बूझ का परिचायक मानते हैं। वस्तुतः यह सन्धि युग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है जब कि हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इसके मूल्यांकन पर कभी ध्यान ही नहीं दिया।

द्विवेदीयुग (सं० १९५७-१९७७) की कविता पर विचार सातवें अध्याय में हुआ है। सबसे अधिक विस्तृत अध्याय तो इसे होना ही चाहिए था, लेखिका का मन भी इसको लिखने में अधिक रमा है—जो इस काव्य के पूर्ववर्ती काव्य की अपेक्षा सुन्दरतर होने के कारण स्वाभाविक भी है। इस अध्याय में मात्र तथ्यों का संग्रह या विश्लेषण ही नहीं है, बल्कि विकासक्रम की भी झलक मिलती चलती है। अध्याय के अन्त में पन्त, निराला की काव्यगत नवीनताओं की ओर संकेत उन नये अँखुओं की ओर इंगित है जो छायावादी काव्य में पल्लवित होने वाले थे। इस अध्याय के सम्बन्ध में एक सहज आपत्ति उठायी जा सकती है कि सनेही जैसे उस युग के अत्यन्त समर्थ एवं लोकप्रिय कवि की उपेक्षा की गयी है। वस्तुतः हरिऔध एवं मैथिलीशरण के साथ ही खड़ीबोली-काव्य की भाषा और शैली के मँजाव में सनेहीजी का अन्यतम योग है। बल्कि द्विवेदीयुग में वे गुप्तजी से अधिक इस मँजाव के अधिकारी माने जावेंगे। पता नहीं कैसे लेखिका ने उनके काव्य को अभिव्यंजना-शिल्प से हीन कह दिया है। शायद उसे सनेहीजी का साहित्य (जो अधिकांशतः असंकलित पड़ा है) को देखने का सुयोग नहीं मिल सका—अन्यथा 'त्रिशूल' एवं 'सनेही' नाम से लिखित उनकी रचनाओं में दो अभिव्यंजना-पद्धतियाँ प्राप्य हैं। इसी प्रकार अन्य कवियों के वर्गीकरण में भी असावधानी बरती गयी है; जैसे कि मन्नन द्विवेदी गजपुरी, रूपनारायण पाण्डेय इत्यादि के काव्य में छायावाद में विकसित होने वाले तत्त्व बड़ी मात्रा में मिल जाते हैं जबकि रामचरित उपाध्याय में अभिव्यंजना का पुरानापन अधिक है। पर इन खामियों के बावजूद इस अंश में लेखिका ने काव्य की अभिव्यंजनागत पहिचान का अपेक्षाकृत अधिक गहरा परिचय दिया है। एक ओर

वे अनुवाद की बारीकियों को परखती हैं एवं दूसरी ओर शैली की ऐसी पहिचान को स्पष्ट करती हैं कि 'प्रियप्रवास में 'ता' प्रत्यय लगा कर हरिऔध ने पदावली को श्रुतिमधुर किया है'; अथवा पूर्ण जी की कविता की भावमयी कल्पना का उनकी अलंकार-योजना के सौन्दर्य से सार्थक सम्बन्ध सूचित करती हैं। कवियों की भाषा-च्युति, काव्यदोषों आदि का भी विश्लेषण करने में उन्होंने अपने शास्त्रज्ञान का यथेष्ट परिचय दिया है। तत्समप्रधान क्लिष्ट भाषा, बोलचाल प्रधान भाषा एवं प्रांजल भाषा-सम्बन्धी उनके विवेचन भी महत्त्वपूर्ण हैं। इस काव्य के सम्यक् अनुशीलन द्वारा उन्होंने जो यह निष्कर्ष निकाला है कि 'द्विवेदी युग का द्वितीय चरण (सं० १९१०-२० ई०) साहित्य में केवल भाव और भाषा का ही नहीं अपितु कलात्मक आन्दोलन का भी समय था' पर्याप्त पुष्ट एवं तर्कसम्मत है।

सम्पूर्ण ग्रंथ को पढ़ने के बाद एक बात स्पष्ट रूप से हमारे सामने उभरती है कि तथ्यों का संकलन बड़ी तैयारी, अध्ययन एवं मँजाव के साथ हुआ है। पर इसी स्तर पर ग्रंथ का मुख्य दोष भी उभरता है कि तथ्य राशि को व्याख्या की वह एकसूत्रता नहीं दी जा सकी है जो इस प्रयत्न को साकार व्यक्तित्व प्रदान कर सकती। सब कुछ इतना बिखरा हुआ है कि वृक्षों के मध्य वन खो गया है। स्वयं लेखिका के सामने सम्भवतः इस काव्य की अभिव्यंजना-शक्ति की सम्यक् धारणा नहीं बन पायी। शायद इसी कारण 'उपसंहार' नहीं दिया गया जहाँ पर कि उपलब्धियों एवं अभावों का व्यापक मूल्यांकन किया जा सकता था। बहरहाल शोध की प्रभूत सामग्री का संकलन होते हुए भी प्रस्तुत भारी-भरकम ग्रंथ उस आदर्श को नहीं प्राप्त कर सका जो तथ्य शोध, कल्पना एवं मूल्यांकन-क्षमता द्वारा प्राप्य होता है।

एक दूसरा मुख्य दोष (जिसकी ओर हम पहले भी इंगित कर आये हैं) है कि कथ्य एवं अभिव्यंजना की अन्योन्याश्रित स्थिति के सन्दर्भ में अभिव्यंजना की शक्ति का विश्लेषण नहीं हुआ है।

तीसरी बात यह कि यदि प्रथम दो अध्याय ग्रंथ से हटा भी दिये जायँ तो उसक मूल कलेवर या स्थापनाओं को कोई क्षति न पहुँचेगी। वस्तुतः इस प्रबन्ध में दो शोध-ग्रंथों की सामग्री है—उनका पृथक्-पृथक् उपयोग ही होना चाहिए था।

छन्द, काव्यरूप एवं बिम्बविधान-सम्बन्धी विमर्श का नितान्त अभाव भी प्रतिपाद्य को नितान्त एकांगी बना देता है।

ग्रंथ में कहीं सन् एवं कहीं संवत् के प्रयोग भी पाठक के सामने व्यवधान खड़े करते ।

परन्तु सब मिला कर लेखिका द्वारा मूल ग्रंथराशि का अनुशीलन, तथ्यों की स्पष्टता व वर्गीकरण-क्षमता तथा शोधप्रबन्ध के उपयुक्त—वाग्जाल एवं अतिरिक्त

भावुकता से मुक्त साफ-सुथरी एवं निश्चित (exact) भाषा का प्रयोग इस ग्रन्थ को अपेक्षित महत्त्व देते हैं। खड़ीबोली-काव्य के अध्येताओं के लिए ग्रन्थ पठनीय ही नहीं संग्रहणीय भी है।

एक बात प्रकाशक महोदय से : ग्रंथ का प्रकाशित शीर्षक ग्राहक के लिए अत्यन्त भ्रामक है। ग्रंथ के भीतर दिये गए शीर्षक (इनर टाइटिल) को छोड़कर कहीं भी इसका संकेत नहीं है कि यह अध्ययन १९२० ई० तक सीमित है। पुस्तक के शीर्षक से खड़ीबोली के अब तक के काव्य का बोध होता है और खरीदने वाले के साथ यह एक प्रकार का धोखा ही कहा जायगा। हमारा अनुरोध है कि कम से कम डस्टकवर पर इस तथ्य को पुनः मुद्रित करा दिया जाय।

———

आधुनिक हिन्दी-काव्य में परंपरा तथा प्रयोग

डा० तारकनाथ वाली

आज जीवन, कला एवं शास्त्र के सभी पहलुओं में विकास के सत्य की स्वीकृति असंदिग्ध रूप से हो चुकी है। यही कारण है कि साधना की सभी सरणियों के अध्ययन में विकासात्मक दृष्टि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्य का अध्ययन भी इसी विकासात्मक दृष्टि के आलोक में होता आया है जिसका एक व्यापक रूप साहित्य के इतिहास एवं विकासविषयक अध्ययनों में लक्षित होता है। 'आधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा और प्रयोग' इन्हीं अध्ययनों की लड़ी की एक कड़ी है।

परंपरा और प्रयोग विकास के ही दो चरण हैं। एक जीवन-धारा को अविच्छिन्न बनाने के लिए स्थायित्व प्रदान करता है तथा दूसरा उसे गति देने के लिए प्रेरणा एवं चंचलता प्रदान करता है। इस प्रकार विकास की भूमिका में परंपरा और प्रयोग दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। विकास के सत्य में प्राचीन परंपरा की भी स्वीकृति है और नवीन प्रयोगों की भी।

किन्तु जब हम परंपरा और प्रयोग के सम्बन्ध का स्वतंत्र रूप से विवेचन करते हैं तो दोनों में समानता कम और भिन्नता अधिक दिखाई देती है। इस प्रकार के विवेचन के दो रूप हैं प्रथम परंपरा का प्रयोग से क्या संबन्ध है, द्वितीय प्रयोग का परंपरा से क्या संबंध है? दूसरे शब्दों में इन दोनों रूपों को इस प्रकार रखा जा सकता है: प्रथम परंपरा के निर्माण में प्रयोग का क्या महत्त्व है, तथा प्रयोग को जन्म देने में परंपरा का क्या कार्य है? स्पष्ट है कि ये दोनों प्रश्न एक दूसरे से मूलतः भिन्न एवं मूलभूत हैं। प्रथम प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रयोग-विशेष ही लोक द्वारा स्वीकृत होने पर परंपरा का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

लेखक : डा० गोपालदत्त सारस्वत
प्रकाशक : सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद

द्वितीय प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि परंपरा और युगीन जीवन दोनों समवेत रूप से प्रयोगों का उन्मेष करते हैं। किन्तु ये उत्तर दे देने से ही प्रश्नों का समाधान नहीं हो जाता।

कारण यह है कि प्रथम उत्तर के साथ ही यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी जुड़ा हुआ है कि ऐसा क्यों होता है कि विविध प्रयोगों में से कुछ एक ही परंपरा का रूप ग्रहण करते हैं तथा अन्य विलीन हो जाते हैं ? दूसरे उत्तर के साथ यह शंका भी लगी हुई है कि प्रयोगों के उन्मेष में किस तत्त्व का हाथ अधिक है, परंपरा का या युगीन परिस्थितियों का ? अथवा क्या परंपरा और युगीन परिस्थितियाँ परस्पर संबद्ध नहीं हैं ? इन प्रश्नों के वैज्ञानिक समाधान का एक ही रास्ता है। वह यह कि सामाजिक चेतना के प्रकाश में ही विविध शास्त्रीय, एवं कलागत परंपराओं एवं प्रयोगों का अध्ययन किया जाए। विविध प्रयोगों में से क्यों कुछ एक ही परंपरा के रूप में जीवित रह जाते हैं इसका उत्तर भी सामाजिक चेतना का अध्ययन ही दे सकता है और किसी युग की कोई परंपरा क्यों नवीन प्रयोगों का उन्मेष करती है इसका उत्तर भी तत्युगीन सामाजिक चेतना से प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार परंपरा और प्रयोग दोनों ही मूलतः सामाजिक जीवन द्वारा परिचालित—नियंत्रित होते रहते हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में लेखक ने परंपरा और प्रयोग के संबंध आदि पर थोड़ा विचार करने की चेष्टा की है। किन्तु इस चेष्टा में न तो व्यापकता है, न गंभीरता है और न ही कुछ विशेष उपयोगिता है। वस्तुतः यह विषय अत्यंत व्यापक एवं गंभीर है। मगर इसको लेखक ने बहुत हल्के ढंग से कुछेक पृष्ठों में कई उद्धारणों के आधार पर दर्शा कर खतम कर दिया है। कम से कम एक शोध-ग्रंथ में ऐसा नहीं होना चाहिए।

वस्तुतः इस विषय के दो पक्ष हैं—एक सैद्धान्तिक पक्ष जिसमें परंपरा और प्रयोग के स्वरूप का विश्लेषण आता है। द्वितीय व्यावहारिक पक्ष है जिसके अन्तर्गत आधुनिक काव्य में इन दोनों पक्षों का विवेचन आता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस शोध-प्रबन्ध का सैद्धान्तिक पक्ष अत्यंत दुर्बल है और इस संबंध में लेखक के ये कथन "निष्कर्ष यह है कि प्रयोग और परंपरा में मूलतः कोई अन्तर नहीं" (पृ० १२), "प्रयोग का अर्थ यही है कि कवि शाश्वत सत्य को नवीन परिस्थितियों के संदर्भ में रखकर नए रूप में उपस्थित करे" (पृ० ४६६) सर्वथा भ्रान्त और अग्राह्य हैं। यदि दोनों में अन्तर नहीं तो फिर शोध का विषय ही क्या रहा ? हमने तो कोई ऐसा कोश देखा नहीं, जिसमें दोनों शब्दों का एक ही अर्थ हो। और फिर जिस 'शाश्वत सत्य' की दुहाई देकर दोनों में अभेद की सिद्धि की गयी है, वह क्या है ? इस प्रकार के भ्रान्त निष्कर्षों का कारण यही है कि लेखक

ने परंपरा और प्रयोग का अध्ययन उचित परिप्रेक्ष्य में रखकर नहीं किया। अतएव इस शोध प्रवन्ध के सैद्धान्तिक पक्ष का नए सिरे से विवेचन होना चाहिए।

गनीमत यही है कि लेखक ने उपर्युक्त विवेचन से जो निष्कर्ष खींच निकाले हैं उनके आधार पर आधुनिक काव्य का विवेचन नहीं किया। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि शोध-प्रबन्ध के प्रथम और द्वितीय खंड के तथ्यों एवं उदाहरणों में काफी अन्तर है।

शोध-प्रबन्ध की योजना भी सर्वथा अवैज्ञानिक है। प्रथम खण्ड को आधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा नाम दिया गया है और परम्परा और प्रयोग का विवेचन भी इसी खण्ड में कर दिया गया है। ऐसा क्यों किया गया है यह सर्वथा अज्ञेय है। दूसरे खण्ड का आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रयोग नाम दिया गया है। इस के अन्तर्गत प्रयोग और परंपरा का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं हुआ, यह अच्छा ही है। विषय के व्यावहारिक पक्ष को दो खण्डों में विभाजित करने से विषय का तारतम्य टूट गया है और वह उलझ गया है। किसी भी एक पक्ष—शैली, विषय-वस्तु, भावयोजना आदि के विवेचन में यदि परंपरित और नवीन रूपों का अध्ययन एक साथ ही किया जाता तो ऐसा अध्ययन अपनी संबद्धता में वैज्ञानिक होता। इस शोध-प्रबंध के दो खण्ड सैद्धान्तिक विवेचन और व्यावहारिक विवेचन होने चाहिए थे और व्यावहारिक विवेचन में एक साथ ही आधुनिक काव्य के विविध पक्षों की परंपराओं और प्रयोगों की मीमांसा होनी चाहिए थी।

व्यावहारिक विवेचन का दूसरा बड़ा अभाव यह है कि प्रायः प्रत्येक अध्याय में नवीन प्रयोगों के उदाहरणभर दे दिए गए हैं। आवश्यकता तो इस बात की थी कि लेखक उन नवीन प्रयोगों को तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में रखकर देखता और इसी संदर्भ में उनका विश्लेपण करता। केवल ऊपरी दृष्टि से तथ्यों का संकलन कर देने से तथा नवीनता के उदाहरण दे देने से ही कार्य समाप्त नहीं हो जाता। वरन् यहाँ से तो वास्तविक शोध कार्य आरम्भ होता है।

हिन्दी में शोध-प्रबन्ध लिखने की दो प्रधान रीतियाँ लक्षित होती हैं। एक व्याख्यात्मक-विवेचनात्मक रीति; द्वितीय तथ्य, विवरण-रीति। प्रथम कोटि के शोध-प्रबन्धों की संख्या बहुत सीमित है और मेरे विचार में आज उसी रीति पर शोध-कार्य होना चाहिए। जब हिन्दी-साहित्य का अध्ययन आरंभिक अवस्था में था तब तो तथ्य-विवरणात्मक प्रबन्धों के लिए कुछ अवकाश भी था और उपयोगिता भी, किन्तु आज जब कि, साहित्य के सभी पक्ष इतने उन्नत और विकसित हो चुके हैं तब इस प्रकार के शोध-प्रबन्धों के लिए कोई स्थान नहीं है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध तथ्य-विवरणात्मक पद्धति पर ही लिखा गया है।

स्थान-स्थान पर लेखक वेदों, उपनिषदों, पुराणों आदि से तथ्यों का संकलन करता लक्षित होता है, जिसमें न तो कोई मौलिकता ही है और न ही कुछ उपयोगिता। आवश्यकता तो इस बात की थी कि तथ्यों का परिगणन न कर सामान्य प्रवृत्तियों का क्रमिक विवेचन किया जाता और सामाजिक आकांक्षाओं से उसके साम्य-वैषम्य की मीमांसा की जाती तथा इस विवेचन को तथ्यों से पुष्ट किया जाना चाहिए था।

इसके अतिरिक्त इस प्रबन्ध में स्थान- स्थान पर अनेक भ्रान्त मतों को व्यक्त किया गया है जो न तो विवेचन से पुष्ट किए गए हैं और न ही किसी प्रामाणिक पुस्तक के उद्धरण से। उदाहरण के लिए यह कथन कि 'आधुनिक मनोविज्ञान शास्त्र में अहं की वृत्ति को मूल वासना के रूप में स्वीकार किया गया है। अन्य प्रवृत्तियों का इस से प्रादुर्भाव माना गया है' (पृ० ८१) कतई गलत है।

यह कथन कि "छायायादी-रहस्यवादी काव्य की प्रतीक-पद्धति के दो रूप हैं। एक प्रकार के प्रतीक वे हैं जो अन्योक्ति-पद्धति पर आश्रित हैं तथा दूसरे प्रकार के प्रतीक लाक्षणिक हैं" सर्वथा निराधार है क्योंकि प्रतीक तो सारे ही लाक्षणिक होते हैं क्योंकि सभी प्रतीकों के प्रयोग में मुख्यार्थ में बाधा होती है चाहे वे अन्योक्ति पद्धति पर प्रयुक्त हों चाहे किसी अन्य पद्धति पर। इसी प्रकार पन्त की 'एक तारा' कविता को रहस्यवादी कहना भी सर्वथा अनर्गल है।

समग्र दृष्टि से देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस प्रबन्ध का विषय महत्त्वपूर्ण है किन्तु उसका प्रतिपादन अवैज्ञानिक और अपूर्ण है। हाँ, इस में केवल कुछ तथ्यों का संकलन अवश्य किया गया है।

आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रेम और श्रृंगार

डॉ० रामेश्वर लाल खंडेलवाल

'आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार' जैसे ग्रंथ के प्रकाशन की चर्चा कान पर पड़ते ही इस क्षेत्र की गतिविधि और इसके विकास में रुचिशील और जिज्ञासु अध्येता के मन में इस प्रकार की अपेक्षाओं और संभावनाओं का जग जाना कदाचित् असंगत न होगा—ग्रंथ में 'आधुनिक' की सीमा का किन्हीं प्रवृत्तियों या एक केन्द्रीय प्रवृत्ति को लेकर निर्धारण हुआ होगा; जीवन, साधना, और कला में सर्वत्र व्याप्त प्रेम-वृत्ति की परिधि पर सामान्य दृष्टिपात करके, विवेचन की स्पष्टता या सुविधा की दृष्टि से, प्रेम के साहित्योपयोगी रूप की परिमिति पर विचार किया गया होगा; प्रेम-संबन्धी अधुनातन भारतीय और पाश्चात्य तत्त्वचिंता की पीठिका पर प्रेम और शृंगार की सैद्धांतिक विवेचना करके उनके पारस्परिक सम्बन्ध व भेद को निर्भ्रांत शब्दों में निर्दिष्ट किया गया होगा; काव्य में निरूपित प्रेम और शृंगार की भावनाओं के विश्लेषण के पश्चात् रचना-समष्टि के गुणाव-गुणों पर विचार करके उपलब्धि के मूल्यांकन का प्रयास किया गया होगा; आदि। पुस्तक हाथ में आने पर रैपर पर जो कुछ पढ़ने को मिलता है उसका सार, प्रमुख पदावली को यत्र-तत्र अविकल उद्धृत करते हुए (लेख की कलेवर-वृद्धि का भय होते हुए भी इस लोभ का संवरण कर पाना कठिन हो रहा है), इस प्रकार है—(१) 'आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार का आलोचनात्मक अध्ययन इस ग्रंथ का विषय है' (२) 'प्रचलित वाददृष्टि को छोड़ कर इसमें काव्य का निष्पक्षतापूर्वक मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है,' (३) 'प्रेम और शृंगार की जैसी समीक्षा इस ग्रंथ में हो पाई है, वैसी अन्यत्र (स्वर अनिश्चयात्मक है, पता नहीं हिन्दी में ही या संसार के सब साहित्यों में) दुर्लभ है,' (४) 'आलोचनात्मक

लेखक : डॉ० रांगेय राघव

प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

मूल्य : ६-०० रुपये

दृष्टि से तो यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है ही; साथ ही इसकी प्रतिपादन-शैली इतनी ललित और व्याख्यात्मक है कि पढ़ते-पढ़ते आप काव्यानन्द में विभोर हो उठेंगे।' (५) 'विषय को स्पष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर विषयानुकूल कविताओं के उद्धरण दिये गये हैं। एक प्रकार से इस ग्रंथ में आप प्रेम और शृंगार की लोकप्रिय और उत्कृष्ट कविताओं का संकलन भी पायेंगे,' तथा (६) 'हिन्दी साहित्य के अध्येताओं के लिए प्रस्तुत ग्रंथ बहुत महत्त्वपूर्ण है'। इस प्रकार एक ओर विषय की प्रकृत आकांक्षा और दूसरी ओर लेखक का विमर्श, उद्घोष या दावा—इन दोनों में जोड़-बाकी लगाकर एक बड़े लाभ की आशा में समझौता करता हुआ पाठक ग्रंथ में प्रविष्ट होता है। वह इस समझौते में अपनी कुछ माँगों या चाहों को फिलहाल ताक में अलग रखने को भी राजी हो जाता है—यह सोच कर कि उसकी माँग पूरी हो तो ठीक, न हो तो भी ठीक; उसका प्रतीक्षित भी कदाचित् प्रकारान्तर से इसमें मिल जाये! जो कुछ लेखक की ओर से आ रहा है वह अपने आप में समृद्ध संभावनाओं से आपूर्ण है। लेखक ने उक्त निर्देश के (मैं यह मान कर चल रहा हूँ कि वह लेखक की ओर से ही है) द्वारा मानो अपना निकष हमारे हाथ में सौंप दिया है जिसे ग्रन्थ-समाप्ति पर मिलान के लिए हम काम में ला सकते हैं।

पर, इतना ही पर्याप्त नहीं है। 'भूमिका' (पृ० ५—१३) में लेखक को अभी कुछ आवश्यक बातें कहनी हैं जिनमें निहित दृष्टिकोण से लेखक ने अपना विषय समझा और गुना है।

भूमिका में लेखक ने 'वाददृष्टि को छोड़ कर' 'नई ही दृष्टि से' हिन्दी कविता को देखने की आवश्यकता पर बल देते हुए काव्य के विविध पहलुओं में से रागपक्ष के प्रस्तुत करने वाले पहलुओं को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है क्योंकि वे ही उसके अन्तरतम से बाहर आए हुए भाव होते हैं। लेखक को आलोचकों के प्रति शिकायत है कि वे निष्पक्षता के अभाव के कारण, मूलवस्तु को किनारे करके, काव्य अथवा उन पहलुओं के बाह्य का ही परीक्षण करते रहते हैं, आदि। काव्यालोचन की यही असन्तोषजनक स्थिति इस ग्रंथ के प्रणयन की प्रेरणा या 'स्टीम' है। पर आलोचकों पर निष्पक्षता के अभाव का आरोप लगाने के साथ ही वह स्वयं को निष्पक्ष प्रमाणित करने के लिए भी तो बँध जाता है! हर्ष की बात है कि लेखक ने अपने आश्वासन के अनुसार काव्य के शुद्ध अन्तरंग को ही अपनी प्रकृतभूमि के रूप में ग्रहण करके अनेक बातों में निष्पक्षता का परिचय दिया है। पूर्वाग्रह-मुक्त पहली महत्त्वपूर्ण निष्पक्षता साधारणीकरण और रस-सिद्धान्त के सनातन साहित्यिक राजमार्ग को अपनाने और दृढ़-स्पष्ट कंठ से उसकी अपरिहार्यता को ज्ञापित करने में दिखाई पड़ी है (दे० पृ० ८, ९, १०, १२ और १३)। वस्तुतः यह रसवाद पर कोई एहसान नहीं; इसके बिना कोई दूसरा चारा भी तो नहीं! व्यक्ति-वैचित्र्य और वस्तु-व्यापार-वैविध्य के बीच में से जब तक कोई सामान्य भावभूमि न उभर आये तब

तक प्रेम-चर्चा जैसे विषय का कोई दृढ़ सन्तोषजनक आधार खड़ा नहीं हो सकता; क्योंकि प्रेमानुभूति सब की सामान्य सम्पत्ति है और सामान्य की बात के लिए सामान्य धरातल का ग्रहण ही न्याय्य है। और निश्चित है कि साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रेम जैसे जटिल और सूक्ष्म विषय के लिए (जिसमें अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग मिलेगा) बहुत साफ़ और निरापद है। इतना ही नहीं लेखक ने साधारणीकरण और रस के इस उन्मुक्त पथ में बाधक सभी अतिवादों या प्रणालियों पर निर्ममता से प्रहार किया है। लेखक की निष्पक्षता इन बातों से और भी पुष्ट होती है कि उसने मार्क्सवादियों के प्रति रस-सिद्धान्तियों के आरोप को सत्य माना है (पृ० ११), रूस में महान् कला के अभाव पर आश्चर्य प्रकट किया है (पृ० ११), मार्क्सवादी लेखकों (कुत्सित, रूढ़िगत) की एकांगिता की ओर संकेत किया है (पृ० ८, ११), और साथ ही इस सिद्धान्त के व्यावहारिक निर्वाह-पथ में दिखाई पड़ने वाली त्रुटियों को भी दर्शाया है (पृ० ७)।

मानना होगा कि यह सब साहित्य के लक्ष्य और उसकी प्रक्रिया से अनुमोदित एक ऐसी स्वस्थ साहित्यिक दृष्टि के कारण ही संभव हो सका है जिसमें विकासमान जीवन के सद्य तत्व उचित अनुपात में समाविष्ट हैं। 'सामाजिक दृष्टि' और 'प्रगतिशीलता' के उल्लेख से कइयों को इस दृष्टिकोण में साम्प्रदायिकता की गंध आ सकती है (यद्यपि प्रतिपादन-शैली में इस प्रकार के उत्साह से सर्वथा इनकार भी नहीं किया जा सकता) किन्तु यहाँ सारा दृष्टिकोण साम्प्रदायिक दंश से प्रायः मुक्त हो मिलेगा। सार्वभौम मानवीयता, युग-सत्य और समाज-सापेक्षता—इन तीनों के ही समन्वय का लेखक आग्रही है। दो आत्यन्तिक चिन्तन-छोरों का अन्तर पाटने की सदाशयता लिए हुए तथा नवीन युग और जीवन के तत्त्वों को आत्मसात् करते हुए लेखक ने भारतीय चिन्तन और मार्क्सीय समीक्षा (मार्क्सवादी दृष्टिकोण का सार्वभौमिक रूप लेखक ने सूत्र-रूप में पृ० ६-७ पर दिया है) को अधिकाधिक निकट लाकर अपने विषय के लिए जो भूमि तैयार की है, उसका समर्थन करने में युग-सत्य और वस्तु-सत्य को भी जीवन और साहित्य का सत्य मानने को तत्पर रसवादी आचार्य बहुत अधिक आगा-पीछा संभवतः न करेंगे।

किन्तु साथ ही पूर्वापर के बिना एक सपाटे से यह कह देना कि "हिन्दी के प्रयोगवादियों में न आस्था है, न व्यक्तित्व" (पृ० ५) यह रांगेयजी की जरा ज्यादती ही लगेगी। साधना और चिन्तन की धाराएँ सहस्रमुखी हैं। सब अपनी-अपनी बोली, विचार, तंत्र और दृष्टि लिये चलने में स्वतन्त्र हैं। इतनी छूट दिये बिना चलना तंगदिली के दायरे की तरफ बढ़ना होगा। जिन मनोवैज्ञानिक उलझनों का उल्लेख लेखक ने किया है (पृ० ७, ८) और जो सामान्यतः प्रयोगशील या नई कविता का ख़ास क्षेत्र करार दिया जाता है, वे जीवन में हैं ही, इससे कौन इनकार करेगा।

और फिर जिस साधारणीकरण को डॉ० राघव सामान्य मिलन-भूमि मानते हैं उसकी अवज्ञा प्रयोगवाद के पुरस्कर्ता या अग्रणी श्री 'अज्ञेय' तक नहीं कर सके हैं; साधारणीकरण तो क्या, आनन्द या रस भी उन्हें इष्ट है—"कविता अब भी व्यक्ति-सत्य का साधारणीकरण करके आनन्द की सृष्टि करना चाहती है" ('अज्ञेय' 'प्रतीक' जून, १९५१, पृ० ३१)।

इसके अतिरिक्त सूत्र रूप में अन्य बातें भी 'भूमिका' में आई हैं। उदाहरणार्थ, विचारवृत्त में ही भाववृत्त का विकास होता है, जो कोई नई बात नहीं। आचार्य शुक्ल ने यह बात तीन दशक पहले ही कह दी। काल-प्रवाह में किस प्रकार प्रेमवृत्ति प्रभावित होती आई है, इस तथ्य को भी एक स्थान पर इतिहास के फलक पर उदाहृत किया गया है।

ग्रंथ के मुख्य भाग में लेखक हमारे सामने भावक समीक्षक, भावुक कवि, व्याख्याकार, शैलीकार, संकलनकर्ता, सम्पादक, टीकाकार—एक ही साथ कई मिले-जुले रूपों में उपस्थित होता है। प्रकरणों का नामकरण व क्रम—वासना : पुरुष, वासना : नारी, रूप का उफान, भोर से साँझ तक, फागुन से पावस; इस रूप में हुआ है। विवेचन की पद्धति यह अपनाई गई है : प्रत्येक प्रकरण के आरम्भ में लेखक ने सम्बन्धित प्रकरण-विषय के सम्भार-रूप कुछ प्रावेशिक बातें कही हैं जिनका कुल योग लगभग १० पृष्ठ है। फिर तो प्रेम, शृंगार, सौन्दर्य, प्रकृति विषयक उद्धरणों (जो लघु-लघु अन्तर पर प्रायः यांत्रिक क्रम से आते चलते हैं) की भरमार है और उनके सहारे-सहारे अबाध गति से व्याख्या चलती जाती है। ग्रंथ के अन्त में ४ पंक्तियों में प्रच्छन्न-प्रकट रूप में, अपने दृष्टिकोण के अनुसार, नये कवि के गुण, उसकी अनुभूति के दोष और भविष्य की धूमिल आशा के सम्बन्ध में कुछ कह कर झटके के साथ परदा गिरा दिया गया है।

ग्रंथ के इन प्रकरणों में लेखक के जिन विविध रूपों का परिचय हमें मिलता है उन्हें सुविधा की दृष्टि से अलग-अलग लेना उत्तम होगा। स्पष्टतः लेखक के दो रूप प्रमुख हैं—भावक रूप और भावुक रूप। विकासोन्मुख ज्ञान-विज्ञान की शाखा-प्रशाखाओं के सुस्पष्ट अन्तर और भेद-विधान की परम्परा में साहित्य क्षेत्र में भी भाव और बुद्धि के उपक्षेत्र (आगे जिनके अगणित भेदोपभेद हैं) पृथक् रखे जाने का आग्रह दिन पर दिन बढता-सा जा रहा है, जो आधुनिक शोध-वृत्ति के विकास के साथ अधिक प्रत्यक्ष व स्पष्ट हो रहा है। व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से संकायों (faculties) का यह पार्थक्य भले ही सुविधाजनक हो किन्तु सर्जन के मूल उत्सों पर भावना और बुद्धि—दोनों प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध हैं। 'ध्वन्यालोकलोचन' के आरम्भ में आचार्य अभिनवगुप्त ने आलोचक, कवि और सहृदय का मन्जुल सामंजस्य दिखाया है। राजशेखर ने भी प्राचीन आचार्यों द्वारा कवि और भावक के अभेदत्व

की धारणा का निर्देश किया है। यों भी रसात्मक साहित्य या काव्य, विज्ञान-क्षेत्र के विश्लेषणात्मक (analytical) ज्ञान के विपरीत, संश्लेषणात्मक (synthetic) ज्ञान में ही अपनी सार्थकता मानता है। यह सब होते हुए भी 'प्रसाद' जैसे अनुभूतिशील कवि ने भी शास्त्र-चर्चा के समय राग-विनिर्मुक्त ताटस्थ्य ग्रहण करते हुए तथ्य और तर्क की शुद्ध विवेचनात्मक प्रणाली ही अपनाई है (द्रष्टव्य: 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' 'प्रसाद' के नाटकों की शोधात्मक भूमिकाएँ)। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक ने जिस रूप में अपनी वस्तु और शैली प्रस्तुत की है वह अवश्य विचार का विषय हो सकता है। 'आलोचनात्मक', 'आलोचनात्मक दृष्टि', 'निष्पक्षतापूर्वक मूल्यांकन', 'समीक्षा'—आदि लेखक द्वारा दिये गये शब्दों की उपस्थिति में शुद्ध शास्त्रवेत्ता सरस व्याख्या से आगे भी बहुत कुछ चाह सकता है, चाहे फिर लेखक ने कवि के भाव-पहलू का विश्लेषण करने का ही व्रत लिया हो। या तो यह मान लिया जाय कि बौद्धिक विषय का निरूपण भाव-वृत्त में लाकर किया जाना भी आलोचना या शास्त्र चिन्ता में पूर्ण विधेय है या सर्जन-समीक्षण का एक विशेष अनुपात भावात्मक आलोचनाओं और व्याख्याओं को (जिन उद्योगों में कि गहरी सचाई है) ध्यान में रख कर स्थिर स्वीकृत किया जाय। जो हो, विषय की प्रकृति को देखते हुए भावना और बुद्धि का सामूहिक विनियोग इस रचना की शक्ति और कान्ति है और इसी में इसका वैशिष्ट्य है। कदाचित् लेखक ने इसे औपचारिक शोध के स्तर का ग्रंथ बनाना भी नहीं चाहा है। प्रमाण, तर्क, वर्गीकरण, विभाजन आदि शोध की आधारभूत तंत्र-सामग्री के अभाव में भी बहुत से लेखक अपनी रचना को औपचारिक नहीं तो अनौपचारिक शोध कह ही सकते हैं।

जहाँ तक शैली का प्रश्न है, हमें विशेष कुछ नहीं कहना है। उसके लालित्य से हम काव्यानन्द में विभोर हो जाते हैं (कहीं-कहीं चारों कोने चित्त भी हो जाते हैं!), पर लेखक का इस बात पर जोर कदाचित् इस रचना की शास्त्रीयता पर आँच ला दे, क्योंकि लसलसी भावुकता वितृष्ण शास्त्र-चिन्ता को सुहाती नहीं।

व्याख्याकर के रूप में लेखक अपने ध्येय की प्राप्ति में पर्याप्त सफल कहा जायगा, क्योंकि वक्तव्य वस्तु की काव्यमयी व्याख्या लेखक ने कई जगह खूब डूब कर, मार्मिकता और जिंदादिली के साथ, की है, इसमें सन्देह नहीं। सजग पाठक को प्रेम के मूल तत्त्व की विचारणा भी यत्र-तत्र छिड़की हुई मिल जायगी, यद्यपि यह विचारणा पाठक ग्रंथारंभ में प्रेम के स्वरूप-विवेचन या स्वरूप-निर्णय के रूप में पाकर कदाचित् अधिक परितुष्ट होता। जान पड़ता है इन व्याख्या-स्थलों में से प्रेम-सम्बन्धी विचार सूत्रों को संकलित करने जैसा मोटे किस्म का काम लेखक ने पाठकों पर ही डाल दिया है। मेज पर फल-चाकू सब रखे हैं, अपने हाथ से छीलिये और खाइये।

इस व्याख्या में प्रभावाभिव्यंजक आलोचना की बानगी भी आपको यत्र-तत्र

मिल जायेगी : 'कलम तोड़ दी है' (पृ० १३३), 'रात का यह वर्णन कितना सुरभित है' (पृ० १४१), आदि। किसी स्वानुकूल काव्यतत्त्व (जैसे कल्पना आदि) का आतिशय्य, किसी शब्द को पकड़ कर की गई आह्लादव्यंजक पुनरावृत्ति, विस्मयादि-बोधक चिह्नों से समाप्त होने वाली प्रगल्भ व भावोच्छ्वासपूर्ण टिप्पणियाँ—ये सब बातें विशेषतः पृ० १४१, १४५, १७५, १७७, १८० पर देखने को मिल सकेंगी।

प्रस्तुत रचना का एक प्रमुख गुण है हिन्दी की नई, पलुहाई पौध के प्रतिभावान् कवियों व कवयित्रियों (पुराने प्रतिष्ठित कवि भी काफ़ी हैं) की रचनाओं से लगभग ३०० उद्धरणों को लेकर उनकी केन्द्रीय मार्मिकता का स्निग्धता व सहानुभूति से व्याख्यान, रसास्वादन व प्रशंसन। इस प्रयास में लेखक का सकलनकर्त्ता, सम्पादक व शैलीकार का रूप भी प्रकट हुआ है। लेखक की एक अन्य प्रकाशित रचना (आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली) की विज्ञप्ति में पढ़ने को मिला है कि नये कवियों का कोई सहानुभूतिपूर्ण विवेचन नहीं हो सका है अतः उन्हें सही परिपार्श्व में रखकर परखा जाए। उसकी विविधता साहित्य के लिए गौरव का विषय है। यह बात प्रस्तुत ग्रंथ के कवियों के लिये भी फ़िट बैठती है। है भी यह कार्य अपने आप में बड़ा महत्त्वपूर्ण। राजशेखर ने आलोचक का एक प्रमुख कार्य इस कथन द्वारा सूचित किया है—

काव्येन किं कवेस्तस्य तन्मनोमात्रवृत्तिना।
नीयन्ते भावकैर्यस्य न निबन्धा दिशो दश॥

हमारी स्थूल गणना में इस ग्रन्थ में लगभग ३०० उद्धरण (ग्रंथ की पृष्ठ संख्या है १९५), जिनमें १०-१५ गद्य के भी हैं, आये हैं; पुस्तक के लगभग सभी पृष्ठ (भूमिका और उसके अतिरिक्त अन्य १० पृष्ठों को छोड़ कर) उद्धरणों से युक्त हैं; सवा, एक और पौन पृष्ठों के उद्धरण भी पर्याप्त हैं—जैसे, पृ० १३०, १३५-३६, १३८-३९, १४८-४९, १५४, १६६, १६७, १७४, १८१, १८३, १८५, १८६ आदि। उद्धरणों के चुनाव में लक्षित कवि का कौशल, अध्यवसाय और रुचि प्रशंसनीय है। "स्थान-स्थान पर विषयानुकूल उद्धरण" की तो बात ही क्या, प्रेम और शृंगार की लोकप्रिय (जनता की दृष्टि से तो कहना कठिन है क्योंकि कई रचनाएँ सिर के ऊपर से होकर निकल जाएँगी, हाँ कवियों की जमात में ज़रूर) और उत्कृष्ट कविताओं का अच्छा खासा संकलन हो गया है यह! उद्धरणों के सामान्य काव्य-स्तर को देख कर जान पड़ता है कि विदग्धों की बात विदग्ध लेखक के द्वारा विदग्धों के लिए ही प्रस्तुत की गई है।

अन्त में प्रकृति पर दो प्रकरण हैं। प्रेम और प्रकृति (जिसे आचार्यों ने प्रेम-शृंगार के प्रसंग में 'उद्दीपन' कहा है) का घनिष्ठतम सम्बन्ध है। अतः गठन व अंगों के सुघर विन्यास की दृष्टि से यह उचित ही है।

आलोचना (चारों ओर से देखना) और समीक्षा (समभाव से ईक्षण) में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व निहित रहता है—गुणों के साथ दोषों पर भी दृष्टि डालना। इस ग्रंथ में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, व्याख्या, आस्वादन और प्रशंसन ही अधिक है; मार्जन, खण्डन-मण्डन, दोष-दर्शन, त्रुटि-निर्देश आदि नहीं के बराबर है। ऐसी स्थिति में यह व्याख्या ही अधिक जान पड़ती है, आलोचना कम। व्याख्या और आलोचना में अन्तर है।

राजस्थानी गीत-कविताओं के उद्धरण लिये गये हैं, अन्य विभाषाओं को किस विचार से छोड़ दिया गया ? लगभग सभी कवि (छायावाद युग से ही प्रतिष्ठा-प्राप्त) ले लिये गये हैं, केवल 'प्रसाद', निराला', पंत, महादेवी और गुप्तजी ही छूटे हैं। क्यों ?

रह गई अब यह बात कि 'प्रेम और शृंगार की जैसी समीक्षा इस ग्रंथ में हो पाई है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है,' सो इस पर तो इतना ही कहा जा सकता है कि मेघ के जल कण से लेकर अन्नकण तक की एक प्रक्रिया है, हीटर और पंखे की तेजी से वह प्रक्रिया नहीं बदलेगी। कुछ वाक्य लेखकों के बोलने के होते हैं और कुछ विद्वानों, विचारकों और पाठकों के। उनकी बारी को हम क्यों झपट लें।

संक्षेप में, आलोच्य ग्रंथ की उपलब्धि हमारी दृष्टि में इस प्रकार है :

१. हिन्दी के आलोचना-साहित्य के प्रेम-सौन्दर्य विषयक अल्प-परिमाण ग्रन्थों वाले क्षेत्र में इस ग्रंथ के द्वारा अभिनन्दनीय वृद्धि हुई है;

२. अपेक्षाकृत अज्ञात कवियों को प्रकाश में लाने का पुण्य लेखक को मिला है;

३. भावना और बुद्धि के सामूहिक उद्योग द्वारा प्रेम की गूढ़ता और मर्म को अधिक प्रामाणिक रूप में समझने-समझाने का हार्दिक प्रयत्न हुआ है;

४. प्रेम के रूढ़ दृष्टिकोण से कुछ आगे बढ़कर एक व्यापक और स्वच्छ दृष्टिकोण प्रस्तुत हुआ है जो विचारोत्तेजक है। अपनी समग्रता में वह सुन्दर ढङ्ग से रखा गया है, अंश-रूपों में सुधी पाठकों के लिए वह सर्वथा अपरिचित भी नहीं;

५. नई पीढ़ी के कवियों द्वारा लिखित प्रेम-शृंगार की शताधिक रोचक कविताओं के उद्धरणों का एक अच्छा संग्रह हमें प्राप्त हुआ है, जो इस प्रयास के अभाव में सेमल की रूई के रेशों-सा शून्य में अलक्षित-सा बिखरा डोलता !

पुस्तक सच्ची व गहरी प्रेरणा से लिखी गई है; पठनीय व संग्रहणीय है।

हिन्दी-नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव

डॉ० विश्वनाथ मिश्र

पाश्चात्य प्रभाव की छाप आज हिन्दी ही नहीं, भारतवर्ष की सभी भाषाओं के साहित्यों पर है। आधुनिक भारतीय नाटक इस प्रभाव से विशेष रूप से ओत-प्रोत हैं, कारण, इसी के फलस्वरूप, हमारी प्राचीन नाट्य-परम्परा, जो मध्य युग में अनेक अवरोधों को लेकर विच्छिन्न हो गई थी, आज पुनः जागरूक है। पाश्चात्य प्रभाव ने भारतीय नाट्य-परम्परा को पुनः जागरूक करने के साथ-साथ योरोपीय देशों के नाटक साहित्य से भी हमारा परिचय कराया। पाश्चात्य नाट्य-विधान को, भारतीय नाट्य-पद्धति से अधिक सरल पाकर, भारतीय नाटककार उसके प्रति अनुरक्त हो उठा। उसने, पाश्चात्य नाटकों में अपने देश के प्राचीन नाटक-साहित्य से जीवन के अपेक्षाकृत अधिक व्यापक रूप का उद्घाटन देखकर, उनका अनुकरण करना प्रारम्भ किया। इसी प्रकार उसने इब्सन, शा, गाल्सवर्दी आदि की सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण करने वाली नाट्य-शैली भी अपनायी। हिन्दी के नाटककारों को भी आज हम, अन्य भारतीय भाषाओं के नाटककारों की भाँति, पाश्चात्य नाट्य-पद्धति का अनुसरण करते हुए देखते हैं। डॉ० श्रीपति शर्मा ने अंग्रेजी और हिन्दी दोनों में एम० ए० करने के अनन्तर, हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव का विषय अनुसन्धान के लिए लिया, यह उपयुक्त ही हुआ।

आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत उनके इस प्रबन्ध में प्रथम अध्याय में संस्कृत और पाश्चात्य नाटकों की उत्पत्ति और विकास का विवरण है। पश्चिम में नाट्य-कला का आरम्भ यूनान से हुआ था : शर्मा जी ने इसीलिए प्रारम्भ में यूनानी नाटकों पर विचार किया है; और संस्कृत नाटकों से उनका साम्य तथा वैषम्य दिखाया है। इसके अनन्तर पाश्चात्य नाट्य-कला के विकास, उसके विभिन्न प्रकारों, उनकी अलग-अलग प्रवृत्तियों, उनको

लेखक : डॉ० श्रीपति शर्मा त्रिपाठी

प्रकाशक : विनोद पुस्तक मंदर, आगरा

मूल्य : १२·५० रु०

प्रभावित करने वाले अनेक साहित्यिक वादों का विवेचन है। इसी प्रसंग में स्वच्छन्दतावादी एवं यथार्थवादी नाट्य-विधानों को भी स्पष्ट किया गया है। स्वच्छन्दतावादी नाट्य-कला का विवेचन तो अस्पष्ट है; किन्तु यथार्थवादी नाट्य-संविधान की अच्छी व्याख्या की गयी है।

हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव के अनुशीलन का कार्य दूसरे अध्याय से प्रारम्भ होता है। हिन्दी के प्रथम नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं पर पाश्चात्य प्रभाव के विश्लेषण के पूर्व, उनके समय की सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण है, जिसमें नवीन शिक्षा, ईसाई प्रचारकों के कार्य, पत्रकारिता के उदय, ब्रह्म समाज आदि के नवीन प्रभाव के वितरण में योगदान के मूल्यांकन के साथ, थियोसाफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नोबल पुरस्कार प्राप्ति, गांधी जी के भारतीय राजनीति में प्रवेश की भी चर्चा है, जो उस काल की सीमा के अन्तर्गत नहीं आती। इसके बाद भारतेन्दु के पूर्व के नाटकीय प्रयोगों एवं जन-नाटकों के उल्लेख के अनन्तर भारतेन्दुजी की रचनाओं पर विचार-विमर्श है। भारतेन्दुजी की रचनाओं पर पाश्चात्य प्रभाव के सम्बन्ध में डा० शर्मा के निष्कर्ष पर्याप्त सही हैं। उन्होंने पश्चिम की दुखान्त की शैली में 'नील देवी' की रचना की, 'भारत दुर्दशा' में मारेलिटी प्लेज, नीतिवादी नाटकों की प्रतीकवादी शैली का अनुकरण किया, 'भारत जननी' और 'सती प्रताप' में आपेरा, गीतिनाट्य की पद्धति अपनायी, तथा 'वैदिकी हिंसा,' 'अंधेर नगरी' आदि में सामाजिक यथार्थवादी रचना-प्रणाली का उपयोग किया। किन्तु इन प्रभावों का संकेतमात्र कर दिया गया है, विस्तृत व्याख्या नहीं की गयी। इसी प्रकार श्रीनिवासदास के 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' पर 'रोमिओ ऐंड जूलियट' के प्रभाव का उल्लेख मात्र है। इसके अनन्तर भारतेन्दु-युग के अन्य नाटककारों एवं अच्छी रचनाओं की चर्चा है, चाहे उन पर पाश्चात्य प्रभाव हो या न हो। बंगला नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, पारसी कम्पनियों द्वारा शेक्सपियर के प्रचार, शेक्सपियर के नाटकों के साहित्यिक अनुवादों का अनुशीलन भी इसी प्रकरण में है; अगर भारतेन्दु की रचनाओं पर विचार करने के पूर्व, पाश्चात्य प्रभाव की इन धाराओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया होता, तो उपयुक्त रहता।

हिन्दी नाटकों के विकास में द्विवेदी-युग तो विशेष रूप से अनुवादों का युग रहा है। डा० शर्मा ने तृतीय अध्याय में उसका अनुशीलन प्रारम्भ करते हुए एक प्रश्न उठाया है : भारतेन्दु युग का नाट्य-कला के प्रति नवोत्साह द्विवेदी-युग में आकर क्षीण क्यों हो गया ? उनका समाधान है : आचार्य द्विवेदी के नैतिकतावाद एवं आदर्शोन्मुख दृष्टिकोण ने नाटकीय रचनाओं में सामाजिक दुर्बलताओं के स्वच्छन्द चित्रण को उचित नहीं समझा। इसीलिए, मौलिक रचनाओं के स्थान पर, उदात्त

भावना के देशी और विदेशी नाटकीय रचनाओं के अनुवाद को प्रश्रय मिला। इस प्रकरण में बंगला, अंग्रेजी एवं अन्य भाषाओं के अनुवादों का विस्तृत विश्लेषण है; और उनके माध्यम से जो पाश्चात्य प्रभाव आया है, उसका भी अच्छा निर्देश किया गया है।

आचार्य द्विवेदी के युग में ही भारतेन्दु के बाद की सबसे प्रखर नाटकीय प्रतिभा, जयशंकर 'प्रसाद' की रचनाएँ प्रकाशित होने लगी थीं। चतुर्थ अध्याय में प्रसादजी की रचनाओं पर पाश्चात्य प्रभाव के विवेचन का प्रयास है। किन्तु न तो लेखक शैलीगत प्रभाव का ही समुचित विश्लेषण कर सका है, और न उन पाश्चात्य नाटकों का ही निश्चित प्रभाव दिखा सका है, जिनसे उसने प्रसाद की विशिष्ट कृतियों को प्रभावित माना है। इसी प्रकरण में आगे चलकर लेखक ने 'प्रसाद' के समकालीन नाटककारों पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', गोविन्द वल्लभ पन्त आदि के साथ हरिकृष्ण प्रेमी और वृन्दावन लाल के नाटकों पर भी विचार किया है, जिनकी रचनाएँ स्वयं लेखक द्वारा प्रदत्त सूची के अनुसार 'प्रसाद' युग के बाद की हैं। पाश्चात्य प्रभाव का विश्लेषण भी यदा-कदा ही है; अधिकांश में तो नाटककारों की एक-एक रचना की कथावस्तु का कभी संक्षिप्त, कभी विस्तृत विवरण मात्र दे दिया गया है।

प्रसादोत्तर युग के नाटककारों पर पाश्चात्य प्रभाव का अध्ययन करने के पूर्व पश्चिम के विभिन्न दार्शनिक एवं साहित्यिक वादों का हलका-फुलका विवेचन है। फिर पश्चिम के समस्या नाटकों के शिल्प-विधान का विश्लेषण किया है; और उसके बाद लक्ष्मी नारायण मिश्र की रचनाओं पर विचार है। मिश्रजी की रचनाओं के सम्बन्ध में भी दो चार स्थानों पर पाश्चात्य प्रभाव का संकेत मात्र दे दिया गया है। यही स्थिति, अन्य समस्या-नाटककारों सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के सम्बन्ध में भी है। छठे अध्याय में हिन्दी के वर्तमान नाटककारों पर विचार-विमर्श है। प्रारम्भ में फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त, अभिव्यजंनावाद, अस्तित्ववाद एवं तथ्यातिरेकवाद पर संक्षिप्त विचार है; और उसके बाद सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, जगदीशचन्द्र माथुर आदि की रचनाओं पर सामान्य चर्चा है। सेठजी के 'पतित सुमन' पर ब्रूक्स के 'दि स्केप' और भट्ट जी के 'नया समाज' पर फ्रायड द्वारा संकेतित आत्मरति-ग्रन्थि का उल्लेख है। अन्य नाटककारों की रचनाओं पर भी एक आध स्थलों पर पाश्चात्य प्रभाव का संकेत है। सातवें अध्याय में एकांकी, आठवें में गीति-रूपक, नवें में प्रतीकवादी नाटकों का विकास-क्रम, प्रबन्ध के मूल विषय को लगभग भुलाकर उपस्थित कर दिया गया है। दसवें अध्याय में पहले पाश्चात्य रंगमच का विकास है, और उसके बाद भारतीय रंगमच का विवरण है, प्रभाव-विश्लेषण नाममात्र।

हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव के अध्ययन विषय पर लिखित इस प्रबन्ध

में, वस्तुतः प्रभाव का विश्लेषण नहीं, वरन्—यहाँ-वहाँ निदश मात्र है। भारतेन्दु के 'विद्या सुन्दर, के लिए केवल इतना कह दिया गया है : 'इसकी कथा शेक्सपियर के रोमाण्टिक नाटकों से मिलती-जुलती है।' 'नील देवी' को इसी प्रकार एक अंग्रेजी काव्य पर आधारित बताया गया है, काव्य का नाम नहीं दिया गया। उसकी नाटकीय शैली पर शेक्सपियर के प्रभाव का भी उल्लेख है; किन्तु किस रूप में इसका कोई विश्लेषण नहीं है। प्रसादजी के 'अजातशत्रु' पर 'किंग लियर' और 'रिचर्ड द्वितीय' का प्रभाव स्पष्ट माना गया है। जब वह स्पष्ट है तो उसका स्पष्टीकरण किया भी क्या जाय। इसी प्रकार धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' को सार्त्र के 'लमाचे' से प्रभावित कह दिया गया है। अगर इस प्रबन्ध के इस प्रकार के छोटे-छोटे वाक्यों को जिनमें पाश्चात्य प्रभाव का संकेत है, इकट्ठा कर दिया जाय, तो तीन साढ़े तीन पृष्ठ हो जायेंगे, अधिक नहीं।

डॉ० श्रीपति शर्मा के इस प्रबन्ध की उपयोगिता, पाश्चात्य प्रभाव के विश्लेषण की दृष्टि से तो नहीं; हिन्दी नाटकों के विकास-क्रम के अध्ययन के रूप में है। भारतेन्दु से लेकर आज तक के सभी छोटे-बड़े नाटककारों का इसमें उल्लेख है; और उनकी प्रत्येक रचना, यहाँ तक कि एकांकियों के भी कथानकों का कभी विस्तृत कभी संक्षिप्त विवरण है। किन्तु इस रूप में भी इसका उपयोग किया जा सके, इसके लिए कुछ संशोधन नितान्त अपेक्षित हैं। इस प्रबन्ध के पृष्ठ २० पर कहा गया है कि अरस्तू ने संकलन-त्रय की विस्तृत व्याख्या की है; किन्तु वास्तविकता यह है कि अरस्तू ने कार्य-संकलन का तो स्पष्ट उल्लेख किया है, काल-संकलन के सम्बन्ध में संकेत मात्र दिया है, और स्थान-संकलन की कोई चर्चा नहीं की। इसी प्रकार पृष्ठ ३४८ पर 'दि वेस्ट लैण्ड' और 'फोर क्वार्टेट्स' को टी० एस० इलियट के गीति-नाट्य बताया गया है। प्रथम उसकी प्रसिद्ध कविता है; और दूसरा एक काव्य-संग्रह, जिसमें उसकी चार रचनाएँ हैं। जी० पी० श्रीवास्तव का पूरा नाम ज्वाला प्रसाद श्रीवास्तव नहीं, गंगा प्रसाद श्रीवास्तव है। इसी प्रकार 'कारवाँ' के लेखक भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र नहीं हैं; भुवनेश्वर मिश्र 'माधव', दूसरे सज्जन हैं, उन्होंने नाटकीय रचनाएँ नहीं लिखीं। एक स्थल मुझे और खटका है। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' पर विचार करते हुए कल्याणी, मालविका और अलका को लेखक ने लेडी मैकबेथ की भाँति भयानक राजनीति की आँधी का सामना करते हुए कहा है, कहाँ महत्त्वाकांक्षिणी लेडी मैकबेथ और कहाँ प्रसाद के ये देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत आत्म-बलिदान के लिए तत्पर नारी चरित्र!' आशा है अगले संस्करण में ये आवश्यक संशोधन अवश्य कर दिये जायँगे।

हिन्दी के पौराणिक नाटक

डॉ० सुरेश अवस्थी

पिछले आठ-दस वर्षों में हिन्दी-रंगमंच के विस्तार और विकास के साथ-साथ हिन्दी में नाट्यालोचना का भी विकास हुआ है और वह कई दृष्टियों से पहले से अधिक समुन्नत हुई है। एक तो विश्वविद्यालयों में नाटक-सम्बन्धी विविध विषयों पर काफ़ी शोध कार्य हुआ है और कई शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं, शायद इससे अधिक बड़ी संख्या अप्रकाशित शोध-प्रबन्धों की है। दूसरी ओर नाट्य प्रदर्शनों की समीक्षाओं और टिप्पणियों ने, जो हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं, नाट्यालोचना को अधिक व्यावहारिक और प्राविधिक रूप दिया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध नाट्यालोचना के पहले वर्ग में आता है।

इस शोध-प्रबन्ध में श्री सनाढ्य ने हिन्दी के समस्त पौराणिक नाटक-साहित्य का सविस्तार परिचय प्रस्तुत किया है। उन्होंने सुविधा के लिये हिन्दी-नाटक-साहित्य को तीन भागों में बाँट लिया है, और साथ-ही रंगमंचीय तथा अनूदित पौराणिक नाटकों का भी विवेचन किया है। भूमिका के रूप में लेखक ने संस्कृत के पौराणिक नाटकों की परम्परा तथा अन्य भारतीय भाषाओं के पौराणिक नाटकों का भी संक्षेप में परिचय दिया है। प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में पौराणिक नाटकों की शिल्पविधि का विश्लेषण किया गया है। इस प्रकार हिन्दी-नाटक-साहित्य के एक विशिष्ट वर्ग का एक स्थान पर पूरा-पूरा परिचय और इतिहास हमको इस ग्रंथ में मिल जाता है।

सामग्री संकलन की दृष्टि से यह ग्रंथ उपयोगी है। किन्तु हिन्दी नाट्यालोचना की जो नितान्त साहित्यिक शैली है, उसी शैली में यह शोध-प्रबन्ध भी लिखा गया है। इस शैली का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें जहाँ नाटकों के कथानक और पात्रों के चरित्र-चित्रण का गम्भीर और सूक्ष्म विवेचन होता है वहाँ नाटक के रूप-विधान और उसके रचना-नियमों, व्यवहारों और रूढ़ियों का किसी प्रकार का भी

लेखक : डा० देवर्षि सनाढ्य
प्रकाशक : चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी—१
मूल्य : १०·०० रुपये

विवेचन नहीं किया जाता । यही कारण है कि हिन्दी नाट्यालोचना में एक प्रकार का गतिरोध आ गया है और वह नाटक साहित्य के विकास में अपना कोई सक्रिय योगदान नहीं दे पा रही । वैसे इस स्थिति से बहुत निराश होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अधिकांश भारतीय भाषाओं में नाट्यालोचना का बहुत कुछ यही स्वरूप है । कुछ भाषाओं में तो इस प्रकार का शुद्ध अनुसंधान कार्य भी बहुत कम हुआ है । धीरे-धीरे रंगमंच के विकास के साथ-साथ हिन्दी में नाट्य प्रदर्शनों की समीक्षाओं की परम्परा बन रही है, और नाट्य-पत्रिकाएँ निकल रही हैं जिनके प्रभाव से भविष्य में निश्चिय-ही हमारी नाट्यालोचना का स्वरूप बदलेगा ।

श्री सनाढ्य प्रायः नाटकों का संक्षिप्त परिचय और कथानक ही देते हैं और किसी प्रकार का शिल्पगत विवेचन नहीं करते । अन्तिम अध्याय में पौराणिक नाटकों की शिल्पविधि के विश्लेषण में नाटकों के दृश्य-अंक-विधान, गीतों और पद्य-संवादों की स्थितियों और नाटकीय प्रयोजनों, संवादों के स्वरूप—स्वगत, अर्द्ध-स्वगत आदि तथा अन्य रचना-नियमों और व्यवहारों का कोई विश्लेषण नहीं किया गया । नाटकों के रूप-विधान और वस्तु-विन्यास पर रंगमंच और उसकी दृश्य-सज्जा की पद्धतियों का जो अनिवार्य प्रभाव पड़ता है, उसका भी कोई उल्लेख शिल्प-विधि की विवेचना में नहीं किया गया ।

श्री सनाढ्य ने इस ग्रंथ में अनेक दूसरे नाट्य समीक्षा के ग्रंथों से उद्धरणों के जमघट लगा दिये हैं, और ये अधिकांश उद्धरण न तो सारवान् हैं और न प्रसंग विशेष में उनकी कोई सार्थकता ही है । उद्धरणों को इस प्रकार से जमा कर देने की यह प्रवृत्ति हिन्दी-आलोचना की एक घातक प्रवृत्ति है । पृष्ठ ३३८ पर वे डाक्टर श्रीकृष्ण लाल का यह मत उद्धृत करते हैं कि 'पौराणिक नाटकों का कथानक धार्मिक होता है, उनमें अतिप्राकृतिक प्रसंगों की अवतारणा होती है, और वे बहुत ही प्राचीन काल का चित्रण करते हैं ।' इसी प्रकार से पृष्ठ ३३९ में गोकुलचन्द्र शर्मा का यह उद्धरण दिया गया है—'सामयिकता अभिनय की जान है । यदि वर्तमान की झलक अभिनय में न हो तो वह निर्जीव ही रह जाता है, उसका स्पंदनकारी तत्त्व ही विलुप्त हो जाता है । अभिनय में अतीत से उदय होता हुआ वर्तमान का बाल-सूर्य भविष्यत् की भूमि को आलोकित करता है, नवीन युग पर अपनी किरणें फेंकता है ।' इन उद्धरणों और ऐसे ही सैंकड़ों दूसरे उद्धरणों से न तो विवेचना को कोई सहायता मिलती है और न किसी विचार अथवा स्थापना की ही पुष्टि होती है । आज जब कि अनुसंधान में आलोचनात्मक दृष्टि का महत्त्व स्वीकृत हो गया है तो अनावश्यक उद्धरणों का संकलन निरर्थक ही लगता है ।

हिन्दी उपन्यास

डॉ० रणवीर रांग्रा

प्रस्तुत ग्रंन्थ डॉ० सुषमा धवन का शोध-प्रबन्ध है जिस पर पंजाब विश्व-विद्यालय ने उन्हें पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की है। इस प्रबन्ध में प्रेमचन्द और सन् १९५५ तक के प्रेमचन्द्रोत्तर हिन्दी-उपन्यासों को विवेचना का विषय बनाया गया है। इतनी विस्तृत परिधि में शोधकार्य करने की सोचना कोई आसान काम नहीं, पर डॉ० धवन ने सोचा ही नहीं, शोधकार्य किया भी है; यह बहुत बड़ी बात है।

जिस दृष्टिकोण को आधार बना कर प्रबन्ध में हिन्दी-उपन्यास का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उसे लेखिका ने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की संज्ञा दी है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से उसका अभिप्राय क्या है, इसका स्पष्टीकरण यों मिलता है : "सामाजिक परिवेश में जीवन के प्रति मानव के दृष्टिकोण का होना, चाहे वह कितना असम्बद्ध, अस्पष्ट एवं अन्तर्विरोधी हो, एक शाश्वत सत्य है। इस सत्य के आधार पर साहित्यिक प्रवृत्तियों का विवेचन तथा वर्गीकरण इस प्रबन्ध का मूल ध्येय है" (पृ० ३८६)। अपनी परिस्थितियों के साथ मानव के सम्बन्ध की तथा अपने परिपार्श्व के प्रति उसके निरन्तर बदलते हुए दृष्टिकोण के उत्तरोत्तर विकास की अभिव्यक्ति के रूप में भी उपन्यास को देखा जा सकता है। हिन्दी-उपन्यास को तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में रखकर उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के विवेचन और उनके क्रमिक विकास के निरूपण की दिशा में यह स्तुत्य प्रयास है।

'विषय-प्रवेश' में विभिन्न प्रवृत्तियों की भूमिका प्रस्तुत करने के बाद लेखिका ने प्रबन्ध को पाँच खण्डों में विभाजित किया है—१. सामाजिक उपन्यास, २. व्यक्ति-वादी उपन्यास, ३. मनोविश्लेषणवादी उपन्यास, ४. समाजवादी उपन्यास, ५. ऐति-हासिक उपन्यास। इसके बाद लगभग एक पृष्ठ का 'उपसंहार' है और अंत में है

लेखक : डॉ० सुषमा धवन
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
मूल्य : ग्यारह रुपए

प्रबन्ध में उद्धृत ग्रंथों की सूची। प्रत्येक प्रवृत्ति के उपन्यासों की चर्चा करते हुए पहले उस प्रवृत्ति की सामान्य विशेषताओं को पकड़ने का प्रयास किया गया है और फिर उपन्यासकार-विशेष के मूल दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए एक-एक करके उसके उपन्यासों का विवेचन है।

'सामाजिक उपन्यास' वाले खंड में प्रेमचन्द को आधार बनाकर सियारामशरण गुप्त, विश्वंभरनाथ कौशिक, अमृतलाल नागर तथा फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यासों का विवेचन किया गया है। प्रेमचन्द के सामाजिक उद्देश्य के मूल में पाई जाने वाली सुधारवादी प्रवृत्ति को तत्कालीन मध्यवर्ग की चेतना में ढूँढ़ते हुए प्रबन्धकर्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि "यह वर्ग सामाजिक मर्यादा और आर्थिक अनिश्चितता के दो पाटों के बीच पिसता रहता है जिसके फलस्वरूप इसमें सर्वाधिक असंतोष की भावना व्याप्त है। आत्मनिर्भरता के अभाव में मध्यवर्ग के संकल्प प्राय: चरितार्थ नहीं हो पाते। उसे बहुधा विरोधी शक्तियों से समझौता करने को बाध्य होना पड़ता है। उसमें संघर्ष के स्थान पर समझौते की, क्रान्ति की अपेक्षा सुधार की प्रवृत्ति निहित रहती है" (पृ० १५)।

'व्यक्तिवादी उपन्यास' में जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि के उपन्यासों को रखा गया है। प्रबन्धकर्त्री का विशेष आग्रह है कि व्यक्तिवादी उपन्यास का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया जाना चाहिए, क्योंकि इसमें सामाजिक मान्यताओं की अपेक्षा वैयक्तिक मूल्यों की अभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। व्यक्तिवादी उपन्यास को मनोवैज्ञानिक उपन्यासों से पृथक् दिखाते हुआ लिखा गया है कि उनमें वैयक्तिक चेतना की अभिव्यक्ति इतनी अन्तर्मुखी तथा आत्मकेन्द्रित हो गई है कि इसके परिणामस्वरूप सामाजिक चेतना की व्यंजना अत्यन्त क्षीण पड़ गयी है (पृ० ८८)। ऐसी विभाजन-रेखा खींचना अपने को धोखा देना है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से भले ही व्यक्तिवादी उपन्यास को इस प्रकार सामाजिक उपन्यास और मनोवैज्ञानिक उपन्यास से अलग किया जा सके, पर यह बता सकना कठिन होगा कि पूर्णत: व्यक्तिवादी उपन्यास कौन-सा है। उदाहरणार्थ अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र', जयशंकर प्रसाद के 'तितली' और जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' को लें। अपनी परिस्थितियों के प्रति मानव के दृष्टिकोण को आधार बनाकर देखें तो तीनों ही उपन्यासों का मूल समाज में व्यक्ति को उसका उचित स्थान दिलाने की चेष्टा में निहित मिलेगा। तीनों का लक्ष्य संस्थावाद की रूढ़ियों से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करना है। 'बूँद और समुद्र' में इसे इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है: "हर बूँद का महत्त्व है क्योंकि वही तो अनन्त सागर है, एक बूँद भी व्यर्थ क्यों जाए? उसका सदुपयोग करो" (पृ० ६६), 'त्यागपत्र' की मृणाल के रूप में उसी

बूँद के व्यर्थ चले जाने का चित्रण हुआ है समाज के प्रति अस्वीकारिता का भाव लाए बिना। मृणाल कहती है : "मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती। समाज टूटा कि हम किस के भीतर बनेंगे ? या किसके भीतर बिगड़ेंगे ? इसलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में स्वयं ही टूटती रहूँ" (पृ० १८६)। इसी प्रकार, समाज के समुद्र की तुलना में व्यक्ति-बूँद की अपरिमित शक्ति के निरूपणार्थ जयशंकर प्रसाद ने तितली जैसी सशक्त और समर्थ नारी को रच डाला जो संस्थावाद के आंधी-तूफ़ानों के आगे पर्वत के समान खड़ी रह सकी—गर्व के साथ अपना ललाट उन्नत किए, अपनी साधना में मस्त।

इन तीनों उपन्यासों की आधार-भावना एक होते हुए भी इस प्रबन्ध में 'बूँद और समुद्र' को समाजवादी उपन्यास में स्थान मिला है और 'तितली' को 'व्यक्तिवादी उपन्यास' में तथा 'त्यागपत्र' को अतिव्यक्तिवादी उपन्यास की संज्ञा देकर 'मनोविश्लेषणवादी उपन्यास' के भीतर धकेल दिया गया है, यद्यपि 'त्यागपत्र' को पढ़ने के बाद प्रबन्धकर्त्री स्वयं यह महसूस करती है कि "समाज अब भी व्यक्ति की महत्ता को परखे-पहचाने, इस आशा में वह ('त्यागपत्र' की नायिका मृणाल) अपने जीवन का बलिदान कर देती है" (पृ० १८६)।

"मनोविश्लेषणवादी उपन्यास" वाले खण्ड में जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, डा० देवराज आदि के उपन्यासों की विवेचना की गई है। इस खण्ड में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का अध्ययन भी उसी विशिष्ट दृष्टिकोण से किया गया है जिसे प्रबन्धकर्त्री ने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की संज्ञा दी है, यद्यपि इस उपन्यास को रूप देने वाली सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए प्रबन्धकर्त्री ने यह स्वीकारा है कि "व्यक्तिवादी दर्शन के चरम विकास की स्थिति में व्यक्ति अन्तर्मुखी तथा आत्मकेन्द्रित होने के कारण बाहर से भीतर की ओर जाता है, सामाजिक यथार्थ से मनोवैज्ञानिक यथार्थ की ओर उन्मुख होता है" (पृ० १६६)। यहाँ एक मूल प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में जबकि व्यक्ति का सम्बन्ध समाज से शिथिल पड़ गया है और वह सामाजिक यथार्थ से कटकर मनोवैज्ञानिक यथार्थ की ओर उन्मुख हुआ है (उसका ऐसा होना चाहे भ्रमवश हो जैसा कि प्रबन्धकर्त्री मानती है), उससे उसके मानसिक जगत् में जो उलझनें पैदा हुई हैं, उसके भीतर जिन घुमड़नों और कुण्ठाओं ने जन्म लिया है और जो उसकी व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया को रूप और आकार देती हैं, उन्हें समझने के लिए क्या समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण पर्याप्त होगा ? क्या व्यक्तिनिष्ठ मनोवैज्ञानिक उपन्यास की आत्मा को वस्तुनिष्ठ समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से पाया जा सकता है ? शायद यह इस एकांगी दृष्टिकोण का ही प्रतिफल है कि लेखिका को ऐसा लगा है कि इस खेवे के सभी उपन्यास प्रेम-कहानियाँ हैं (पृ० १६७)। मानो प्रेम-कहानी के अतिरिक्त उनका कोई मूल्य हो ही नहीं।

इसी ऐकांतिक दृष्टिकोण के कारण प्रबन्धकर्त्री को ऐसा लगा है कि "शेखर एक जीवनी" में "व्यक्ति के अहंभाव के चरम विकास को ही शेखर तथा उसके लेखक "अज्ञेय' ने जीवन का एकमात्र उन्नत ध्येय माना है" (पृ० २३८), यद्यपि शेखर को 'शेखर' बनाने में उसका अहंभाव अनेक में से केवल एक कारण है, एकमात्र कारण नहीं। "शेखर एक जीवनी' को एक और दृष्टिकोण से भी तो आंका जा सकता है और वह दृष्टिकोण शायद अधिक वैज्ञानिक होगा। अपने चरम विकास की अवस्था में शेखर जैसा है—अच्छा है तो, बुरा है तो—वह वैसा हुआ क्यों ? उपन्यास खुलते ही हम देखते हैं कि फांसी की कोठरी में बैठा घोर क्रान्तिकारी शेखर यह जानने के लिए अधीर हो उठा है कि उसके जीवन की सिद्धि क्या है ? यानी वह जो कुछ है, जैसा है, वैसा वह क्यों और कैसे हुआ ? अपनी जीवन-यात्रा के अंतिम पड़ाव पर पहुँचकर वह प्रत्यावलोकन करने बैठता है, जीवन की समस्त घटनाएँ एक-एक करके उसके स्मृति-पट पर उभरने लगती हैं और वह उनके निर्मम विश्लेपण द्वारा अपने जीवन में कार्य कारण के सूत्र ढूँढने लग जाता है। इस प्रकार, सहस्मृतियों के आधार पर आत्मविश्लेषण द्वारा चरित्र का क्रमिक विकास "शेखर एक जीवनी" का मुख्य ध्येय कहा जा सकता है। गत्यात्मक चरित्र के क्रमिक विकास का चित्रण—"शेखर एक जीवनी" को इसी रूप में क्यों न लें ? लोट्ज़े के शब्दों में 'स्लो शेपिंग आफ कैरेक्टर' ही तो मनोवैज्ञानिक उपन्यास की मूल समस्या है।

अगला खण्ड है "समाजवादी उपन्यास" का, जिसमें समाजवादी दर्शन से अनुप्राणित यशपाल, नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, रांगेय-राघव आदि के उपन्यासों की विवेचना है। इस खण्ड में हिन्दी के समाजवादी उपन्यास का जो विश्लेषण हुआ है वह अपेक्षाकृत व्यवस्थित और गहरा है। हम लेखिका की इस स्थापना से सहमत हैं कि साहित्य के रूप केवल रूप नहीं, जीवन को समझने के भिन्न-भिन्न माध्यम भी होते हैं और समाजवादी उपन्यास जीवन की मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत करके वर्ग-मुक्त समाज की स्थापना को अपना ध्येय बनाता है। पर इस क्षेत्र के अधिकांश लेखक मार्क्सवादी दर्शन को बौद्धिक स्तर पर ही अपना सके हैं, अपने मध्यवर्गीय संस्कारों से वे पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाये हैं जिसके परिणाम-स्वरूप उनकी रचनाओं में मार्क्सवाद के संतुलित चित्रण की अपेक्षा सिद्धान्त-निरूपण और प्रचारवाद ही अधिक झलकता है।

"ऐतिहासिक उपन्यास" वाले खण्ड में ऐतिहासिक उपन्यास की दो मूल प्रवृत्तियों का निरूपण हुआ है—१ आदर्शवादी एवं सुधारवादी प्रवृत्ति जो प्रेमचन्द परम्परा का ही रूपान्तर है, और २ समाजवादी या प्रगतिवादी प्रवृत्ति जिसमें मार्क्सवादी दर्शन के आधार पर अतीत का विश्लेषण हुआ है। पहली प्रवृत्ति के अन्तर्गत

वृन्दावन लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री के और दूसरी में राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव आदि के ऐतिहासिक उपन्यासों की विवेचना की गई है।

इस प्रबन्ध को पढ़ने से एक मूल प्रश्न उठता है और वह है वर्गीकरण के विषय में, जिसे लेखिका ने इस प्रबन्ध का "ध्येय" बना लिया है। वर्गीकरण को, चाहे वह किसी भी आधार पर हो, शोध का मूल ध्येय बनाना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है ? वर्गीकरण मात्र से बचकर चल सकना किसी भी अनुसन्धित्सु के लिए कठिन हो सकता है और उसे विषय-प्रतिपादन की सुविधा के लिए कामचलाऊ वर्गीकरण का सहारा लेना पड़ सकता है, पर यह तो वर्गीकरण का साधन के रूप में प्रयोग हुआ। वर्गीकरण को रचना का मूल ध्येय बनाना और सही-सही वर्गीकरण का दावा करते फिरना कहाँ तक वैज्ञानिक माना जा सकता है ? वर्गीकरण की व्यर्थता की स्पष्ट झलक इस प्रबन्ध में भी अनेक स्थलों पर मिल जाती है ; जैसे—(१) जैनेन्द्र के उपन्यासों की चर्चा समाप्त करते-करते प्रबन्धकर्त्री लिखती है : "जैनेन्द्र की कला का स्थान व्यक्तिवादी तथा मनोविश्लेषणवादी उपन्यास के बीच की कड़ी का है। एक ओर वे व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को अपनाए हुए हैं और दूसरी ओर उनके उपन्यासों में मानव मन की अनुभूतियों का अंकन, अत्यन्त सूक्ष्म शैली में हुआ है" (पृष्ठ २००)। इस पर भी जैनेन्द्र के उपन्यासों का विवेचन "मनोविश्लेषणवादी उपन्यास" के अन्तर्गत हुआ है। (२) "विषय-प्रवेश" में स्पष्ट रूप से स्वीकारा गया है कि "ऐतिहासिक यथार्थ को प्रवृत्तिविशेष के रूप में स्वीकार करना असंगत है" (पृ० ८), फिर भी, प्रबन्ध में 'ऐतिहासिक उपन्यास' शीर्षक से एक स्वतन्त्र खण्ड मिलता है जिसमें ऐतिहासिक उपन्यासों का अलग से विवेचन हुआ है।

वर्गीकरण के बारे में दूसरी खटकने वाली बात यह है कि प्रबन्ध में कई बार ऐसा लगता है कि वर्गीकरण उपन्यासों का नहीं, उपन्यासकारों का किया जा रहा है। जैसा कि इन स्थलों से ध्वनित होता है : (१) "इसी कारण, सियारामशरण गुप्त व्यक्तिवादी उपन्यासकारों की श्रेणी में नहीं आते है" (पृ० ५६), (२) "कुछ ऐसे लेखक हैं जिन्हें निस्संदिग्ध रूप से व्यक्तिवादी उपन्यासकारों की कोटि में रखा जा सकता है। भगवतीचरण वर्मा, जयशंकर प्रसाद, उदयशंकर भट्ट, भगवती प्रसाद वाजपेयी की उपन्यास-कला स्पष्टतया व्यक्तिवादी जीवन दर्शन से प्रभावित है" (पृ० ८९-९०)। इस प्रकार के एक-दो नहीं, अनेक स्थल मिलते हैं। तो क्या यह मानना होगा कि जीवन और जगत के प्रति लेखक का जो दृष्टिकोण उसकी पहली रचना में परिलक्षित होता है वह उसकी अन्तिम रचना तक वैसे ही बना रहता है, उसमें कोई रूपान्तर घटित नही होता ?

प्रबन्ध में यत्र-तत्र ऐसे स्थल भी मिल जाते हैं जो अधिक विचार-मन्थन और संतुलन की अपेक्षा रखते हैं। यहाँ ऐसे कुछ-एक स्थलों की ओर ही संकेत किया

जाता है—(१)'बूंद और समुद्र' के महिपाल के विवाह की चर्चा करते हुए प्रबन्धकर्त्री लिखती है : "अधिकांश भारतीय विवाहों की तरह उसका विवाह भी असफल रहा" (पृ ६७), (२) "शरत् की तरह शेवड़े के सभी उपन्यास प्रेम कहानियाँ हैं" (पृ० २६३) ; मानो इसके अतिरिक्त इन उपन्यासकारों की रचनाओं का और कोई महत्त्व हो ही नहीं, (३) "स्नेह की विफलता जैनेन्द्र के प्रायः सभी उपन्यासों का निष्कर्ष है" (पृ० १७१), (४) सुनीता का विवेचन करते हुए लिखा गया है कि "हरिप्रसन्न अहिंसावादी युग का प्रतीक माना जाता है। अहिंसा का दूसरा नाम पलायनवाद है। हरिप्रसन्न को हम शक्तिशाली खलनायक नहीं कह सकते" (पृ० १७६), (५) इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों पर चर्चा समाप्त करते-करते लिखा गया है कि "उनकी उपन्यासकला का विकास अन्तर्जगत् से बहिर्जगत् की ओर, संकीर्ण वैयक्तिकता से व्यापक सामाजिकता की ओर हुआ है" (पृ० २३६), पर उसी पृष्ठ पर आगे चल कर एकदम उलटा भी कह दिया गया है कि "उनका मूल उद्देश्य व्यक्ति की आन्तरिक सत्ता का उद्‌घाटन करना है। समाज उनकी कृतियों में प्रस्तुत रहता है, परन्तु उनका दृष्टिकोण मूलतः व्यक्ति-केन्द्रित है।"

जैनेन्द्र के उपन्यास 'कल्याणी' के सम्बन्ध में लिखा गया है कि "कल्याणी" की कहानी एक सच्ची घटना के आधार पर लिखी गई है। इस कहानी को कहने वाले वकील साहब जैनेन्द्र के मित्र थे। उन्हीं के कागजों में यह कहानी लिखी मिली थी" (पृ० १८७)। इसी प्रकार, 'त्यागपत्र' को सच्ची घटना पर आधारित माना गया है (पृ० १८३)। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रबन्धकर्त्री ने इन उपन्यासों के आरम्भ में लिखे गए 'प्रारम्भिक' को सत्य मान लिया है। वास्तव में, ये 'प्रारम्भिक' उपन्यास का ही अंग हैं, यानी कल्पित हैं और पाठकों को भरमाने के लिए लिखे गए हैं। एक बार अपनी एक भेंट-वार्ता में मैंने जैनेन्द्र जी से इन प्रारम्भिकों की सत्यता के विषय में प्रश्न किया था। उनका उत्तर यों था : "अपने पात्रों के चयन या चयन-चित्रण में मुझे जीवित व्यक्तियों का ध्यान रहता हो, यह बात नहीं है। हाँ, 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' के प्रारम्भिकों से मेरे पाठकों को ऐसा भ्रम हो जाए तो यह अलग है। पर ये 'प्रारम्भिक' भी तो उपन्यास का अंग हैं, अर्थात् कल्पित हैं। अपने को बचने की दृष्टि से मैंने यह उपाय अपनाया। यानी मैं कहानी में लिपटा न समझा जाऊँ, अलग और अलिप्त समझा जाऊँ, इसलिए ये प्रारम्भिक कथावस्तु के साथ जड़े गए।"

इस प्रबन्ध की योजना और प्रस्तुतीकरण के विषय में भी काफी-कुछ कहा जा सकता है। प्रबन्ध की विषय-सूची अत्यधिक संक्षिप्त है। उसमें हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियों के और उनके साथ कुछ-एक उपन्यासकारों के नाम भर गिनाए गए हैं। विषय-प्रतिपादन के मूलाधार और लेखिका के दृष्टिकोण का पता चलना तो दूर, उससे यह पता भी नहीं चलता कि किसी उपन्यासकार विशेष की रचनाओं का विवेचन

किस पृष्ठ से आरम्भ होता है और किस पर अत। क्योकि पष्ठ-सरया खण्डो के हिसाब से दी हुई है। सक्षिप्त विषय-सूची वहा तो खप भी सकती है जहाँ ग्र थ के अ त मे अकारादिक्रम से एक विशद विषयानुक्रमणिका दी हो। पर इस प्रब ध मे तो विषयानुक्रमणिका भी नही। इसलिए, पाठक यदि यह जानना चाहे कि अमुक विषय पर कहा और क्या लिखा है, तो उसे पूरो पुस्तक छान मारनी होगी। लगभग एक पष्ठ पर आधारित "उपसहार" भी नाममात्र का प्रतीत होता है। उपसहार मे लेखक ग्र थभर मे बिखरे काय-कारण के सूत्रो को पकडकर जिस गम्भीर मनन, मन्थन और सतुलन का परिचय दिया करता है उसका नितान्त अभाव है।

परिशिष्ट के रूप मे दी हुई "पुस्तक-सूची" भी ठीक से प्रस्तुत नही की गई। इसमे प्रत्येक पुस्तक के पष्ठो की सरया देकर उसके आकार के विषय मे जो सकेत दिया गया है, पाठक के लिए उसकी क्या उपयोगिता हो सकती है, यह समझ मे नही आता। प्रब धकर्त्री इससे यह ध्वनित करना चाहती हो कि इस प्रब ध को तैयार करने मे उसे सब मिलाकर इतने पृष्ठ पढने पढे है तो अलग बात है। पुस्तक मे अनेक स्थलो पर प्रमाणीकरण का अभाव भी खटकना है। अपने मत की पुष्टि मे प्रब धकर्त्री कई बार "एक आलोचक का मत है" लिखकर दूसरे के मत को उद्धृत तो कर देती है पर यह नही बताती कि वह आलोचक कौन है और उसने कब और कहा यह मत प्रकट किया है। उदाहरणाथ, पृष्ठ १०८, १२१, १३१ द्रष्टव्य है।

ऊपर हमने जो कतिपय त्रुटियो की ओर सकेत किया है उसका अभिप्राय यह नही कि प्रबन्ध कम महत्त्व का है। सवथा निर्दोष तो कोई भी ग्रथ नही हो सकता। इतना अवश्य है कि विस्तार का मोह छोड, प्रब धकर्त्री गहरायी मे उतरी होती तो विषय के प्रति अधिक न्याय हो सकता। फिर भी, हिन्दी-उप यास की समाजपरक व्याख्या प्रस्तुत करने मे इस प्रब ध ने जो योग दिया है, वह अभिन दनीय है।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन

श्री सत्यपाल चुघ

आलोच्य-ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रवन्ध है। इसमें उपन्यास साहित्य का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने सम्पूर्ण प्रवन्ध का विवेचन नौ परिच्छेदों में किया है। भूमिका में इन विभिन्न परिच्छेदों की योजना का स्पष्टीकरण भी हुआ है।

प्रथम परिच्छेद—'विषय-प्रवेश' में प्रवन्ध-शीर्षक के शब्दों—'हिन्दी', 'उपन्यास', 'शास्त्रीय' और 'विवेचन'—की व्याख्या तथा उपन्यास के प्रारम्भ एवं महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। लेखक उपन्यास के सम्बन्ध में कहता है—"यहाँ उपन्यास से उन सभी ग्रंथों की ओर संकेत है जो कथा सिद्धान्तों के नियमों का अपूर्ण अथवा पूर्ण रूप से पालन करते हुए या उनको (की ?) नितान्त अवहेलना करते हुए मानव की सतत-संगिनी कुतूहल वृत्ति को पात्रों तथा घटनाओं के काल्पनिक संयोजन द्वारा शान्त करते हैं।" इस कथन का पूर्वार्द्ध निरर्थक है और दूसरा अपनी अतिव्याप्ति के कारण व्यर्थ हो जाता है। 'साहित्य' का अर्थ यहाँ 'औपन्यासिक कथाओं' के अतिरिक्त उपन्यास सम्वन्धी आलोचनात्मक साहित्य से भी है, यह अर्थ लेने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि लेखक को उपन्यासों का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करना है, न कि उपन्यास पर लिखी आलोचना-पुस्तकों का। लेखक का 'शास्त्रीय विवेचन' से अभिप्राय 'वैज्ञानिक अध्ययन' से है। आधुनिक साहित्य में उपन्यास के महत्त्व का प्रतिपादन अच्छा हुआ है, फिर भी, इसके प्रतिपादन में लेखक ने जिस भावुक शैली का प्रयोग किया है, उससे अतिरंजित अस्वाभाविकता आ गई है; यथा, देखिए—"उपन्यास जीवन की उपासना है। इसमें हम जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। जीवन का सम्पूर्ण रूप अपनी वासना की बास के बिना इसमें पूजा स्थान की

लेखक : डॉ० श्री नारायण अग्निहोत्री
प्रकाशक : सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा
मूल्य : ८·५० रु०

सी पवित्रता रखता है। जीवन में जीव और परमेश्वर दो ही तो होते हैं, पर उपन्यास में जीवन, जीव और परमेश्वर तीनों ही देश, काल (फोर डाइमेन्शन्स) की माप में रहते हैं।...'' (पृ० २७) शास्त्रीय विवेचन करने वाले शोध-ग्रन्थ की शैली कितनी अवैज्ञानिक है, यह निम्न उद्धरणों से और स्पष्ट हो जाएगा—''उपन्यास घटनाओं का गद्य गीत होता है। उसमें वातावरण की कविता होती है।...मनोविज्ञान की प्रयोगशाला के रूप में उपन्यास का कलेवर विचारों को नवीनता के वस्त्रों से सज्जित करता है।'' (पृ० ३४) प्रथम परिच्छेद में ही नहीं, समग्र पुस्तक में लेखक शब्द-क्रीड़ा तथा अतिरंजना में फँसा रह कर असंतुलन तथा अस्पष्टता की सृष्टि करता रहा है। इस दृष्टि के निम्न उद्धरण भी द्रष्टव्य हैं—''उपन्यास की व्याप्ति का आरम्भ तो मनुष्य की चेतना के आरम्भ से समझा जा सकता है, जिस प्रकार स्पन्दनशील हृदय वाला, संवेदना से युक्त मनुष्य मूक व्यक्तित्व का कवि तो है ही, उसी प्रकार आन्तरिक संवेदना के साथ-साथ आँखों से देखने वाला और कानों से सुनने वाला व्यक्ति उपन्यास का भी मूक व्यक्तित्व रखता है। तत्त्व की आर्ष कल्पना, दर्शन की दृष्टि एवं भगवान् का (?) ध्यान-तपस्या का उपन्यास है। दैनिकी उपासना हमारी उदात्त भावना का उपन्यास है। हमारा स्तम्भ का आत्मचिन्तन व्यक्तित्व के आभास का उपन्यास है।

''उपन्यास साधारणत्व की कला है और असाधारणत्व का साधारणीकरण। जो है, जैसा है उपन्यास उसी की कविता है। उपन्यास घटनाओं का शास्त्र है और जीवन का कहकहा। उपन्यास कल्पना का बिराम-स्थल है। उपन्यास ज्ञान और विज्ञान का सामाजिक क्लब है। वह सामाजिक शास्त्रों का क्रीड़ास्थल है और मनोविज्ञान की प्रयोगशाला है। वह संगीत और चित्रकला का संधि-स्थल भी है और मूर्तिकला की पैमाइश का दफ्तर भी है।'' (पृ० १३२-१३३)

दूसरा परिच्छेद ''उपन्यास शब्द की व्याख्या, लक्षण, स्वरूप एवं प्रादुर्भाव'' को प्रस्तुत करता है। यह सभी परिच्छेदों से लम्बा तथा सामग्री-संकलन की दृष्टि से लेखक के परिश्रम तथा व्यापक अध्ययन का परिचायक है। उपन्यास की परिभाषा के सम्बन्ध में लेखक इस उचित निष्कर्ष पर पहुँचा है कि कुछ शब्दों में इसका परिसीमन असम्भवप्राय है।

तीसरे परिच्छेद—''उपन्यास तथा साहित्य के अन्य अंग''—में लेखक अपने शीर्षक के अनुसार, उपन्यास तथा साहित्य की अन्य विधाओं में अन्तर का विवेचन मात्र आठ पृष्ठों में करता है और उद्देश्य—बाह्य विषयों—वाङ्मय, साहित्य, साहित्य का नामकरण, साहित्य की व्याप्ति, साहित्य और प्रयोजन, साहित्य की व्याख्या और स्वरूप, साहित्य के अंग, साहित्य कला के रूप में, साहित्य के रूप, साहित्य का महत्त्व, तथा साहित्य का ऐकांतिक महत्त्व—पर अनावश्यक रूप से छत्तीस पृष्ठ लिख देता है। उपन्यास और अन्य विधाओं में अन्तर की दृष्टि से, इस प्रबन्ध में उपन्यास और

कविता का अन्तर तो पर्याप्त स्पष्ट हुआ है, किन्तु उपन्यास और नाटक में कथावस्तु तथा चरित्र-चित्रण के विकास, वस्तु-संगठन, पात्रों के आन्तरिक चित्रण, वार्तालाप, शैली और रस की दृष्टि से अन्तर नहीं बताया जा सका। उपन्यास और महाकाव्य के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए लेखक को प्रेमचन्द और कौशिक के उपन्यासों की तुलना में आधुनिक महाकाव्यों को लेना चाहिए था, न कि तुलसी-रामायण को (पृ० १४९)

चौथे परिच्छेद—"उपन्यास के प्रेरक तत्त्व"—में लेखक ने "उपन्यास का स्वरूप और निर्देशक तत्त्व" के विवेचन के साथ कुतूहल, मनोरंजन तथा अर्थ-सिद्धि उपन्यास के विशिष्ट प्रेरक तत्त्व माने हैं जो विवादास्पद हैं। इनमें से अर्थ-सिद्धि ही उपन्यासकार की प्रेरणा हो सकती है, कौतूहल और मनोरंजन तो पाठकों के लिए हो सकते हैं।

पाँचवें परिच्छेद में उपन्यास का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत किया गया है जो अपूर्ण है। लेखक ने 'प्रासंगिक कथा' तथा 'उपकथा' के अन्तर को लिया ही नहीं, उपन्यास में कथावस्तु की विवादास्पद स्थिति की समीक्षा भी नहीं हुई। कथावस्तु के विभिन्न गुणों की चर्चा भी अपर्याप्त है। 'उपन्यास और रस' के सम्बन्ध में जो विवाद प्रचलित है, उसका स्पर्श भी नहीं हुआ। अन्य तत्त्वों का विवेचन भी अपूर्ण है। आधुनिकतम उपन्यासों में इन तत्त्वों का जैसा विकास हो चुका है, उनका परिचय यहाँ नहीं मिलता, उदाहरणों की कमी और भी खटकती है, सारांश में इस पुस्तक के तात्त्विक विवेचन का स्तर प्रचलित आलोचना-पुस्तकों से ऊँचा नहीं उठ सका।

छठे परिच्छेद—"उपन्यासकार और उपन्यास रचना"—में उपन्यासकार के कार्य, उत्तरदायित्व, रचना-कौशल की चर्चा की गई है, जो बहुत गंभीर नहीं कही जा सकती।

सातवाँ परिच्छेद—"प्रेषणीयता की अनुभूति और पाठक"—अपेक्षाकृत नवीन तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें पाठकों की सापेक्षता में उपन्यासकार के दायित्व, औपन्यासिक स्वरूप तथा उपन्यास के विकासेतिहास का सविस्तार विवेचन किया गया है।

आठवें परिच्छेद में हिन्दी उपन्यासों का तेरह प्रकार से वर्गीकरण किया गया है जो असंतुलित तथा भ्रामक है, उदाहरणतया, लेखक उद्देश्य की दृष्टि से अधोलिखित वर्गीकरण करता है—

(अ) केवल मनोरंजनार्थ लिखे गए उपन्यास।

(ब) हास्य रस के उपन्यास ।

(स) आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास ।

(द) यथार्थवादी उपन्यास ।

(य) समस्यामूलक उपन्यास ।

(र) प्रयोगवादी उपन्यास ।

(ल) अनूदित उपन्यास ।

इस वर्गीकरण पर सहज में अनेक आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं—क्या हास्यरसात्मक उपन्यास मनोरंजनार्थ नहीं होते ? क्या समस्यामूलक, यथार्थवादी या आदर्शोन्मुख यथा ्वादी नहीं हो सकते अथवा ये दोनों समस्यामूलक नहीं हो सकते ? क्या अनुवाद करना अनुवादक का उद्देश्य होता है अथवा अनूदित उपन्यास का ? मनोरंजनार्थ लिखे गए जिन उपन्यासों के उदाहरण लेखक ने दिए हैं उनकी औपन्यासिकता भी निश्चित नहीं; जैसे, 'किस्मा तोता मैना', 'किस्सा गुलबकावली', 'सिंहासनबतीसी', 'छबीली भटियारी' आदि, हास्य रस के उपन्यासों के उदाहरण देते हुए लिखा गया है कि "बालकृष्ण भट्ट रचित 'सौ अजान एक सुजान' हास्य रस की प्रसिद्ध कृति है ।"—क्या कहीं हास्य मिल जाने मात्र से हास्य-सृष्टि उस उपन्यास का उद्देश्य हो जाता है ? और यह हास्य की दृष्टि से प्रसिद्ध कहाँ हैं ? इसका शीर्षक ही इसके नैतिक आशय का सकेत दे रहा है । इसी तरह हास्य के उपन्यासों के अन्तर्गत 'कुल्ली भाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'चन्द हसीनों के खतूत', 'शराबी' आदि का परिगणन भी भ्रामक है । 'कंकाल' और 'तितली' को पहले यथार्थवादी कहा गया है (पृ० २७२), और बाद में आदर्शोन्मुख यथार्थवादी (पृ० २९७) । यथार्थवादी उपन्यासों के वर्ग में जिन उपन्यासों—'मैला आंचल', 'सागर लहरें और मनुष्य', 'जहाज का पंछी'—को रखा गया है, उन सब की अन्तिम परिणति आदर्शवादी है । 'प्रयोगवादी उपन्यास' के सम्बन्ध में पहले ही वाक्य में लिखा गया है—"हिन्दी साहित्य में प्रयोगवाद सरीखा कोई वाद उपयुक्त प्रतीत नहीं होता ।" यह लिखने पर लेखक ने उदाहरण-रूप में उन उपन्यासों के नाम गिनाए हैं जो उपरोक्त मत को सिद्ध नहीं करते, वरन् जो हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यास हैं तथा स्वयं लेखक भी जिनकी सराहना करता रहा है; जैसे, 'शेखर—एक जीवनी','बहती गंगा', 'मैला आंचल' आदि । इस प्रसंग में लेखक ने 'शेखर—एक जीवनी' को 'प्रयोग के लिए प्रयोग' कहा है और अन्यत्र हिन्दी उपन्यास साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में गिनाए दस उपन्यासों में इसको स्थान भी दिया है (पृ० ३१८) । एक अन्य असंगति देखिए—'उद्देश्य की दृष्टि से' वर्गीकरण के प्रसंग में लिखा गया है कि "आदर्शवाद का ही निरूपण करने वाली परम्परा उपन्यास क्षेत्र में प्राय: सम्भव नहीं है" (पृ० २९७) और इसके आगे ही "जीवन के प्रति दृष्टिकोण के विचार से" वर्गीकरण करते हुए उपन्यासों की आदर्शवादी कोटि

भी निर्धारित कर दी गई है। इसी प्रसंग में लेखक रोमानी उपन्यासों की श्रेणी में जासूसी, तिलस्मी, साहसिक, वैज्ञानिक, त्रासद आदि उपन्यासों को एक-साथ रख देता है जो भ्रामक है। प्रेमचन्द से पूर्ववर्तीकाल में लेखक ने तीन प्रवृत्तियाँ देखी हैं—(१) कल्पनाशील विलक्षणता, (२) सामाजिकता, (३) राजनैतिकता। इस तीसरी प्रवृत्ति के सम्बन्ध में लिखा है—"इस प्रकार के उपन्यासों की संख्या नगण्य-सी है" (पृ० २७०)। ऐसी अवस्था में इस प्रवृत्ति के पृथक् रूप से विशेष-उल्लेख की आवश्यकता ही नहीं थी। यह सही है कि राजनैतिकता की प्रवृत्ति तत्कालीन उपन्यासों में स्थान-स्थान पर मिलती है किन्तु इतनी तो ऐतिहासिक उपन्यासों की प्रवृत्ति भी मिलती है, जिसका उल्लेख तक नहीं किया गया। अन्यत्र ऐतिहासिक उपन्यासों के उदाहरण देते हुए लिखा गया है—"वैशाली की नगर वधू', 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी', 'कचनार', 'मृगनयनी', 'अहिल्याबाई', आदि सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ हैं।" क्या सभी 'सर्वोत्कृष्ट' कृतियाँ हैं ? शैली के आधार पर वर्गीकरण में लेखक ने चार शैलियाँ गिनाई हैं—वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, पत्र तथा स्वगत। उसने संकेत-शैली (जैसे, 'त्याग पत्र' में) तथा प्रतीक-शैली (जैसे 'सोया हुआ जल' में) का नाम तक नहीं लिया।

इन शोध-ग्रंथ के मन्तव्यों, निष्कर्षों आदि को प्राय: उपन्यासों के नामोल्लेख-मात्र से अनुमोदित किया गया है, साक्षात् उदाहृत नहीं किया गया, इससे संगति-स्पष्टता में व्याघात पहुँचता रहा है।

अन्तिम आठवें परिच्छेद में उपन्यास के भविष्य तथा हिन्दी उपन्यास की सम्भावनाओं पर विचार किया गया है। यहाँ भी लेखक ने अपने निष्कर्षों के समर्थन में उपन्यासों का नामोल्लेख मात्र कर दिया है, स्पष्टीकरण नहीं किया। नाम भी उन उपन्यासों का लिया गया है, जिनके सम्बन्ध में आलोचना-जगत् में पहले ही विवाद प्रचलित हैं। यदि लेखक दूसरों के मतों को काटकर अपने मत की स्थापना करता या प्रमाण-पुष्टि करता, तो आपत्ति न होती परन्तु ऐसा नहीं किया गया। जैनेन्द्र का 'जयवर्धन' तथा प्रेमचन्द का 'कर्मभूमि' उपन्यास ऐसे ही हैं। 'कर्मभूमि' में लेखक ने गांधीवाद का गहरा रंग देखते हुए कहा है कि प्रेमचन्द ने इसमें प्रचार नहीं किया (पृ० ३२६)। मेरे विचार में यह उपन्यास प्रेमचन्द के गांधीवाद के प्रचार को प्रमाणित करता है। सारे उपन्यास की विद्रोहिणी दृष्टि के विरुद्ध 'कर्मभूमि' के दुर्बल अन्त तथा अंग्रेजों की प्रशंसा में प्रेमचन्द की मूलवृत्ति तथा गांधीजी के प्रभाव की पारस्परिक असंगति देखी जा सकती है।

लेखक की भाषा-शैली अनेक स्थलों पर खटकने वाली है; जैसे, कुछ पंक्तियाँ लीजिए—

१. "भगवतीचरण कृत 'चित्रलेखा' तथा वृन्दावनलाल वर्मा का दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास 'विराटा की पद्मिनी' भी प्रारम्भिक ऐतिहासिक उपन्यासों की कोटि में आती है।" (पृ० २८१)

२. "जब साहित्य की क्षितिज में संभावना के फैलाव···" (पृ० १३३, ३०४)

३. उग्र का 'चन्द हसीनों के खतूतें' इस प्रकार का अच्छा उदाहरण है। (पृ० २९६)

४. "जो आने वाला समय है, उनको भी···" (पृ० १३३)

५. "विश्व साहित्य में उपन्यास को शिशु-हिमालय साहित्य के रूप में ले सकते हैं" (पृ० ३०३)—रहस्यवादी उक्ति है।

लेखक ने विराम चिन्हों पर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं समझी। मुद्रण के करिश्मों की भरमार है। (द्रष्टव्य पृ० २९२, २९६-९७, ३२०-२१ आदि)

प्रबन्ध की प्राविधिक व्यवस्था और भी चिन्त्य है। अनेक स्थलों पर पाद-टिप्पणी या पृष्ठ-संख्या के बिना उद्धरण दिए गए हैं। यही नहीं, कहीं-कहीं दूसरों के लम्बे-लम्बे प्रघटक अपहृत कर लिए गए है—न तो इन्हें उद्धरण-चिन्हों में लिखा है, और न लेखक या पुस्तक का नाम ही दिया गया है। उदाहरणतया, पृ० १७२ का दूसरा प्रघटक गुलाबरायजी के 'सिद्धान्त और अध्ययन' (१९५१ संस्करण, पृ० ५०) का है; लगभग सारा पृ० १६७ शुक्लजी की 'चिंतामणि' (प्रथम भाग) के 'भाव या मनोविकार' का है; और पृ० ३२० का पहला प्रघटक देवराज उपाध्याय की पंक्तियाँ हैं; (द्रष्टव्य 'आलोचना' १३; उपन्यास विशेषांक पृ० १५-१६)। ऐसी अवस्था में इस शोध-प्रबन्ध के विषय में क्या कहा जाए?

———

हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास

डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त

यद्यपि हैनरी जेम्स का यह कथन सत्य है कि, "उपन्यास एक जीवित वस्तु है—प्रत्येक जीवधारी रचना के समान एक समूची अप्रतिहत और अविभाज्य इकाई। उसके प्रत्येक अंग में दूसरे अंगों का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य निहित रहता है। अतः ऐसा आलोचक जो उसके बाहरी ढाँचे के आधार पर भौगोलिक रेखाएँ बनाने का साहस करता है, कुछ ऐसे सीमा-चिह्न बना देता है जो बनावटी होते हैं।" तथापि इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उस जीवित वस्तु (Living organism) की आत्मा पात्र होते हैं और उन्हीं पात्र रूपी धुरी के चारों ओर कथा, वर्णन, रस तथा उद्देश्य का चक्र घूमता है। उनका अध्ययन कर हम किसी भी उपन्यास के अन्तर में प्रवेश कर सकते हैं और उसकी विशिष्टताओं से परिचित हो सकते हैं। अस्तु 'हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास' नामक शोध-प्रबन्ध हिन्दी उपन्यासों में प्रयुक्त चरित्र-चित्रण की विविध शैलियों का परीक्षण या कालक्रमानुसार उसका विकास ही प्रस्तुत नहीं करता, अपितु उपन्यास के आधारभूत तत्त्वों का भी अनुशीलन करने का प्रयास है।

प्रस्तुत प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में चरित्र-चित्रण के सिद्धान्त पक्ष का विवेचन है। इसे तीन शीर्षकों में बाँटा गया है। "उपन्यास और चरित्र-चित्रण" शीर्षक वाले भाग में उपन्यास का महत्त्व, उपन्यास की विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं के आधार पर उसके लक्षणों का विवेचन और निर्धारण, उपन्यास में चरित्रचित्रण के स्वरूप का निरूपण तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से साहित्य की अन्य विधाओं से उपन्यास की तुलना की गई है। इस भाग में प्रस्तुत तथ्य एवं निरूपण मौलिक न होते हुए भी व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किए गए हैं। लेखक का मत है कि तिलस्मी, ऐयारी और जासूसी उपन्यासों में भी चरित्रचित्रण

लेखक : डॉ० रणवीर रांग्रा
प्रकाशक : भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली
मूल्य : १५·०० रुपये

था। यदि चरित्रचित्रण से उनका अभिप्राय यह है कि लेखक ने पात्र-विशेष में कतिपय गुण-दोषों का चलताऊ निर्देश किया है, तो हमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु चरित्रचित्रण का यह अर्थ अत्यन्त स्थूल तथा उथला है। वस्तुतः ये उपन्यासकार पात्रों में न तो व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा कर पाए हैं और न उनका ध्यान उनकी चरित्रगत विशिष्टताओं का उद्घाटन करने पर ही है। वे तो कथा कहने तथा कुतूहल निर्माण करने में इतने व्यस्त रहे हैं कि चरित्र-विकास तो क्या चरित्र निर्माण भी नहीं हो पाया है। लेखक ने यह कहकर कि इन उपन्यासों में चरित्रचित्रण सायास नहीं हुआ है, इस तथ्य को स्वीकार किया है। यहाँ लेखक ने एक प्रश्न यह उठाया है कि क्या उपन्यास "Epic in prose' है ? इसका उत्तर उन्होंने वैब्सटर की महाकाव्य की परिभाषा तथा विश्वनाथ द्वारा दिए गए महाकाव्य के लक्षणों को कसौटी मानकर देने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि महाकाव्य का लक्ष्य आदर्श की प्रतिष्ठा होता है जबकि उपन्यास का भवन यथार्थ पर टिका होता है, उसका नायक धीरोदात्त होता है जबकि आधुनिक उपन्यास में मानसिक ग्रंथियों और विकृतियों के उद्घाटन पर बल दिया जाता है, महाकाव्य के पात्र टाइप होते हैं जबकि व्यक्ति-चित्रण उपन्यास की विशेषता है। वैब्सटर तथा विश्वनाथ की कसौटी आधुनिक महाकाव्यों के सन्दर्भ में भी अपूर्ण और भ्रामक है। अतः उसके आधार पर उपन्यास की परीक्षा करना उचित नहीं। डॉ० नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'अनुसंधान और आलोचना' में महाकाव्य की देशकाल निरपेक्ष जो परिभाषा प्रस्तुत की है, वह वस्तुतः सर्वग्राह्य होनी चाहिए और यदि हम उसके आधार पर आधुनिक उपन्यास की परीक्षा करें, तो जेम्स जायस का 'Ullysis' ज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' निश्चय ही 'Epic in prose' सिद्ध होंगे। उनके पात्रों में विराटता है (बाहर की नहीं, मन की अतल गहराइयों की)। उनके कथानक विस्तारपूर्ण हैं, भले ही उनका क्षेत्र ब्रह्मांड न होकर पिण्ड हो, भौतिक जगत् न होकर मानव चेतना हो, और उनकी शैली असाधारण है, उदात्त है। सारांश यह कि आधुनिक उपन्यास अपने उदात्त तत्त्व के कारण 'Epic in prose' होने की सम्भावनाएँ रखता है।

अध्याय के 'ख' भाग में औपन्यासिक पात्रों के शास्त्रीय रूपों का उल्लेख है। 'ग' भाग अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें चरित्रचित्रण की बहिरंग (Objective), अंतरंग (Subjective) तथा नाटकीय (dramatic) प्रणालियों के स्वरूप और उपयोग की उदाहरण सहित व्याख्या की गई है, यद्यपि कहीं-कहीं लेखक द्वारा प्रस्तुत उदाहरण हमें मान्य नहीं। पृष्ठ ६९ पर लेखक का कथन है, "उपन्यासकार पात्रों को उपन्यास में पहली बार लाते समय ही उनकी प्रकृति और वेशभूषा का चित्रण करता है और उसके बाद उपन्यास भर में कहीं भी उसकी आकृति और वेशभूषा की चर्चा नहीं छेड़ता ..." और इसके लिए 'गोदान' के होरी का उदाहरण देते हुए कहता है कि उसकी आकृति और वेशभूषा का चित्रण प्रेमचन्द केवल एक बार

आरम्भ में करते हैं। जिससे चित्र अस्वाभाविक हो जाता है और लेखक अपने लिये सीमा निर्माण कर लेता है। हम लेखक के इस उदाहरण से सहमत नहीं हैं। उपन्यास के आरम्भ में ही आर्थिक चक्की में पिसा होरी क्षीण, दुर्बल और फटे कपड़े पहने हुए दिखाया गया है। उनका अन्त भी दैन्य में होता है। बीच में भी उसके जीवन में ऐसा कोई परिवर्तन आर्थिक या शारीरिक नहीं होता, जिसका उल्लेख लेखक के लिए आवश्यक होता।

इस अध्याय में लेखक ने चरित्रचित्रण की अतंरंग प्रणाली का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। हिन्दी उपन्यास सम्बन्धी आलोचना में कदाचित् प्रथम बार उसका इतना विस्तीर्ण और सांगोपांग विवेचन हुआ है क्योंकि डॉ० देवराज की पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' में भी उसकी चर्चा इतनी विस्तारपूर्ण नहीं है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक है "हिन्दी उपन्यास की पृष्ठभूमि (चरित्र-चित्रण की दृष्टि से)।" इसमें लेखक ने इतिवृत्तात्मक शैली में भारतीय तथा यूरोपीय इतिहास-लेखकों का हवाला देते हुए भारत की उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की राजनीतिक अवस्था, सुधारवादी सामाजिक आन्दोलनों और उनकी देन तथा साहित्यिक परम्परा का ब्यौरा प्रस्तुत किया है जिससे हिन्दी का साधारण विद्यार्थी भी परिचित है, अतः उसकी उपयोगिता सन्देहास्पद ही है। कदाचित् प्रबन्ध की योजना में उसकी आवश्यकता थी और उसी दृष्टि से उसकी सार्थकता है।

तीसरे अध्याय में यह बताया गया है कि देवकीनन्दन खत्री तथा गोपालराम गहमरी के उपन्यासों में चरित्रचित्रण किस-किस प्रकार—नामकरण, परिचयात्मक वर्णन, आकृति-वेशभूषा, घटना, कथोपकथन और कहीं-कहीं पत्र द्वारा—हुआ है। हिन्दी आलोचकों द्वारा ऐय्यारी और जासूसी उपन्यासों की चर्चा प्रायः उनके ऐतिहासिक महत्त्व, अनगढ़ रूप, अपरिपक्वता और अद्भुत कथानक के लिए ही हुई है। उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखना तो दूर रहा, उनका उचित मूल्यांकन भी नहीं हुआ है। शुक्ल जी के अनुसार तो 'वे साहित्य-कोटि में नहीं आते।' वस्तुतः उनके प्रति इस अवज्ञा का कारण रहा है लेखकों का पूर्वग्रह और पुरानी चीजों को तौलने के लिए नए बटखरों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति। प्रस्तुत लेखक ने इन आरम्भिक उपन्यासकारों की ओर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखा है और उन्हें वह प्रतिष्ठा तथा साहित्यिक महत्त्व प्रदान किया है जिसके वे अधिकारी हैं। उपर्युक्त दोनों उपन्यासकारों की चरित्रचित्रण प्रणाली की विवेचना करते हुए जहाँ लेखक ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण और तलस्पर्शी मेधा का परिचय दिया है, वहाँ वह पुनरुक्ति दोष से स्वयं को नहीं बचा सका है। दोनों उपन्यास-लेखकों ने चरित्रचित्रण की लगभग समान पद्धतियाँ अपनाई हैं, अतः यदि उनका विवेचन एक स्थान पर किया

गया होता, और केवल सूक्ष्म भेदों का निदेश यथास्थान कर दिया जाता, तो पुनरुक्ति दोष एवं अनावश्यक विस्तार से पुस्तक बच सकती थी। परन्तु प्रबन्ध की रूपरेखा कदाचित् इसमें बाधक रही हो, क्योंकि आगे के अध्यायों में भी वह इस दोष से मुक्त नहीं हो सका है।

चौथे अध्याय का शीर्षक है 'सोद्देश्यचरित्र चित्रण'। यह विश्लेषण कुछ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। यदि चरित्रचित्रण का अर्थ हम पात्र के चरित्र का विश्लेषण लें, तो प्रत्येक लेखक का चरित्रचित्रण उद्देश्यपूर्ण होता है, उद्देश्य भले ही भिन्न-भिन्न हो। यदि किसी का उद्देश्य उसके द्वारा आदर्श की प्रतिष्ठा होता है, तो किसी का मन के गहनतम गह्वरों में डूबकर उसकी भाववीचियों एवं अन्तर्विरोधी धाराओं का उद्घाटन। और यदि चरित्र-चित्रण का अर्थ हम केवल पात्रों का निर्माण लें (जो अधिक ठीक नहीं है) तो फिर वहाँ चरित्र-चित्रण कहाँ रहेगा, वह तो पात्र में सामाजिक उद्देश्य के कारण गुणावगुणों का ऊपर से आरोप मात्र रह जायगा। यही कारण है कि लेखक ने स्वयं इन उपन्यासों के सम्बन्ध में कहा है, "यह आशा रखना कि वे चरित्र-चित्रण के सच्चे अर्थों में अपने पात्रों का चरित्रचित्रण करते, उनके प्रति अन्याय करना होगा।"[1]

लेखक का मत है कि सोद्देश्य चरित्रचित्रण करने वाले उपन्यास-लेखकों ने मानव-चरित्र के व्यक्त स्वरूप को ही चित्रित किया है और जब भी वे अव्यक्तांश की ओर प्रवृत्त हुए हैं, वे मनोवैज्ञानिक सत्यांशों से दूर जा पड़े हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है। प्रेमचन्द तक ने अपने पात्रों के मानसिक संघर्ष (दरोगा कृष्णचन्द्र), उनके बदलते दृष्टिकोण और उनकी अन्तःप्रेरणाओं (निर्मला, सुमन) का चित्रण किया है। निर्मला में साइकिक इम्पोटैट तथा 'रंगभूमि' के 'भैरों' में 'हीनता-ग्रंथि' तक के दृष्टांत हमें मिल जाते हैं। हाँ, उनके पात्रों का मनोविश्लेषण मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों या Case Histories पर आधारित न होकर, व्यावहारिक अनुभवों तथा संवेदनक्षमता पर प्रतिष्ठित है।

लेखक ने हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास दिखाने के लिये जो Pattern अपनाया है, उसमें उसने प्रतिनिधि उपन्यासकारों को चुनकर प्रत्येक पर एक परिच्छेद लिखा है। परिच्छेद में पहिले उपन्यासकार का परिचयात्मक विवेचन दिया गया है, जो उपन्यासकार के उद्देश्य, उसकी उपन्यास कला की विशिष्टताओं, उसके पात्रों के वर्ग तथा उनकी विशेषताओं से पाठक को परिचित कराता है। यह भाग निस्सन्देह उपयोगी है क्योंकि लेखक की चरित्र-चित्रण कला को समझने के लिये

---

१. पृ० १५४।

पृष्ठभूमि का कार्य करने के साथ-साथ वह दो लेखकों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ प्रसाद से सम्बन्धित परिचय में लेखक ने उनके तथा प्रेमचन्द के पात्रों की तुलना कर दोनों का भेद बताते हुए कहा है कि पात्र दोनों के शोषक तथा शोषित हैं पर यदि प्रेमचन्द के पात्र आर्थिक शोषण दिखाने के लिये अवतीर्ण हुए हैं तो प्रसाद के नैतिक तथा संस्थावाद के शोषण को प्रदर्शित करने के लिये। लेखक ने तदुपरान्त चरित्र-चित्रण के लिये कतिपय शैलियों—नामकरण, प्रथम परिचय, वर्णनात्मकता, मनोविश्लेषण, नाटकीय शैली—को आधार मानकर यह दिखाया है कि विभिन्न लेखकों ने किस-किस तरह अपने पात्रों के चरित्र का उद्घाटन किया है। यद्यपि चरित्र-चित्रण की इन प्रणालियों का प्रयोग इस अध्याय में उल्लिखित सभी लेखकों ने किया है, तथापि उनमें पाए जाने वाले भेदों एवं विशेषताओं का इंगित बड़ी सूक्ष्मता एवं कुशाग्रता से किया गया है। निष्पक्ष होकर लेखकों के गुण-दोष चीन्हने तथा उन्हें तर्क एवं उदाहरण सहित प्रस्तुत करने की पद्धति भी अभिनन्दनीय है। जहाँ एक ओर प्रेमचन्द की अत्यधिक आदर्शवादिता और टीका-टिप्पणी द्वारा पात्रों के चरित्रचित्रण करने की पद्धति को बुरा कहा गया है, वहाँ दूसरी ओर प्रसाद के चरित्र-चित्रण की नाटकीय शैली की आलोचना की गई है "और पात्रों के चरित्र की जो गुत्थियाँ विश्लेषणात्मक प्रणाली से ही सुलझाई जा सकती थीं, उनके लिये भी प्रसाद को नाटकीय प्रणाली का आश्रय लेना पड़ा।"[1] भगवतीचरण वर्मा को भी उनके पात्रों के पूर्वग्रहपूर्ण प्रथम परिचय, व्यंग्य, दार्शनिक टिप्पणियों तथा रिपोर्टर रूप के लिये दोषी ठहराया गया है।

प्रबन्ध का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अध्याय पाँचवाँ है जिसमें हिन्दी के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों—जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय द्वारा अपनाई गई पात्रों के अन्तरंग चरित्रचित्रण की विविध प्रणालियों—मनोविश्लेषण, स्वप्नविश्लेषण, प्रत्यावलोकन, सम्मोह-विश्लेषण, शब्द सहस्मृति परीक्षण, पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली, मुक्त आसंग प्रणाली, बाधकता-विश्लेषण आदि की जो पश्चिम की नवीनतम मनोवैज्ञानिक उद्भावनाओं पर आधारित हैं, उदाहरण सहित व्याख्या की गई है। इसके लिये जिस विस्तृत और गहन अध्ययन, पैनी दृष्टि तथा विवेक की आवश्यकता थी, वह लेखक में प्रभूत मात्रा में वर्तमान है। जैनेन्द्र के पात्रों के प्राकृतिक वर्णन द्वारा चरित्र-चित्रण की प्रणाली के विवेचन में लेखक ने जिन बारीकियों—संक्षिप्त शैली, सांकेतिक चित्रण, एकांगी चित्रण, इम्प्रैशनिज्म, बनावटी मुख-इंगित आदि—का उल्लेख किया है, वह उसकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। इसी प्रकार अज्ञेय के उपन्यासों में स्वप्न-संघटन के पाँच रूपों—संघनन, विस्थापन, नाटकीकरण, प्रतीकीकरण और सैकण्डरी इलैबरेशन—को दिखाकर तथा उनकी समुचित व्याख्या कर लेखक ने अपनी विश्लेषण

१. पृष्ठ २२८

प्रतिभा का और रिकलेक्टैड डायलॉग, आन्तरायिक डायलॉग और लिखित डायलॉग आदि के उदाहरण देकर अपनी तलस्पर्शी मेधा का परिचय दिया है।

लेखक की विशेषता यह है कि इतने गूढ़ और मनोवैज्ञानिक विषय को भी उसने सरल और प्रसादगुण सम्पन्न भाषा में प्रस्तुत किया है। साथ ही पूर्वग्रह त्याग कर उसने इन महान् उपन्यासकारों की त्रुटियों की ओर संकेत करने में भी संकोच नहीं किया है। जैनेन्द्र का पात्रों के प्रथम परिचय में अपनी धारणाएँ लादना, उनकी दार्शनिक बोझिलता एवं अस्पष्टता जिसे 'जैनेन्द्रपन' कहा गया है, अज्ञेय की अश्लीलता तथा इलाचन्द्र जोशी की अतिशय व्याख्यात्मकता जो कृति को कहीं-कहीं मनोवैज्ञानिक ट्रीटाइज का रूप दे देती है, इसके उदाहरण हैं। उपन्यासकारों के जीवन-दर्शन का उनके पात्रों पर किस प्रकार प्रभाव पड़ा है, इसका भी निर्देश लेखक ने किया है। जैनेन्द्र के पात्रों में 'अहं' का घुलकर समष्टि में मिलाना तथा अज्ञेय के पात्रों में 'अहं' की पुष्टि उनके सृजनकर्ताओं के दृष्टि-भेद को ही बताती है।

उपसंहार में लेखक ने हिन्दी उपन्यास के चरित्रचित्रण के विकास की तीन अवस्थाओं में तारतम्य दिखाया है। यह भाग वस्तुतः सम्पूर्ण प्रवन्ध की Summary है। यहाँ उसने आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के चरित्रचित्रण की समस्या उठाई है और दो बातें कही हैं—(क) पात्र ऐसे होने चाहियें जिनसे पाठक सायुज्य स्थापित कर सके, (ख) ऐसा करने में उसे विशेष आयास न करना पड़े। जहाँ तक पहले कथन का सम्बन्ध है, उससे कोई असहमत नहीं हो सकता। साधारणीकरण या सायुज्य स्थापना के बिना उपन्यास के पात्र अद्भुत लोक के प्राणी होंगे, लेखक की कल्पना के मूर्तिविधान मात्र अथवा मानसिक अस्पताल के रोगी। यह सच है कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के पात्रों का चरित्रचित्रण Case Histories या फ्राइड, ऍडलर, जुंग, वाट्सन, हैवलॉक ऍलिस, स्टेकेल आदि मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों और निष्कर्षों पर आधारित होता है, उनमें सत्य भी होता है, तथापि हम ऐसे पात्रों से साधारणीकरण नहीं कर पाते क्योंकि ऐसे असाधारण व्यक्ति समाज में अपवाद स्वरूप ही हैं। वर्जीनिया वूल्फ के ओरलैंडो या लॉरेन्स की नायिकाओं के समान पात्र कदाचित् ही समाज में मिलें। उनके ऐसे असाधारण पात्रों के ही कारण ह्यू वालपोल ने अपने निबन्ध 'Tendencies of the Modern Novel' में इन उपन्यासकारों की कटु आलोचना की थी तथा एक अन्य समीक्षक ने व्यंग्य में कहा था, "They promised to give us a new world, instead they gave a hospital." इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि मानव-मन में प्रतिपल उठने वाले भावों के विवेचन मात्र से कोई कृति महान् नहीं बन जाती। लेखक को ग्राह्य-अग्राह्य एवं तारतम्य का ध्यान तो रखना ही होगा। इसी के अभाव के कारण यूलीसस महान् कृति होते हुए भी विरेसफर्ड की आलोचना की पात्र बनी और फिलिप हैंडरसन ने मार्शल प्रूस्त की रचना 'आ ला रे शेर्शी डू टेम्स पेड़' को नीरस बताया।

लेखक का दूसरा कथन है कि लेखक पाठक से विशेष आयास की अपेक्षा न करे। इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि जो कृति विशेष आयास की अपेक्षा नहीं करती, वह महान् हो ही नहीं सकती। तुलसी का 'रामचरितमानस' भी इसका अपवाद नहीं है। फिर मनोवैज्ञानिक उपन्यास का तो विषय ही अचेतन मन है जिसकी अन्तर्धाराओं और क्रिया-प्रतिक्रियाओं को समझने के लिये विशेष आयास अपेक्षित है। कदाचित् यही लक्ष्य कर जोसैफ फ्रेंक ने कहा था "A Stream of consciousness novel cannot be 'read' in the usual sense—it can only be re-read". आज उपन्यास का उद्देश्य मनोरंजन नहीं, मानव-जीवन और मानव-मन की व्याख्या करना है। अतः उस व्याख्या को समझने के लिये यदि पाठक को आयास करना पड़े, तो भी वह उसका अभिनन्दन करेगा। जैनेन्द्र जी ने भी 'पाठक के लिये यह थोड़ा आयास वांछनीय' बताया है। अतः जैसे-जैसे हिन्दी का पाठक प्रबुद्ध और मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से परिचित होता जायगा, मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के प्रशंसकों की संख्या भी निश्चय ही बढ़ेगी। इसमें लेखक का योगदान यही हो सकता है कि वह उपन्यास में स्थान निकालकर अपनी व्याख्या तथा टिप्पणी द्वारा पाठक को अधिकाधिक प्रबुद्ध बनाए।

अपने विषय का हिन्दी में यह प्रथम और सर्वथा मौलिक प्रबन्ध (मराठी में पी. जी. सहस्त्रबुद्धे का "स्वभाव लेखन" १९३८ में ही प्रकाशित हो चुका था) लेखक के व्यापक अध्ययन, सूक्ष्म विश्लेषण, साहित्य-शास्त्र और मनोविज्ञान की समवेत कसौटी तथा सरल भाषा-शैली के कारण विशेष महत्त्व रखता है। पुस्तक के अन्त में संलग्न संदर्भ-ग्रंथसूची तथा अनुक्रमणिका के कारण इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है। यदि कोई बात खटकती है तो वह है पुनरुक्ति दोष और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की बार-बार चर्चा। आशा है उपन्यास-आलोचना के क्षेत्र में इस ग्रंथ का समुचित अभिनन्दन होगा।

हिन्दी आलोचना का इतिहास

डॉ० वेंकट शर्मा

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का प्रणयन डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, काशी, हिन्दू विश्वविद्यालय के निर्देशन में हुआ है, जिस पर लेखक को उक्त विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई है। ग्रंथ के 'आमुख' में लेखक ने अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हुए लिखा है, "हिन्दी समीक्षा की प्रवृत्तियों के विश्लेपण का प्रयत्न तो यदाकदा स्वतंत्र निबन्धों द्वारा होता रहता है किन्तु विविध प्रवृत्तियों और उनके प्रमुख व्यक्तित्वों के सांगोपांग विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई थी। इस प्रबन्ध में इसका प्रयास किया गया है।" लेखक ने अपनी कृति से पूर्व प्रकाशित डॉ० भगवत्स्वरूप प्रणीत 'हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास' का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी अपने ग्रंथ की विशेषता इन शब्दों में व्यक्त की है—"सब से नया कार्य इस क्षेत्र में जो मैंने किया है, वह है प्रवृत्तियों का विश्लेषण। किन कारणों से आलोचना की प्रवृत्ति-विशेष फूटी, इसकी वस्तुवादी व्याख्या करने की चेष्टा की गई है।" उसने हिन्दी आलोचना के विकास की अनेक मंजिलें निर्दिष्ट कर उनमें पूर्वापर-सम्बन्ध माना है, किन्तु उसका 'मुख्य प्रयोजन विविध भूमिकाओं के साथ विविध प्रवृत्तियों के भेदकता-विधायक तत्त्वों के निरूपण का रहा है।' उसके सम्मुख इस बात की समस्या भी रही है कि विविध प्रवृत्तियों के कालों का नामकरण किस आधार पर किया जाय और मानो इसी समस्या के निवारणार्थ उसने आलोचक के 'आरम्भ', 'विकास' और 'उत्कर्ष' के विभिन्न उत्थान विवेचित किए हैं। उसकी मुख्य चेष्टा यही रही है कि 'निर्दिष्ट नामों के भीतर विभिन्न कालों की सारी विशेषताएँ' आ जायँ और यथासम्भव युगों का काल-विस्तार भी साथ-साथ दे दिया जाय। हाँ, 'सन्' २० के पश्चात् अनेक धाराओं का ठीक-ठीक

लेखक : डॉ० रामदरश मिश्र
प्रकाशक : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बाराणसी—५
मूल्य : ८ रुपये अजिल्द, ९ रुपये सजिल्द

काल-विस्तार देना उसके लिए सम्भव नहीं हो सका है 'क्योंकि अनेक धाराएँ अब भी साथ-साथ चल रही हैं।' इस प्रकार विवेच्य कृति का 'आमुख' रचयिता के अंतर्दर्शन का परिचायक कहा जा सकता है।

समालोच्य ग्रंथ नौ अध्यायों में विभक्त है जिनके नाम क्रमश: 'विषय-प्रवेश;' 'हिन्दी आलोचना का आरम्भ युग;' 'विकास-युग (निर्णयात्मक समीक्षा);' उत्कर्ष-युग (व्याख्यात्मक समीक्षा)' अथवा प्रथम उत्थान; द्वितीय उत्थान (स्वच्छंदतावादी समीक्षा);' 'तृतीय उत्थान (प्रगतिशील समीक्षा);' 'चतुर्थ उत्थान (मनोविश्लेपण-वाद से प्रभावित समीक्षा);' 'पंचम उत्थान (स्वच्छंद समीक्षा)' तथा 'विविध' और 'उपसंहार' हैं। इन अध्यायों में लेखक ने मुख्यत: भारतेन्दु-युग से लेकर वर्तमान-युग पर्यन्त विकसित हिन्दी-आलोचना के इतिहास को व्याख्यात करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि लेखक का यह भी दावा रहा है कि 'प्रवृत्तियों की भूमिकाओं का विश्लेपण करने में उसने सबसे नया कार्य' किया है, किन्तु यह कथन सत्य की अपेक्षा आत्मतुष्टि के अधिक निकट है क्योंकि हिन्दी-आलोचना की प्रक्रिया जिस रूप से विकसित हुई है, उसे किसी नवीन दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत किया गया है; ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता। ग्रन्थ के सामान्य समीक्षण से सम्बद्ध सामग्री का विवेचन निम्न-लिखित है :—

'विपय-प्रवेश' में लेखक ने संस्कृत साहित्य की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना का टिप्पणीपरक परिचय देकर हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल की साधारण चर्चा की है जिसमें शोधमूलक दृष्टि का अभाव सा है। वस्तुत: हिन्दी आलोचना के इतिहास की पूर्व-पीठिका के रूप में इस प्रकार का विपय-विवेचन नितान्त आवश्यक था; किन्तु समीक्ष्यमाण कार्य के स्वरूप-संगठन और व्यावहारिक संयोजन में उसकी क्या उपयोगिता है; इस ओर लेखक का ध्यान नहीं के बराबर रहा है। मेरी विनम्र सम्मति में यदि इसी अध्याय के अन्तर्गत पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा के मूलभूत सिद्धान्तों का भी अपेक्षित आकलन किया जाता तो आधुनिक हिन्दी-आलोचना की पार्श्वभूमि अधिक स्पष्ट हो सकती थी; क्योंकि साहित्य की अन्यान्य विधाओं के समानान्तर हिन्दी-समीक्षा ने भी पश्चिमी साहित्यालोचन से प्रचुर सामग्री ग्रहण की है। साथ-ही-साथ यह निवेदन करना भी आवश्यक है कि रचना और आलोचना का युगपत् सम्बन्ध है और दोनों में परस्पर आदान-प्रदान के पर्याप्त अवसर प्रत्येक देश के साहित्य में विद्यमान रहते हैं, अत: हिन्दी आलोचना के उद्भव और विकास के स्पष्टीकरण में इनकी प्रवृत्ति और प्रकृति का समन्वयपूर्ण विश्लेपण करना भी परम वांछनीय था जिसकी ओर शोधकर्ता ने विशेप ध्यान नहीं दिया है। इसी प्रकार ग्रन्थ में काल-विभाजन, तिथि-निर्धारण, प्रवृत्ति-विश्लेपण और कार्य-मूल्यांकन आदि विषयों के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है, किन्तु ये विपय वैयक्तिक

मान्यताओं से अधिक सम्बद्ध हैं; अतः उनके विश्लेषण के लिए अधिक अवसर यहाँ नहीं है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी-आलोचना का पूर्वाभास रीतिकालीन काव्य-शास्त्र में संगुम्फित था किन्तु उसकी अद्यतन-प्रक्रिया का प्रवर्तन भारतेन्दु-युग से ही हुआ, जिसे विचार-पथ में रखते हुए लेखक ने उसका आरम्भ-काल सन् १८६७ से १९०० पर्यन्त माना है। इस विवेचन में लेखक ने तत्कालीन परिस्थितियों का सामान्य चित्रण प्रस्तुत करते हुए बतलाया है कि उस युग में परम्परा और नवीनता का योग किस रूप में हो रहा था और भारतेन्दु-युगीन समीक्षा किन-किन सूत्रों से संग्रथित एवं अनुस्यूत थी। लेखक ने भारतेन्दु जी के अतिरिक्त पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा पं० बालकृष्ण भट्ट आदि तत्कालीन समीक्षकों के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा-पक्षों का उद्घाटन करते हुए यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि उस युग में परम्परागत आलोचना का क्या रूप था और उस पर पश्चिमी समीक्षा का प्रभाव किस प्रविधि में दृष्टिगोचर होने लगा था। अपने कथन की पुष्टि में लेखक ने 'आनन्द-कादम्बिनी,' 'सार-सुधानिधि,' 'नागरी-नीरद' तथा 'हिन्दी-प्रदीप' आदि प्रमुख पत्रों से ऐसे उद्धरण भी दिये हैं जिनसे हिन्दी आलोचना के प्रारम्भिक रूप का बोध किया जा सकता है।

ग्रन्थ का तीसरा अध्याय विकास-युग है जिसकी प्रमुख प्रवृत्ति को लेखक ने 'निर्णयात्मक समीक्षा' की अभिधा प्रदान की है। इसके प्रारम्भ में भी तत्कालीन परिस्थितियों का सामान्य निरूपण हुआ है और लेखक ने उस युग में पुनरुत्थानवादी स्वर का प्राधान्य सूचित कर इस तथ्य का भी स्पष्टीकरण करना चाहा है कि उस युग में उपयोगितावादी प्रवृत्ति के साथ-साथ रीतिवादी प्रवृत्ति को भी किन-किन रूपों में प्रश्रय प्राप्त हुआ था। वस्तुतः यह विवेचन द्विवेदी-युगीन समीक्षा के धरातल और स्तर से सम्बद्ध है जिसका कार्यकाल सन् १९०१ से १९२० पर्यन्त माना गया है। इस काल-सीमा में आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के आलोचना-विषयों का निरूपण उनके चर्चा-ग्रंथों तथा समसामयिक निर्णयों के आधार पर हुआ है। लेखक ने विकास-युग के अन्य समीक्षकों में सर्वश्री मिश्रबंधु, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन तथा बालमुकुन्द गुप्त की प्रवृत्तियों का निरूपण उनकी प्रमुख कृतियों और मान्यताओं के आधार पर करते हुए इस बात का भी संकेत किया है कि वह युग किन दृष्टियों से भारतेन्दु-युग का विकसित रूप था और उसमें हिन्दी आलोचना किस स्तर पर अधिष्ठित थी। लेखक ने उस युग की निर्णयात्मकता जिस रूप में व्यक्त की है; वह पर्याप्त अंश में ग्राह्य कही जा सकती है।

चौथे अध्याय में लेखक ने 'व्याख्यात्मक समीक्षा' के रूप में 'उत्कर्ष युग'

के जिस प्रथम उत्थान का विवेचन किया है, वह वस्तुतः शुक्ल-युग ही है। उस युग में हिन्दी-आलोचना ने नया मोड़ लेकर दो प्रकार की प्रमुख धाराएँ ग्रहण की थीं जिन्हें 'शुक्ल-समीक्षा-पद्धति' और 'स्वच्छंदतावादी समीक्षा-पद्धति' कहा जा सकता है। लेखक ने शुक्ल जी की सैद्धान्तिक समीक्षा के प्रमुख पक्षों—काव्य की आत्मा, रस-विवेचन, लोक-धर्म आदि का उद्घाटन कर उनकी व्यावहारिक समीक्षा का धरातल भी निरूपित किया है और आई. ए. रिचर्ड्स की मान्यताओं के साथ उसकी सांकेतिक तुलना भी की है। इसी अध्याय में डॉ० श्यामसुन्दर दास, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बाबू गुलाबराय, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, श्री चन्द्रबली पांडेय तथा श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' के प्रमुख ग्रंथों के परिचय-मूलक विवरण द्वारा उनके योगदान का लेखा-जोखा किया गया है जिनमें साधारण-तया वे ही बातें आ सकी हैं जिनसे समीक्षा-प्रेमी पाठक सुपरिचित हैं। लेखक ने जिस अर्थ में उत्कर्ष-युग को 'व्याख्यात्मक समीक्षा' की अभिधा प्रदान की है; वह अधिक वैज्ञानिक नहीं है क्योंकि 'व्याख्यात्मकता' की प्रविधि तो प्रत्येक प्रकार की समीक्षा से समन्वित रहती है।

ग्रंथ का पाँचवाँ अध्याय स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के धरातल का स्पष्टीकरण करता है। उसके आरम्भ में लेखक ने औद्योगिक क्रान्तिजन्य परिस्थिति का विवरण देकर बतलाया है कि उसकी साहित्यगत प्रतिक्रिया किस रूप में हुई और साहित्य-सर्जना में अनुभूति, कल्पना, वैयक्तिकता तथा सौन्दर्य-दृष्टि का प्रसार किन कारणों से सम्भव हो सका। लेखक ने हिन्दी-आलोचना के इस उत्थान में जिन समीक्षकों को व्याख्यात किया है, उनमें पं० नंददुलारे वाजपेयी, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं० शांतिप्रिय द्विवेदी मुख्य हैं। कवि-समीक्षकों में सर्वश्री जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रा-नन्दन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा और रामकुमार वर्मा निरूपित हुए हैं, जिनके काव्य-सिद्धान्तों की विवेचना उनकी प्रमुख कृतियों के उद्धरणों द्वारा की गई है। इस विवेचन में निष्कर्ष-निरूपण की प्रवृत्ति अधिक है और स्वमताभि-व्यंजन की मात्रा न्यून।

हिन्दी-आलोचना की प्रगतिशील-प्रवृत्ति का निरूपण करने के पूर्व लेखक ने उसकी अंतर्वर्तिनी परिस्थितियों का निरूपण मार्क्सवादी दर्शन की भूमिका के माध्यम से किया है और बतलाया है कि एतद्युगीन साहित्य में सामाजिक तथा यथार्थपरक दृष्टि का समावेश किन-किन रूपों में होने लगा था और उनसे समीक्षा-क्षेत्र में किस प्रकार का प्रतिवर्तन स्वाभाविक बन गया था। वस्तुतः हिन्दी साहित्य में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अनुप्राणित प्रगतिशील समीक्षा का प्रादुर्भाव जिन कारणों से सम्भव हुआ, उनका साधारण परिचय छठे अध्याय से हो जाता है। इस प्रकार की समीक्षा प्रवृत्ति का विश्लेषण करने में श्री शिवदानसिंह चौहान, डॉ० रामविलास शर्मा तथा श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि आलोचकों का जो योगदान है; उसका बोध उनकी

विचार-धाराओं के आधार पर किया गया है। लेखक ने लगे हाथों प्रगतिवादी समीक्षा के सम्बन्ध में अपना अभिमत भी प्रकट किया है जिसकी संपुष्टि की आधार-भित्ति मूर्द्धन्य समीक्षकों की विचार दृष्टि बनी भी है।

हिन्दी-आलोचना की एक अन्य प्रवृत्ति 'मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित समीक्षा' भी है जिसका विवेचन सातवें अध्याय में चतुर्थ उत्थान के नाम से किया गया है। लेखक ने साहित्य की प्रेरणा का मनोवैज्ञानिक पक्ष निरूपित कर प्राचीन आचार्यों के मतों की चर्चा की है और फ्रायड, एडलर तथा युंग की मान्यताओं का विवेचन करते हुए बतलाया है कि उन्होंने साहित्य-समीक्षण के क्षेत्र में किस प्रकार की उत्क्रान्ति की और उनका साहित्य-निकष पर कैसा प्रभाव पड़ा। [illegible] में पं० इलाचन्द्र जोशी, डॉ० नगेन्द्र और श्री 'अज्ञेय' ने इस प्रकार की समीक्षा-प्रवृत्ति को संपुष्ट करने तथा उसका व्यावहारिक धरातल बनाने में जो योगदान दिया है; उसका सारभूत विवेचन इसी अध्याय के अंतर्गत हो सका है। लेखक ने यह भी बतलाया है कि ये आलोचक साहित्य और कला के विषय में किस प्रकार की धारणाएँ रखते हैं और उनका दृष्टिकोण किस रूप में भारतीय रसवाद के निकटवर्ती बनकर चल रहा है।

ग्रंथ का आठवाँ अध्याय पंचम उत्थान के रूप में 'स्वच्छन्द धारा' का समीक्षण प्रस्तुत करता है जिसमें डॉ० देवराज की कृतियों और मान्यताओं का विश्लेषण विशेष रूप से किया गया है। अन्य समीक्षकों में श्री प्रभाकर माचवे, श्री नलिन विलोचन शर्मा, श्री कृष्णशंकर शुक्ल, डॉ० केसरी नारायण शुक्ल तथा डॉ० सत्येन्द्र आदि के कार्यों की साधारण चर्चाएँ की हैं। जिन कारणों से इन समालोचकों को 'स्वच्छन्द समीक्षा' के नाम पर एक ही स्थान पर रखा गया है; वह अधिक उचित नहीं है। क्योंकि श्री प्रभाकर माचवे तथा श्री नलिन विलोचन शर्मा को भले ही पंचम उत्थान के अंतर्गत विवेचित किया जा सके किन्तु डॉ० केसरी नारायण शुक्ल तथा श्री कृष्णशंकर शुक्ल की स्थिति उनसे निश्चित ही भिन्न है। उन्हें यदि शुक्ल जी के साथ विवेचित किया जाता तो अधिक समीचीन रहता। ऐसी ही स्थिति डॉ० सत्येन्द्र की भी है। श्री कृष्णशंकर जी तो कालक्रम की दृष्टि से श्री जगन्नाथ शर्मा, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि से पूर्ववर्ती हैं।

ग्रंथ का नवाँ तथा अन्तिम अध्याय शोध-समीक्षा का विवरण प्रस्तुत करता है और उसके उपसंहार के अन्तर्गत अधुनातन समालोचना पर दृष्टिपात किया गया है। लेखक ने इस अध्याय में उन बातों की चर्चा भी की है जिनका सम्बन्ध हिन्दी-आलोचना के नवीनतम रूप से है। लेखक की धारणा है कि आचार्य शुक्ल के पश्चात् भले ही उनके समान अन्य व्यक्तित्व दिखाई न पड़े किन्तु उनके उपरान्त भी हिन्दी-समीक्षा आगे अवश्य बढ़ी है। इस प्रकार प्रस्तुत कृति में हिन्दी-आलोचना का

क्रम-बद्ध विवेचन प्रस्तुत किया गया है जिसमें ज्ञात सामग्री के संयोजन की प्रवृत्ति का प्रस्फुटन जितना अधिक हो सका है, उतना नवीन शोध तथा मौलिक प्रतिष्ठान का अभिनिवेश नहीं। वस्तुतः हिन्दी आलोचना के इतिहास से सम्बद्ध अब भी ऐसे अनेक पक्ष हैं जिन्हें अनुसंधान का विषय बनाकर उसकी मूल प्रकृति तथा स्वतन्त्र मानदण्ड की विवेचना की जा सकती है। 'हिन्दी में शोधपरक आलोचना', 'हिन्दी आलोचना का सैद्धान्तिक पक्ष और स्तर'; 'हिन्दी की व्यावहारिक समीक्षा का धरातल', 'आधुनिक युग के परिवेश में हिन्दी समीक्षा का विकास', 'शास्त्रीय और स्वच्छन्दतावादी दृष्टि से हिन्दी-आलोचना का मूल्यांकन' आदि विषयों पर कार्य करने की अब भी पर्याप्त सम्भावना है। फिर भी प्रस्तुत कृति हिन्दी आलोचना के इतिहास की अच्छी जानकारी कराती है, जिसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के गम्भीर तथा व्यापक विवेचन की स्वतन्त्र आवश्यकता अब भी बनी हुई है। हम लेखक को प्रस्तुत कृति के प्रकाशन के लिए हार्दिक बधाई देते हैं।

भारतीय नेताओं की हिन्दी-सेवा

श्री यशपाल जैन

प्रस्तुत पुस्तक पंजाब विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है, जिसमें लेखिका ने सन् १८५७ के प्रथम स्वाधीनता-संग्राम के समय से लेकर सन् १९५७ तक के सौ वर्षों में भारतीय नेताओं द्वारा की गई हिन्दी-सेवा का विस्तार से वर्णन किया है।

हमारे देश में शोध-प्रबन्धों का उपयोग और उपादेयता प्रायः बुद्धिजीवियों अथवा गंभीर साहित्य के अध्येताओं तक ही सीमित रहती है। विषय की दुरूहता, तथ्यों की गहनता तथा शैली की जटिलता इन शोध-प्रबन्धों को जन-साहित्य की वृद्धि से परे की चीज़ बना देती है।

हमें हर्ष है कि यह शोध-प्रबन्ध इस कोटि का नहीं है। इसका विषय बड़ा ही सुबोध है, इसके तथ्यों का निरूपण बड़े सरल ढंग से किया गया है और इसकी लेखन-शैली इतनी सरस और आसान है कि मामूली पढ़े-लिखे पाठक भी इसे समझ सकते हैं, इससे लाभान्वित हो सकते हैं।

हिन्दी में अपने विषय का यह पहला प्रयास है। भारतीय नेताओं की राजनैतिक सेवाओं पर बहुत कुछ लिखा गया है, लेकिन राष्ट्रीय चेतना को प्रबुद्ध करनेवाली राष्ट्रभारती को विकसित तथा परिपुष्ट करने में उन्होंने जो योगदान दिया, उसका विधिवत् मूल्यांकन अभी तक किसी भी लेखक ने नहीं किया। हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में हिन्दी-साहित्य की धाराओं तथा साहित्यकारों का परिचय मिलता है, लेकिन उनसे यह पता नहीं चलता कि हिन्दी को समूचे भारत की भाषा बनाने में राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक नेताओं का भी प्रमुख योग रहा है। पुस्तक के प्राक्कथन में श्री संपूर्णानन्दजी ने ठीक ही लिखा है :

लेखिका : डॉ० ज्ञानवती दरबार

प्रकाशक : रंजन प्रकाशन, ७ टालस्टाय मार्ग, नई दिल्ली

मूल्य : १५ रुपये

"कोई भी भाषा हो, उसकी उन्नति उन लोगों पर निर्भर करती है जो उसको अपने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हैं......वाङ्मय का मुख्य स्रोत जन-जीवन है। जन-जीवन की प्रतिच्छाया प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य पर पड़ती है और फिर साहित्य उसको प्रभावित करता है।"

इस प्रकार किसी भी भाषा और उसके विकास के सही मूल्यांकन के लिए उन व्यक्तियों की सेवाओं का दिग्दर्शन आवश्यक हो जाता है, जिनका क्षेत्र भले ही साहित्य न हो, पर जिन्होंने लोक-जीवन को प्रभावित किया था। इस पुस्तक में ऐसे अनेक मूर्धन्य व्यक्तियों की सेवाओं का उल्लेख किया गया है, जिन्होंने अपने भावों और विचारों को शक्तिशाली ढंग से प्रसारित करने के लिए हिन्दी को माध्यम बनाया और उसे उत्तरोत्तर समृद्ध बनाने में सहायक हुए।

भारत की जनवाणी के रूप में हिन्दी के विकास की दृष्टि से सन् १८५७ से लगाकर अब तक के वर्षों का समय निस्सन्देह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सच है कि हमारे देश में कई भाषाएँ हैं और उनमें से कुछ का साहित्य बहुत ही भरा-पूरा है। लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि भारत के जननायकों तथा लोकसेवकों ने वैयक्तिक एवं सामूहिक रूप में मुख्यत: हिन्दी को ही बल प्रदान किया। इसके कारण क्या थे, इसकी चर्चा लेखिका ने विस्तार से की है। राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करने के लिए हिन्दी की कई बार परीक्षा हुई, लेकिन वह हर बार खरी उतरी। लेखिका का कहना सही है कि "यद्यपि आर्य-परिवार की सभी भाषाओं की उत्पत्ति प्राचीन प्राकृतों और अपभ्रंश से हुई है, तथापि हिन्दी ही वह भाषा है जो समस्त देश में समय-समय पर प्रयुक्त होने वाली बोलियों की एकमात्र उत्तराधिकारिणी है। प्राचीन और मध्यकालीन उपलब्ध साहित्यिक सामग्री इस तथ्य का प्रमाण है और हिन्दी को राष्ट्र-भाषा की पदवी दिलाने का सुदृढ़ आधार है।"

हिन्दी की इस क्षमता के कारण ही "महत्त्वाकांक्षी नेताओं ने उसे सार्वदेशिक भाषा के रूप में अपनाने की उदारता तथा व्यावहारिकता दिखाई" और उसके क्षेत्र को विस्तृत किया।

हिन्दी का यह सार्वजनिक पक्ष उसके सर्वतोमुखी विकास के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इस पुस्तक में यही बात सप्रमाण प्रतिपादित की गयी है।

पुस्तक में केवल भारतीय नेताओं की हिन्दी सेवा की जानकारी नहीं दी गई है, बल्कि उसके प्रारंभिक अध्यायों में लेखिका ने जन-जीवन, जन-जागरण तथा धार्मिक एवं सामाजिक आंदोलनों पर प्रकाश डालकर वह पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है,

जो विभिन्न क्षेत्रों के नेताओं द्वारा हिन्दी को अपनाने और पोषण करने में कारण बनी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि हमारे देश में राष्ट्रीयता के उदय और विकास के साथ हिन्दी के विकास का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। विदेशी सत्ता से मुक्त होने के लिए देश में तीव्र भावना उत्पन्न हुई। उसने अपनी धारा को जैसे कई भारतीय भाषाओं के द्वारा प्रवाहित किया, लेकिन मुख्य रूप से उसका स्वर हिन्दी के द्वारा ही मुखरित हुआ और इस तरह राष्ट्रीयता और भाषा एक-दूसरे से अटूट रूप से जुड़ गईं।

पूरी पुस्तक २१ अध्यायों में विभक्त है। पहले तीन अध्यायों में जन-जीवन, जन-जागरण तथा धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलनों की चर्चा हिन्दी की पृष्ठभूमि में की गयी है। चौथे-पाँचवें अध्यायों में आर्यसमाज और उसके नेताओं की हिन्दी-सेवा का उल्लेख किया गया है। छठे अध्याय में कुछ समाज-सुधारक नेता-साहित्यकारों को लिया गया है। सातवाँ अध्याय राष्ट्रीय चेतना से सम्बन्धित है। बाद के नौ अध्यायों में लोकमान्य तिलक, महामना मालवीय, महात्मा गांधी, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, पं जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्र देव, डॉ० सम्पूर्णानन्द तथा आचार्य विनोवा भावे द्वारा हिन्दी के संवर्द्धन में योगदान पर पृथक्-पृथक् अध्यायों में विचार किया गया है। तत्पश्चात् चार अध्यायों में नेता-साहित्यकारों, पत्रकार-महारथियों, अहिन्दीभाषी नेताओं तथा हिन्दी-सेवी संस्थाओं के कार्यों का लेखा-जोखा दिया गया है। अंतिम अध्याय अर्थात् उपसंहार में लेखिका ने पूरी पुस्तक का सार दे दिया है।

भारतीय नेताओं की हिन्दी-सेवा भारत की स्वाधीनता के लिए की गई राजनैतिक साधना से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। हिन्दी की सेवा के द्वारा महात्मा गांधी, महामना मालवीयजी, राजर्षि टंडनजी प्रभृति विभूतियों ने देश की बुनियाद को पक्का किया। राजर्षि टंडनजी ने ठीक ही कहा था : 'बिना राष्ट्रभाषा के राष्ट्र गूँगा है।" वस्तुतः इन तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं के लिए राष्ट्रभाषा की सेवा आज़ादी की लड़ाई का ही एक अंग थी। बिना अपनी भाषा के देश की स्वाधीनता किस प्रकार परिपूर्ण हो सकती थी ?

लेखिका ने इन सब महापुरुषों तथा राष्ट्रसेवियों की हिन्दी-सेवा का समुचित रीति से उल्लेख किया है। उनमें से बहुतों की सेवा सर्वविदित है, लेकिन एक ही स्थल पर उस सारी सामग्री को जुटा देना कम महत्त्व की बात नहीं।

हिन्दी के विकास की सौ वर्षों की कहानी इतनी लम्बी है कि ४८० पृष्ठ की पुस्तक में उसे पूरे विस्तार से कहना बड़ा कठिन है। फिर भी लेखिका ने सारे तथ्यों का समावेश करने का प्रयत्न किया है। कुछ विवरण वैसे संक्षिप्त हो गए हैं, कुछ

छूट गये हैं, पर इसमें संदेह नहीं कि कुल मिलाकर लेखिका ने पुस्तक के तैयार करने में बड़ा परिश्रम किया है और सामग्री के चुनाव तथा वर्गीकरण में पर्याप्त सूझ-बूझ का परिचय दिया है।

हिन्दी-सेवा के इस क्रम में लेखिका ने केवल नेताओं को ही लिया है, लेकिन हम बहुत से ऐसे सामान्य कार्यकर्ताओं को जानते हैं, जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में हिन्दी के प्रसार के लिए उल्लेखनीय कार्य किया था। जिस प्रकार सेतुबंध के निर्माण में गिलहरी ने अपनी शक्ति के अनुसार बालू का एक कण डालकर योग दिया था, उसी प्रकार न जाने कितने राष्ट्रसेवियों ने हिन्दी के महायज्ञ को पूर्ण करने में अपना हविर्भाग दिया था। नेताओं की संख्या जहाँ इनी-गिनी है, वहाँ ऐसे सेवकों की गिनती करना असंभव है। पर इन मूक साधकों को वाणी प्रदान करना अत्यन्त परिश्रम-साध्य है और उसके लिये पर्याप्त समय भी अपेक्षित है। पर उनकी सेवाओं के उल्लेख के बिना कोई भी ग्रंथ अपूर्ण ही रहेगा।

एक बात और है। 'भारतीय नेताओं' में लेखिका ने मुख्य रूप से उन नेताओं को लिया है, जिन्होंने राजनैतिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने कुछ ऐसे पत्रकारों तथा साहित्यकारों को भी स्थान दिया है, जिनकी आत्मा साहित्य में थी, किन्तु शरीर राजनीति में था, और यह पुस्तक की मर्यादा को देखते हुए स्वाभाविक ही है, लेकिन हिन्दी-सेवा के साथ कुछ साहित्यकारों के नाम ऐसे जुड़े हुए हैं कि उनका उल्लेख अनिवार्य है। हिन्दी के भंडार को जिन्होंने श्रीसम्पन्न किया अथवा हिन्दी के परिष्कार में जिन्होंने ठोस सहायता दी, उन लब्धप्रतिष्ठ साहित्य-महारथियों पर एक या दो अध्याय इस पुस्तक में अवश्य रहने चाहिएँ थे। उससे पुस्तक की उपयोगिता और बढ़ जाती।

पुस्तक की छपाई साफ़-सुथरी है और आवरण सुरुचिपूर्ण है। कागज़ भी बढ़िया लगाया गया है।

राष्ट्र और राष्ट्रभाषा के प्रेमी पाठकों के लिए यह कृति निश्चय ही एक संदर्भ ग्रंथ का काम देगी। इसका सभी क्षेत्रों में स्वागत और अभिनन्दन होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

———

सम्पादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

भारतीय साहित्य के इतिहास में विगत वर्ष (१९६१) का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इस वर्ष देश-विदेश में सभी जगह विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शत-वार्षिकी का आयोजन व्यापक स्तर पर किया गया। यह पहला अवसर था कि साहित्य-जगत् के किसी प्रतिनिधि की स्मृति में ऐसा विराट् आयोजन किया गया हो और शासनिक स्तर पर किया गया हो। आधुनिक युग के भारतीय साहित्य की अनेक विधाएँ महाकवि की प्रतिभा के ऋणी हैं। प्रायः सभी भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों ने अपने साहित्य के अनेकमुखी विकास में रवीन्द्र की नवनवोन्मेषशा-लिनी प्रतिभा से प्रेरणा और बल प्राप्त किया और उनके विकास का मार्ग प्रशस्त किया। रवीन्द्र के इस अखिल भारतीय समृद्ध साहित्यिक व्यक्तित्व के अनुरूप प्रायः सभी भाषाओं के साहित्यों ने इस पुण्य अवसर पर विविध रूपों में उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। उनकी विविध कृतियों के अनुवाद हुए, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व और साहित्यिक सिद्धियों के मूल्यांकन हुए, विविध भाषाओं के साहित्यों पर उनके

प्रस्तुत सर्वेक्षण की सामग्री का संचय करने में सम्पादक को निम्नलिखित विद्वानों से सहायता मिली है

तमिल—श्री वी० आर महालिंगम

तेलुगु—श्रीमती के० कनकम्मा

कन्नड़—श्री एम० वी० सीतारामैया

मलयालम—श्री अनुजन

मराठी—डा० महेश्वर करन्दीकर

गुजराती—डा० चन्द्रकान्त मेहता

उड़िया—श्री जानकीवल्लभ मोहन्ती

बँगला—श्री इन्द्रनाथ चौधरी

उर्दू—डा० क़मर रईस

[सम्पादक इन सबके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करता है]

प्रभाव का आकलन किया गया। इनका श्रेय राजकीय, अर्धराजकीय तथा राजकीयेतर संस्थाओं सभी के सम्मिलित प्रयास को है।

तमिल में रवि बाबू की कई, नाट्य और काव्य-कृतियों के अनुवाद प्रकाशित हुए। उनके जीवन और कृतित्व के विश्लेषणात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किये गए। इस संदर्भ में 'अनैत्तुलग मनितनइ नोक्कि' (विश्व-मानवता की ओर) तथा 'इलक्किय चेल्वार टैगोर' का विशेष रूप से उल्लेख किया जाना चाहिए। प्रथम कृति के अनुवादक श्री ए० एस० ज्ञानसम्बन्दम् हैं और दूसरी मास्ति वेंकटेश अय्यंगार की कन्नड़ कृति से तमिल में अनूदित हुई है। गुजराती में भी गुरुदेव की कई कृतियों के अनुवाद प्रकट हुए। काका कालेलकर के 'उपस्थान अने तर्पण', निरंजन भगत के गुरुदेव के चार नाटकों के अनुवाद और डा० चन्द्रकान्त मेहता द्वारा उनकी कृतियों पर आधारित चार रेडियो-रूपान्तर विशेष उल्लेखनीय हैं। मराठी में उनके 'बलिदान' का स्वच्छन्द अनुवाद हुआ। तेलुगु में तो शायद ही कोई ऐसी प्रकाशन-संस्था होगी जिस ने रवि ठाकुर पर एकाध ग्रंथ प्रकाशित न किया हो। अन्य भाषाओं में भी इस प्रकार के प्रयत्न हुए। बँगला में तो इस दृष्टि से रवि बाबू-विषयक कृतियों की और उनकी कृतियों के अनुवादों की धूम ही रही। रवीन्द्र-विषयक इतना प्रभूत साहित्य इस एक वर्ष में बँगला में प्रकाशित हुआ है कि लगता है मानो सम्पूर्ण वर्ष रवीन्द्र शताब्दी के ही अनुरागमय वातावरण से अनुरंजित रहा हो। इस श्रेणी की कृतियों में श्री रवीन्द्र चट्टोपाध्याय द्वारा सम्पादित 'काल पुरुष' का जिसमें विश्वकवि के प्रति ८१ कवियों की काव्यमयी श्रद्धांजलियों का संकलन है; 'विश्वभारती पत्रिका रवीन्द्र शतवर्षपूर्ति-संस्करण' तथा 'शतवार्षिकी जयन्ती उत्सर्ग' का, हीरेन्द्रनाथ घोषाल के 'रवीन्द्र साहित्येर अभिदान' का, प्रबोध-चन्द्र सेन के 'रवीन्द्रनाथेर शिक्षा-चिंता' का, मैत्रेयीदेवी के 'विश्वसभाय रवीन्द्रनाथ' का—सजनीकान्त घोष के 'रवीन्द्रनाथ : जीवन ओ साहित्य' का, पुलिनविहारी सेन के 'रवीन्द्रायण' का तथा डा० शशिभूषण दासगुप्त के 'उपनिषदेर पटभूमिकाय रवीन्द्र-मानस' का विशेष रूप से नामोल्लेख किया जा सकता है। भारत की विविध भाषाओं में इस प्रकार के एकरूप प्रयत्न वस्तुतः उनके साहित्यों के प्रेरणा-स्रोतों के एकत्व का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

रवीन्द्र के प्रति ये समृद्ध भावांजलियाँ आयोजनाबद्ध प्रयत्नों का फल हैं। इसी प्रकार के आयोजनाबद्ध प्रयत्नों द्वारा भारतीय वाङ्मय के अन्य पक्षों की समृद्धि भी इस वर्ष में हुई। वस्तुतः निर्माण के युग में वाङ्मय की प्रगति इसी प्रकार के प्रयत्नों द्वारा अधिक हुआ करती है। विकास-चक्र वेग धारण करता हुआ कभी निर्माण की दिशा में बढ़ता है, कभी सृजन की। हमारे यहाँ स्वातंत्र्योत्तर युग में प्रायः निर्माण की दिशा में ही उसकी गति अधिक रही है। भारतीय भाषाओं ने अपनी

अनेकमुखी विकास-प्रक्रिया में विगत दस वर्ष में जो कुछ उपलब्धियाँ की हैं, उनके सम्मुख कदाचित् पूरी अर्धशताब्दी की सिद्धि भी हेय है।

निर्माण के ये प्रयत्न अनेक धरातलों पर प्रतिफलित हुए हैं। कोश आदि की रचना द्वारा भाषाओं को निकटतर लाने के प्रयत्न किए गए; संस्कृति, दर्शन तथा विज्ञान आदि विषयों पर उच्चस्तरीय ग्रन्थों का प्रणयन किया गया तथा शैक्षिक क्षेत्र में विविध विषयों के ग्रंथों के अभाव की पूर्ति की चेष्टाएँ की गईं ताकि विश्व-विद्यालयों में भारतीय भाषाओं को उनके गौरव के अनुरूप स्थान मिल सके।

तमिल विकास-परिषद् ने आलोच्य वर्ष में 'तमिल विश्वकोश' का आठवाँ खंड प्रकाशित किया। कोश-निर्माण के क्षेत्र में 'रूसी-तमिल शब्दावली' भी इस वर्ष की एक महत्त्वपूर्ण सिद्धि है। इसी वर्ष मद्रास सरकार ने शैक्षिक क्षेत्र में एक बहुत बड़ा क़दम उठाया—कॉलिजों में (कला-विषयों में) शिक्षा-माध्यम के रूप में तमिल का आरम्भ। माध्यम-परिवर्तन के इस प्रयोग को सफल बनाने के लिए 'पाठ्य-ग्रंथ समिति' ने विभिन्न विषयों की तीस से अधिक पुस्तकें प्रकाशित कीं। तमिल के दो मूर्धन्य मनीषियों के सम्मान में अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित किये गये। डा० आर० पी० सेतुपिल्लै के सम्मान में जो ग्रंथ प्रकाशित हुआ उसमें जहाँ एक ओर उक्त आचार्य की विश्वविद्यालय-सेवाओं तथा उनके व्यक्तित्व पर प्रशस्तिपरक एवं स्नेह-परिचायक लेख हैं वहीं तमिल भाषा एवं साहित्य के विभिन्न पक्षों पर कुछ अत्यन्त गवेषणापूर्ण एवं उपयोगी लेख भी संगृहीत हैं। दूसरा ग्रंथ प्रो० टी० जी० मीनाक्षी-सुन्दरम् की षष्ठिपूर्ति के अवसर पर प्रकाशित किया गया है। पूर्वोक्त ग्रंथ की भाँति इसमें भी जहाँ एक ओर आचार्य मीनाक्षीसुन्दरम् के जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्यांकन है, वहीं दूसरी ओर तमिल संस्कृति, तमिल भाषा एवं साहित्य के इतिहास तथा भाषाशास्त्र आदि से सम्बद्ध कई बहुमूल्य निबन्ध भी संकलित हैं। इनके अतिरिक्त इस वर्ष के विशिष्ट प्रकाशनों में प्रो० टी० वी सदाशिव पन्डारत्तार, प्रो० के अप्पादुरै (तेन्नाट्टुप्पम्बु) की कृतियों का नामोल्लेख किया जा सकता है। **'वरलाट्टुक्कु मुरपट्ट वडक्कुमतेरकुम'** (दक्षिण और उत्तर में प्रागैतिहासिक समाज), **'मदुरै नायकर वरलारु'** (मदुरै के नायकों का इतिहास), **वेट्टत्तिरुनगर** आदि महत्त्व-पूर्ण इतिहास-ग्रन्थ हैं जिनसे विवेचित युगों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के भी दर्शन न्यूनाधिक मात्रा में होते हैं। कन्नड़ में, महान् उद्यमी साहित्यकार शिवराम कारन्त ने इस वर्ष विज्ञान-विश्वकोश का दूसरा खंड प्रकाशित किया। प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी इस खंड का नाम है: 'जीवजीवन'। श्री सदाशिव शिवाचारी को समर्पित और उनके सम्मानार्थ प्रकाशित 'विभूति' शीर्षक ग्रन्थ भाषा एवं साहित्य-विषयक उच्चकोटि के निबन्धों के कारण एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। इनके अतिरिक्त डा० एम० सिद्ध-लिंगैया का 'शिक्षण-तत्त्वदर्शन', देवराज शंकर का **'मिनिंद्रि मानवनडगे'** (मीन से

मानव की ओर), क० रा० कृ० तथा जे० एम० परमशिवैया द्वारा प्रकाशित 'जनपद-गीता का संग्रह' आदि का भी नामोल्लेख किया जा सकता है। मलयालम में श्री मात्यू एम० कुषिवेलि अकेले ही विश्वकोश-निर्माण के विराट् कार्य में संलग्न हैं। इस वर्ष उन्होंने इसका तीसरा खंड प्रकाशित कर दिया। मराठी में प्रो० बालकृष्ण दाभाड़े की 'कलासाधना' का—जिसमें उन्होंने प्राचीन भारतीय वास्तुकला तथा मूर्तिकला पर कई लेख संग्रहीत किये हैं—तथा श्रीमती रमाबाई जोशी के 'मराठी-तमिल कोश' का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

भारत की अनेक समृद्ध भाषाओं के वार्षिक विकास एवं प्रगति का इतिवृत्त कुछ पंक्तियों में नहीं समा सकता। अतः ऊपर की पंक्तियों में जो कुछ कहा गया है, उसका आशय प्रगति की कुछ दिशाओं का बोध करा देना भर है। कुछ प्रतिनिधि कृतियों का नामोल्लेख भी कर दिया गया है किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि इनके अलावा और कुछ भी ऐसा नहीं जिसका नामोल्लेख किया जा सके। यह कहना कि इस संक्षिप्त सर्वेक्षण में उस सबका उल्लेख हो गया है जो वास्तव में उल्लेखनीय है, धृष्टता होगी। अभी हमने केवल एक क्षेत्र का सर्वेक्षण किया है—आयोजनाबद्ध निर्माण के क्षेत्र का। अब हम सृजनात्मक साहित्य के क्षेत्र का अवलोकन करेंगे—आत्माभिव्यक्ति-साहित्य के क्षेत्र का।

आत्माभिव्यक्ति के साहित्य में सर्वोच्च स्थान कविता का है। आज हम प्रायः विचारकों के मुख से यही सुनते हैं कि वर्तमान परिस्थितियाँ और वातावरण कविता के स्फुरण के लिए अनुकूल नहीं और यह कि आधुनिक जीवन के तुमुल कोलाहल में व्यक्ति के प्राणों में कविता का स्रोत निरन्तर सूखता चला जा रहा है। किन्तु प्रत्येक भाषा के साहित्य में जितनी प्रगति प्रति वर्ष कविता की हो रही है वह इस बात का प्रमाण है कि वस्तुतः किसी प्रकार का गतिरोध नहीं है।

कविता

तमिल में 'सेन्तमिलच्चोलई' श्री सी० आदिमूलप्पेरुमाळ की कविताओं का संग्रह है जिनका सम्बन्ध प्रकृति, समाज-जीवन, आदर्श गृहस्थ आदि से है। 'इक़बाल इतयम्' इक़बाल की कविताओं का पद्यानुवाद है—अनुवादकर्ता हैं श्री अब्दुल क़ादिर लेब्बाइ। बाल-काव्य का इस वर्ष तमिल में काफ़ी जोर रहा है। 'मलरूम उळ्ळम' (अळ० वल्लियप्पा), 'पाडुम पापा' (तनिगै-उलगनाथन), 'नाडोडिपाडलहल' आदि सब बाल-काव्य के संग्रह हैं। मलयालम में इस वर्ष सृजनात्मक साहित्य में कविता की प्रचुरता रही। कविता के क्षेत्र में इस वर्ष एक नवजागरण के संकेत मिलते हैं। मलयालम के महाकवि शंकर कुरुप की षष्ठिपूर्ति के अवसर पर 'पाथेयम्' नाम से उनकी सर्वश्रेष्ठ कविताओं का संग्रह प्रकाशित किया गया। श्रीमती सुगतकुमारी का प्रथम काव्य-संग्रह इस वर्ष प्रकाशित हुआ—'मुत्तुच्चिप्पिकळ'। वे मलयालम काव्य-गगन की देदीप्यमान नक्षत्र हैं किन्तु अभी तक उनके प्रयास केवल

पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठों तक सीमित थे। प्रस्तुत संग्रह से उन्हें स्थायित्व मिला और उनका स्थान कविता-क्षेत्र में सुनिश्चित हो गया। श्री अनुजन की इस वर्ष की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं—'अक्तेयन' और 'नगर शिल्पिकल'। 'केरल विश्वविद्यालय पाण्डुलिपि पुस्तकालय' ने एजुत्तच्चन की 'अध्यात्मरामायण' का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया है। वयोवृद्ध कवि वैलोपिल्लि तथा कुंजिरामन नैयर भी सृजनरत रहे। वैलोपिल्लि की कृति 'कुरुविकल' और कुंजिरामन की 'सौन्दर्यदेवता' आलोच्य वर्ष की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। तेलुगु में भी पुरानी और नई दोनों ही शैलियों की कविताएँ लिखी गई और प्रकाशित हुई। एक महत्त्वपूर्ण कार्य प्रो० पिंगलि लक्ष्मी-कान्तम् का है—१५वीं शती की कृति 'पलनाटिवीरचरित्रमु' का द्विपद शैली में सम्पादन। इसमें लेखक और उसके युग, कथागत देश-काल, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों का विस्तृत विवेचन करते हुए प्रायः १५० पृष्ठ की जो भूमिका दी गई है, वह सम्पादक की विद्वत्ता का प्रमाण है और उक्त कृति के अध्ययन में सहायक है। कन्नड़ में सुप्रसिद्ध कवि बेन्द्रे के 'सुगिल-मल्लिगे,' विनायक के 'ऊर्णनाभ,' नरसिंह स्वामी के 'मनेयिन्द मनेगे' आदि पुष्प कविता-देवी के शृंगार हैं। सिद्धणामसळि का 'दीपावतार' और के० वे० राजगोपाल का प्रथम कविता-संग्रह 'अंजूर' भी उल्लेख-नीय काव्य-कृतियाँ हैं। 'अंजूर' की कविताओं पर नवीन शैली की छाप अधिक है। सिद्धणामसळि की कविताओं में दोनों का सुखद समन्वय उपलब्ध होता है। इस वर्ष श्री सी० वी० के० (तारासख), श्री राजशेखर (रुद्रश्री), श्रीसिद्धलिंगैया (रसगंगा), श्री सण्ण गुंडैया (अभीष्म), श्री गोविन्दराज (रसवन्ती) और सुमित्रा (काव्य-कावेरी) आदि का जो कृतित्व पाठक के सम्मुख आया है, वह उनके उज्ज्वल भविष्य का साक्षी है। मराठी में कविता के क्षेत्र में प्रभूत सृजन हुआ। मंगेश पाडगाँवकर की 'शर्मिष्ठा,' महाराष्ट्र-कवि यशवन्त की 'मुठे लोकमाते,' बा० भ० बोरकर की 'चित्रवीणा,' वसन्त वैद्य की 'साद,' रे० लु० जोशी की 'रावसाहेबाँची कविता,' ग० ह० पाटील की 'लिंबोळ्या,' बाबा मोहर द्वारा सम्पादित कृति 'घागर' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'शर्मिष्ठा' चार पद्य-नाटकों का संकलन है जिस में से सर्वप्रथम कृति सुप्रसिद्ध पौराणिक कथा पर आधृत सुन्दर रचना है। इस में लेखक ने शर्मिष्ठा का चित्रण बड़े कलात्मक ढंग से किया है जो उनकी समृद्ध कल्पना का प्रमाण है। 'चित्र-वीणा' और 'साद' पिछले अनेक वर्षों में रचे गये गीतों के संग्रह हैं। रे० लु० जोशी पुरानी परम्परा के उन्नायक हैं जिन्होंने सत्तर वर्ष की आयु में काव्य-रचना प्रारम्भ की। 'अभंग' में जब वे अपनी रचना करते हैं तो हठात् महाकवि सन्त तुकाराम का स्मरण करा देते हैं। 'लिम्बोळ्या' की पृष्ठभूमि पूर्णतः ग्रामीण है। उसके प्राकृतिक और पारिवारिक चित्रणों में एक ताज़गी है। गुजराती में श्री सुन्दर जी बेटाइ का काव्य-संग्रह 'तुलसीदल' इस वर्ष की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। श्री बेटाइ गाँधीवादी सांस्कृतिक परम्परा के पोषक हैं। उनकी भावप्रवणता पाठक के मन को अनायास बाँध लेती है। श्रीप्रियकान्त मणियार का 'अशब्दरात्रि' और श्री पिनाकिन ठाकोर

का 'आलाप' नयी कविता के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है। दोनों ही कृतियों की कविताओं में काव्य-विषय की अपेक्षा काव्य-रीति के प्रति अधिक आग्रह परिलक्षित होता है—जो सौन्दर्यलक्षी नयी गुजराती कविता का एक विशेष लक्षण है। बँगला में, जयश्री चौधरी की 'निशिगन्धा,' असितकुमार भट्टाचार्य का 'वातावरण', सुनील कुमार चट्टोपाध्याय की 'एकटि निर्जन तारा', माहमूद खातून सिद्दिक की 'मन ओ मृत्तिका', आशिस सान्याल की 'शेषअन्धकार, प्रथमआलो', समीर रायचौधरी की 'झर्णार पाशे शुभे आछि,' बासुदेवराय की 'ए मुहूर्त नतून' आदि इस वर्ष की उल्लेखनीय काव्य-कृतियाँ हैं। इस वर्ष की काव्य-कृतियों में एक तत्त्व विशेष रूप से द्रष्टव्य है। कविता का मूल स्वर सामान्यतः एक आशामय भविष्य की प्रेरणा से समन्वित रहा है। कवि जीवन के सघन अँधेरे में भी भावी आलोक की आकांक्षा और विश्वास लेकर चलता है। किन्तु नीरेन्द्रनाथ चक्रवर्ती का 'अन्धकार बाटान्दा' उक्त काव्य-कृतियों से भिन्न प्रकृति का है। इसमें विश्वास के बजाय विश्वासहीनता का स्वर मुखरित हुआ है। यह शायद आज के कवि की प्रकृति के अधिक अनुकूल है किन्तु बँगला में यह एक विसंवादी स्वर के रूप में ही दृष्टिगोचर होता है। उड़िया में चिन्तामणि वेहरा का कविता-संकलन उल्लेखनीय है। यदुनाथ दास महापात्र की 'सार्थक कविता', ब्रजनाथ रथ की 'मरुगुलाय', विभुदत्त मिश्र की 'उर्वशीर चिट्ठी' आदि कृतियाँ भी युगचेतना का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये प्रयोगवादी कृतियाँ हैं। राधामोहन गडनायक का 'सामुकार स्वप्न' आदिवासी जीवन से सम्बन्धित होने के कारण कुछ नवीनता लिये हुए है और एक प्रशंसनीय प्रयत्न कहा जा सकता है। उर्दू में तिलोकचन्द महरूम की 'कारवाने वतन', गुलाम रब्बानी ताबाँ की 'हदीसे दिल', अख़्तरुल ईमान की 'यादें', डा० खुर्शीदुल इस्लाम की 'रागेजाँ', राना जग्गी की 'गुले-राना' और मोहसिन ज़ैदी की 'शहरे दिल' आदि कृतियों का उल्लेख किया जा सकता है। काव्य-कृतियों के सम्बन्ध में सामान्यतः एक बात कही जा सकती है कि उनका स्तर यत्र-तत्र ऊँचा भले हो, किन्तु उनमें महान् एवं भव्य काव्य के लक्षण प्रायः नहीं मिलते। काव्य-विषयों में व्यापकता तो आई है परन्तु सामान्यतः भाव-गांभीर्य और मर्मस्पर्शिता का अभाव परिलक्षित हो रहा है।

नाटक

नाट्य-साहित्य की दृष्टि से यह वर्ष बहुत अधिक समृद्ध नहीं रहा। वस्तुतः अनेकांकी नाटकों की परम्परा कुछ क्षीणतर ही होती जा रही है। आज का नाटककार रंगमंच की आवश्यकताओं के प्रति पर्याप्त सजग है और ऐसे ही नाटक लिखने का प्रयत्न करता है जिनका दैनिक जीवन से सम्बन्ध हो और जिनमें अभिनेयता भी हो। एकांकी और रेडियो-नाटक की परम्परा अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध होती जा रही है। दक्षिण भारतीय भाषाओं में से तमिल अथवा तेलुगु में इस वर्ष कोई महत्त्वपूर्ण नाट्य-कृति प्रकाश में नहीं आई। तेलुगु में एम० पारथसारथि का 'तेलिसि चैसिन पापमु' एक उल्लेखनीय एकांकी है जिसमें परिस्थितियों में बँधे हुए

एक अपराधी युवक के अन्तर्द्वन्द्व का सफल चित्रण हुआ है । इन दोनों भाषाओं के देखते कन्नड़ में नाट्य-क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक उर्वर सिद्ध हुआ । पद्मश्री सी० के० वेंकटरामैया ने अपनी नव्य नाट्य-कृतियों में साहित्यिकता एवं अभिनेयता के समन्वय का स्तुत्य प्रयास किया है । उनकी इस नयी कृति का नाम है 'उभयभारती ।' उभय-भारती अद्वैत-सिद्धान्त के प्रवर्तक श्री शंकराचार्य और मण्डन मिश्र के शास्त्रार्थ में निर्णायिका थीं और मण्डन मिश्र की पत्नी होते हुए भी उन्होंने अपना निर्णय उनके विरुद्ध घोषित किया था । यही प्रस्तुत नाटक की कथा है । इसी प्रकार का एक नाटक श्री देवुडु का 'याज्ञवल्क्य' है । सुप्रसिद्ध नाटककार श्रीरंग ने इस वर्ष 'अमृत-रंग' नाम से तीन नाटकों का एक संग्रह और एक अन्य स्वतन्त्र नाटक 'हुट्टिदु होलें-यारु' भी प्रकाशित किया । कन्नड़ साहित्य में आलोच्य वर्ष में श्रीरंग का योगदान महत्त्वपूर्ण है । मलयालम में भी स्थिति कन्नड़ की भाँति पर्याप्त सन्तोषप्रद रही । एकांकी और अनेकांकी दोनों ही प्रकार के नाटकों की रचना हुई । जगति एन० के० आचारी के ऐतिहासिक नाटक 'बिम्बसारन्', डा० एस०के० नायर के 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरा-यण' के अनुवाद, के० टी० मुहम्मद के 'रात्रिवण्टिकल' का विशेष रूप से नामोल्लेख किया जा सकता है । गोपीनाथन नायर के हास्य-नाटकों और चेरूकाट के सामाजिक नाटकों का भी पर्याप्त स्वागत हुआ । मराठी में भी कई नाट्य-कृतियाँ प्रकाश में आईं किन्तु सामान्यतः प्रवृत्ति गम्भीर विषयों की अपेक्षा हास्य एवं प्रहसनात्मक नाटकों की ओर ही अधिक रही । वी० आर० चौगुले का 'सिंहासन' ऐतिहासिक नाटक है । 'एकादाच गावुदे' एक कलाकार के जीवन पर आधृत सामाजिक दुःखान्त नाटक है । 'आग जे घदाले भी नहीं' (शशिकला अलन्दकर) करुण परिस्थितियों की छाया में पनपने वाले एक अपराधी के प्रेम-व्यापार की कहानी है किन्तु इसका विषय इतना असम्भाव्य है कि मन पर उसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता । एम० एस० साठे का 'भुजंग' सामयिक विषय पर आधृत नाटक है जिसमें हैदराबाद में रज़ाकारों के अत्याचार से उत्पन्न विस्फोटक परिस्थिति को पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण किया गया है । रांगनेकर की 'हिमालयाची वायको' भी एक उल्लेखनीय कृति है । एकांकी भी मराठी में पर्याप्त संख्या में लिखे गये । नाटक के अभिनय से पूर्व परदे के पीछे जो परिस्थिति होती है उसे आधार बनाकर 'रंगपट', 'प्रेक्षकनी क्षमा करवी' तथा 'शीताच अंक' एकांकी लिखे गये । मामा वरेरकर का 'पुनः गोकुल' तथा पी० एल० देशपांडे का 'विट्टल तो आला-आला' ऐसे एकांकी हैं जिनमें मौलिकता कूट-कूट कर भरी है । मामा वरेरकर की उक्त कृति में कृष्ण का वृद्धावस्था में पुनः गोकुल में आगमन होता है तो वे पाते हैं कि बालक उनकी स्मृतियों को मात्र उपहास की वस्तु समझते हैं परन्तु उनके पुराने सखाओं की भक्ति यथापूर्व अक्षुण्ण है । 'पदन्यास' कई लेखकों के एकांकियों का संकलन है । 'चोरांची आलन्दी', 'स्त्री जाति तेवधि' तथा 'सुंथि-वाचुन खोकल गेला' में मानव-प्रकृति की विषमताओं और बुराइयों का उद्घाटन किया गया है । गुजराती में नाटक-क्षेत्र में इस वर्ष श्री शिवकुमार जोशी, श्रीमती

रमाबहन गाँधी, कु० धीरूबहन पटेल, श्री प्रागजी डोसा तथा श्री प्रबोध जोशी का योगदान उल्लेखनीय है। शिवकुमार जोशी के 'सुवर्ण रेखा' नाटक को गुजरात सरकार से प्रथम पारितोषिक प्राप्त हुआ। नारी के जीवन में पति और प्रेमी का द्वन्द्व इस नाटक का विषय है जिसका लेखक ने कुशल आलेखन किया है। श्रीमती गाँधी का 'प्रेक्षको मने माफ करे' हास्य-प्रधान नाटिकाओं का संग्रह है। इनमें नारी-स्वतन्त्रता की भावना मुखरित हुई है और पुरुष की अधिकार-भावना पर कटाक्ष किये गये हैं। धीरूबहन पटेल के 'विनाशने पंथे' में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाववश भारतीय समाज के विनाशोन्मुखी होने का करुण चित्र प्रस्तुत किया गया है। उनके एकांकी-संग्रह 'नमणी नागरवेल' में नारी-जीवन के अनेक प्रश्नों का समाहार है। प्रागजी के 'मननी माया' और 'जेवी छुं तेवी' में आधुनिक शिक्षित समाज पर उनके नीति-विरुद्ध आचरण के कारण कटाक्ष किये गये हैं। कन्नड़, मलयालम, मराठी, गुजराती के विरुद्ध बँगला में नाटक के क्षेत्र में सृजन की गति इस वर्ष मन्द ही रही। बँगला के नाटकों में मूलतः आधुनिक जीवन की विषमताओं के निरूपण का प्रयत्न परिलक्षित होता है। बँगला नाटक के क्षेत्र में अब भी परीक्षण और प्रयोग चल रहे हैं। इन प्रयोगों का एक उल्लेखनीय फल इस वर्ष प्रकाशित संग्रह है—'एइ दशकेर एकांक'। इस संग्रह में प्रस्तुत दशक के १५ समर्थ नाटककारों की कृतियों का संकलन है। इसके अतिरिक्त शम्भु मित्र और अमित मैत्र का 'कांचनरंग', धनंजय बैरागी का 'आर हबे ना देरी', कुमार घोष का 'यम', माधव राय का 'दशटा-पांचटा' (एकांकी), मन्मथ राय का 'सा ओतालविद्रोह' आदि, दिलीप राय का 'चार चोरव' (काव्य-नाट्य), दीपांशुदेव का 'मरास्रोत' तथा कानाइ बसु का 'गृहप्रवेश' आदि अन्य नवीन उल्लेख्य कृतियाँ हैं। उड़िया में कई नाटक संस्कृत, हिन्दी और अँग्रेजी से अनूदित हुए हैं। इनके अतिरिक्त नये पौराणिक एवं सामाजिक नाटकों की भी रचना हुई। नये लेखकों में बलराम मिश्र के 'शंखमुहुरि' नाटक का भव्य स्वागत हुआ है। उर्दू में डा० क़मर रईस ने नाटकों की एक चयनिका प्रकाशित की। इसी प्रकार डा० मोहम्मद हसन ने भी 'नये ड्रामे' नाम से एक नाटक-संग्रह का प्रकाशन किया है। यों उर्दू में और नाटक भी लिखे गये किन्तु उक्त दोनों कृतियाँ अपने व्यापक स्वरूप के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

उपन्यास-कहानी

आधुनिक युग में विश्व-साहित्य की कदाचित् सबसे लोकप्रिय विधा उपन्यास ही है। फलतः भारतीय साहित्यों में भी संख्या की दृष्टि से उपन्यास का स्थान सब से ऊपर ही होता है। विगत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी सभी भाषाओं में बहुत बड़ी संख्या में उपन्यास प्रकाशित हुए। तमिल में प्रायः एक सौ उपन्यास प्रकाशित हुए। इनमें से ऐतिहासिक उपन्यासों की संख्या सबसे अधिक रही। अखिलन का 'वैंगयिन मैंदन' चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय के जीवन पर आधारित उपन्यास है। ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में यही विशेष महत्त्व की कृति

है। सामाजिक उपन्यासों में डा० एम० वरदाराजन के 'मण्कुडिशै', नारणदुरैक्कणण के 'त्यागतपुम्बु,' और पारवती, श्री सोमु के ऐतेयुम् तायुम', कुमारी आर० चूडामणि के 'मनतुक्किनियवळ विशेषतः उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। तेलुगु में पुराणम् सूर्यप्रकाश राव के धारावाहिक रूप से प्रकाशित 'जीवन गंगा' नामक उपन्यास ने विशेष ख्याति अर्जित की। इसमें मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन, सामाजिक अनाचार, मिथ्या दम्भ आदि का बड़ा जीवन्त निरूपण हुआ है। कन्नड़ में इस वर्ष उपन्यास-साहित्य की समृद्धि में योग देने वालों में अ० न० कृष्णराव ('कागदद हुवु' तथा 'पंकज'), कृष्ण मूर्ति पुराणिक (कन्यामणि), बसवराज कट्टिमनि (द्रोही) तथा नरेन्द्र बाबू (सत्य-भामा) के नामों का उल्लेख किया जा सकता है। ना० कस्तूरी का 'रगनायकी' हास्यपुष्ट उपन्यास है किन्तु उत्कर्ष की दृष्टि से इस रचना में वे अपनी ही पूर्ववर्ती रचनाओं के स्तर तक भी नहीं पहुँच सके। मलयालम में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के प्रति विशेष आग्रह रहा। के० सुरेन्द्रन के 'माया', सरदार के० एम० पणिक्कर के 'उग्ररुपथं' तथा डा० एस० के० नायर के 'अय्यप्पन' का उपन्यास के सन्दर्भ में विशेषतः उल्लेख किया जा सकता है। मराठी में दिवेकर के 'उषास्वप्न', शान्ताराम पाटील के 'नजर', माधव कानिटकर के 'अधर्म' और 'कांचनगौरा' उपन्यासों का नाम लिया जा सकता है। इनमें भी प्रायः मनोवैज्ञानिक समस्याओं के समावेश का आग्रह स्पष्ट परि-लक्षित होता है। इनमें चित्रित प्रेम-समस्या में किसी विशेष गाम्भीर्य और मर्म-स्पर्शिता के दर्शन नहीं होते। गुजराती में यह वर्ष उपन्यास-साहित्य की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध रहा। ईश्वर पेटलीकर की 'युगनांएंधाण', चुनीलाल मडिया की 'कुंकुम अने आशका', गुणवंतराय आचार्य की 'अर्जुनदेव', मोहनलाल मेहता की 'पचाशपत्रो' तथा गाँधीयुग के सुप्रसिद्ध कवि झीणाभाई देसाई की 'अन्तरपट' एवं श्री सारंग बारोट की 'तन्वीश्यामा' इस वर्ष की अग्रगण्य औपन्यासिक कृतियाँ हैं। पेटलीकर की रचनाओं में आज के यंत्रयुग तथा स्वातंत्र्योत्तर जीवन की समस्याओं का गम्भीर विवेचन-निरूपण मिलता है। मडिया और आचार्य की कृतियाँ ऐतिहासिक विभूतियों स सम्बद्ध हैं। मेहता का उपन्यास 'पचाशपत्रो' रचना-शैली की दृष्टि से एक सर्वथा नया और सफल प्रयोग है। श्री देसाई की प्रथम औपन्यासिक कृति 'अन्तरपट' से ही उपन्यास-क्षेत्र में उनका स्थान सुनिश्चित हो गया है। बारोट की कृति में आधु-निक नारी की अस्थिरता, चंचलता एवं नीति-शिथिलता का निरूपण हुआ है। बँगला में प्रायः दो सौ उपन्यास प्रकाशित हुए। इनमें मनोज बसु की 'रूपमती', सुबोध घोष की 'नागलता', प्रबोधकुमार सान्याल की 'अग्निसाक्षी', बनफूल की 'तिनकाहिनी', 'हाटेबाजारे', 'कन्यापु', प्रेमेन्द्र मित्र की 'भावी काल', शरदेन्दु बन्द्योपाध्याय की 'रिमझिम', दीपक चौधरी की 'कीर्तिनाशा', गजेन्द्रकुमार मित्र की 'सुप्ति सागर' आदि उल्लेखनीय औपन्यासिक कृतियाँ हैं। अनेक नवीन लेखक भी उभर रहे हैं, जिनमें भविष्य की प्रतिश्रुति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। उनमें सुखमय गुप्त, अजित सरकार, वनशोभा रायचौधुरी, सुधांशुरंजन घोष तथा उषारंजन भट्टाचार्य के नाम

उल्लेख के योग्य हैं। उड़िया के अकादेमी पुरस्कार-विजेता गोपीनाथ महन्ती की 'लय-विलय' और 'अपहञ्च' इस वर्ष की उल्लेख्य कृतियाँ हैं। अन्य उपन्यासकारों में विभूति पट्टनायक, नरसिंह साहू, बलराम पट्टनायक के नाम लिये जा सकते हैं किन्तु इनकी कृतियों में वैसी गम्भीरता, मनोविश्लेषण, अन्तश्चेतना तथा सामाजिकता के दर्शन नहीं होते जो इन्हें प्रथम श्रेणा के लेखकों में प्रतिष्ठित कर सकें। उर्दू में कृशनचन्दर का 'दादर के बच्चे' तथा शौकत सिद्दीक़ी का 'खुदा की वस्ती' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

कहानी की स्थिति भारतीय साहित्य में कुछ अजीब-सी होती जा रही है। एक ओर तो स्थिति यह है कि शायद ही ऐसी कोई पत्र-पत्रिका होती हो जिसमें कई-कई कहानियाँ न रहती हों—यहाँ तक कि अनेक पत्रिकाएँ तो विशुद्ध कहानी-पत्रिकाएँ ही होती हैं—और दूसरी ओर कहानियों के प्रकाशित संग्रहों की संख्या नित्यप्रति घटती जा रही है। पाठक अनेक लेखकों की कहानियाँ पढ़ने को लालायित रहता है, एक ही लेख की अनेक कहानियाँ शायद अपनी एकरसता से उसे जल्दी उबा देती हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि कहानी की लोकप्रियता किसी तरह कम है या होती जा रही है। कहानी-पत्रिकाओं की नित्यप्रति बढ़ती हुई संख्या इस स्थापना को स्वतः खंडित कर देती है। दक्षिण भारतीय भाषाओं में से तमिल में जयकान्तम् के 'देवनबरुवारा', **जगसिराषियन** के '**नोंडिप्पिल्लैयार**', एस० **कनेसलिंगम** के '**अउरे इनम**' संग्रहों का नाम लिया जा सकता है। मलयालम में कहानीकार नई दिशाओं की ओर उन्मुख हैं। वह प्रेम, विद्रोह, सामाजिक विषमता आदि के सुपरिचित धरातलों से हटने के प्रयत्न में है। कोबूर का 'हर्गीपुराणम्.' पोनकुन्नम वर्कि का 'नैलौण मेघङ्ङल' तथा यशस्वी कहानीकार नन्दनार का 'निष्कलंकतयुटे आत्मावु' इस वर्ष के महत्त्वपूर्ण कहानी-संग्रह हैं। इस वर्ष कन्नड़ कहानीकारों में अश्वत्थ, त्रिवेणी और 'राघव' के नाम लिये जा सकते हैं जिनके संग्रहों 'जयन्ती', 'समस्येय मगू' तथा 'जीवन नाटक' का सामान्य पाठक और आलोचक दोनों ने ही अच्छा स्वागत किया है। 'दक्षिण भाषा पुस्तक संस्था' ने 'नवकथागुच्छ' नाम से सुप्रसिद्ध लेखकों की चुनी हुई सर्वश्रेष्ठ कहानियों को प्रकाशित कर कहानी-साहित्य की समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इन कहानियों में विषय और रचना-शैली का अपार वैविध्य दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार के दो संग्रह मराठी में प्रकाशित हुए हैं जिनमें विगत दो वर्षों की प्रतिनिधि कहानियाँ संगृहीत कर दी गई हैं। संकलनकर्ता श्री अरविन्द गोखले हैं जो स्वयं भी अच्छे कहानीकार हैं। गुजराती कहानी-साहित्य में इस वर्ष मडिया, कुमारी कुंदनिका, भगवतीचरण, श्रीमती धीरजबहन पारीख, सारंग बारोट तथा पद्माबहनं फडिया ने स्तुत्य योग दिया। बँगला में बनफूल के 'दूरबीन', शंकर के 'एक दुइ तीन', सैयद मुजतबाअली के 'श्रेष्ठ गल्प', विमल मित्र के 'पलातक' विशिष्ट एवं अन्यतम कहानी-संग्रह हैं। ये सभा जाने-माने कहानीकार हैं।

इनके अतिरिक्त अल्पज्ञात लेखकों के भी कई कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इन नये लेखकों में कहीं-कहीं मनोविश्लेपण के अति आग्रहवश वस्तु को धूमिल बना देने की अस्वस्थ प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। उड़िया में किशोरीचरण दास के 'भंगाखेलना' संग्रह को अपूर्व सफलता मिली। इनके अतिरिक्त महापात्र नीलमणि साहू, राजकिशोर राय, वामाचरण मिश्र, कृष्णप्रसाद मिश्र, कुलमणि महापात्र आदि इस वर्ष के अन्य कृती कहानीकार हैं।

समालोचना-निबन्ध

विगत १५ वर्ष में भारतीय साहित्य में सामान्यतः समालोचना और विचारात्मक निबन्धों की प्रगति बड़े वेग से हुई है। नया समालोचक और निबन्धकार पाश्चात्य विचारधारा से अधिक निकट सम्पर्क में आया है—कहीं प्रत्यक्षतः और कहीं अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से भी। इस प्रकार नये समालोचकों ने भारतीय काव्यशास्त्र के तत्त्वों के साथ पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन के सिद्धान्तों के सुविचारित रूप का समन्वय कर आलोचना-शास्त्र का उन्नयन किया है। किन्तु इसका एक दूसरा पक्ष भी है। अनेक समालोचक पाश्चात्य काव्य-चिन्ता के पिष्टपेषित तत्त्वों को भापा का नया जामा पहनाकर भी अपनी मौलिकता की धाक जमाने का प्रयत्न कर रहे हैं। विद्यार्थी के लिए इस प्रकार की रचनाओं में एक स्वाभाविक आकर्षण होता है क्योंकि उसके लिए शब्दों के जगड्वाल में यह पता लगा लेना कठिन होता है कि वास्तव में नवीन और मौलिक अंश कितना है। तमिल में **श्री एन० सुब्बुरेड्डियार** की **"कविलै अनुबवम्"** एक महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों की कसौटी पर कसकर प्राचीन तमिल काव्य के सौन्दर्य-दर्शन का प्रयत्न किया गया है। तेलगु में, **डा० दिवाकर्ल** वेंकटावधानी का शोध-प्रबन्ध 'आन्ध्र-वाङ्मय-आरम्भदशा', डा० वीरभद्रराव का शोध-प्रबन्ध जिसमें उन्होंने बड़ी कुशलता से १८३० के पश्चात् तेलुगु-साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव का मूल्यांकन-विवेचन किया है, तथा श्रीवात्सव का 'उषःकिरणालु' जिसमें १९वीं शती के तेलुगु साहित्य का विवेचन-विश्लेषण किया गया है—उल्लेख्य कृतियाँ हैं। श्री वज्झलचिन सीताराम शास्त्री की 'द्राविड भाषा-साम्यमुलु' भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें उन्होंने द्रविड़ भाषाओं के साम्य का दिग्दर्शन कराते हुए कॉल्डवेल की कुछ स्थापनाओं का खंडन किया है। मलयालम में प्रसिद्ध आलोचक जोसेफ मुण्डश्शेरि की 'राजराजण्टे माट्टोलि' इस वर्ष की अग्रगण्य कृति है। उक्त ग्रंथ में लेखक ने केरल-पाणिनि ए० आर० राजराजा के योगदान का मूल्यांकन करते हुए परवर्ती मलयालम साहित्य पर उनके प्रभाव का विवेचन प्रस्तुत किया है। सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं साहित्य-मनीषी स्वर्गीय श्री बालकृष्ण पिल्लै ने अनेक श्रेष्ठ मलयालम-ग्रंथों की जो विस्तृत भूमिकाएँ लिखी थीं, वे सब इस वर्ष संगृहीत एवं प्रकाशित की गईं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विशिष्ट कृतियाँ हैं—'भाषा चिन्तकल' (डा० के०

कुंचुण्णि राजा), 'यवन-साहित्य-चरित्रम्' (कृष्ण चैतन्य) तथा 'उल्लूरकविता' (कविता-समिति, तिरुवनन्तपुरं द्वारा प्रकाशित)। मराठी में आलोचनात्मक साहित्य की दृष्टि से यह वर्ष पर्याप्त समृद्ध रहा। इनमें प्रो० बी० एस० पण्डित की 'केशवसुत : पाँच चिन्तनिका', प्रो० एम० एम० जावडेकर की 'पराभवाची रहस्ये', श्री राजवाडे का 'संस्कृत भाषेचा कुलगडा,' श्री प्र०के० अत्रे की 'सन्त आणि साहित्य', डा० एस० डी० पेंडस की 'मराठी सन्तकाव्य आणि कर्मयोग', सेतुमाधवराव की 'मणिकांचन', प्रो० क्षीरसागर का 'साहित्याच्या दरबारांत' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गुजराती में डा० सुरेश जोशी का 'किंचिद्' एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। डा० जोशी की आलोचना पर अमरीका और यूरोप के अद्यतन आलोचना-सिद्धान्तों का गहरा प्रभाव है। डा० रमेशजानी कृत 'अखो', श्री मनसुखलाल झवेरी-कृत 'दयाराम', श्री अमृतलाल याज्ञिक-कृत 'नरसिंह' मध्यकालीन गुजराती कवियों की काव्य-धारा पर आलोचनात्मक ग्रंथ हैं जिनमें उक्त कवियों की काव्य-सम्पदा का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया गया है। श्री जयन्ती दलाल की 'काया लाकडांनी अने माया लोडांनी' नाट्य-विवेचन का ग्रंथ है। यह ग्रंथ श्री दलाल की विद्वत्ता और सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिचायक है। चुन्नीलाल मडिया का 'वार्ताविमर्श' कहानी के स्वरूप पर आलोचनात्मक ग्रंथ है। रामप्रसाद बख्शी का 'नाट्य रस' आलोचना-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण देन है। बँगला में साहित्यिक समालोचना के ग्रंथों की संख्या बहुत कम रही—यद्यपि जो आये हैं वे ऊँचे स्तर के ग्रंथ हैं। इनमें विशेष महत्त्व के ग्रंथ ये हैं : 'रामायणे राक्षस सभ्यता' (माखनलाल रायचौधुरी), चितरंजन देव और वासुदेव माइति का 'रवीन्द्र रचना कोष', मोहितलाल मजूमदार का 'श्रीकान्तेर शरत्चन्द्र', सुधीभूषण भट्टाचार्य का 'बाँगला छन्द', अरुणकुमार बन्द्योपाध्याय का 'कथा साहित्य जिज्ञासा', किरणचन्द्र दत्त का 'गिरिशचन्द्र', अरुण मुखोपाध्याय का 'ऊनविंश शताब्दीर बाँगला गीतिकाव्य', काजी अब्दुल ओदुद का 'शरतचन्द्र ओ तारपर'। उर्दू में भी शोध और समालोचना की कई महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रकाशित हुईं, यथा—मोहम्मद अत्तीक सिद्दीक़ी की 'गिलक्राइस्ट और उसका अहद,' डा० खुर्शीदुलईमान का 'ग़ालिब' (जिसमें ग़ालिब के आरम्भिक काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन है), डा० खलीक अंजुम की 'ग़ालिब की नादिर तहरीरें', डा० गोपीचंद नारंग की 'उर्दू मसनव्यिाँ', असलम परवेज की 'इंशा और उसका अहद' और डा० सईदा ज़फर का 'मास्टर रामचन्द्र'। निबन्ध-साहित्य के क्षेत्र में विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण ग्रंथों में ये उल्लेख्य हैं—कन्नड़ में 'नडदु बन्द दारि' (चला हुआ रास्ता) साहित्य को सन् १९६१ की सर्वोत्तम भेटों में से है जिसमें निबन्ध के विविध रूपों के दर्शन होते हैं, नाडीगेर के 'नगेवरट गळ' (हास्यरस के लेख), उड़िया में चितरंजन दास की 'जीवन विद्यालय' एक सार्थक रचना है। उर्दू में 'अन्देश-ए-शहर' (अहमद जमाल पाशा) तथा 'गर्दे कारवाँ' (कन्हैयालाल कपूर) हास्य-निबन्धों के संग्रह हैं। अन्य भाषाओं में निबन्ध-संग्रह के क्षेत्र में कोई विशेष उल्लेखनीय कृतियाँ प्रकाश में

नहीं आई । वस्तुतः निबन्ध-साहित्य का वह रूप जिसमें वैयक्तिक तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहता है और जो सृजनात्मक साहित्य की श्रेणी में आता है, प्रायः लुप्त ही होता जा रहा है और निबंध के क्षेत्र में प्रायः विचारात्मक निबन्धों का ही बोलबाला रहता है । प्रायः सभी भारतीय भाषाओं की यही सामान्य प्रवृत्ति है ।

इतर साहित्य

यात्रा-साहित्य, आत्मकथा, जीवनचरित, संस्कृति, इतिहास, भाषा-शास्त्र आदि के क्षेत्र में भी इस वर्ष उल्लेखनीय कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। तमिल में 'अक्करैंचीमै' मनोरम शैली में यूरोपीय यात्रा का विवरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न है जिसके लेखक हैं श्री एम० पी० सोमसुन्दरम् । 'मोषी इयाल' श्री आर० श्रीनिवासन का भाषाशास्त्र-विषयक ग्रंथ है और अपने ढंग का सर्वप्रथम ग्रन्थ है । 'मोषियिन वजियै' भाषा-विषयक निबन्धों का संकलन है जिसके लेखक हैं ना० पारथसारथि । 'तेनमोषिह्ल' (दक्षिण भाषाएँ) में प्रो० वेंकटराजुलु रेड्डियार ने दक्षिण भारतीय भाषाओं का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया है । बँगला में यात्रा-साहित्य के अन्तर्गत सुबोधकुमार चक्रवर्ती की 'रम्याणिवीक्ष्य' (छठा भाग) महाराष्ट्र की भ्रमण कहानी है । मलयालम में लोकप्रिय कवि स्वर्गीय चङ्ङम्पुषा के अपने वैयक्तिक जीवन तथा काव्य-क्षेत्र के अनुभवों के संस्मरण 'तुटिकुल तालुकता' नाम से प्रकाशित हुए हैं जिनके कारण साहित्य-क्षेत्र में तहलका मच गया । सुप्रसिद्ध कहानीकार पि० केशवदेव की आत्मकथा का दूसरा खंड—'एतिर्प्पु कल'—भी इस वर्ष प्रकाशित हुआ है । उनका सम्पूर्ण जीवन आचरण के प्रतिष्ठित नियमों और सिद्धान्तों के विरुद्ध विद्रोह का जीवन रहा है और अपने अनुभवों को उन्होंने बड़ी ईमानदारी से निवेदित कर दिया है । केरल-पाणिनि डा० आर० राजराज वर्मा का भी एक विशालकाय जीवनचरित प्रकाशित हुआ है । मराठी में जीवनचरित और आत्मकथाओं का काफ़ी जोर रहा । 'सरकार आणि सरदेसाई' (श्री रा० टिकेकर) में दो प्रसिद्ध इतिहासकारों के तुलनात्मक जीवनचरित प्रस्तुत किये गये हैं । जी० जी० धरप के 'हुतात्मा अनन्तलक्ष्मण कान्हरे' में सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी के जीवन का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया गया है जिसकी पृष्ठभूमि में भारतीय स्वतन्त्रता-आंदोलन की परिस्थितियाँ विद्यमान हैं । इनके अतिरिक्त 'महाराष्ट्राची तेजस्विनी : पण्डिता रमाबाई' (श्री डी० एन० तिलक) एक अन्य जीवनचरितात्मक ग्रन्थ है । आत्मकथाओं में नरहरि विष्णु गाडगिल की 'माझा येलकोट', प्रो० एम० डी० अलतेकर की 'उलटलेलीपानें', बाबूराव पेंढारकर का 'चित्र आणि चरित्र' तथा श्री वी० डी० घाटे की 'दिवस असेहोते' तथा यात्रा-साहित्य के अन्तर्गत काका कालेलकर की 'भारतदर्शन' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं ।

ऊपर के विवेचन-सर्वेक्षण में जिन कृतियों और कृतिकारों का परिगणन हुआ है, उनके अतिरिक्त कोई अन्य कृति अथवा कृतिकार उल्लेखनीय नहीं—यह दावा

करना दुस्साहसिकता मात्र होगी। प्रस्तुत सर्वेक्षण का प्रयत्न भारतीय साहित्य की सामान्य प्रगति का परिचय पाठक को कराना भर है, अतः यथाशक्ति प्रवृत्तियों का द्योतन करने वाली प्रतिनिधि कृतियों का उल्लेख कर देने का प्रयास किया गया है। किन्तु इस संक्षिप्त सर्वेक्षण में भारतीय साहित्य की सर्वांगीण गतिविधि का चित्र प्रस्तुत कर देना सम्भव नहीं। अज्ञान एवं अपर्याप्त सूचना के कारण सम्भव है अनेक समर्थ कृतिकारों का नामोल्लेख न हो सका हो : किन्तु अपूर्णता के स्तर से ऊपर उठ आने का दावा भी कौन कर सकता है!

१९६१ के प्रकाशित साहित्य का अवलोकन करने पर एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है—भारतीय साहित्य के पाठक की रुचि बहुमुखी होती जा रही है और उसी के अनुकूल भारतीय साहित्यकार अपनी सीमित परिधियों के पार जाने के लिये मानो व्यग्र है। वह अनेक दिशाओं में प्रयोग कर रहा है, नये-नये तत्त्वों को आत्मसात् कर अपने भावना क्षेत्र को विस्तारदे ने के लिए प्रयत्नशील है। भारतीय साहित्य वस्तुतः परम्परा एवं प्रयोग के दोनों चरणों के आधार पर प्रगति करने का इच्छुक है। १९६१ की उपलब्धियाँ भले ही ऐसी नहीं हों कि चमत्कृत करें किन्तु वे ऐसी भी नहीं कि किसी प्रकार की निराशा को जन्म दें। भारतीय साहित्य का पाठक भविष्य के प्रति आशावान् है।

'हिन्दी-वार्षिकी : १९६०' के सम्बन्ध में मर्मज्ञों की सम्मतियाँ :—

डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी, कलकत्ता :

'यह एक अत्यधिक सामयिक प्रकाशन है·········हिन्दी-साहित्य जो प्रगति कर रहा है उसके विषय में एक व्यक्ति को एक ही स्थान पर वह सब मिल जाता है जो उसे जानना चाहिए।

समग्रतः यह ऐसी पुस्तक है जिसे हिन्दी-साहित्य के प्रत्येक संग्रह में होना चाहिए········· ।'

बाबू गुलाबराय, आगरा :

'सन् १९६० की हिन्दी वार्षिकी······देखने को मिली। हिन्दी साहित्य की प्रगति में जिन विधाओं को लिया गया है उनका विवरण अच्छा है और हिन्दी के प्रति गर्व की भावना को बढ़ाता है।·········इस प्रयास के लिए डाक्टर नगेन्द्र तथा सम्पादक मण्डल बधाई के पात्र हैं।'

बाबू शिवपूजन सहाय, पटना :

'·········वह हिन्दी में बिलकुल नई चीज है। अंग्रेजी के सिवा किसी दूसरी भारतीय भाषा में भी ऐसी उपयोगी पुस्तक देखने में नहीं आई है।··········इस पुस्तक में आधुनिक युग के साहित्य-शोधकों को पर्याप्त प्रकाश मिलेगा। राष्ट्रभाषा के वार्षिक साहित्य का ऐसा सर्वेक्षण आधुनिक युग की एक बहुत बड़ी माँग की पूर्ति करता है।'

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, वाराणसी :

'··········इसके संग्रह की कल्पना अत्यन्त मौलिक है।·········वर्द्धमान हिन्दी साहित्य की महती धारा का अद्यावधिक परिचय प्राप्त करने के लिए यह ग्रंथ आवश्यक है।'

डॉ० सूर्यकान्त, वाराणसी, :

'यह हिन्दी-जगत के लिए अभिमान की वस्तु है।'

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव :

'हिन्दी-वार्षिकी : १९६०' देखकर लगा, ऐसा प्रकाशन इसके पहले क्यों नहीं हो सका ? सामान्य और विशिष्ट पाठक के लिए ऐसे ग्रंथ के बिना नित्य प्रवर्द्धमान हिन्दी-साहित्य का परिचय सम्भव नहीं रह गया है। सुयोग्य समीक्षकों एवं सहायकों की सहायता से सम्पन्न यह प्रकाशन अभिनन्दनीय है।

पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, काशी :

'.........वर्षभर का इसमें लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है वह श्लाघ्य और अभिनन्दनीय है।'

प्रकाशचन्द्र गुप्त, इलाहाबाद :

'ग्रंथ बहुत अच्छा लगा। एक ही वर्ष के साहित्य का मूल्यांकन बहुत कठिन कार्य है, किन्तु फिर भी साहस से यह कदम उठाया गया है।'

डॉ० सत्येन्द्र, आगरा :

'.........यह एक अत्यन्त उच्चकोटि की पुस्तक है। ....लेखकों ने जिस निर्भीकता से अपने अभिमत व्यक्त किये हैं, वे एक स्वस्थ वातावरण प्रस्तुत करेंगे और लेखकों और अनुसंधाताओं का मार्ग-दर्शन करेंगे।......'

समीक्षको एव समीक्षित पुस्तको के लेखको के पते —

श्री गिरिजाकुमार माथुर—के द्र निर्देशक, आकाशवाणी, जालन्धर।

डॉ० दशरथ ओझा—रीडर हि दी विभाग, स्नातकोत्तर (सा ध्य) शिक्षणसस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—६।

श्री महे द्र चतुर्वेदी—प्राध्यापक हि दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—६।

श्री च द्रगुप्त विद्यालकार—सम्पादक 'आजकल', प्रकाशन विभाग, पुराना सचिवालय, दिल्ली—६।

डॉ० विनयमोहन शर्मा—अध्यक्ष हि दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

श्री मगलनाथ सिह—सहायक निर्देशक, के द्रीय हि दी निदेशालय, दरियागज दिल्ली—७।

श्री रामधारीसिह 'दिनकर'—ससद सदस्य, केनिग लेन, नयी दिल्ली—१।

श्री भारतभूषण अग्रवाल—सहायक मत्री, साहित्य अकादमी, रवी द्रभवन, नयी दिल्ली—१।

डॉ० हरिवशराय 'बच्चन'—विशेषाधिकारी, हि दी अनुभाग, विदेश मत्रालय, नयी दिल्ली—१।

डॉ० शम्भुनाथ सिह—अध्यक्ष, हि दी विभाग, वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय-वाराणसी।

डॉ० जगदीश गुप्त—प्राध्यापक हि दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

श्री पोद्दार रामावतार 'अरुण'—समस्तीपुर, बिहार।

श्री सत्यभूषण 'योगी'—हिन्दी-विभाग, सेण्ट स्टीफे स कालेज, दिल्ली—६

श्री कमलेशदत्त त्रिपाठी—४१८, मालवीय नगर, इलाहाबाद।

डॉ० सत्यव्रत सिह—प्राध्यापक सस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—६।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त—अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
श्री परशुराम चतुर्वेदी—वकील, बलिया।
श्री प्रभुदयाल मीतल—अग्रवाल प्रेस, डैम्पियर पार्क, मथुरा।
डॉ० मनमोहन गौतम—प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, दिल्ली कालेज, दिल्ली।
डॉ० शरणबिहारी गोस्वामी—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, दयालसिंह कालेज, लोदी रोड, नयी दिल्ली।
डॉ० जयगोपाल मिश्र—द्वारा मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद।
डॉ० हरभजन सिंह—अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, श्री गुरु तेग़बहादुर खालसा कालेज, देव-नगर, नयी दिल्ली।
श्री ए० सी० कामाक्षिराव—द्वारा राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
श्री हनुमच्छास्त्री—हिन्दी-विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।
श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव—रामबाग, कानपुर।
डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, स्नातकोत्तर (सान्ध्य) शिक्षण-संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—६।
श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'—निकटपूर्वीय भाषा-विभाग, कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले, कैलीफोर्निया, यू० एस० ए०।
डॉ० देवराज—अध्यक्ष, दर्शन और धर्म-विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
श्री मोहन राकेश—सम्पादक सारिका, टाइम्स ऑफ इण्डिया बिल्डिंग, बम्बई—१।
श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त—रीडर, अंग्रेजी-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
श्री राजेन्द्र यादव—पी० ६१, सी० आई० टी० रोड, कलकत्ता—१४।
श्री मोहन सिंह सेंगर—निर्माता, हिन्दी-कार्यक्रम, आकाशवाणी, नयी दिल्ली—१।
श्री शरद देवड़ा—सम्पादक 'ज्ञानोदय', १८ बी, अबॉर्न रोड, कलकत्ता—१।
डॉ० कैलाश वाजपेयी—अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, शिवाजी कालेज, नयी दिल्ली।
डॉ० रसिक बिहारी जोशी—रीडर, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—६।
डॉ० कृष्णदत्त भारद्वाज—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, देशबन्धु कालेज, नयी दिल्ली—१।
डॉ० सूर्यकान्त—अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
आचार्य प्रियव्रत विद्यालंकार—आचार्य गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय (सहारनपुर)।
श्री श्रीराम गोयल—प्राध्यापक समाजशास्त्र-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

डॉ० कैलाशनाथ शर्मा—रीडर समाजशास्त्र-विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

श्री लाजपत राय—द्वारा मोतीलाल बनारसीदास, जवाहरनगर, दिल्ली।

डॉ० वासुदेव उपाध्याय—अध्यक्ष प्राचीन इतिहास-विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

डॉ० कृष्णदत्त वाजपेयी—अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व-विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार—द्वारा पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़।

डॉ० ओम्प्रकाश शर्मा—प्राध्यापक इतिहास-विभाग, किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली—६

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन—अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, रामनारायण रुइया कालेज, बंबई।

डॉ० भरतसिंह उपाध्याय—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, हिन्दू कालेज, दिल्ली—६।

डॉ० राय आनन्द कृष्ण—कलाभवन, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

डॉ० रमाशंकर तिवारी—प्रिंसिपल, डिग्री कालेज, बनमनखी, पूर्णिया (बिहार)।

डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी—प्राध्यापक संस्कृत-विभाग, स्नातकोत्तर (सान्ध्य) शिक्षण-संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—६।

डॉ० रामविलास शर्मा—अध्यक्ष अंग्रेजी-विभाग, बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा।

डॉ० उदयनारायण तिवारी—अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर।

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी—प्रकाशनाध्यक्ष साहित्यभवन, प्रा० लि०, इलाहाबाद।

डॉ० रामपूजन तिवारी—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, विश्वभारती, शान्ति निकेतन, पश्चिमी बंगाल।

आचार्य विश्वेश्वर—[स्वर्गीय].

आचार्य बलदेव उपाध्याय—२७/६३, दुर्गाकुंड, वाराणसी—५।

डॉ० नगेन्द्र—अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—६।

श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा—अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

डॉ० रघुवंश—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह—अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, बड़ौदा विश्वविद्यालय, बड़ौदा।

श्री उदयशंकर भट्ट—२४५ ई०, गवर्नमेंट क्वार्टर्स, देवनगर, दिल्ली।

श्री गोपालकृष्ण कौल—निर्माता हिन्दी-कार्यक्रम, आकाशवाणी, जयपुर।

श्री मुरलीधर श्रीवास्तव 'शेखर'—राजेन्द्र कालेज, छपरा।

डॉ० हरदेव बाहरी—रीडर हिन्दी-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

श्री गजानन माधव मुक्तिबोध—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, दिग्विजय कला महाविद्यालय, राजनाँदगाँव, (म० प्र०)।

डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना—अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, एन० आर० ई० सी० कालेज, खुरजा।

श्री नगीनचन्द सहगल—प्राध्यापक अनुवाद-योजना, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—६।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक—रीडर हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—६।

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

डॉ० महेन्द्रप्रतापसिंह—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, देशबन्धु कालेज, कालकाजी, नई दिल्ली।

डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त—प्रिंसिपल, वैश्य कालेज, शामली (उ०प्र०)।

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

डॉ व्रजवासीलाल श्रीवास्तव—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, हमीदिया कालेज, भोपाल।

डॉ० रामसागर त्रिपाठी—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, श्री गुरु तेगबहादुर खालसा कालेज, देवनगर, नई दिल्ली—५।

डॉ० श्रीनारायण अग्निहोत्री—अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, पी० पी० एन० डिग्री कालेज, कानपुर।

श्री सत्यपाल चुघ—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली—६।

डॉ० विजयपाल सिंह—अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, श्री वेंकेटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति (आन्ध्र प्रदेश)।

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़।

डॉ० श्याममनोहर पाण्डेय—द्वारा, मित्र प्रकाशन, प्रा० लि०, इलाहाबाद।

डॉ० सरला शुक्ल—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत—अध्यक्ष संस्कृत विभाग, के० जी० के० कालेज, मुरादाबाद।

श्री कृष्णशंकर शुक्ल—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, हिन्दू कालेज, दिल्ली—६।

डॉ० किरणचन्द्र शर्मा—अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, महेन्द्र कालेज, पटियाला।

डॉ० महेन्द्रकुमार—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, श्री गुरु तेगबहादुर खालसा कालेज, देवनगर, नई दिल्ली—५।

डॉ० मुकुन्द देव शर्मा—द्वारा नन्दकिशोर एण्ड ब्रादर्स, वाराणसी।

डॉ० उमाकान्त—प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, रामजस कालेज, दिल्ली—६।

डॉ० आशा गुप्त—अध्यक्षा, हिन्दी-विभाग, प्रमिला कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली—६।

डॉ० देवीशंकर अवस्थी—प्राध्यापक हिन्दी विभाग, स्नातकोत्तर (सान्ध्य) शिक्षण-संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—६।

डॉ० गोपालदत्त सारस्वत—प्राध्यापक धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़।

डॉ० तारकनाथ वाली—प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली—६।

डॉ० रांगेय राघव—[स्वर्गीय]

डॉ० रामेश्वर लाल खंडेलवाल—रीडर हिन्दी-विभाग, वल्लभ विद्यापीठ, विश्वविद्यालय वाधा आनन्द।

डॉ० श्रीपति शर्मा त्रिपाठी—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

डॉ० विश्वनाथ मिश्र—अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, सनातन धर्म कालेज, मुजफ्फरनगर।

डॉ० देवर्षि सनाढ्य—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

डॉ० सुरेश अवस्थी—उपनिदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, दरियागंज, दिल्ली—७।

डॉ० सुषमा धवन—द्वारा, राजकमल प्रकाशन, लिंक हाउस, मथुरा रोड, नयी दिल्ली।

डॉ० रणवीर रांग्रा—ए० ई० ओ०, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय दरियागंज, दिल्ली—७।

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग. मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

डॉ० रामदरश मिश्र—अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, सेण्ट जेवियर्स कालेज, अहमदाबाद।

डॉ० वेंकट शर्मा—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, गवर्नमेण्ट कालेज, अजमेर।

डॉ० सावित्री सिन्हा—रीडर हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—६।

डॉ० सत्येन्द्र—निर्देशक क० मा० हिन्दी एवं भाषाविज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।

डॉ० उदयभानुसिंह—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—६।

डॉ० चन्द्रधर शर्मा—अध्यक्ष दर्शन-विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर।

डॉ० शिवनाथ—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

डॉ० भोलानाथ तिवारी—हिन्दी विभाग, ताशकन्द विश्वविद्यालय, ताशकन्द (रूस)।

डॉ० ज्ञानवती दरबार—शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली।

श्री यशपाल जैन—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली—१।

विभिन्न प्रकाशन

हमारे प्रकाशित—

शोध प्रबन्ध (थीसिस)

★ सन्त वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव—डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय १५·००
★ मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का लोक-तात्विक अध्ययन—डा० सत्येन्द्र १५·००
★ हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डा० श्रीपति शर्मा त्रिपाठी १२·५०
★ मैथिली लोकगीतों का अध्ययन—डा० तेजनारायण लाल १०·००
★ कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन—डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना १०·००
★ हिन्दी-काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी
—डा० गणपतिचन्द्र गुप्त १०·००
★ गद्यकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त—डा० नत्थनसिंह १२·५०
★ हिन्दी गद्य के निर्माता : बालकृष्ण भट्ट—डा० राजेन्द्र शर्मा १०·००
★ हिन्दी नीति-काव्य—डा० भोलानाथ तिवारी १०·००
★ ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन
—डा० रामकृष्ण आचार्य १०·००
★ कृष्ण काव्य में भ्रमरगीत—डा० श्यामसुन्दर लाल १०·००
★ ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली—डा० कपिलदेव सिंह १०·००
★ उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा—डा० शशिभूषण सिंहल १०·००
★ हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन
—डा० हिरण्मय १०·००

शीघ्र ही आ रही हैं—

१. पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का काव्य—डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव
२. हिन्दी समास-रचना का अध्ययन—डा० रमेशचन्द्र जैन

प्रकाशक—
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय के महत्वपूर्ण ग्रन्थ

तुलसीदास	डा० माताप्रसाद गुप्त	शोध प्रबन्ध	८.००
सूरदास	डा० ब्रजेश्वर वर्मा	,,	८.००
आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका	डा० लक्ष्मीसागर वर्मा	,,	८.००
आधुनिक हिन्दी-साहित्य	,, ,,	,,	६.००
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	डा० कृष्णलाल	,,	६.००
राम-कथा (द्वितीय संस्करण)	डा० फादर कामिल बुल्के	,,	२०.००
हिन्दी साहित्य (१९२६-४७)	डा० भोलानाथ	,,	८.००
गुजराती और ब्रजभाषा का तुलनात्मक अध्ययन	डा० जगदीशचन्द्र गुप्त	,,	८.००
रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव	डा० बद्रीनारायण श्रीवास्तव	,,	८.००
कबीर ग्रन्थावली	डा० पारसनाथ तिवारी	,,	१२.००
आधुनिक काव्य का शिल्प	डा० मोहन अवस्थी	,,	८.००
तुलसी (रफ)	डा० माताप्रसाद गुप्त	संपादित	२.००
अर्धकथा	,, ,,	,,	१.००
वीसलदेव रासो	,, ,,	,,	५.००
कवित्त रत्नाकर—सेनापति	पं० उमाशंकर शुक्ल		३.५०
बिहारी संग्रह			०.५०
संस्कृत संग्रह			०.५०

भारतीय साहित्य परिषद् के प्रकाशन

हिन्दी साहित्य	१६.४०
धीरेन्द्र वर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ (विशेषांक)	१०.००

एकमात्र मुख्य वितरक—

भारती साहित्य मन्दिर

फव्वारा—दिल्ली

हिन्दी-विभाग दिल्ली-विश्वविद्यालय
द्वारा प्रकाशित
समालोचना-साहित्य

काव्य-कला	स०—श्री महेन्द्र चतुर्वेदी तथा डा० रांगेय राघव	२ ५०
पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की भूमिका	स०—डा० सावित्र सिंहा	१० ००
हिंदी अभिनव भारती	व्या०—आचाय विश्वेश्वर	२५ ००
हिन्दी नाट्य-दपण	व्या०—आचाय विश्वेश्वर	२२ ००